बौद्धभारती-ग्रन्थमाला--२१

Bauddha Bharati Series—21

आर्यशान्तिदेवविरचितः

बोधिचर्यावतारः

[प्रज्ञाकरमतिकृतपञ्जिकया सनाथः]

(हिन्दीरूपान्तरेण च संवलितः)

सम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

HARD BOUND 100/-

आर्यशान्तिदेव का

बोधिचर्यावतार

....मैं इस पुस्तक से बहुत प्रभावित रहा हूँ। मानवता का जो रूप श्रीशान्तिदेव की इस रचना में निखरा है वह सब प्रकार से स्तुत्य है। अपनी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में मैंने लिखा था कि "शान्तिदेव, जो गुजरात के राजपुत्र कहे जाते हैं, निःसन्देह बहुत उच्च कोटि के कवि थे।... कहते हैं भुसुकपाद नामक सिद्ध से ये अभिन्न हैं।"

आज भी मैं इस पुस्तक को इतना ही महत्त्व-पूर्ण मानता हूँ। वस्तुतः जो भी ग्रन्थ मनुष्य को उसके क्षणभंगुर परिसर और सदचःपाती क्षणिक लाभ के लक्ष्य से ऊपर उठा कर त्याग और परहित कामना के लक्ष्य तक ले जाने वाली बात इस ढंग से कहता है कि वह पाठक के हृदय में सीधे और गहरे प्रवेश कर जाय, वह श्रेष्ठ काव्य की कोटि में आता है।

.....यदचपि **बोधिचर्यावतार** धार्मिक ग्रन्थ है और इसके नवम परिच्छेद में दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन भी हुआ है, तथापि यह अपने इन महान् गुणों के कारण उत्तम काव्य माना जायगा।

.....मनुष्य का यह दुर्लभ जन्म नित्य नहीं प्राप्त होता। शान्तिदेव ने भी अन्यान्य भारतीय मनीषियों की तरह मनुष्य-जन्म को केवल भोगयोनि न मानकर पुरुषार्थसाधक दुर्लभ संयोग माना है।

—स्व० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

मूल्य [redacted] रु०

HARD BOUND 100/-

HARD BOUND 100/-

बौद्धभारती-ग्रन्थमाला-२१

Bauddha Bharati Series—21

आर्यशान्तिदेवविरचितः

बोधिचर्यावतारः

[प्रज्ञाकरमतिकृतपञ्जिकया सनाथः]

(हिन्दीरूपान्तरेण च संवलितः)

सम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

बौद्धभारती-ग्रन्थमाला--२१

Bauddha Bharati Series—21

आर्यशान्तिदेवविरचितः

बोधिचर्यावतारः

[प्रज्ञाकरमतिकृतपञ्जिकया सनाथः]

(हिन्दीरूपान्तरेण च संवलितः)

सम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

Bauddha Bharati Series–21

BODHICARYĀVATĀRA

OF

ĀRYA ŚĀNTIDEVA

with

the Commentary Pañjikā

OF

Shri PRAJNĀKARAMATI

&

Hindi Translation

Edited & Transleted by

Swami Dwarika Das Shastri

Bauddha Bharati

VARANASI

1988

बौद्धभारती-ग्रन्थमाला–२१

आर्यशान्तिदेवविरचितः

बोधिचर्यावतारः

[श्रीप्रज्ञाकरमतिविरचितया पञ्जिकाव्याख्यया संवलितः]

(हिन्दीभाषया रूपान्तरेण च सहितः)

[भूमिका-कारिकासूच्यादिभिः संस्कृतश्च]

सम्पादकोऽनुवादकश्च

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

(व्याकरण-पालि-साहित्यबौद्धदर्शनाचार्यः)



१९८८ खिष्टाब्दः] वाराणसी [२५३० बुद्धाब्दः

प्रकाशक :
बौद्धभारती,
पो० बा० १०४९,
वाराणसी—२२१ ००१

Publisher,
Baudhha Bharati.
Post. Box. 1049,
Varanasi—221 001

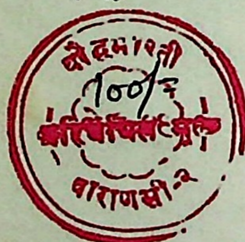
प्रथम संस्करण
१९८८ ई०

First Edition.
1988

HARD BOUND 100/-

मूल्य : [redacted]) रु०
([redacted] रुपया)

Price Rs. [redacted]/=
(Rupees [redacted] only)



मुद्रक :
विजय प्रेस,
वाराणसी—२

Printer,
Vijaya Press,
Varanasi—2

प्रकाशकीयम्

जगद्दुःखैकभैषज्यं सर्वसम्पत्सुखाकरम् ।
लाभसत्कारसहितं चिरं तिष्ठतु शासनम् ।।

मान्या विद्वद्वरेण्याः !

अस्त्ययं प्रमोदावसरोऽस्मत्कृते यद्वयं बौद्धभारतीग्रन्थमालाया एकविंशपुष्परूपेण नानाविधसूच्यादिपरिशिष्टांशेन विशिष्टभूमिकया च सह साधु संस्कृत्य यथोपलब्धम्, आर्यशान्तिदेवविरचितं **बोधिचर्यावतारग्रन्थं** पण्डितभिक्षुप्रज्ञाकरमतिकृत**पञ्जिका**सहितं श्रीमतामधिकरकमलं समुपाहरामः ।

इतः पूर्वमस्माभिरस्यां ग्रन्थमालायाम् आचार्यधर्मकीर्त्तेः **प्रमाणवार्त्तिकादि**ग्रन्थचतुष्कम्, आचार्यवसुबन्धोर**भिधर्मकोशम्**, आर्यनागार्जुनकृतं **मध्यमकशास्त्रम्**, आचार्यशान्तरक्षितस्य **तत्त्वसंग्रहः**, आर्यासङ्गविरचितो **महायानसूत्रालङ्कारश्च**–इत्येतानि ग्रन्थरत्नानि साधु संस्कृत्य प्रकाशितानि । एषां सर्वेषामेव संस्करणानि मुद्रणावशेषाणि जातानि इत्यहो अस्या ग्रन्थमालाया माहात्म्यं प्रामाण्यं च लोके !

ग्रन्थस्यास्य संस्करणमिदं पूर्वं श्रीमता ला वेली पुसें महोदयेन सम्पादितं फ्रांसदेशीय पेरिसनगरतः प्रकाशितं पञ्जिकासहितं बोधिचर्यावतारग्रन्थम्, भारते च दरभङ्गास्थ बौद्धसंस्कृत-ग्रन्थावली (१२) संस्करणं चाधृत्य अस्माभिः प्रकाशितम् ।

अत्राल्पसंस्कृतज्ञानामनुसन्धित्सूनां कृतेऽस्य ग्रन्थस्यातीवोपयोगि हिन्दीरूपान्तरम् (भाषानुवादः) अपि संयोजितम्, येन ग्रन्थागतविषयसौलभ्यमनायासेनैव स्यादिति ।

ग्रन्थस्य विस्तृतविषयसूची अपि आर्यशान्तिदेवपादानां वचनैरेवात्र संस्कृतभाषयोपनिबद्धा, येन ग्रन्थावबोधः सुगमो भवेत् ।

ग्रन्थे सम्पादनोचितानि विरामादिचिह्नानि तु यथा बौद्धभारतीग्रन्थमालाया अन्येषु ग्रन्थेषु प्रयुक्तानि, तथैवात्रापि प्रयुक्तानीति ग्रन्थावगतौ सौकर्यं जातम् ।

अन्ते चानुसन्धित्सूनां कृते कारिकासूची, ग्रन्थ-ग्रन्थकृन्नामसूची अपि महता श्रमेण संयोजिता ।

इत्येवं साङ्गोपाङ्गमिदं संस्करणं विदुषाम्, अनुसन्धित्सूनाम्, अन्तेवासिनां च कृते हिताय सुखाय च भविष्यतीत्याशास्महे ।

वाराणसी, प्रकाशकः
मकरसंक्रान्तिः, २०४४ वि०. **बौद्धभारतीपरिषन्मन्त्री**

आर्य शान्तिदेव

शान्तिदेव सातवीं शताब्दी में हुए। तारानाथ के अनुसार शान्तिदेव का जन्म सौराष्ट्र (=वतमान गुजरात) में हुआ था, और वे श्रीहर्ष के पुत्र शील के समकालीन थे। परन्तु भारतीय अथवा चीनी लेखों में शील अथवा किसी अन्य नाम के पुत्र का पता नहीं चलता। शान्तिदेव राजपुत्र थे, पर माता की प्रेरणा से उन्होंने राज्य का परित्याग किया। कहा जाता है कि स्वयं बोधिसत्त्व मञ्जुश्री ने योगी के रूप में उनको दीक्षा दी और अन्त में वे भिक्षु हो गये।

टोकियो के प्रोफेसर ओमिगा का कहना है कि **नांजियो के कैटलॉग** में बोधिचर्यावतार की एक भिन्न व्याख्या है। उसमें **तीन ताल पत्र मिले हैं, जिनमें शान्तिदेव का जोवन-चरित दिया है**[1]। ये पत्र १४ वीं शताब्दी में खाटमूंड में नेवारी अक्षरों में लिखे गये थे। इनमें लिखा है कि शान्तिदेव किसी राजा के पुत्र थे। राजा का नाम मंजुवर्मा था। (उनकी राजधानी का नाम मिट गया है, पढ़ा नहीं जाता। तारानाथ का कहना है वह सुराष्ट्र के राजा का लड़का था। तारानाथ का समय इन तालपत्रों के समय से बाद में है)।

शान्तिदेव महायान-धर्म के एक प्रसिद्ध शास्त्रकार हो गये हैं। दीपङ्कर (अतीश) नागार्जुन, आर्यदेव, और अश्वघोष के साथ शान्तिदेव का भी नाम लेते हैं।

तारानाथ और अन्य तिब्बती लेखक शान्तिदेव से भली-भाँति परिचित हैं[2]।

"जब उनका युवराज पद पर अभिषेक हुआ, तब उनकी माता ने बताया कि राज्य केवल पाप में हेतु है। माँ ने कहा—'तुम वहाँ जाओ, जहाँ बुद्ध और बोधिसत्त्व मिलें। मञ्जुवज्र के पास जाने से तुमको निःश्रेयस की प्राप्ति होगी'। वे एक हरित वर्ण के घोड़े पर सवार होकर अपने पिता के राज्य से चले गये। कई दिनों तक वे खाना-पीना भूल गये। गहन वन में एक सुन्दरी ने उसके घोड़े को पकड़ लिया और उनको उस से उतारा। उसने पीने के लिए अच्छा पानी दिया, और बकरी का

---

१. एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के सरकारी संग्रह नं ९९९० में।

२. द्र०—'शान्तिदेव' हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखित, एण्टीक्वेरी, १९१३।

मांस भूंजा। उसने कहा कि मैं मञ्जुवज्रसमाधि की शिष्या हूँ। शान्तिदेव प्रसन्न हुए, क्योंकि वे उन्हीं का शिष्य होना चाहते थे। १२ वर्ष तक वे गुरु के समीप रहे और मञ्जुश्रीज्ञान का प्रतिलाभ किया। शिक्षा की समाप्ति पर गुरु ने मध्यदेश जाने का आदेश किया। वहाँ वे अचलसेन नाम रखकर 'राउत' हो गये। उन्होंने देवदारु काष्ठ का एक खड्ग बनाया और राजा के शीघ्र ही प्रिय हो गये। अन्य राजभृत्य उनसे ईर्ष्या करने लगे। उन्होंने राजा से निवेदन किया कि इन्होंने देवदारु वृक्ष का एक खड्ग बनवाया है, ये किस प्रकार युद्ध में सेवा कर सकेंगे! राजा ने सब राजभृत्यों के खड्गों को देखना चाहा। अचलसेन ने कहा कि मेरा खड्ग न देखा जाय। पर राजा नहीं माना और अचलसेन इस शर्त से एकान्त में दिखलाने के लिए तैयार हुआ कि वह एक आँख बन्द कर लेगा। राजा ने ज्यों ही खड्ग देखा, उसकी आँख भूमि पर गिर पड़ी। राजा को आश्चर्य और प्रसन्नता हुई। अचलसेन ने खड्ग को पत्थर पर फेंक दिया और नालन्दा चले गये, और वहाँ संसार का परित्याग किया। शान्तचित्त होने से 'शान्तिदेव' नाम पड़ा। उन्होंने तीनों पिटकों को सुना। उनका नाम भुसुकु भी पड़ गया। क्योंकि—'भुंजानोऽपि प्रभास्वरः, सुप्तोऽपि, कुटीं गतोपि तदेवेति भुसुक समाधिसमापन्नत्वात् भुसुकुनामख्यातिं संघेऽपि'।

नालन्दा के युवकों ने उनके ज्ञान की परीक्षा करने में उत्सुकता दिखायी। नालन्दा की प्रथा थी कि प्रतिवर्ष ज्येष्ठ मास शुक्ल पक्ष में धर्म-कथा होती थी। उन्होंने उनको इसके लिए बाध्य किया। नालन्दा-विहार की उत्तर-पूर्व दिशा में एक बड़ी धर्मशाला थी। उस धर्मशाला में सब पण्डित एकत्र हुए और शान्तिदेव सिंहासन पर बैठाये गये। शान्तिदेव ने तत्काल पूछा—

"किमार्धं पठामि, अर्थार्षं वा? तत्र ऋषिः परमार्थज्ञानवान्। ऋध् गतौ—इत्यत्र औणादिकः किः। ऋषिणा जिनेन प्रोक्तं आर्षम्।

ननु प्रज्ञापारमितादौ सुभूत्यादिदेशितं कथमार्षमित्यत्रोच्यते युवराजार्यमैत्रेयेण?

यदर्थवद् धर्मपदोसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिवर्हणं वचः।
भवे भवेच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तद्वत् किमार्षं विपरीतमन्यथा॥

तदाकृष्टम् आर्यद्यैरर्थार्षम्। सुभूत्यादिदेशना तु भगवदधिष्ठानादित्यदोषः।"

पण्डित लोग आश्चर्यान्वित हुए और उनसे अर्थार्ष ग्रन्थ का पाठ सुनाने को कहा। उन्होंने विचारा कि स्वरचित तीन ग्रन्थों में से किसक

पाठ सुनावें। उन्होंने बोधिचर्यावतार को पसन्द किया और पढ़ने लगे—'सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान्…'इत्यादि। लेकिन जब वे—

'यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बः प्रशाम्यति'॥ (बो० च० ७-१०)

पढ़ने लगे, तब भगवान् सन्मुख प्रादुर्भूत हुए; और शान्तिदेव को स्वर्ग ले गये। पण्डित आश्चर्यान्वित हुए। उनकी पढ़-कुटी (अध्ययन-शाला) ढूँढ़ी। वहाँ से तीनों ग्रन्थों को लेकर उन्हें प्रकाशित किया''।

यह वृत्तान्त इन तीन तालपत्रों से प्राप्त होता है।

उनके ग्रन्थों से मालूम होता है कि वे माध्यमिक-दर्शन के अनुयायी थे। वेंडल का कहना है कि शान्तिदेव के ग्रन्थों में तन्त्र का प्रभाव पाया जाता है। कार्दिये कृत कैटालाग से पाया जाता है कि शान्तिदेव 'श्रीगुह्यसमाजमहायोगतन्त्रबलिविधि' नामक तान्त्रिक ग्रन्थ के भी रचयिता थे। दरबार लाइब्रेरी, नेपाल में चर्याचर्यविनिश्चय नामक तालपत्र से मालूम होता है कि भुसुक ने वज्रयान के कई ग्रन्थ लिखे, बंगाली में भुसुक के कई गान बताये जाते हैं। एक गान में लिखा है कि वे बंगाली थे[1]। यथा—

प्रज्ञापारमिताम्भोधिपरिमथनादमृतपरितोषितसिद्धाचार्यं भुसुकुपादो बंगालिका व्याजेन तमेवार्थं प्रतिपादयति। प्रज्ञारविन्दकुहरह्लदे सद्गुरुचरणोपायेन प्रवेशितं तत्रानन्दादि शब्दो हीत्यादि अक्षरसुखाद्वय बंगालेन वाहित इति अभिन्नत्वं कृतम्।''

यह नगर बंगाल में था। बंगाल मध्यदेश के आगे है। शान्तिदेव तराई के जंगलों में गये। उनका काल ६४८ ईस्वी से ८१६-८३८ ईस्वी है, जब कि यह ग्रन्थ तिब्बती भाषा में अनूदित हुआ। भुसुकु द्वारा निर्मित बताये जाने वाले गीत भी इसी समय के होंगे। यद्यपि ये बौद्धधर्म के सहजिया सम्प्रदाय के गीत हैं, जो कि वज्रयान की एक शाखा है; अथवा उसी का पर्याय है। नेपाल की दरबार लाइब्रेरी में **बोधिचर्यावतारानुशंस** नामक एक ग्रन्थ है जो कि बोधिचर्यावतार ही है, केवल उसमें कुछ पद

---

१. ४८—रागमल्लारी—भुसुकुपादानां

वाजनाव पाड़ी पउँआ खालें वाहिउ। अदय बंगाले क्लेश लुडिउ॥ ध्रु०॥
आजि भुसुकु बंगाली भइलि—एने अधरिणी चण्डालि लेलि॥ ध्रु०॥

जोड़ दिये गये हैं। भुसुकु ने एक दोहे में अपना नाम 'कंट' लिखा है[1]।

मै इस सम्बन्ध में 'दोहा' के बारे में कुछ और भी कहना चाहता हूँ। वासिलजीन का ख्याल है कि अपभ्रंश में बौद्ध ग्रन्थ थे। तारानाथ का भी यही मत है। वे कहते हैं कि नेपाल में सन् १८९८-९९ में वेंडल और मुझको सुभाषितसंग्रह नामक ग्रन्थ मिला था, वेंडल ने इसे प्रकाशित किया है।

इसमें अपभ्रंश के कुछ उद्धरण हैं। सन् १९०७ में मैंने अपभ्रंश के कई ग्रन्थ नेपाल में पाये। इसे मैं प्राचीन बंगाली कहता हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्व भारत में ७ वीं, ८ वीं और ९ वीं शताब्दी में यही मात्रा बोली जाती थी।[2]

शान्तिदेव के ग्रन्थ

आचार्य नरेन्द्रदेव अपने 'बौद्धधर्मदर्शन' में लिखते हैं—तारानाथ के अनुसार शान्तिदेव १—बोधिचर्यावतार, २- सूत्रसमुच्चय, और ३—शिक्षासमुच्चय के रचयिता थे। इनमें बोधिचर्यावतार सबसे पीछे लिखा गया। शिक्षासमुच्चय की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें ग्रन्थकार का नाम नहीं पाया जाता, परन्तु तंजोर इण्डेक्स ३१ के अनुसार शान्तिदेव ही इस ग्रन्थ के रचयिता हैं। महायान-धर्म के विद्वान् दीपंकर श्रीज्ञान (अतीश) भी इस उक्ति की पुष्टि करते हैं। शिक्षासमुच्चय के अनेक अंशों का उद्धरण उन्होंने दिया है। और इस ग्रन्थ को वे शान्तिदेव ही की कृति समझते थे।

बोधिचर्यावतार के टीकाकार भिक्षु प्रज्ञाकरमति भी शान्तिदेव को ही शिक्षासमुच्चय तथा बोधिचर्यावतार का कर्ता मानते हैं। दोनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति की कृतियाँ हैं—इसका अन्तरंग प्रमाण भी है। दोनों ग्रन्थों में कई श्लोक सामान्य हैं। इसके अतिरिक्त बोधिचर्यावतार (पञ्चम परिच्छेद, श्लोक १०५-१०६) में शिक्षासमुच्चय अथवा सूत्रसमुच्वय के बारम्बार अभ्यास करने का आदेश किया गया है[3]।

---

१. राउत भणाइ कट भुसुकु भणाइ कट सअला अइस सहाव।
ज इतो मूढ़ा अइसी भान्ति पुच्छतु सद्गुरुपाव।

२. द्र०—आचार्य नरेन्द्रदेवकृत 'बौद्धधर्मदर्शन', पृ० १७१-१७५।

३. शिक्षासमुच्चयोऽवश्यं द्रष्टव्यश्च पुनः पुनः।
विस्तरेण सदाचारो यस्मात्तत्र प्रदर्शितः॥
संक्षेपेणाथवा तावत् पश्येत् सूत्रसमुच्चयम्। (बो० च०, ५—१०५-६)

यदि शिक्षासमुच्चय के रचयिता बोधिचर्यावतार के रचयिता से भिन्न होते तो यह मानना पड़ता कि एक ने दूसरे के श्लोकों की चोरी की है और उस अवस्था में जिस ग्रन्थ से चोरी की है और उस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं पाया जाता।

अतः स्पष्ट है; दोनों ग्रन्थों के कर्ता शान्तिदेव ही हैं। प्रज्ञाकरमति अपनी बोधिचर्यावतारपञ्जिका में ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोकों की टीका में लिखते हैं कि नागार्जुनरचित दूसरा शिक्षासमुच्चय का भी अभ्यास करना चाहिये।

बोधिचर्यावतार में आर्य नागार्जुन द्वारा लिखे हुए एक दूसरे सूत्र-समुच्चय का उल्लेख पाया जाता है[१]।

कुछ विद्वानों के मत में प्रज्ञाकरमति के अनुसार आर्य नागार्जुन के लिखे हुए शिक्षासमुच्चय और सूत्रसमुच्चय हैं[२]।

पर यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। 'द्वितीयं' से द्वितीय सूत्र-समुच्चय से तात्पर्य है; क्योंकि श्लोक के प्रथम पाद में सूत्रसमुच्चय का ही उल्लेख है। कर्न साहब के अनुसार दोनों ग्रन्थ नागार्जुन के हैं[३]।

सी० बेण्डल साहब इसका अर्थ इस प्रकार लगाते हैं :—"आर्य नागार्जुन-रचित सूत्रसमुच्चय अवश्य द्रष्टव्य है। यह श्रामणेर का द्वितीय अभ्यास है[४]"।

इस अर्थ के अनुसार शान्तिदेव अपने रचे किसी सूत्रसमुच्चय का उल्लेख नहीं करते। वास्तव में यह निर्णय करना कि कौन सा अर्थ ठीक है, असम्भव है। नागार्जुन ने यदि इन नामों से कोई ग्रन्थ लिखे भी हों तो आज वे उपलब्ध नहीं हैं। शान्तिदेव ने यदि सूत्रसमुच्चय नामक ग्रन्थ रचा भी हो तो उसकी भी आज कोई प्राप्ति नहीं मिलती।

तंजोर इण्डेक्स (बर्लिन की प्रति, जो कि इण्डिया ऑफिस द्वारा

---

१. आर्यनागार्जुनाबद्धं द्वितीयं च प्रयत्नतः। (बो० च० ५-१०६)

२. प्र. म. की टीका—"आर्यनागार्जुनपादैर्निबद्धं द्वितीयं शिक्षासमुच्चयं च पश्येत् प्रयत्नतः"।

३. मैनुअल ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म, पृष्ठ १२७, नोट ५।

४. शिक्षासमुच्चय, सी. बेण्डल द्वारा रचित, १ बिब्लिओथिका बुद्धिका, पृष्ठ ४ के सामने, नोट २।

प्रमाणित है) में शान्तिदेव के चौथे ग्रन्थ का भी उल्लेख है। इसका नाम शारिपुव-अष्टक है, पर यह सन्दिग्ध है।

शिक्षासमुच्चय

शिक्षासमुच्चय का सम्पादन सी. वेण्डल महाशय द्वारा (सेण्ट पिटर्सबर्ग की रूसी बिब्लिओथिका बुद्धिका ग्रन्थमाला, सन् १८९७ ई० में) हुआ। दूसरा संस्करण १९० . में हुआ। इसका अंग्रेजी अनुवाद सी० वेण्डल तथा डब्ल्यू. एच. डी.राउज द्वारा हुआ है और सन् १९२२ ई० में इण्डियन टेक्स्ट सिरीज में प्रकाशित हुआ है।

इस पुस्तक का तिब्बती भाषा में अनुवाद ८१६ और ८३८ के बीच में हुआ था। अनुवाद तीन महाशयों द्वारा हुआ था। इनके नाम ये हैं—जिनमित्र, दानशील, और एक तिब्बती पंडित ज्ञानसेन। ज्ञानसेन का चित्र तंजोर इण्डेक्स के उस भाग के आरम्भ में पाया जाता है, जिसमें शिक्षा-समुच्चय है (इण्डिया ऑफिस की प्रति)। अन्त के दो अनुवादक तिब्बती राजा रब्री-दे-स्रु-त्सान (८१६-३३८) के आश्रित थे। इससे प्रकट होता है कि मूल पुस्तक ८०० ई० से पूर्व लिखी गयी थी।

बोधिचर्यावतार

शान्तिदेव का दूसरा प्रकाशित ग्रन्थ बोधिचर्यावतार है। रूसी विद्वान् आई. पी. मिनायेव ने सबसे प्रथम इसे जास्पे में प्रकाशित किया था। बाद में श्री हरप्रसाद शास्त्री ने भी बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी के जनरल में इसे प्रकाशित किया।

प्रज्ञाकरमति की टीका (पंजिका) फ्रेंच अनुवाद के साथ ला वली पूँसे ने बिब्लियोथिका इण्डिका में सन् १९०२ में प्रकाशित की। टीका की एक प्रति जिसमें केवल ९वें परिच्छेद की टीका थी, पूँसे ने लैटिन अक्षरों में 'बुद्धिस्म स्तदी एत मटीरियाँ' १ (लन्दन, लुजाक) में प्रकाशित की थी।

बोधिचर्यावतारटिप्पणी नाम की एक हस्तलिखित पोथी भी मिली है, पर यह खण्डित है। प्रोफेसर सी. बेण्डल को यह पोथी नेपाल दरबार लाइब्रेरी में मिली थी। सन् १८९३ ई० में शास्त्री जी को पंजिका की एक प्रति मिली थी, यह प्रतिलिपि नेवारी अक्षरों में सन् १०७८ ई० में लिखी गयी। इसमें लेखक का नाम नहीं है, पर प्रज्ञाकरमति टीकाकार

को तातपाद कहता है—इससे जान पड़ता है कि वह टीकाकार का शिष्य था। प्रज्ञाकरमति विक्रमशिला विहार के आचार्य थे[1] और ११वीं शताब्दी के आरम्भ में हुए।

मैथिल अक्षरों में केवल प्रज्ञापारमितापरिच्छेद की टीका की एक प्रति भी उसी समय उपलब्ध हुई।

आचार्य प्रज्ञाकरमति

यहाँ डा० पी० एल० वैदय अपने संस्करण की भूमिका में कहते हैं कि प्रज्ञाकरमति के सम्बन्ध में हमारी जानकारी अत्यल्प है। हम इतना जानते हैं कि वे एक शास्त्रविशारद बौद्ध भिक्षु थे। उनका निवासस्थान या तो नालंदा रहा हो या विक्रमशिला। उनका जीवनकाल निश्चय ही ८०० ई. के बाद ही है। क्यों कि 'तत्त्वसंग्रह' से उन्होंने प्रचुर उद्धरण लिये हैं; अतः वह आठवीं सदी के अंतिम चरण में या नौवीं सदी के प्रथम चरण में रहे होंगे।[2]

आचार्य प्रज्ञाकरमतिप्रणीत पञ्जिका

बोधिचर्यावतार की पञ्जिका व्याख्या केवल ९ परिच्छेद तक ही उपलब्ध है। उसके दसवें अध्याय पर पंजिका उसमें नहीं मिलती, यह पहले ही कहा जा चुका है। इस सम्बन्ध में पूसें का कहना है—"बोधिचर्यावतार के दसवें अध्याय, **जिसकी विश्वसनीयता संदेहास्पद है,** पर प्रज्ञाकरमति द्वारा रचित टीका नहीं मिलती।" उनका मन्तव्य है कि चूंकि प्रज्ञाकरमति ने दसवें अध्याय पर टीका नहीं लिखी है, इसलिये उस अध्याय की विश्वसनीयता सन्दिग्ध या चिन्त्य है।

उनका यह मन्तव्य मेरी राय में उचित नहीं है। एक कारण यह है कि बोधिचर्यावतार की लगभग पाँच अलग अलग मातृकाओं में दसवाँ अध्याय विद्यमान है और दूसरा कारण यह है कि **शिक्षासमुच्चय** के अन्तिम (१९ वें) अध्याय की विषयसामग्री से इसकी विषयसामग्री लगभग मिलती जुलती है या उससे अधिकांश में समानता रखती है। इन रचनाओं की एककर्तृकता सिद्ध करने में यह पर्याप्त प्रमाण हो सकता है। अन्त में

---

१. एस. सी. विद्याभूषण लिखित इण्डियन लॉजिक, पृष्ठ १५१।

२. डा० पी० एल० वैद्य, बोधिचर्यावतार (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावलि १२) की भूमिका, पृ० १६।

यह कहना है कि नवम अध्याय के अन्त के साथ ग्रन्थ की समाप्ति अचानक सी लगती है, दसवाँ अध्याय साथ मिलाने पर ऐसा नहीं लगता। दसवें अध्याय का तिब्बती अनुवाद भी उपलब्ध है।

प्रज्ञाकरमतिकृत टीका की इस समस्या पर हम कुछ अधिक सूक्ष्मता से समीक्षा करना चाहते हैं।

पहले आठ अध्यायों की टीका का पाठ एक ही नेपाली हस्तलिपि में विद्यमान है, जिसके वहुत से पन्ने गायब हैं। मैथिली हस्तलिपि जिसमें केवल नवम अध्याय पर टीका है। एक अलग ही मातृका दीख पड़ती है, और वह अपने में पूर्ण रचना मालूम पड़ती है, नेपाली तथा मैथिली दोनों हस्तलिपियों में नवमाध्याय की यह टीका प्रास्ताविक वन्दनापरक श्लोकों से मण्डित है। यदि यह टीका पहले अध्यायों की टीका का केवल प्रस्तार रहती, तो ये श्लोक अनावश्यक तथा अस्थानस्थित से लगते। अतः मेरा निजी अनुमान है कि प्रज्ञाकरमति ने नवम अध्याय पर टीका पहले लिखी, क्योंकि वह विषय तथा अर्थनिर्धारण की दृष्टि से **बोधिचर्यावतार** का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है। पूसें के संस्करण के ४४३ तथा ४४५ वें पृष्ठों पर के उल्लेखों से भी यही सूचित होता है। अतः ठोस प्रमाणों के आधार पर मेरी यह मान्यता है कि प्रज्ञाकरमति ने पहले नवम अध्याय पर टीकारचना की और बाद में पहले आठ अध्यायों की टीका के साथ उसे जोड़ दिया। दार्शनिक दृष्टि से दसवें अध्याय में कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं है, इसलिये उसने उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया। अतः एव पूसें की यह राय कि प्रज्ञाकरमति की टीका के अभाव में दसवें अध्याय की विश्वसनीयता चिन्त्य है, हमें तथ्यपूर्ण नज़र नहीं आती। उसके विरोध में काफी सबूत मिलता है और खुद प्रज्ञाकरमति की दृष्टि से भी कि वह अंश विश्वास योग्य है। दसवें अध्याय का एक श्लोक वह **'यद् वक्ष्यति'** कहकर उद्धृत कर लेता है[1]।

आकाशस्य स्थितिर्यावद् यावच्च जगतः स्थितिः।
तावन्मम स्थितिर्भूयाज्जगद्दुःखानि निघ्नतः॥ (बोधि०-१०.५५)

शिक्षासमुच्चय के अन्तिम अध्याय में एक श्लोक है—

"यावदाकाशनिष्ठस्य निष्ठा लोकस्य सम्भवेत्।
तावत्स्थास्यामि लोकार्थं कुर्वन् ज्ञानपुरःसरः" ॥ (शि०स० १९)

---

१. देखिये—पूसें संस्करण पृष्ठ ३७; प्रस्तुत संस्करण पृष्ठ २५।

यह श्लोक ऊपर उद्धृत श्लोक से विषय में तो मिलता-जुलता है, पर इसकी शब्दयोजना भिन्न है। अतः 'वक्ष्यति' का अभिप्राय **शिक्षा-समुच्चय** से नहीं। इसलिये हमें कोई कारण नहीं दीखता कि जिससे दसवें अध्याय की विश्वसनीयता पर सन्देह किया जाय। अतः हमारा विश्वास है कि यह अध्याय इस रचना का निजी अंश है।

बोधिचर्यावतार को तिब्बती में बोधिसत्त्वचर्यावतार कहते हैं। इसका अनुवाद तंजुर में (T.3871) सर्वज्ञदेव ने किया है, जिसका संस्कार धर्मश्रीभद्र तथा सुमतिकीर्ति ने किया है। चीनी भाषा में भी इसका तर्जुमा हुआ है (देखिये—नंजिओ १३५४)। इसका अनुवाद भी सुमतिकीर्ति द्वारा किया हुआ तंजुर में मिलता है। (T. 3872) । इस अनुवाद में पंजिका के दस दस अध्याय विद्यमान हैं, और नवम अध्याय भी अलग रचना के रूप में तंजुर में उपलब्ध है (T. 3876)। विभूतिचन्द्रप्रणीत **विशेषद्योतनी** नामक एक टिप्पणी भी है, जिसके कई अंश मूल संस्कृत में तथा कई तंजुर में पाये जाते हैं (T. 3880) पूसें ने इसका उपयोग किया है। बोधिचर्यावतार का संक्षिप्त रूप **पिंडार्थ** के नाम से छत्तीस छंदों में कमलशील ने बनाया है, जिसका अनुवाद तंजुर में दीपंकर श्रीज्ञान द्वारा किया हुआ मिलता है।

बौद्धधर्म के परवर्ती लेखकों में इस रचना का बड़ा आदर दिखायी पड़ता है। ग्रंथ का ठीक ठीक अर्थ निर्धारित करने में और भी कतिपय सहायक रचनाएँ मिलती हैं—कृष्णपकृत **दुरवबोधनिर्णय**, **परिणमनपंजिका** (केवल नवम अध्याय की टीका), **निवृतिपंजिकासंस्कार** तथा वैरोचन दीक्षित कृत **पंजिका**।

तिब्बती में प्रज्ञाकरमति की नवम अध्याय पर टीका एक स्वतन्त्र रचना के रूप में विद्यमान है, जिससे मेरा अनुमान कि उन्होंने नवम अध्याय पर पहले टीका लिखी, और बाद में पहले के आठ अध्यायों पर टीका लिख कर दोनों को इकट्ठा किया और भी परिपुष्ट हो जाता है[१]।

बोधिचर्यावतार के अन्य अनुवाद

यूरोपीय पंडितों में बोधिचर्यावतार बड़े समादर की वस्तु है, शायद इसलिये कि उसकी रससिक्तता ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया है।

१. द्र०—बौ० सं० ग्र० में प्रकाशित बोधिचर्यावतार की भूमिका, पृ०-१४-१६।

पूसें ने इसका अनुवाद फ्रेंच भाषा में किया (पारिस १९१२)। और एल्० फिनो ने भी (पारिस १९२०)।

एल्० डी० बार्नेट ने इसका अनुवाद अंग्रेजी में किया (लंदन, १९०९)।

जर्मन अनुवाद आर. श्मिट्झ ने किया (पैडरबर्न, १९२३)।

जी. टुच्ची ने इतालियन भाषा में इसका तर्जुमा किया (तोरनो, १९२५)।

बुद्धलोकवासी श्री. धर्मानंद कोसंबी ने इसका अनुवाद गुजराती (अहमदाबाद) तथा मराठी (बम्बई) में किया है।

हिन्दी अनुवाद भी इसी तरह डा० शान्तिभिक्षु शास्त्री ने (सन् १९५५) किया था। परन्तु वह संक्षिप्त सा था और प्रज्ञाकरमति को टीका भी उसके साथ में नहीं थी।

बोधिचर्यावतार का निबन्धन

बोधिचर्यावतार का निबन्धन दश अध्यायों में विभक्त है। उनमें कुल मिलाकर ९०० से अधिक श्लोक हैं। महायान बौद्धधर्म में मान्य बोधि या पूर्ण ज्ञान तक पहुँचने के लिए आचारविषयक नीतिनियमों का संग्रह बोधिचर्यावतार में निविष्ट है। प्रज्ञाकरमति के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना तथा विवेचना बौद्धों के माध्यमिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए की गयी है (मध्यमानीतिभाजाम्)। संहिता में शान्तिदेव तथा पञ्जिका में प्रज्ञाकरमति सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार आदि बौद्धधर्म की शाखाओं का उल्लेख करते हैं, तथा सांख्य-योग, नैयायिक-वैशेषिक, औपनिषदिक और अन्य अवर दर्शनसम्प्रदायों का नाम-निर्देश भी करते हैं। यह सब नवम अध्याय का विषय है। पहले आठ अध्यायों में शिक्षासमुच्चय के ही समान धर्मविद्याविषयक अन्तःप्रवाह को ही लेकर चर्चा की गयी है। **प्रथमाध्याय** ने बोधिबीज प्राप्त कर लेने के लाभ का विवेचन है, तो **द्वितीयाध्याय** में पाप-स्वीकार तथा बुद्धों की पूजा की आवश्यकता का विवरण है। **तीसरे अध्याय** में धर्मदीक्षा से पूर्व आवश्यक आधारभूत तत्त्वों के अवलम्ब तथा मूल्य की चर्चा है। पूर्वार्जित बोधिसत्त्व की विचारधारा की रक्षा तथा नित्य आचार के लिये आवश्यक जागरूकता पर **चौथा अध्याय** बल देता है। **पाँचवें अध्याय** में साधक के कर्तव्याकर्तव्य का निरंतर निरीक्षण तथा स्मरण तथा मन और शरीर की अवस्था और आचार का सतत चिंतन प्रतिपादित

है। **छठे अध्याय** में क्षान्तिपारमिता यानी सहनशक्ति का निरूपण है, तो **सातवें** में वीर्यपारमिता परिश्रमसातत्य का। **आठवें** अध्याय का विषय है ध्यानपारमिता। **नवमाध्याय** में प्रज्ञापारमिता का विवेचन है, जो सभी संकल्पों की शून्यता का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त अन्य दर्शनसम्प्रदायों की, जिनमें बौद्धों के अन्य भ्रान्त धारणावाले उपसम्प्रदाय भी सम्मिलित हैं, आलोचना से अनुप्राणित हैं, और सम्यक् ज्ञान को तिरोहित करनेवाले क्लेश याने मनोमालिन्य का विरोधी हैं[1]। **अन्तिम अध्याय** में बोधिसत्त्वता के सिद्धान्त बल देते हुए विषय का उपसंहार किया गया है।

वर्तमान संस्करण

शान्तिदेव की रचना **बोधिचर्यावतार** का मूल पाठ १८८९ ई० में रूसी पण्डित मिनायेफ द्वारा (रूसी पौरस्त्य पत्रिका झापिस्कि–४) प्रकाशित संस्करण में प्रथम बार विद्वानों के सामने उपस्थित किया गया। वह तीन अलग मातृकाओं पर आधारित था। ये मातृकाएँ सम्पादक को रूस में उपलब्ध हुई।

और दो मातृकाएँ बाद में (बिब्लिओथेक नॅशनेल पैरिस में) मिली —देवनागरी ७८ और बर्नुफ ७८। लुई द ला वॅली पूसें ने नवम अध्याय के रोमन लिपि के अपने संस्करण में तथा प्रज्ञाकरमति पञ्जिका की संहिता और टीका में उन मातृकाओं से अपने ग्रन्थ में काम लिया है[2]। पहले नौ अध्यायों का मूलपाठ पञ्जिका के साथ उसने देवनागरी लिपि में[3] प्रकाशित किया (हाशिये में P' से उल्लिखित)। प्रस्तुत संस्करण में कारिकाओं की अनुसूची, टीका में उल्लिखित गद्य और पद्य उद्धरणों के मूल स्थानों के यथासम्भव अद्ययावत् निर्देश, उद्धृत अन्य ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की सूची, तथा अन्य जानकारी, जो कि पाठकों के लिए अधिक लाभकारी है, समाविष्ट की है। उसमें पहले आठ अध्यायों पर पंजिका का मूल पाठ नेपाली लिपि में उपलब्ध एकाकी मातृका पर आधारित है, जिसके अनेक पन्ने गायब हैं। नवम अध्याय की टीका ही उसका अन्तिम अंश

---

१. क्लेशज्ञेयावृतितमःप्रतिपक्षो हि शून्यता।
शीघ्रं सर्वज्ञताकामो न भावयति तां कथम्॥ (बो० च०–९,५५)

२. Buddhisme, Etudes Materiaux, Vol I ब्रुसेल्स अकादमी, और लुझाक, लंदन १८९८।

३. बिब्लीओथिका इंडिका—कलकत्ता १९०२–१४।

है। दसवें अध्याय पर टीका उसमें नहीं मिलती। नवम अध्याय के लिये, जो कि दार्शनिक दृष्टि से अतीव महत्त्व रखता है, दूसरी हस्तलिपि मैथिली लिपि में उपलब्ध हुई है। पूसें ने उससे काम लिया है; क्योंकि मूलसंहिता ही इतनी सरल और सुबोध है कि उसके लिये टीका की आवश्यकता महसूस नहीं होती, और इसलिये भी कि नवम अध्याय पर टीका की आवश्यकता है तो वह पूर्णरूप से उपलब्ध है[1]।

सम्पादनशैली

इस ग्रन्थ के सम्पादन में हमने अधोलिखित शैली अपनायी है—

१. बोधिचर्यावतार की कारिकाएँ (श्लोक) ताराङ्कित कर प्रायः ला वेली पुसें एवं बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावलि दरभङ्गा-संस्करण के आधार पर रखी हैं। यथाप्रसङ्ग कहीं-कहीं पञ्जिका व्याख्या के प्रामाण्य, गुरुमुख या श्रुतिपरम्परा के आधार पर संशोधित पाठ ऊपर रखकर पूर्व मुद्रित पाठ नीचे टिप्पणी में दिखा दिया है।

२. बोधिचर्यावतार की कारिकाओं के उतने-उतने अंश ही एक स्थान पर रखे गये हैं जितने पञ्जिका में व्याख्यात हैं। इसमें अध्येताओं को ग्रन्थ के अवगमन में सुविधा होगी।

३. अनुसन्धाताओं का व्यर्थ समय नष्ट न हो—इसलिये पञ्जिका में उद्धृत अन्य दार्शनिकों के ग्रन्थों का स्थलसङ्केत भी (यथोपलब्ध) दे दिया गया है। इसमें हमें दरभङ्गा-संस्करण से बहुत सहायता मिली है।

४. व्याख्या में आये अन्य दार्शनिकों और उनके ग्रन्थों के नाम भिन्न अक्षरों में मुद्रित कराये गये हैं कि वे झटिति दृष्टिगोचर हो जाँय। और सुविधा के लिये उनके उद्धरणों को इन्वर्टेड कॉमा (' ' " ") चिह्नों में रखा गया है।

५. बोधिचर्यावतार एवं पञ्जिका का भाषाजाटिल्य दूर करने के लिये कठिनता पैदा करने वाली व्याकरणगत सन्धियाँ भी कहीं-कहीं हटा दी गयी हैं। फिर भी यह ध्यान रखा गया है कि इससे ग्रन्थकार या व्याख्याकार का भाषासौष्ठव न नष्ट हो जाय। इससे लाभ यह होगा कि कम संस्कृत जानने वाले पाठक भी आसानी से ग्रन्थ पढ़ लेंगे।

---

१. द्र०—बौ० सं० ग्र० (१२) बो० च० की भूमिका, पृ० १४।

६. आज-कल सम्पादन-पद्धति में काम आने वाले विरामादि सभी चिह्नों का हमने बौद्धभारती की निश्चित पद्धति के अनुसार प्रयोग किया है। इससे ग्रन्थ के अध्ययन में सौकर्य ही होगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

७. और ग्रन्थ के अन्त में बोधिचर्यावतार की समग्र कारिकाओं (श्लोकों) की सूची अकारादिक्रम से दे दी गयी है। साथ ही व्याख्याओं में आये अन्य ग्रन्थ-ग्रन्थकारों के नामों की सूची उसी क्रम से निबद्ध कर दी गयी है।

यों, ग्रन्थ एवं उसकी व्याख्या का, गुरुजनों की अनुकम्पा तथा अन्य आवश्यक ग्रन्थों की सहायता से सम्यक्तया सम्पादन कर, इन्हें विद्वानों के करकमलों में उपहृत किया जा रहा है। इसके सम्पादन और अनुवाद की साधुता में विद्वान् ही अन्तिम निकष का कार्य करेंगे।

अन्ते च—

गुरुकृपालवेनैतद् बोधिचर्यावतारणम्।
स्वामी श्रीद्वारिकादासः पर्यस्कार्षीत् सतां मुदे ॥

●

देवो वर्षतु कालेन, सस्यसम्पत्तिरस्तु च।
स्फीतो भवतु लोकश्च, राजा भवतु धार्मिकः ॥

—आर्यशान्तिदेवः

●

बोधिचर्यावतार

(विषयवस्तु)

महायान धर्म में महाकरुणा को सम्यक्सम्बोधि का साधन माना है। भगवान् बुद्ध के चरित्र से भी महाकरुणा की उपयोगिता प्रकट होती है। महावग्ग एव ललितविस्तर में वर्णित है कि जब भगवान् को बोधि-वृक्ष के नीचे सम्बोधि प्राप्त हुई, तब धर्मदेशना में उनकी प्रवृत्ति न थी। उन्होंने सोचा कि लोग अन्धकार से आच्छन्न हैं, और राग-दोष से संयुक्त हैं, अतः धर्म का प्रकाश नहीं देख सकते। यदि मैं इन्हें धर्मोपदेश भी करूँ, तो भी इनको सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। बुद्ध का यह भाव जानकर ब्रह्मा सहम्पति को चिन्ता हुई कि यदि बुद्ध धर्मोपदेश न करेंगे तो संसार नष्ट हो जायगा, और कौन धर्मनदी का प्रवर्तन कर जीवलोक की तृष्णा का उपशम करेगा! यह विचार कर ब्रह्मा बुद्ध के सम्मुख प्रादुर्भूत हुए, और भगवान् से प्रार्थना की कि आप धर्म का उपदेश करें; नहीं तो जो लोग दोषपूर्ण हैं, वे धर्म का परित्याग कर देंगे। भगवान् ने कहा कि मैंने गंभीर और दुरनुबोधधर्म पाया है, पर धर्म-देशना में मेरा चित्त नहीं लगता। अन्त में, ब्रह्मा द्वारा विशेष प्रार्थना करने पर जीवों पर करुणा कर भगवान् ने बुद्ध-चक्षु से लोक को देखा, और जाना कि जीव दुःखार्दित हैं। अतः ब्रह्मा सहम्पति की प्रार्थना भगवान् ने स्वीकार की और सर्व-भूत-दया से प्रेरित होकर सत्त्वों के कल्याण के लिये धर्मोपदेश किया।

जहाँ 'हीनयान' का अनुगामी केवल अपने दुःख का अत्यन्त निरोध चाहता है, वहाँ 'महायान' धर्म का साधक बुद्ध के समान अपने ही नहीं, किन्तु सत्त्व-समूह के जन्म-मरणादि दुःखों का भी अपनयन चाहता है। बोधिचर्या (=बुद्धत्व की प्राप्ति की साधना, पारमिताओं की साधना) का ग्रहण केवल इसी अभिप्राय से है कि जिसमें साधक सब चीजों का समुद्धरण करने में समर्थ हों। महायान का अनुगामी साधक निर्वाण का अधिकारी होते हुए भी भूतदया से प्रेरित हो, संसार का उपकार करने के लिये अपने इस अपूर्व अधिकार का भी परित्याग करता है। इसी कारण महायान ग्रन्थों में सप्तविध अनुत्तर-पूजा का एक अंग[1] 'बुद्ध-याचना' कहा है, जिसमें निर्वाण की इच्छा रखने वाले कृतकृत्य जनों से

---

१. द्र०—बो० च०, द्वितीय परिच्छेद।

प्रार्थना की जाती है, कि वे अनन्त कल्प तक निवास करें; जिसमें यह लोक अन्धकार से आच्छन्न न हो।

हीनयान तथा महायान की परस्पर तुलना करते हुए **अष्टसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता** के एकादश परिवर्त्त में कहा है कि हीनयान के अनुयायी का विचार होता है कि मैं एक आत्मा का दमन करूँ, एक आत्मा को शम की उपलब्धि कराऊँ और एक आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति कराऊँ। उसकी सारी चेष्टाएँ इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये होती हैं[१]। पर बोधिसत्व की शिक्षा अन्य प्रकार की है। उसका अभिप्राय उदार और उत्कृष्ट है। वह अपने को परमार्थ-सत्य में स्थापित करना चाहता है, पर साथ ही साथ सब सत्त्वों की भी परमार्थ सत्य में प्रतिष्ठा चाहता है। वह अप्रमेय सत्त्वों को परिनिर्वाण की प्राप्ति करने के लिये उद्योग करता है, इसलिये बोधिसत्त्व को हीनयान की शिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिये। सर्व ज्ञान के मूल-स्वरूप प्रज्ञा-पारमिता को छोड़कर जो शाखा-पत्र स्वरूप हीनयान में सार-वृद्धि देखते हैं, वे भूल करते हैं।

एक महायान ग्रन्थ का कहना है कि महाकरुणा ही मोक्ष का उपाय है। हीनयानवादी इस मोक्षोपाय को नहीं रखता। उसकी प्रज्ञा असमर्थ है, क्योंकि वह पाप-शोधन की उपाय नहीं रखता।

महायान ग्रन्थों के अनुसार जो बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये यत्नवान् है, अर्थात् जो बोधिसत्व है, उसे षट्पारमिता का ग्रहण करना चाहिये। दान-शीलादि गुणों में जिसने पूर्णता प्राप्त की है, उसके लिये कहा जाता है कि उसने दान-शीलादि पारमिता हस्तगत कर ली है। यही बोधिसत्त्व-शिक्षा है और इसी को बोधिचर्या कहते हैं।

षट् पारमितायें निम्नलिखित हैं—१. दान, २. शील, ३. क्षान्ति, ४. वीर्य, ५. ध्यान और ६. प्रज्ञा। षट् पारमिताओं में प्रज्ञापारमिता का प्राधान्य है। 'यथार्थज्ञान' को प्रज्ञापारमिता कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'भूत-तथता' है। प्रज्ञा के बिना पुनर्भव का अन्त नहीं होता। प्रज्ञा की प्राप्ति के लिये ही अन्य पारमिताओं की शिक्षा कही गयी है। प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होने पर ही दान आदि पूर्णता को प्राप्त होते हैं, और 'पारमिता' का व्यपदेश प्राप्त करते हैं। बुद्धत्व की प्राप्ति में इस पुण्य-

---

१. द्र०—अष्ट० प्र० पा०, ११ परि०, पृ० १७२।

संसार की परिणामना होने के कारण ही इनकी पारमिता सार्थक होती है। दान आदि पहली पाँच पारमिताएँ प्रज्ञा-रहित होने पर लौकिक कहलाती हैं। उदाहरण के लिए जबतक दाता भिक्षु दान और अपने अस्तित्व में विश्वास रखता है, तब तक उसकी दान-पारमिता लौकिक होती है; पर जब वह इन तीनों के शून्य-भाव को मानता है, तब उसकी पारमिता लोकोत्तर कहलाती है। जब पाँच परमितायें प्रज्ञा-पारमिता से समन्वागत होती हैं, तभी वह सचक्षुष्क होती हैं, और उसको लोकोत्तर संज्ञा प्राप्त होती है। प्रज्ञा की प्रधानता होते हुए भी अन्य पारमिताओं का ग्रहण नितान्त आवश्यक है। सम्बोधि की प्राप्ति में दान प्रथम कारण है। दान, शील की अनुपालना क्षान्ति द्वारा होती है। दानादि-त्रितय पुण्य-सम्भार, वीर्य अर्थात् कुशलोत्साह के बिना नहीं हो सकता। और बिना ध्यान (चित्तैकाग्रता) के प्रज्ञा का प्रादुर्भाव नहीं होता, क्योंकि समाहित-चित्त होने से ही यथाभूत परिज्ञान होता है, जिससे सब आवरणों की अत्यन्त हानि होती है।

इसी बोधिचर्या का वर्णन आर्य शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार में विशेष रूप से किया है।

१. बोधि-चित्त

मनुष्य-भाव की प्राप्ति दुर्लभ है। इसी भाव में परम पुरुषार्थ-अभ्युदय और निःश्रेयत की प्राप्ति के साधन उपलब्ध होते हैं। यही भाव अक्षणों[1] से विनिर्मुक्त हैं। अक्षणावस्था में धर्म-प्रविचय करना अशक्य है। इसीलिये इस सुअवसर को खोना न चाहिये। यदि हमने मनुष्य-भाव में अपने और पराये हित की चिन्ता न की तो ऐसा समागम हमको फिर प्राप्त न होगा। मनुष्य-भाव में भी अकुशल-पक्ष में अभ्यस्त होने के कारण साधारणतया मनुष्य की बुद्धि शुभकर्म में रत नहीं होती। पुण्य सर्वकाल में दुर्बल है और पाप अत्यन्त प्रबल है। ऐसी अवस्था में प्रबल पाप पर विजय केवल किसी बलवान् पुण्य द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। भगवान् बुद्ध ही लोगों की अस्थिर मति को एक मुहूर्त के लिये

१. आठ अक्षण ये हैं :—नरकोपपत्ति, तिर्यगुपपत्ति, यमलोकोपपत्ति, प्रत्यंतजन-पदोपपत्ति, दीर्घायुषदेवोपपत्ति, इन्द्रियविकलता, मिथ्यादृष्टि, और चित्तोत्पाद-विरागिता। (बो० च० अ० १, ८ टीका)

शुभकर्मों की ओर प्रेरित करते हैं। जिस प्रकार बादलों से घिरे हुए आकाश-मण्डल में रात्रि के समय क्षणमात्र के विद्युत्प्रकाश से वस्तु-ज्ञान होता है, उसी प्रकार अन्धकारमय जगत् में भगवत्कृपा से ही क्षण-मात्र के लिये मानव-बुद्धि शुभ कर्मों में प्रवृत्त होती है। यह बलवान् शुभ कौन सा है, जो घोरतम पाप को अपने तेज से अभिभूत करता है ? यह शुभ बोधिचित्त ही है। इससे बढ़कर पाप का प्रतिघातक और विरोधी दूसरा नहीं है।

बोधिचित्त क्या है ? सब जीवों के समुद्धरण के अभिप्राय से बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सम्यक्-बोधि में चित्त का प्रतिष्ठित होना, बोधिचित्त का ग्रहण करना है। एक बोधिचित्त ही सर्वार्थसाधन की योग्यता रखता है। इसी के द्वारा अनेक जीव भवसागर के पार पहुँचते हैं। बोधिचित्त का ग्रहण सदा सबके लिये आवश्यक है। इसका परित्याग किसी अवस्था नहीं होना चाहिये। जो श्रावक की तरह दुःख का अत्यन्त निरोध चाहते हैं, जो बोधिसत्त्व की तरह केवल अपने ही नहीं, किन्तु सत्त्वसमूह के दुःखों का अपनयन चाहते हैं, और जिनको दुःखापनयनमात्र नहीं, अपितु संसार-सुख का भी अभिलाष है; उन सबको सदा बोधि-चित्त का ग्रहण करना चाहिये[1]।

बोधिचित्त के उदय के समय ही वह बुद्धपुत्र हो जाता है, और इस प्रकार देवता और मनुष्य सब उनकी वन्दना और स्तुति करते हैं। जिस प्रकार एक पल रस(पारद)सहस्र पल लोहे को सोनाबना देता है, उसी तरह बोधिचित्त भी एक प्रकार की रसधातु है, जो मनुष्य के अमेध्य कलेवर और स्वभाव को बुद्ध-विग्रह और स्वभाव में परिवर्तित कर देता है। बोधिचित्त-ग्रहण से पापशुद्धि होती है, ऐसा आर्यमैत्रेयविमोक्ष (ग. व्यू.)में कहा है। जिस प्रकार एक गुहा का सहस्रों वर्षों से सञ्चित अन्धकार प्रदीप के प्रवेशमात्र से ही नष्ट हो जाता है, और वहाँ प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार बोधिचित्त अनेक कल्पों के सञ्चित पाप का ध्वंस और ज्ञान का प्रकाश करता है। यह केवल सर्व शुभ का संचय ही नहीं करता, अपितु उन समस्त दारुण और महान् पापों का भी एक क्षण में क्षय करता है, जो बोधिचित्त-ग्रहण के पूर्व किये गये हैं। जिस प्रकार कोई बड़ा अपराध कर के भी

---

१. भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपि सत्त्वव्यसनानि हर्तुकामैः।
वहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम्॥ (१,८)

किसी बलवान् की शरण में जाकर अपनी रक्षा करता है, उसी प्रकार बोधिचित्त का आश्रय ग्रहण करने से एक ही क्षण में पुण्यराशि का अनुपम लाभ होता है, और समस्त पाप का ध्वंस हो जाता है। बोधिचित्त के उत्पाद से प्रसूत आकाशधातु के समान व्यापक पुण्यराशि में पाप अन्तर्लीन हो जाता है; और जिस प्रकार सबल दुर्बल को दबा देता है, उसी प्रकार पाप प्रतिपक्षी से अभिभूत होकर फल देने में असमर्थ हो जाता है।

बोधिचित्त ही सब पापों के निर्मूल करने का महान् उपाय है। यह सतत फल देने वाला कल्पवृक्ष है, सकल दारिद्रय को दूर करने वाला चिन्तामणि है, और सब का अभिप्राय परिपूर्ण करने वाला भद्रघट है। **आर्यगण्डव्यूह-सूत्र** में भगवान् अजित ने स्वयं कहा है कि सब बुद्ध-धर्मों का बीज बोधिचित्त है। अतः महायानधर्म की शिक्षा की मूल भित्ति बोधिचित्त ही है।

बोधिचित्तोत्पाद के विना कोई व्यक्ति, जो महायान का अनुगामी होना चाहता है, बोधिसत्त्व की चर्या अर्थात् शिक्षा ग्रहण करने का अधिकारी नहीं होता। बोधिचित्तग्रहणपूर्वक ही बोधिसत्त्व-शिक्षा का समादान होता है, अन्यथा नहीं।

वह बोधिचित्त दो प्रकार का है—बोधिप्रणिधि-चित्त और बोधि-प्रस्थान-चित्त। प्रणिधि का अर्थ है—ध्यान अथवा कर्मफल का परित्याग। शिक्षासमुच्चय में कहा है 'मैं सर्व जगत् के परित्राण के लिये बुद्ध होऊँ—ऐसी भावना प्रार्थना के रूप में जब उदित होती है, तब बोधि-प्रणिधि-चित्त का उत्पाद होता है[1]। यह पूर्वावस्था है। महायान का पथिक होने की इच्छा मात्र प्रकट हुई है। अभी उस मार्ग पर पथिक ने प्रस्थान नहीं किया है। पर जब व्रत का ग्रहण कर वह मार्ग पर प्रस्थान करता है, और कार्य में व्यापृत होता है, तब बोधिप्रस्थान-चित्त का उत्पाद होता है। प्रस्थान-चित्त निरन्तर पुण्य का देने वाला है। इसीलिये शूरङ्गमसूत्र में कहा है कि ऐसे प्राणी इस जीवलोक में अत्यन्त दुर्लभ हैं, जो सम्बोधि-प्राप्ति के लिये प्रस्थान कर चुके हैं। वह जगत् के दुःख की औषधि और जगदानन्द का बीज है। वह सब दुःखित जनों के समस्त दुःखों का अपनयन कर सब को सर्वसुख-सम्पन्न करने का

---

१. "मया बुद्धेन भवितव्यमिति चित्तं प्रणिधानादुत्पन्नं भवति"।
[शि० स०, पृ० ८]

उद्योग करता है। वह सब का अकारण बन्धु है। उसका व्यापार अहैतुक है। उसकी महिमा अपार है। जो उसका निरादर करता है, वह सब बुद्धों का निरादर करता है और जो उसका सत्कार करता है, उसने सब बुद्धों का सत्कार किया समझो।

२. पापदेशना

सप्तविध अनुत्तर-पूजा—बोधिचित्त का उत्पाद करने के लिए सप्तविध अनुत्तर-पूजा का विधान है। धर्म-संग्रह के अनुसार इस लोकोत्तर पूजा के सात अंग इस प्रकार हैं :—वन्दना, पूजना, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद और परिणामना। और बोधिचर्यावतार के टीकाकार प्रज्ञाकरमति के अनुसार इस पूजा के ये आठ अंग यों विभक्त किये गयेहैं—वन्दना, पूजना, शरणमन, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, बुद्धाध्येषण, याचना और बोधिपरिणामना।

बोधिचित्त-ग्रहण के लिये पहले बुद्ध, सद्धधर्म तथा बोधिसत्त्वगण की पूजा आवश्यक है। यह पूजा मनोमय पूजा है। शान्तिदेव मनोमयपूजा के हेतु देते हैं—

भगवन्! मैंने पुण्य नहीं किया है, मैं महादरिद्र हूँ, इसीलिए पूजा की कोई सामग्री मेरे पास नहीं है। भगवन्, आप महाकारुणिक हैं, सर्वभूतहित में रत हैं। अतः इस पूजोपकरण को नाथ! ग्रहण करें[1]। अकिंचन होने के कारण आकाशधातु का जहाँ तक विस्तार है, वहाँ तक निरवशेष पुष्प, फल, भैषज्य, रत्न, जल, रत्नमय पर्वत, वनप्रदेश, पुष्पलता, वृक्ष, कल्पवृक्ष, मनोहर तटाक तथा जितनी अन्य उपहार वस्तुएँ प्राप्त हैं, उन सबको बुद्धों तथा बोधिसत्त्वों के प्रति वह दान करता है। यही अनुत्तर दक्षिणा है। यद्यपि वह अकिंचन है, पर आत्मभाव उसकी निज की सम्पत्ति है, उस पर उसका स्वामित्व है। इसलिये वह बुद्ध को आत्मभाव का समर्पण करता है। भक्तिभाव से प्रेरित होकर वह दासभाव स्वीकार करता है। भगवान् के आश्रय में आने से वह निर्भय हो गया है। वह प्रतिज्ञा करता है कि अब मैं प्राणिमात्र का हितसाधन करूँगा, पूर्वकृत पाप का अतिक्रमण करूँगा, और फिर पाप न करूँगा। मनोमय पूजा के अनंतर साधक बुद्ध, बोधिसत्त्व,

---

१. अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किञ्चित्।
अतो ममार्थाय परार्थचित्ता गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या ।। [बो० च० २.७]

सद्धर्म, चैत्य आदि की विशेष पूजा करता है। मनोरम स्नानगृह में गन्ध-पुष्प-पूर्ण रत्नमय कुम्भों के जल से गीत-वाद्य के साथ बुद्ध तथा बोधिसत्त्व को स्नान कराता है। स्नानानन्तर निर्मल वस्त्र से शरीर संमार्जन कर सुरक्त, वासित वर-चीवर उनको प्रदान करता है। दिव्य अलङ्कारों से उनको विभूषित करता है; उत्तम-उत्तम गन्ध-द्रव्यों से शरीर का विलेपन करता है। तदनन्तर उनको माला से विभूषित करता है धूप. दीपक तथा नैवेद्य अर्पित करता है। वह बुद्ध, धर्म और सङ्घ की शरण में जाता है, तत्पश्चात् अपने सर्वपाप का प्रख्यापन करता है। इसे पापदेशना कहते हैं। जो कायिक, वाचिक, मानसिक पाप उसने स्वयं किया है अथवा दूसरे से कराया है अथवा जिसका अनुमोदन किया है, उन सब पापों को वह प्रकट करता है। अपना सब पाप वह बुद्ध के समक्ष प्रकाशित करता है, और भगवान् से प्रार्थना करता है कि भगवन्! मेरी रक्षा करो। जब तक मैं पाप का क्षय न कर लूँ. तब तक मेरी मृत्यु न हो; नहीं तो मैं दुर्गति (अपाय) में पड़ूँगा। मेरा इस अनित्य जीवन में विशेष आग्रह था। मैं यह नहीं जानता था कि मुझको नरकादि दुःख भोगना पड़ेगा। मैं यौवन, रूप, धनादि के मद से उन्मत्त था; इसलिये मैंने अनेक पापों का अर्जन किया। मैंने चारों दिशाओं में घूम कर देखा कि कौन ऐसा साधु हैं जो मेरी रक्षा करे, दिशाओं को त्राणशून्य देखकर मुझको सम्मोह हुआ और अन्त में मैंने यह निश्चय किया कि बुद्धों की शरण में जाऊँ, क्योंकि ये सामर्थ्यवान् हैं, संसार की रक्षा के लिये उपयुक्त हैं, और सबका त्रास हरने वाले हैं। मैं बुद्ध द्वारा साक्षात्कृत धर्म की तथा बोधिसत्त्व-गण की भी शरण में जाता हूँ। मैं हाथ जोड़कर भगवान् के सम्मुख अपने समस्त उपार्जित पापों का प्रख्यापन करता हूँ, और प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से कभी अनार्य या गर्हित कर्म न करूँगा॥

३. बोधिचित्तपरिग्रह

पापदेशना के अनन्तर साधक सर्वसत्त्वों के लौकिक शुभ-कर्म का प्रसादपूर्वक अनुमोदन करता है तथा सब प्राणियों के सर्वदुःख-विनिर्मोक्ष का अनुमोदन करता है। इसे पुण्यानुमोदन कहते हैं। तदनन्तर अञ्जलिबद्ध हो सब दिशाओं में अवस्थित बुद्धों से प्रार्थना करता है कि अज्ञानतम से आवृत जीवों के उद्धार के लिए भगवन् धर्म का उपदेश करें। यही बुद्धाध्येषणा है। वह फिर कृतकृत्य जिनों से याचना करता है कि वे अभी परिनिर्वाण में प्रवेश न करें, जिससे यह लोक मार्ग का ज्ञान न होने

निश्चेतन न हो जाय। यह बुद्ध-याचना है। अन्त में साधक प्रार्थना करता है कि उक्त क्रम से अनुत्तर-पूजा करने से जो सुकृत् मुझे प्राप्त हुआ है, उसके द्वारा मैं समस्त प्राणियों के सब दुःखों का प्रशमन करने में समर्थ होऊँ, और उनको सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कराऊँ। यह बोधि-परिणामना है।

साधक भक्तिपूर्वक प्रार्थना करता है—हे भगवन्! जो व्याधि से पीड़ित हैं,उनके लिए मैं उस समय तक औषधि, चिकित्सक और परिचारक होऊँ जब तक व्याधि की निवृत्ति न हो, मैं क्षुधा और पिपासा की व्यथा का अन्न-जल की वर्षा से निवर्तन करूँ, और दुर्भिक्षान्तरकल्प में जब अन्न-पान के अभाव से प्राणियों का एक दूसरे का मांस, अस्थि-भक्षण ही आहार हो, उस समय मैं उनके लिए पान-भोजन बनूँ। दरिद्र लोगों का मैं अक्षय धन होऊँ। जिस-जिस पदार्थ का वे अभिलाष करें, उस समय उस पदार्थ को लेकर मैं उनके सम्मुख उपस्थित होऊँ॥

४. बोधिचित्ताप्रमाद

दान-पारमिता– बोधिसत्व बोधिचित्तोत्पाद के अन्तर शिक्षा-ग्रहण के लिए विशेष रूप से यत्नशील होता है। **पहली पारमिता दानपारमिता है। सर्व वस्तुओं का सब जीवों के लिए दान और दानफल का भी परित्याग दानपारमिता है।** इसलिये बोधिसत्त्व आत्मभाव का उत्सर्ग करता है। वह सभी भोग्य वस्तुओं का परित्याग करता है, तथा अतीत वर्तमान और अनागत काल के कुशलमूल का भी परित्याग करता है जिनमें सब प्राणियों की अर्थसिद्धि हो। आत्मभाव का त्याग ही निर्वाण है।

'यदि निर्वाण के लिये सब कुछ त्यागना ही है तो क्यों न सब कुछ प्राणियों को अर्पित कर दिया जाय'—ऐसा विचार कर वह अपना शरीर सब प्राणियों के लिये अर्पित करता है। चाहे वे लाठी-डण्डे से उसकी ताड़ना करें, चाहे जुगुप्सा करें, चाहे उसपर धूल फेंकें और चाहे उसके साथ क्रीड़ा करें; वह केवल इतना चाहता है कि उसके द्वारा किसी प्राणी का अनर्थ सम्पादित न हो। वह चाहता है कि जो उस पर मिथ्या दोष आरोपित करते हैं या उसका अपकार करते हैं या उपहास करते हैं, वे भी बुद्धत्व-लाभ करें। वह चाहता है कि जिस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार महाभूत समस्त आकाशधातु-निवासी अनन्त प्राणियों ने अनेक प्रकार

से उपभोग्य होते हैं, उसी प्रकार वह भी तब तक सब सत्त्वों का आश्रय-स्थान रहे जब तक सब संसार-दुःख से विनिर्मुक्त न हो।

उसका किसी वस्तु में भी ममत्व नहीं होता। वह सभी सत्त्वों को पुत्रतुल्य देखता है और अपने को सबका पुत्र समझता है। यदि कोई याचक उससे किसी वस्तु की याचना करता है तो तुरंत वह वस्तु उसे दे देता है; मात्सर्य नहीं करता। बोधिसत्व के लिये ये चार बातें कुत्सित हैं—शाठ्य, मात्सर्य, ईर्ष्या-पैशुन्य, और संसार में लीनचित्तता। बोधिसत्व को ऐसी किसी वस्तु का ग्रहण नहीं करना चाहिये, जिसमें उसकी त्यागचित्तता उत्पन्न न हुई हो। जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसको वह वस्तु बिना शोक किये, बिना फल की आकांक्षा के, और बिना प्रतिकार के दे दे[१]।

सांसारिक दुःख का मूल सर्वपरिग्रह है, अतः अपरिग्रह द्वारा भव-दुःख से विमुक्ति मिलती है। इस प्रकार बोधिसत्व अनन्त कल्पत तक लौकिक तथा लोकोत्तर सुखसम्पत्ति का अनुभव करता है, दूसरों का भी निस्तार करता रहता है[२]।

इस प्रकार आत्मभाव आदि का उत्सर्ग कर, अनाथ सत्वों पर दया कर, स्वयं दुःख उठाते हुए दूसरों के दुःख का विनाश करके अभिप्राय से वह बुद्धत्व को ही उपाय ठहरा कर, वह बुद्धत्व के लिये बद्धपरिकर हो हो जाता है और अन्य परामिताओं का ग्रहण करता है।

५. सम्प्रजन्यरक्षण

शीलपारमिता—आत्मभाव का उत्सर्ग इसीलिए बताया गया है कि जिसमें सब सत्त्व उसका उपभोग करें। पर यदि इस आत्मभाव की परीक्षा न होगी तो दूसरे उसका उपभोग किस प्रकार करेंगे।

यह समझकर, कि शकट की नांई केवल भारोद्वहन करना है, धर्मबुद्धि से शरीर की रक्षा करे[३], इसलिये आत्मभावादि का परिपालन

---

१. आशोचन्न विप्रतिसारी अविपाकप्रतिकांक्षा परित्यक्ष्यामि [शि० स०, पृ० २१]

२. रत्नमेघ में कहा है—दानं हि बोधिसत्त्वस्य बोधिरिति [शि० स०, पृ० ३४]

३. वीरदत्तपरिपृच्छा में कहा है—
शकटमिव भारोद्वहनार्थं केवलं धर्मबुद्धिना बोढव्यमिति। [शि० स०, ३४]

करना आवश्यक है। यह शिक्षा की रक्षा और कल्याणमित्र के अपरित्याग से हो सकता है[१]।

कल्याणमित्र के अपरित्याग से मनुष्य दुर्गति में नहीं पड़ता, कल्याण-मित्र प्रमाद स्थान से निवारण करता है। क्या करणीय है और क्या अकरणीय है ?—इसका ज्ञान शिक्षा की रक्षा से होता है, और विहित कर्म करने से और प्रतिषिद्ध के न करने से नरकादिविनिपात-गमन से रक्षा होती है।

आत्मभावादि की रक्षा शिक्षा की रक्षा से होती है। शिक्षा की रक्षा चित्त की रक्षा से होती है। चित्त चलायमान है, यदि इसको स्वायत्त न किया जायगा तो शिक्षा की स्थिरता नष्ट हो जायगी। भय और दुःख का कारण चित्त ही है। चित्त द्वारा ही अर्थात् मानस कर्म द्वारा ही वाक्कर्म और कायकर्म की उत्पत्ति होती है। अतः वाक्कायकर्म का चित्त ही समुत्थापक है। चित्त ही अति विचित्र सत्त्व-लोक की रचना करता है; इसलिये चित्त का दमन अत्यन्त आवश्यक है। जिसका चित्त पाप से निवृत्त है, उसके लिये भय का कोई हेतु नहीं। जिसका चित्त स्वायत्त है, उसके सुख की हानि नहीं होती। इसलिये पापचित्त से कोई अधिक भयानक वस्तु नहीं है। यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि दानपारमिता आदि में चित्त कैसे प्रधान है, क्योंकि दानपारमिता का लक्षण सब प्राणियों का दारिद्रच दूर करना है, और इनका चित्त से कोई सम्बन्ध नहीं है ? यह शंका अनुचित है। यदि दानपारमिता का अर्थ समस्त जगत् के दारिद्रच को दूर कर सब सत्त्वों को परिपूर्ण करना ही हो तो अनेक बुद्ध हो चुके हैं, और जगत् आज भी दरिद्र है, तो क्या उनमें दानपारमिता न थी ? ऐसा नहीं कहा जा सकता। दानपारमिता का अर्थ केवल यही है कि सभी वस्तुओं का सब जीवों के लिए दान और दानफल का भी परित्याग। इस प्रकार के अभ्यास से मात्सर्यमल का अपनयन होता है, और चित्त निरासंग हो जाता है। इस प्रकार दानपारमिता निष्पन्न होती है। इसलिये दानपारमिता चित्त से भिन्न नहीं है। शील-

१. 'परिभोगाय सत्त्वानां आत्मभावादि दीयते।
अरक्षिते कुतो भोगः किं दत्तं यन्न भुज्यते॥
तस्मात् सत्त्वोपभोगार्थं आत्मभावादि पालयेत्।
कल्याणमित्रानुत्सर्गात् सूत्राणां च सदेक्षणात्'॥ [शि० स, पृ० ३४]

पारमिता भी इसी प्रकार चित्त से भिन्न नहीं है। शील का अर्थ है—प्राणातिपात आदि सब गर्हित कार्यों से चित्त की विरति। विरति-चित्तता ही शील है। इसी प्रकार क्षान्तिपारमिता का अर्थ है—दूसरों के द्वारा अपकार के होते हुए भी चित्त की अकोपनता। शत्रु गगन के समान अनन्त हैं। उनका मारना अशक्य है, पर उपाय द्वारा यह शक्य है। उनके किये हुए अपकार को न गिनना ही उपाय है। क्रोधादि से चित्त की निवृत्ति होने से ही उनकी मृत्यु हो जाती है। वीर्य-पारमिता का लक्षण कुशलोत्साह है। यह स्पष्टरूपेण चित्त है। ध्यान-पारमिता का लक्षण चित्तैकाग्रता है; इसलिये उसको चित्त से पृथक् नहीं बताया जा सकता। प्रज्ञा तो निर्विवादरूप से चित्त ही है।

शत्रुप्रभृति जो बाह्य भाव हैं, उनका निवारण करना शक्य नहीं, हैं, चित्त के निवारण से ही कार्य-सिद्धि होती है। इसलिये बोधिसत्त्व को अपकार-क्रिया से अपने चित्त का निवारण करना चाहिये। शान्तिदेव कहते हैं—कंटकादि से रक्षा हेतु पृथ्वीको चर्म से आच्छादित करना उचित ही है। पर यह सम्भव नहीं है; क्योंकि इतना चर्म कहाँ मिलेगा? यदि मिले भी तो छादन असम्भव है। पर उपाय द्वारा कंटकादि से रक्षा शक्य है। जूते के चर्म द्वारा सब भूमि छादित हो जाती है[1]। इसी प्रकार अनन्त बाह्य भावों का निवारण एक चित्त के निवारण से होता है[2]।

चित्त की रक्षा के लिये 'स्मृति' और 'सम्प्रजन्य' की रक्षा आवश्यक है। 'स्मृति' का अर्थ है 'स्मरण'। किसका स्मरण? विहित और प्रतिषिद्ध का स्मरण।

आर्यरत्नचूड-सूत्र में कहा है कि स्मृति से क्लेशों का प्रादुर्भाव नहीं होता; स्मृति से ही सुरक्षित होकर मनुष्य उत्पथ या कुमार्ग में पैर नहीं रखता। स्मृति उस द्वारपाल की तरह है जो अकुशल को अवकाश नहीं देती।

सम्प्रजन्य का अर्थ है—प्रत्यवेक्षण। किसका प्रत्यवेक्षण करना है? काय और चित्त की अवस्था का प्रत्यवेक्षण करना। खाते-पीते, सोते-जागते,

---

१. भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति।
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी॥ [बोधि० ५,१३]

२. विहित-प्रतिषिद्धयोर्यथायोगं स्मरणं स्मृतिः। [बो० च० पृ० ८२]।

उठते-बैठते हर समय काय और चित्त का निरीक्षण अभीष्ट है। स्मृति तीव्र आदर से ही उत्पन्न होती है। तीव्र आदर शमथमाहात्म्य जानने से होता है। 'शमथ' चित्त की शान्ति को कहते हैं। अचपलता, अचंचलता सौम्यभाव, अनुद्धतता, कर्मण्यता, एकाग्रता, एकारामता इत्यादि शम के लक्षण हैं।

शम के प्रभाव से ही चित्त समाहित होता है, और समाहित-चित्त होने से ही यथाभूत-दर्शन होता है। यथाभूत-दर्शन से ही सत्त्वों के प्रति महाकरुणा उत्पन्न होती है। बोधिसत्त्व की इच्छा होती है कि मैं सब सत्त्वों को भी यथाभूत परिज्ञान कराऊँ। इस प्रकार वह शील, चित्त, और प्रज्ञा की परिपूर्ण शिक्षा प्राप्त कर सम्यक्सम्बोधि प्राप्त करता है। इसलिये वह शील में सुप्रतिष्ठित होता है, और बिना विचलित हुए, बिना शिथिलता के, उसके लिये यत्नवान् होता हैं। यह जानकर कि शम से अपना और पराये का कल्याण होगा, अनन्त दुःखों का समतिक्रमण और अनन्त लौकिक तथा लोकोत्तर सुख सम्पत्ति की प्राप्ति होगी। बोधिसत्त्व को शम की आकांक्षा होनी चाहिये। इससे शिक्षा के लिये तीव्र आदर उत्पन्न होता है, जिससे स्मृति उत्पन्न होती है, स्मृति से अनर्थ का परिहार होता है। इसलिये जो आत्मभाव की रक्षा करना चाहता है, उसको स्मृति के मूल का अन्वेषण कर नित्य सजग रहना चाहिये। शील से समाधि होती है।

चन्द्रद्वीपसूत्र में कहा है, कि जो समाधि चाहता है, उसका शील विशुद्ध होना चाहिये और उसको स्मृति तथा सम्प्रजन्य ग्रहण करना चाहिये। शीलार्थी को भी समाधि के लिये यत्नवान् होना चाहिये।

शील और समाधि द्वारा चित्त-परिकर्म की निष्पत्ति होती हैं। यही बोधिसत्व-शिक्षा है, क्योंकि पुरुषार्थ का यही मूल है (शिक्षा० पृ० १२१)। आर्यरत्नमेघ में कहा है[1]—सब धर्म चित्त पुरःसर हैं। चित्त का ज्ञान होने पर सब धर्म परिज्ञात होते हैं। अर्थात् चित्त के अधीन धर्म है, और धर्म के अधीन बोधि हैं[2]। बोधिसत्त्वचर्या अपने चित्त में अधिष्ठित

---

१. चित्तपूर्वङ्गमाश्च सर्वधर्माः। चित्ते परिज्ञाते सर्वधर्माः परिज्ञाता भवन्ति। (शि० स० पृ० १२१)।

२. आर्यगण्डव्यूह-सूत्र में भी कहा है—स्वचिताधिष्ठानं सर्वबोधिसत्वचय स्वचित्ता-धिष्ठानं सर्वसत्त्वपरिपाकविनयः। (शिक्षा० पृ० १२२)।

है; सब सत्त्वों को सम्बोधि प्राप्त कराने की शिक्षा अपने चित्त में अधिष्ठित है। इसलिये चित्त-नगर के परिपालन में कुशल होना चाहिये। चित्त-नगर का परिपालन संसार के सब विषयों से विरक्त होने से होता है। ईर्ष्या, मात्सर्य और शठता के अपनयन से चित्तनगर का परिशोधन करना चाहिये। सर्वक्लेश और मार (=कामदेव) की सेना का विमर्दन कर चित्त-नगर को दुर्योध्य तथा दुरासाद्य बनाना चाहिये। चित्तनगर के विस्तार के लिये सब सत्त्वों के प्रति महामैत्री प्रदर्शित करनी चाहिये। सर्व जगत् को आध्यात्मिक और बाह्य वस्तु का दान कर चित्त-नगर का द्वार खोलना चाहिये। चित्त नगर की शुद्धि से सब आवरण नष्ट होते हैं। (शिक्षा० पृ० १२२-१२३)।

इसलिये यह व्यवस्थित हुआ कि चित्त-परिकर्म ही बोधिसत्त्व-शिक्षा है। जब चित्त अचपल होता है, तभी उसका परिकर्म होता है। शम से चित्त अचल होता है। जो निरन्तर प्रत्यवेक्षा नहीं करता और जिसमें स्मृति का अभाव है, उसका चित्त चलायमान होता है। पर स्मृति और सम्प्रजन्य से जिसकी बाह्य चेष्टाओं का निवर्तन हो गया है, उसका चित्त इच्छानुसार एक आलम्बन में ही निबद्ध रहता है।

इसलिये स्मृति को मनोद्वार से कभी न हटावे। यदि प्रमाद-वश स्मृति अपने उचित स्थान से हट जाय तो उसको फिर से अपने स्थान पर लौटा कर आरोपण करे। स्मृति की उत्पत्ति ऐसे लोगों के लिये सुकर है, जो आचार्य का संवास करते हैं, जिनके हृदय में उनके प्रति आदर का भाव है, और जो यत्नशील हैं। जो सदा यह ध्यान करता है कि बुद्ध और बोधिसत्त्व-गण समस्त वस्तु-विषय का अप्रतिहत ज्ञान रखते हैं, सब कुछ उनके सामने है, मैं भी उनके सम्मुख हूँ; वह शिक्षा में आदरवान् होता है, और अयोग्य कर्म के प्रति लज्जा करता है। जब चित्त की रक्षा के लिये स्मृति मनोद्वार पर द्वारपाल की नाँई अवस्थित होती है: तब सम्प्रजन्य बिना प्रयत्न के उत्पन्न होता है। अतः स्मृति ही सम्प्रजन्य की उत्पत्ति और स्थैर्य में कारण है। जिसका चित्त सम्प्रजन्य से रहित है, उस को वस्तु का उसी प्रकार स्मरण नहीं रहता जिस प्रकार फूटे घड़े में जल ऊपर भरा जाता है, और नीचे से निकल जाता है। सम्प्रजन्य के अभाव से संचित कुशल-धन भी विलुप्त हो जाता है, और मनुष्य दुर्गति को प्राप्त होता है। क्लेश-तस्कर छिद्रान्वेषण में तत्पर होते हैं, और प्रवेश-मार्ग पाकर हमारे

कुशल धन का अपहरण करते हैं, और सद्गति का नाश करते हैं। इसलिये चित्त की सदा प्रत्यवेक्षा करे, और इस बात की भी प्रत्यवेक्षा करे कि मन कहाँ जाता है, पहले अवलम्बन में निबद्ध है. अथवा कहीं अन्यत्र चला गया है!

ऐसा प्रयत्न करे कि जिससे मन समाहित हो। अनर्थविवर्जन के लिये सदा काष्ठवत् रहना चाहिये। विना प्रयोजन नेत्रविक्षेप न करना चाहिये। दृष्टि सदा नीचे की ओर रखे, पर कभी-कभी दृष्टि को विश्राम देने के लिये अपने चारों ओर भी देखे। जब कोई समीप आवे, तब उसकी छायामात्र के अवगत होने से उसका स्वागत करे, अन्यथा अवज्ञा करने से अकुशल की उत्पत्ति होती है। भय-हेतु जानने के लिये मार्ग में बार बार चारों ओर देखे। अच्छी तरह देख कर अग्रसर हो अथवा पीछे अपसरण करे।

इस प्रकार सब अवस्थाओं में बुद्धिपूर्वक कार्य करे, जिसमें उपघात का परिहार और आत्मभाव की रक्षा हो। प्रत्येक काम में शरीर की अवस्था पर ध्यान रखे, बीच-बीच में देखता रहे। देह की भिन्न अवस्था होने पर उसका पूर्ववत् अवस्थापन करे। नानाविध प्रलाप सुनने तथा कुतूहल देखने के लिये उत्सुक न हो। निष्प्रयोजन नख-दण्डादि से भूमि-फलकादि पर रेखा न खींचे। कोई निरर्थक कार्य न करे। जब चित्त मान, मद या कुटिलता से दूषित हो, तब उसको स्थिर करे। जब चित्त में अनेक गुणों के अतिशय प्रकाशन की इच्छा प्रकट हो, या दूसरों के छिद्रान्वेषण की आकांक्षा का उदय हो, या दूसरे से कलह करने के लिये चित्त चलायमान हो, तो उस समय मन को स्थिर करे। जब मन परार्थ-विमुख और स्वार्थाभिनिविष्ट होकर, लाभ, सत्कार और कीर्ति का अभिलाषी हो, तब काष्ठवत् स्थिर करे। इस प्रकार चित्त की सर्व प्रवृत्तियों का निरोध करे और मन को निश्चल रखे। शरीर में अभिनिवेश न रखे। चित्तरहित मृतकाय व्यापार-शून्य होता है। आमिष-लोभी गृध्र जब शरीर को इधर-उधर खींचते हैं, तब वह आत्मरक्षा में समर्थ नहीं होता और प्रतीकार में असमर्थ होना है। इसलिये शरीर सर्वथा अनुपयोगी है। इसकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इस मांस और अस्थि के पुंज को आत्मवत् स्वीकार करके इसकी रक्षा में प्रयत्नशील न होना चाहिये। जब यह आत्मा से भिन्न है, तब इसके अपचय से कोई अनिष्ट सम्पादित नहीं होता। जिसको तुम अपना समझते हो, वह अपवित्र है। इस अपवित्र, अमेध्य घटित की रक्षा से कोई लाभ नहीं। इस चर्मपुट को अस्थिपञ्जर से पृथक् कर अस्थियों को खण्ड-खण्ड कर मज्जा को देखे, और स्वयं विचार करे कि इसमें सारभूत क्या

है। इस प्रकार यत्न-पूर्वक-ढूँढ़ने पर भी जब कुछ सारवस्तु नहीं दिखलायी देती, तब शरीर की रक्षा व्यर्थ है। जब इसकी अन्तड़ियाँ नहीं चूस सकते, इसका रक्तपान नहीं कर सकते, तब फिर इस काय में क्यों आसक्ति है? जिसकी रक्षा केवल गृध्र-शृगालों के आहारार्थ की जाती है, उसमें अभिनि-वेश नहीं होना चाहिये। यह शरीर मनुष्य के लिये एक उपयुक्त कर्मोपकरण अवश्य है। जो भृत्य भृत्य-कर्म नहीं करता, उसको वस्त्रादि नहीं दिया जाता। शरीर को वेतनमात्र देना चाहिये। मन द्वारा शरीर को स्वायत्त करे। जो शरीर के स्वभाव और उपयोग को विचार कर उसको अपने वश में करता है, वह सदा प्रसन्न रहता है। वे संसार के बन्धु हैं। जो दसरों का स्वागत करता है वह निष्फल कार्य नहीं करता। सदा उसकी निःशब्द में अभिरति होती है। जिस प्रकार बक, विडाल और चोर निःशब्द भ्रमण करते हुए अभिलषित अर्थ को पाते हैं, उसी प्रकार आचरण करता हुआ बोधिसत्त्व अभिमत फल पाता है।

जो दूसरों को उपदेश देने में दक्ष हैं, और बिना प्रार्थना के ही दूसरों के हित की कामना करते हैं, उनका अपमान न करना चाहिये; और उनका हितविधायक वचन आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिये। अपने को सब का शिष्य समझना चाहिये। सबसे सब कुछ सीखना चाहिये। इस प्रकार ईर्ष्या-मल का प्रक्षालन करना चाहिये। कुशल-कर्म करने वाले को देख कर उसका पुण्य-कर्म सराहे। सब सत्त्वों के सारे उपक्रम तुष्टि के लिये हैं। यह तुष्टि धन के विसर्ग द्वारा भी दुर्लभ है। इसलिये पराये गुण को श्रवण कर बिना परिश्रम किये तुष्टि-सुख का अनुभव होता है। इसमें कुछ व्यय नहीं है, और दूसरे को भी सुख मिलता है। पर दूसरे के गुण का अभिनन्दन न करने से दुःख और द्वेष उत्पन्न होता है।

बोधिसत्व को मित और स्निग्ध भाषी होना चाहिये। किसी से कर्कश वचन न बोले। सदा सबको सरल दृष्टि से देखे, जिससे लोग उसकी ओर आकृष्ट हों, और उसकी बात का विश्वास करें। सदा कार्य-कुशल होना चाहिये, और सत्त्वों के हित, सुख का विधान करने के लिये नित्य उत्थान करना चाहिये। किसी कार्य में दूसरे की अपेक्षा न करे। सब काम स्वयं करे। प्रातिमोक्ष में जिस कर्म का निषेध है, उसका आचरण न करे।

सद्धर्म-सेवक काय को थोड़े के लिये कष्ट न दे, अन्यथा महती अर्थ-

राशि की हानि होगी। क्षुद्र अवसर पर अपने जीवन का परित्याग न करे, अन्यथा एक सत्त्र के अर्थ संग्रह के लिये महान् अर्थ की हानि संपन्न होगी। सब सत्त्वों के लिये आत्मभाव का उत्सर्ग पहले ही हो चुका है। केवल अकाल-परिभोग से उसकी रक्षा करनी है। इस प्रकार उपाय-कौशल से विहार करता हुआ बोधिसत्त्व बोधि-मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता ।।

६. क्षान्ति-पारमिता

अनेक प्रकार से शील-विशुद्धि का प्रतिपादन किया जा चुका है। आत्मभाव, पुण्य तथा भोग की रक्षा और शुद्धि का भी प्रतिपादन किया जा चुका है। अब क्षान्तिपारमिता का उल्लेख करते हैं। शांतिदेव कारिका में कहते हैं :—

"क्षमेत श्रुतमेषेत संश्रयेत वनं ततः।
समाधानाय युज्येत भावयेदशुभादिकम्" ।। (का० २०)

शिक्षासमुच्चय में इस कारिका के प्रत्येक पद को लेकर व्याख्या की गयी है।

मनुष्य में क्षान्ति होनी चाहिये। जो अक्षम है, वह श्रुतादि में खेद सहन करने की शक्ति न रखने के कारण अपना वीर्य नष्ट करता है। अखिन्न होकर श्रुत की इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि बिना ज्ञान के समाधि का उपाय नहीं जाना जाता, और क्लेश-शोधन का उपाय भी अधिगत नहीं होता। ज्ञानी के लिये भी संकीर्णचारी होने से समाधान दुष्कर है; इसलिये वन का आश्रय ले। वन में भी चित्तसमाधान के विना विक्षेप का शमन नहीं होता, इसलिये समाधि करे। समाहित-चित्त होने पर भी क्लेशशोधन के बिना कोई फल नहीं है; इसलिये अशुभ आदि की भावना करे।

जिस प्रकार अग्निकण तृणराशि को दग्ध करता है, उसी प्रकार द्वेष सहस्रों कल्प के उपार्जित शुभ कर्मों को तथा बुद्धपूजा को नष्ट करता है।

द्वेष के समान दूसरा पाप नहीं है और शान्ति के समान कोई तप नहीं। इसलिये नाना प्रकार से क्षान्ति का अभ्यास करना चाहिये। जिसके हृदय में द्वेषानल प्रज्वलित है, उसको शान्ति और सुख कहाँ! उसको न नींद आती है, और न उसका चित्त सुखी होता है। वह लाभ-सत्कार से जिनका अनुनय करता है, और जो उसके आश्रित हैं, वे भी उसका विनाश चाहते हैं, उसके मित्र भी उससे त्रास खाते हैं। दान देने पर भी

उसकी कोई सेवा नहीं करता; संक्षेप में क्रोधी कभी सुखी नहीं होता। अतः मनुष्य को द्वेष के परित्याग के लिये यत्नवान् होना चाहिये । जो क्रोध का नाश करता है, वह इस लोक तथा परलोक, दोनों में, सुखी रहता है। द्वेष के उपघात के लिये उसके कारण का उपघात करना चाहिये। जो हमारी कल्पना में हमारे सुख का साधन है, वह इष्ट है; और जो इसके विपरीत है, वह अनिष्ट है। अनिष्ट के सम्पादन से अथवा इष्ट के उपघात से मानस दुःख की उत्पत्ति होती है। इसलिये जो अनिष्टकारी है अथवा इष्ट-विरोधी हैं, उसके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। दौर्मनस्यरूपी भोजन पाकर द्वेष वलवान् होता है; इसलिए द्वेष के नाश की इच्छा रखता हुआ बोधिसत्त्व सबसे पहले दौर्मनस्य का समूल उपघात करे, क्योंकि द्वेष का उद्देश्य वध ही है। इस प्रकार द्वेष के दोषों को भलीभाँति जानकर द्वेष के विपक्षरूप क्षान्ति का उत्पादन करे।

क्षान्ति तीन प्रकार की है :—१. दुखाधिवासनाक्षान्ति; २. परोपकारमर्षणक्षान्ति और ३. धर्मनिध्यानक्षान्ति।

१. **दुःखाधिवासनाक्षान्ति** वह है, जिसमें अत्यन्त अनिष्ट का आगम होने पर भी दौर्मनस्य न हो। दौर्मनस्य से कोई लाभ नहीं है। वह केवल पुण्य का नाश करता है। अतः दौर्मनस्य के प्रतिपक्षरूप 'मुदिता' की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। दुःख पड़ने पर प्रमुदित-चित्त रहना चाहिये। चित्त में क्षोभ या किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न होने देना चाहिये। दौर्मनस्य से कोई लाभ नहीं है, अपितु प्रत्यक्ष हानि ही है। यदि इष्ट-विघात का प्रतीकार हो, तब भी दौर्मनस्य व्यर्थ और निष्प्रयोजन है। ऐसा विचार कर दौर्मनस्य का परित्याग ही श्रेष्ठ है।

प्रतीकार होने पर भी क्षुब्ध व्यक्ति मोह को प्राप्त होता है, और क्रोध से मूर्च्छित हो जाता है, उसको यथार्थ अयथार्थ का विवेक नहीं रह जाता। उसका उत्साह मन्द पड़ जाता है और उसे आपत्तियाँ घेर लेती हैं। इसलिये प्रतीकार भी असफल हो जाता है। इसी से कहा है कि दौर्मनस्य निरर्थक और अनर्थवान् है, पर अभ्यास से दुःख अबाधक हो जाता है। अभ्यास द्वारा दौर्मनस्य का त्याग हो सकता है। अभ्यास से दुष्कर भी सुकर हो जाता है। सुख अत्यन्त दुर्लभ है, दुःख सदा सुलभ है। दुःख का सर्वदा परिचय मिलता रहता है। इसलिये उसका अभ्यास कठिन नहीं है।

निस्तार का उपाय भी दुःख ही है, इसलिये दुःख का परिग्रह युक्त

ही है। चित्त को दृढ़ करना चाहिये, और कातरता का परित्याग करना चाहिये। बोधिसत्त्व तो अपने को तथा दूसरों को बुद्धत्व की प्राप्ति कराने का बीड़ा उठा चुका है। उसको तो कदापि कातर नहीं होना चाहिये। यदि यह कहो कि अल्प दुःख तो किसी प्रकार सहा जा सकता है, पर कर-चरण-शिरश्छेदनादि दुःख अथवा नरकादि का दुःख किस प्रकार सहा जा सकेगा ? ऐसी शंका अनुचित है; क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो अभ्यास द्वारा अधिगत न हो सके। अल्पतर व्यथा के अभ्यास से महती व्यथा भी सही जा सकती है। अभ्यासवश ही जीवों को दुःख-सुख का ज्ञान हो सकता है, इसलिये दुःख के उत्पाद के समय सुख-संज्ञा के प्रत्युपस्थान का अभ्यास करने से सुख संज्ञा ही का प्रवर्त्तन होता है। इससे सर्वधर्म-सुखाक्रान्त नाम की समाधि का प्रतिलाभ होता है। इस समाधि के लाभ से बोधिसत्त्व सब कार्यों में सुखा वेदना का ही अनुभव करता है।

क्षुत्पिपासा आदि वेदना को और मशक-दंश आदि व्यथा को निरर्थक न समझना चाहिये। इन मृदु व्यथाओं के अभ्यास के कारण ही हम महती व्यथा के सहन करने में समर्थ होते हैं। शीतोष्ण, वृष्टि, वात, मार्गक्लेश, व्याधि आदि का दुःख सुकुमारचित्तता के कारण वढ़ता है; इसलिये चित्त को दृढ़ रखना चाहिये। हम देखते हैं कि कोई तो संग्राम भूमि में अपना रक्त वहता देखकर और भी वीरता दिखलाते हैं, और कोई ऐसे हैं कि दूसरे का रुधिर-दर्शन होने से ही मूर्च्छित हो जाते हैं। यह चित्त की दृढ़ता और कायरता के कारण होता है ? इसलिये जो दुःख से पराजित नहीं होता, वही व्यथा को अभिभूत करता है। दुःख में भी पण्डित को चित्तक्षोभ न करना चाहिये, क्योंकि उसने क्लेश-शत्रुओं से संग्राम छेड़ रखा है, और संग्राम में व्यथा का होना अनिवार्य है। जो शत्रु के सम्मुख जाकर उसके प्रहारों को अपने वक्षःस्थल पर धारण करते हुए समर-भूमि में विजयी होते हैं, वे ही सच्चे विजयी और शूर हैं, शेष मृतमारक हैं।

दुःख का यह भी गुण है कि उससे यौवन धनादि विषयक मद का भंग होता है, और संसार के सत्त्वों के प्रति करुणा, पाप से भय तथा बुद्ध में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

पित्तादि दोषत्रय के प्रति हम कोप नहीं करते, यद्यपि वे व्याधि उत्पन्न कर सब दुःखों के हेतु होते हैं। इसका कारण यह है कि हम समझते हैं कि वे अचेतन हैं, और बुद्धिपूर्वक दुःखदायक नहीं है। इसी प्रकार

सचेतन भी कारणवश ही कुपित होते हैं। पूर्वकर्म के अपराध से कुपित होकर वे दुःखदायक होते हैं। उनका प्रकोप भी कारणाधीन है। इसलिये उन पर भी कोप नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार पित्तादि की इच्छा के बिना शूल अवश्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार बिना इच्छा के कारण-विशेष से क्रोध उत्पन्न होता है। कोई मनुष्य क्रोध करने के लिये ही इच्छा-पूर्वक क्रोध नहीं करता, और न क्रोध विचारपूर्वक उत्पन्न होता है। मनुष्य जो पाप या विविध अपराध करता है, वह प्रत्यय-बल से ही करता है। उनकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं होती। प्रत्यय-सामग्री को यह चेतना नहीं रहती कि मैं कार्य की उत्पत्ति कर रही हूँ; और कार्य को भी यह चेतना नहीं रहती कि अमुक प्रत्यय-सामग्री द्वारा मैं उत्पन्न हुआ हूँ। यह जगत् प्रत्ययतामात्र है। सभी धर्म हेतु-प्रत्यय के अधीन हैं। अतः किसी वस्तु का सम्भव स्वतन्त्र नहीं है।

सांख्य के मत में प्रधान और वेदान्त के मत में आत्मा स्वतन्त्र है, पर यह उनकी कल्पनामात्र है। यदि प्रधान या आत्मा विषय में प्रवृत्त होते हैं, तो उनकी निवृत्ति नहीं होती, अन्यथा अनित्यत्व का प्रसंग होगा। यदि वह नित्य और अचेतन है, तो स्पष्ट ही अक्रिय है; क्योंकि भले ही उसका प्रत्ययान्तर से सम्पर्क भी हो, तब भी निर्विकार अर्थात् पूर्व स्वभाव से च्युत न होने से उसमें किसी प्रकार की क्रिया का होना सम्भव नहीं। जो अक्रिया-काल तथा क्रिया-काल में एकरूप है, वह क्रिया का कौन सा अंश सम्पादित करता है? आत्मा और क्रिया में सम्बन्ध का अभाव है। यदि यह कहा जाय कि क्रिया ही सम्बन्ध है, तो इसमें कोई निमित्त नहीं ज्ञात होता। इस प्रकार सब बाह्य तथा आध्यात्मिक वस्तुएँ परायत्त हैं, स्वायत्त नहीं। हेतु भी स्वहेतु-परतन्त्र है। इस प्रकार यह संसार-परम्परा अनादि है। यहाँ स्ववशिता कहाँ सम्भव है? परमार्थदृष्टि में कौन किसके साथ द्रोह करता है, जिसके कारण अपराधी के प्रति द्वेष किया जाय! अतः जो चेष्टा और व्यापार से रहित हैं, उन पर कोप करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

यह कहा जा सकता है कि जब कोई स्वतन्त्र नहीं है तो द्वेष आदि का निवारण भी सम्भव नहीं; सब वस्तुसमूह प्रत्यय-सामग्री के बल से उत्पन्न होते हैं; कौन निवारण करता है जब कि कोई स्वतन्त्र कर्ता नहीं है? और किसका निवारण किया जाता है, जब कि किसी वस्तु की स्वतन्त्र

प्रवृत्ति नहीं होती ? अतः द्वेषादि से निवृत्ति का उपाय भी व्यर्थ है, क्योंकि सब कुछ परवश है, स्ववश नहीं है ? ऐसी शंका करना उचित नहीं है। यद्यपि सर्ववस्तुसमूह व्यापाररहित है, तथापि प्रत्यय-बल से उत्पन्न होने के कारण परतन्त्र है। अविद्यादि प्रत्यय-बल से संस्कारादि उत्तरोत्तर कार्य-प्रवाह का प्रवर्त्तन होता है, और पूर्व-पूर्व की निवृत्ति से निवर्त्तन होता है। इसलिये दुःख की निवृत्ति अभिमत है। द्वेषादि पाप के प्रवृत्ति-निवारणरूपी प्रत्ययबल से अभ्युदय-निःश्रेयसफल की उत्पत्ति होती है। इसलिये यदि शत्रु या मित्र कुछ अपकार करें तो वह विचार कर कि ऐसे ही प्रत्यय-बल से उनकी ऐसी प्रवृत्ति हुई है, दुःख से सन्तप्त नहीं होना चाहिये। अपनी इच्छामात्र से इष्टप्राप्ति और अनिष्टहानि नहीं होती; हेतुवश ही होती है। यदि इच्छामात्र से अभीष्ट की सिद्धि होती तो किसी को दुःख न होता; क्योंकि दुःख कोई नहीं चाहता, सभी अपना सुख चाहते हैं।

२. दूसरे के किये हुए अपकार को सहन करना, और उसका प्रत्यपकार न करना, **परापकारमर्षणक्षान्ति** है। प्रमादवश, क्रोधवश, अथवा अगम्य-परदार-धनादि-लिप्सावश, सत्त्व अनेकानेक कष्ट उठाते हैं, पर्वतादि से गिरकर अथवा विष खाकर आत्महत्या कर लेते हैं, अथवा पापाचरण द्वारा अपना विनाश करते हैं। जब क्लेशवश सत्त्व अपने आप को पीड़ा पहुँचाते हैं, तब पर के लिये अपकार से विरत कैसे हो सकते हैं! अतः ये जीव न कृपा के पात्र हैं, न द्वेष के स्थान। क्लेश से उन्मत्त ही परापकार द्वारा आत्मघात में प्रवृत्त होते हैं अतः दया के पात्र हैं। इनके प्रति क्रोध कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि दूसरों के साथ उपद्रव करना बालकों का स्वभाव ही है तो उनपर कोप करना उपयुक्त नहीं। अग्नि का स्वभाव जलाना है, यदि वह दहन-क्रिया छोड़ दे तो तत्स्वभावता की हानि का प्रसङ्ग उपस्थित हो। यह विचार कर कोई अग्नि पर क्रोध नहीं करता। यदि वह कहा जाय कि सत्त्व दुष्ट स्वभाव के नहीं हैं, वरंच सरल स्वभाव के हैं, और यह दोष आगन्तुक हैं; तब भी इन पर कोप करना अयुक्त होगा। जिस प्रकार धूम से आच्छन्न आकाश के प्रति क्रोध करना मूर्खता है, क्योंकि आकाश का स्वभाव निर्मल है, वह प्रकृति से परिशुद्ध है, कटुता उसका स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति-शुद्ध सत्त्वों पर आगन्तुक दोष के लिये क्रोध करना मूर्खता है।

कटुता आकाश का स्वभाव नहीं है, धूम का है। इसलिये धूम से

द्वेष करे न कि आकाश से। अतः सत्त्वों पर क्रोध न कर दोषों पर क्रोध करना चाहिये। दुःख का जो प्रधान कारण है, उसी पर कोप करना चाहिये, न कि अप्रधान कारण पर। शरीर पर दण्ड-प्रहार होने से जो दुःखा वेदना होती है, उसका मुख्य कारण दण्ड ही प्रतीत होता है। यदि कहा जाय कि दण्ड दूसरे की प्रेरणा से दुःखा वेदना उत्पन्न करता है, इसमें दण्ड का क्या दोष है? अतः दण्ड के प्रेरक से द्वेष करना युक्त होगा, तो यह अधिक समुचित होगा कि दण्ड-प्रेरक के प्रेरक द्वेष से द्वेष किया जाय[1]।

बोधिसत्व को विचार करना चाहिये कि मैंने भी पूर्व जन्मों में सत्त्वों को ऐसी ही पीड़ा पहुँचायी थी, इसलिये यह युक्त है कि ऋणपरिशोधन-न्यायेन मेरे साथ भी दूसरा अपकार करे। अपकारी का शस्त्र और मेरा शरीर दोनों दुःख के कारण हैं। उसने शस्त्र ग्रहण किया है और मैंने शरीर ग्रहण किया है। यदि कारणोपनायक पर ही क्रोध करना है तो अपने ऊपर भी क्रोध करना चाहिये।

जो कार्य का अभिलाष नहीं करता, उसको उसके कारण का ही परिहार करना चाहिये। पर मेरी तो उलटी मति है। मैं दुःख नहीं चाहता, पर दुःख के कारण शरीर में मेरी आसक्ति है। इसमें अपराध मेरा ही है। दूसरे पर कोप करना व्यर्थ है दूसरा तो सहकारीमात्र है। आत्मवध के लिये मैंने स्वयं शस्त्र ग्रहण किया है, तो दूसरे पर क्यों कोप करूँ? नरक का असिपत्र-वन और वहाँ के पक्षी, जो नरक में मेरे दुःख के हेतु हैं, वे मत्कर्मजनित हैं। इसमें दूसरा कारण नहीं है। इसी प्रकार दूसरा यदि मेरे साथ दुष्ट-व्यवहार करता है, और उससे मुझको दुःख उत्पन्न होता है, तो उसमें भी मैं ही हेतु हूँ। ऐसा विचार कर कोप न करना चाहिये।

मैंने पहले दूसरों के साथ अपकार किया, इसलिये मेरे कर्म से प्रेरित होकर वे भी अपकार करते हैं, और नरक में निवास करते हैं; इसलिये मैंने ही इनका नाश किया। इन्होंने मेरा विघात नहीं किया। इस प्रकार चित्त-बोध करना चाहिये।

इन अपकारियों के निमित्त क्षान्ति-धारण करने से पूर्वजन्मकृत

---

१. मुख्यं दण्डादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते।
द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु मे वरम्॥ [बोधि० ६।४१]

परापकारजनित पाप दुःखानुभव द्वारा क्षीण हो जाता है, और मेरे निमित्त इसका नरक-गमन होता है, जहाँ इनको दुःसह दुःख का अनुभव करना होता है। इस प्रकार मैं ही इनका अपकारी हूँ और ये मेरे उपकारी हैं। फिर उपकारी के प्रति मेरी अपकार की बुद्धि क्यों है ?

मैं यदि अपकारी होते हुए भी किसी उपाय-कौशल से, यथा प्रत्यपकार-निवृत्तिनिष्ठा द्वारा नरक न जाऊँ, अपनी रक्षा करूँ, तो इसमें इन उपकारियों की क्या क्षति है ? यदि ऐसा है तो उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करनी चाहिये, और अपकार-निवृत्ति द्वारा अपनी रक्षा न करनी चाहिये। पर प्रत्यपकार करने से भी इनकी रक्षा नहीं होती। इनको अपने पाप-कर्म का फल भोगने के लिये नरक में अवश्य निवास करना होगा, और ऐसा करने से मैं बोधिसत्त्वचर्या से भ्रष्ट हो जाऊँगा[1]।

इसके अतिरिक्त मैं सब सत्त्वों की रक्षा करने में अशक्य हो जाऊँगा, और इस प्रकार वे दुर्गति में पड़ेंगे।

३. अब धर्मनिध्यानक्षान्ति बतलाते हैं। दुःख दो प्रकार का है— कायिक और मानसिक। इसमें मानसिक दुःख नहीं, परमार्थतः क्योंकि मन अमूर्त्त है, और इसलिये मन पर दण्डादि द्वारा प्रहार शक्य नहीं है। पर इस कल्पना द्वारा कि यह शरीर मेरा है, शरीर को दुःख पहुँचाने से चित्त भी दुःखी होता है। पर अयश और पुरुष-वाक्य तो शरीर का उपघात नहीं करते। फिर किस लिये इससे चित्त कुपित होता है ? यदि यह कहा जाय कि जब लोग मेरे अयश इत्यादि की बात सुनते हैं, तो वे मुझसे अप्रसन्न होते हैं और उनकी अप्रसन्नता मुझको अभीष्ट नहीं है। पर यह विचार कर कि लोक का अप्रसाद न इस लोक में मेरा अनर्थ सम्पादन कर सकता है, न जन्मान्तर में, इस लिये लोक की अप्रसन्नता में अभिनिवेश न करना चाहिये।

यदि यह सन्देह हो कि लाभ का विघात होगा, लोग मुझसे विमुख हो जायेंगे और पिण्डपातादि लाभ-सत्कार से मुझको वंचित रखेंगे, तो यह विचार करना चाहिये कि लाभ विनश्वर होने के कारण नष्ट हो जायगा, पर पाप सदा स्थिर रहेगा।[2]

---

१. सर्वसत्त्वेषु न मैत्रचित्तं मया निक्षेप्तव्यम्। अन्तशो न दग्धस्थूणायामपि प्रतिघचित्तमुत्पादयितव्यम्। (बो० च० पृ० १४१)

२. नङ्क्ष्यतीहैव मे लाभः पापं तु स्थास्यति ध्रुवम् [बोधि० ६,५५]

लाभ के अभाव में आज ही मर जाना अच्छा है, पर परापकार द्वारा लाभ-सत्कार पाकर चिरकाल तक मिथ्या जीवन व्यतीत करना बुरा है; क्योंकि चिरकाल तक जीवित रहने में भी मृत्यु का दुःख वैसा ही बना रहता है। कोई स्वप्न में १०० वर्ष का सुख अनुभव कर जागता है, दूसरा मुहूर्त के लिए सुखी होकर जागता है। स्वप्नोपलब्ध सुख जाग्रत अवस्था में लौट नहीं आता। उसका स्मरणमात्र अवशिष्ट रह जाता है! जाग्रत अवस्था में उपभुक्त सुख भी विनष्ट होकर नहीं लौटता। इसी प्रकार मनुष्य चाहे चिरजीवी हो या अल्पजीवी, उसका उपभुक्त सुख मरण के समय विनष्ट हो जाता है। प्रचुरतर लाभ-सत्कार पाकर और दीर्घकाल पर्यन्त अनेक सुखों का उपभोग करके भी अन्त में खाली हाथ और नग्न शरीर जाना होता है, मानों किसी ने सर्वस्व हर लिया हो[1]।

यदि यह विचार हो कि लाभ द्वारा चीवरादि का विघात न होने से चिरकाल तक जीवित रहकर हम पापक्षय और पुण्य-संचय करेंगे, तो यह भी स्मरण रहे कि लाभ के लिये द्वेष करनेवाले का सुकृत नष्ट हो जाता है, और अक्षान्ति से पापराशि की उत्पत्ति होती है[2]।

जिसके लिये मेरा जीवन है, यदि वही नष्ट हो जाय तो ऐसे निन्दित जीवन से क्या लाभ? बोधिसत्त्व का जीवन इतर जन के जीवन के सदृश निष्प्रयोजन नहीं है। उसका जीवन पाप के क्षय के लिये, और पुण्य की अभिवृद्धि के लिये है। यदि यह उद्देश्य फलीभूत न हो और सुकृत का क्षय हो तो ऐसा अशुभ जीवन व्यर्थ है। यदि यह कहो कि जो मेरे गुणों को छिपाकर केवल दोषों का आविष्करण करता है, उससे मेरा द्वेष करना युक्त है; क्योंकि वह सत्त्वों का नाश करता है, तो जब दूसरे किसी का कोई अयश प्रकाशित करता है तो उसके प्रति तुमको क्यों कोप उत्पन्न नहीं होता। जो दूसरों की निन्दा करता है, उसको तो तुम क्षमा कर देते हो, उसके प्रति क्रोध नहीं करते, तब अपनी निंदा करनेवाले को भी क्षमा क्यों नहीं करते?

---

१. लब्ध्वापि च बहूँल्लाभान् चिरं भुक्त्वा सुखान्यपि।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा। [बोधि० ६,५९]

२. पापक्षयं च पुण्यं च लाभाज्जीवन् करोमि चेत्।
पुण्यक्षयश्च पापं च लाभार्थं क्रुध्यतो ननु॥ [बोधि० ६,६०]

जो प्रतिमा, स्तूप, और सद्धर्म का निन्दक या नाशक हो, उनके प्रति श्रद्धावश द्वेष करना युक्त नहीं है, इससे बुद्धादि को कोई पीड़ा नहीं पहुँचती। यदि कोई गुरुजन सहोदर भाई, तथा अन्य बन्धुवर्ग का भी अपकार करे तो उस पर भी क्रोध न करना चाहिये। एक अज्ञान के वश हो दूसरे के साथ अपकार करता है अथवा दूसरे की निंदा करता है, तो दूसरा अपकारी पर मोहवश क्रोध करता है। इनमें से किसको अपराधी और किसको निर्दोष कहें ? दोनों का दोष समान है। पहले ऐसे कर्म क्यों किये जिनके कारण अब दूसरों द्वारा पीड़ित होना पड़ता है। सब अपने कर्म के अधीन हैं। कर्मफल के निर्वत्तन में कोई समर्थ नहीं है, ऐसा विचार कर कुशल-कर्म के सम्पादन में यत्नवान् होना चाहिये, जिससे सन्मार्ग में प्रवेश कर सब सत्त्व द्रोह छोड़कर एक दूसरे के हित-सुख-विधान में तत्पर हों।

जिस प्रकार जब एक घर में आग लगती है और वह आग फैलकर दूसरे घर में जाती है, और वहाँ के तृणादि में लगती है, तब शीघ्र उस तृण आदि को हटाकर उसकी रक्षा का विधान किया जाता है; उसी प्रकार चित्त जिस वस्तु के संग से द्वेषाग्नि से दह्यमान हो, उस वस्तु का उसी क्षण परित्याग कर देना चाहिये।

जिसको मारणदण्ड मिला हो, यदि वह हस्तच्छेदमात्रानन्तर मुक्त कर दिया जाय तो इसमें उसका स्पष्ट लाभ है; क्षति नहीं है। इसी प्रकार यदि मनुष्य के दुःख का अनुभव कर नरक-दुःख से छुटकारा मिले, तो इसमें सुखी होना चाहिये; क्योंकि नरक-दुःख की अपेक्षा मनुष्य-दुःख कुछ भी नहीं है। यदि इतना भी दुःख नहीं सहा जा सकता तो उस क्रोध का निवारण क्यों नहीं करते, जिसके कारण नरक की व्यथा भोगनी पड़ती है ! इसी क्रोध के निमित्त अनेक सहस्र बार मुझको नरक व्यथा सहनी पड़ी है। इससे न मैंने अपना उपकार किया और न दूसरों का। इसलिये सारा दुःखानुभव निष्प्रयोजन ही हुआ। पर मनुष्य-दुःख नरक-दुःख के समान कठोर नहीं है, और यह इसके अतिरिक्त बुद्धत्व का साधन भी है। अतः इस दुःखमें अभिरुचि होनी चाहिये, क्योंकि यह संसार के दुःख का प्रशमन करेगा। यदि किसी गुणी के गुणों का वर्णन कर दूसरे सुखी होते हैं तो तुम भी उसका गुणानुवाद कर अपने मन को क्यों नहीं प्रसन्न करते ? ईर्ष्यानल की ज्वाला से क्यों जलते हो ? यह सुख अनिन्द्य है, और सुख का कारण है। इसमें सबसे बड़ा गुण यह है कि सत्त्वों के आवर्जन का यह सर्वोत्तम उपाय है।

यदि यह कहो कि पर की गुण-प्रशंसा मुझको प्रिय नहीं है, क्योंकि इसमें दूसरे को सुख प्राप्त होता है तो इससे बड़ा अनर्थ सम्पादित होगा। इससे ऐहिक और पारलौकिक दोनों फल नष्ट हो जायेंगे। दूसरे की सुख-संपत्ति को देखकर कुढ़ना अनुचित है। जब अपने गुण का संकीर्तन सुन तुम यह इच्छा रखते हो कि दूसरे प्रसन्न हों तो क्यों दूसरों की प्रशंसा सुनकर तुम स्वयं प्रसन्न नहीं होते? तुमने इसलिये बोधिचित्त का ग्रहण किया है कि बुद्धत्व के अनुपम लाभ द्वारा सब सत्त्वों को समस्त सुख-सम्पत्ति का उपभोग करायेंगे, तो फिर यदि वे स्वयं सुख प्राप्त करें तो इससे क्यों अप्रसन्न होते हो? दूसरे की सुख-संपत्ति देख तुम्हारी यह असहिष्णुता क्यों है? तुम तो यह आकांक्षा रखते हो कि सत्त्वों को बुद्धत्व प्राप्त करायेंगे, जिससे वे त्रैलोक्य में पूजे जायँ, फिर उनके स्वल्प लाभ-सत्कार को देखकर क्यों जलते हो[1]?।

सब सत्त्व तुम्हारे आत्मीय हैं। उनके पोषण का भार तुमने अपने ऊपर लिया है। जो उनका पोषण करता है, वह तुम्हीं को देता है। ऐसे पुरुष को पाकर तुम क्रोध करते हो! उसको सुखी देख तुमको सुखी होना चाहिये। यदि यह कहो कि बुद्धत्व के लिये ही मैंने जगत् को आमन्त्रित किया है, न कि अन्य सुख के लिये तो यह उपयुक्त नहीं है। जो सत्त्वों के लिये बुद्धत्व की इच्छा रखता है वह उनके लिये लौकिक तथा लोकोत्तर समस्त वस्तुसमूह की इच्छा रखता है। जो दूसरे की सुख-सम्पत्ति को देखकर क्रुद्ध होता हो और दूसरे का लाभ-सत्कार नहीं देख सकता हो, उसकी बोधिचित्त की प्रतिज्ञा मिथ्या है। यदि उसने लाभ-सत्कार न पाया तो दान की वस्तु दानपति के घर में रहती है, वह वस्तु किसी अवस्था में भी तुम्हारी नहीं हो सकती। लाभ-सत्कार का पानेवाला क्या उस पूर्वजन्मकृत पुण्य का निवारण करे कि जिसके कारण उसको लाभ-सत्कार प्राप्त होता है, अथवा दाता का निवारण करे? अमवा अपने गुणों का निवारण करे जिनसे प्रसन्न हो दानपति लाभ-सत्कार का दान करता है? कहो, किस प्रकार से तुम्हारा परितोष हो? तुम अपने किये हुए पापों के लिये शोक नहीं करते, पर दूसरे के पुण्य से ईर्ष्या करते हो। अभिलाषमात्र से तुम्हारे शत्रु का अनिष्ट सम्पादित हो तो उससे क्या फल मिलेगा? बिना हेतु के केवल तुम्हारे अभिलषामात्र से ही किसी का

---

१. त्रैलोक्यपूज्यं बुद्धत्वं सत्त्वानां किल वाञ्छसि।
सत्कारमित्वरं दृष्ट्वा तेषां किं परिदह्यसे॥ [बोधि० ६,८१]

अनिष्ट नहीं हो सकता। यदि हो भी तो दूसरे के दु.ख से तुमको क्या सुख मिलेगा ?

यदि दूसरे को दुःखी देखना ही तुम्हारा अभिप्राय हो, और इसी में अपना सुख मानते हो तो इससे बढ़कर तुम्हारे लिये क्या अनर्थ हो सकता है ? यम के दूत तुमको ले जाकर कुम्भीपाक नरक में पकावेंगे। स्तुति के विघात से दुःख उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है। स्तुति, यश अथवा सत्कार से न पुण्य की वृद्धि होती है, न आयु की, न बल की, न आरोग्य लाभ होता है और न शरीर-सुख प्राप्त होता है। बुद्धिमान पुरुष इन पाँच प्रकार के पुरुषार्थों की कामना करता है। यश के लिये लोग अपने धन और प्राण को भी तुच्छ समझते हैं। यश के लिये मरने पर उनका सुख किसको प्राप्त होता है ? केवल अक्षरमात्र हैं। तो क्या अक्षर खाये जायेंगे ? यह बालक्रीड़ा के समान है। जिस प्रकार एक बालक धूलिमय गृह बनाकर परम परितोष से क्रीड़ा करता है, पर उसके भग्न जाने पर अत्यन्त दुःखी हो करुणस्वर से आर्तनाद करता है; उसी प्रकार उस व्यक्ति की दशा होती है जो स्तुति और यशरूपी खिलौनों से खेलता है और उनके विघात से दुःखी होता है।

यदि कोई मुझसे या किसी दूसरे से प्रीति करता है, तो मुझे क्या ? यह प्रीति-सुख उसी को है, इसमें मेरा किञ्चिन्मात्र भी भाग नहीं है। यदि दूसरे के सुख से सुख की प्राप्ति हो तो सर्वत्र ही मुझको सुख की प्राप्ति हो, और जब कोई किसी का लाभ-सत्कार करे तो मुझको भी सुख हो; पर ऐसा नहीं होता। मैं तो तभी प्रसन्न होता हूँ जब दूसरे मेरी प्रशंसा करते हैं। यह तो बालचेष्टा है। स्तुति आदि कल्याण की घातक होती है। स्तुति आदि द्वारा गुणी के प्रति ईर्ष्या और परलाभसत्कारा-मर्षण का उदय होता है। स्तुति आदि में यह दोष है। इसलिये जो मेरी निन्दा के लिये उद्यत है, वह नरकपात से मेरी रक्षा करने में प्रवृत्त हुआ है। लाभ-सत्कार विमुक्ति के लिये बन्धन हैं। मैं मुमुक्षु हूँ। इसलिये जो इन बन्धनों से मुझको मुक्त करता है, वह शत्रु किस प्रकार हुआ ? वह तो एक प्रकार का कल्याणमित्र है। इसलिये उससे द्वेष करना अयुक्त है। यह बुद्ध का ही माहात्म्य है कि मैं तो दुःखसागर में प्रवेश करना चाहता हूँ और ये कपाट बन्द कर मेरा मार्ग अवरुद्ध करना चाहते हैं, अतः दुःख से मेरी रक्षा करते हैं। फिर क्यों मैं इनसे द्वेष करूँ ? जो पुण्य का

विघात करे उस पर भी क्रोध करना अयुक्त है; क्योंकि क्षान्ति (तितिक्षा) के तुल्य कोई तप अर्थात् सुकृत नहीं है, और यह सुकृत बिना किसी यत्न के ही उपस्थित होता है। पुण्यविघ्नकारी के छल से पुण्यहेतु की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत यदि मैं पुण्यविघ्नकारी को क्षमा न करूँ तो मैं ही पुण्यहेतु उपस्थित होने पर पुण्य का बाधक होता हूँ। यदि वह पुण्यविघातकारी है तो किस प्रकार वह पुण्य का हेतु हो सकता है?— यह शंका उचित नहीं; क्योंकि जिसके बिना कार्य नहीं होता और जिसके रहने पर ही कार्य होता है, वही उस कार्य का कारण है; वह उसका विघातहेतु नहीं कहलाता। दान देते समय यदि दानपति के पास कोई अर्थी आवे तो यह नहीं कहा जा सकता कि उस याचक ने दान में विघ्न डाला; क्योंकि वह दान का कारण है। बिना अर्थी के दान प्रवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार शिक्षाग्रहण कराने के लिये यदि परिव्राजक आवे तो उसकी प्राप्ति प्रव्रज्या में विघ्नकारक नहीं है। लोक में याचक सुलभ हैं, पर अपकारी दुर्लभ हैं; क्योंकि जो दूसरे के साथ बुराई नहीं करता उसका कोई भी अनिष्ट नहीं करता। इसलिये यह समझना चाहिये कि मैंने अपने घर में बिना श्रम के एक निधि उपार्जित की है। अपने शत्रु का कृतज्ञ होना चाहिये कि वह बोधिचर्या में सहायक है। इस प्रकार क्षमा का फल मुझको और उसको दोनों को मिलता है। वह मेरे धर्म में सहायक है, इसलिये यह क्षमा-फल पहले उसी को देना चाहिये।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि क्या ऐसा युक्तियुक्त होता, शत्रु इस अभिप्राय से कार्य में प्रवृत्त होता कि मुझको क्षमाफल की प्राप्ति हो? यद्यपि शत्रु कुशल का हेतु है, तथापि वह इस बुद्धि से अपकार नहीं करता कि दूसरों को क्षमाफल प्राप्त हो। ऐसा होते हुए भी शत्रु पूजनीय है। जैसे सद्धर्म की पूजा इसलिये होती है कि वह कुशल निष्पत्ति का हेतु है, यद्यपि वह अचित्त अर्थात् निरभिप्राय है। यदि अभिप्राय ही पूजा में हेतु होता तो आशय-शून्य होने से सद्धर्म भी पूजनीय न होता। यदि यह कहो कि अपकार बुद्धि होने से शत्रु की पूजा करनी चाहिये, तो बताओ क्षान्ति कैसे हो? अपकार का न सहना या प्रत्यपकार करना युक्त नहीं। जिस प्रकार हितसुखविधायक सुवैद्य के प्रति रोगी का प्रेम और आदर भाव रहता है, द्वेष की गन्ध भी नहीं रहती, वहाँ क्षान्ति का प्रश्न ही नहीं उठता; उसी प्रकार जो अपकारी नहीं है उसके प्रति द्वेष-चित्त के निवर्तन का क्या प्रश्न!

दुष्टाशय के कारण ही क्षमा की उत्पत्ति होती है, आशय को लक्ष्य कर नहीं होती। इसलिये वह क्षमा का हेतु है और सद्धर्म की तरह उसका सत्कार करना चाहिये। मुझे उसके आशय के विचार करने का कोई प्रयोजन नहीं है।

सत्त्व-क्षेत्र और निज-क्षेत्र का वर्णन भगवान् ने किया है, क्योंकि इनकी अनुकूलता से बहुतों ने बुद्धत्व प्राप्त कर लौकिक और लोकोत्तर सर्वसम्पत्तिपर्यन्त पायी है। ऐसी शंका हो सकती है कि यद्यपि सत्त्व सर्व-सम्पत्ति के हेतु हैं, तथापि तथागत बुद्ध के साथ उनकी समानता युक्त नहीं है। पर यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जब दोनों से समान रूप में बुद्ध-धर्मों का आगम होता है, तब जिनों के प्रति गौरव होना और सत्त्वों के प्रति न होना युक्त नहीं है। सत्त्व यदि रागादि मलों से संयुक्त होने के कारण हीनाशय हैं तो भगवान् से समानता कैसे हो सकती है? यह शंका भी अनुचित है; क्योंकि यद्यपि भगवान् का माहात्म्य अपरिमित पुण्य और ज्ञान के होने के कारण लोकोत्तर है, तथापि कार्य के तुल्य होने से सम माहात्म्य कहा जाता है। सत्त्व 'जिन' के समान इसीलिये हैं, क्योंकि वह भी बुद्धधर्म का लाभ कराते हैं। यद्यपि परमार्थ दृष्टि में वह भगवान् के समान नहीं है; क्योंकि भगवान् गुणों के सागर हैं, और गुणार्णव का एक देश भी अनन्त हैं। यदि किसी सत्त्व में बुद्ध के गुणों की एक कणिका भी पायी जाय तो तीनों लोक भी पूजा के लिये अपर्याप्त हैं।

अकृत्रिम सुहृद् ओर अनन्त उपकार करनेवाले बुद्ध तथा बोधिसत्वों के प्रति जो अपकार किया गया है, उसका परिशोधन इससे बढ़कर क्या हो सकता है कि जीवों की सेवा करे? बोधिसत्व जीवों के हित-सुख के लिये अपने अंग काट-काटकर दे देते हैं और अवीचि नामक नरक में सत्त्वों के उद्धार के लिये प्रवेश करते हैं। इसीलिये परम अपकार करनेवाले की ओर से भी चित्त को दूषित नहीं करना चाहिये। किन्तु अनेक प्रकार से मनसा वाचा कर्मणा दूसरों का कल्याण ही करना चाहिये। इसी से लोकनायक बुद्ध अनुकूल होंगे और इसी से वाञ्छित फल मिलेगा। बोधिसत्त्व को विचारना चाहिये कि जिनके निमित्त भगवान् अपने शरीर और प्राणों की उपेक्षा करते हैं, और उनका तृणवत् परित्याग करते हैं, उन सत्त्वों से वह कैसे मान कर सकता है? सत्त्वों को सुखी देखकर मुनीन्द्र हर्ष को प्राप्त होते हैं और उनकी पीड़ा से उनको विषाद होता है। उनकी प्रसन्नता में बुद्धों की प्रसन्नता है और उनका अपकार करने से बुद्ध अपकृत होते हैं।

जिसका शरीर चारों ओर से अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है, वह किसी प्रकार इच्छाओं में सुख नहीं मानता। इस प्रकार जब सत्वों को दुःखवेदना होती है, तब दयामय भगवान् प्रसन्न नहीं होते। मैंने सत्त्वों को दुःख देकर सब बुद्धों को दुःखित किया है। इसलिये आज मैं अपने पाप महाकारुणिक जिनों के आगे प्रकाश करता हूँ। मैंने उनको दुःख पहुँचाया, इसलिये क्षमा माँगता हूँ। मैं अपने को सब प्रकार से लोगों का दास मानता हूँ। लोग चाहे मेरे सिर पर पैर रखें, उनका पैर मैं प्रसन्नता से सिर पर धारण करूँगा। इसमें संशय नहीं है कि बुद्ध और बोधिसत्वों ने समस्त जगत् को अपनाया है। यह निश्चित है कि बुद्ध सत्त्व के रूप में दिखलायी पड़ते हैं। वे नाथ हैं। हम उनका अनादर कैसे कर सकते हैं[1]।

तथागत बुद्ध इसी से प्रसन्न होते हैं। स्वार्थ की सिद्धि भी इसी से होती है। लोक का दुःख भी इसी से नष्ट होता है। इसलिए यही मेरा व्रत हो[2]।

एक राजपुरुष जन-समूह का विमर्दन करता है और वह समूह उसका कुछ बिगड़ नहीं सकता; क्योंकि वह अकेला नहीं है, उसको राजबल प्राप्त है। इसी प्रकार जो अपराध करता है, उसको दुर्बल समझकर अपमानित न करना चाहिये, वह अकेला नहीं है, अपितु नरक-पाल और दयामय उनके बल हैं। इसलिये जैसे भृत्य कुपित राजा को प्रसन्न करता है, उसी प्रकार सबको सत्त्वों को प्रसन्न करना चाहिये। कुपित होकर भी राजा उतना कष्ट नहीं दे सकता जितना कष्ट सत्वों को अप्रसन्न कर नारकीय यातना के अनुभव से मिलता है। राजा प्रसन्न होकर यदि बड़े से बड़ा पदार्थ भी दे, तब भी वह बुद्धत्व की समता नहीं कर सकता, जो सत्त्वाराधन से मिलता है। सत्वाराधन से भविष्य में बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ-साथ इस लोक में सौभाग्य, यश और सुख मिलता है। जो क्षमा करता है वह संसार में आरोग्य, चित्तप्रसाद, दीर्घायु और अत्यन्त सुख पाता है॥

७. वीर्य-पारमिता

जो क्षमी है, वही वीर्य लाभ कर सकता है। वीर्य में बोधि प्रतिष्ठित

---

१. आत्मीकृतं सर्वमिदं जगत्तैः कृपात्मभिर्नैव हि संशयोऽस्ति,
दृश्यन्त एते ननु सत्त्वरूपास्त एव नाथाः किमनादरोऽत्र। [बोधि० ६।१२६]

२. तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव॥ [बोधि० ६।१२७]

है। जैसे वायु के विना गति नहीं है वैसे वीर्य के विना पुण्य नहीं। कुशल कर्म में उत्साह का होना ही वीर्य का होना है। इसके विपरीत आलस्य, कुत्सित में आसक्ति, विषाद और आत्म-अवज्ञा हैं। संसार-दुःख का तीव्र अनुभव न होने से कुशल-कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। इस निर्व्यापारिता से आलस्य होता है। क्या नहीं जानते कि क्लेशरूपी मछुओं से आक्रान्त तुम जन्म के जाल में पड़े हो? क्या तुम नहीं जानते कि तुम मृत्यु मुख में प्रविष्ट हो? क्या अपने वर्ग के लोगों को, एक के बाद दूसरे को मारे जाते नहीं देखते हो? तुम वह देखकर भी निद्रा के मोहजाल में फँसे हो। अपने को निःशरण देखकर भी सुखपूर्वक बैठे हो। तुमको भोजन कैसे रुचता है? क्योंकर नींद आती हैं, और संसार में रति कैसे होती है? आलस्य छोड़कर कुशलोत्साह की वृद्धि करो। मृत्यु अपनी सामग्री एकत्र कर शीघ्र ही तुम्हारे वध के लिये आ उपस्थित होगी! उस समय तुम कुछ न कर सकोगे। उस समय तुम इस चिन्ता से विह्वल हो जाओगे कि हा! जो काम विचारा था, वह न कर सका; जिसका आरम्भ किया था या जिसको कुछ निष्पन्न किया था, उस को समाप्त न कर सका और बीच में ही यह अकस्मात् मृत्यु का आक्रमण हुआ। तुम उस समय यमदूतों के मुख की ओर निहारोगे, तुम्हारे बन्धु-बान्धव तुम्हारे जीवन से निराश हो जायेंगे और शोक के वेग से उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होगी। मरण-समय उपस्थित होने पर सुकृत या पापकर्म का स्मरण होने से तुमको पश्चात्ताप होगा। तुम नारकीय शब्दों को सुनोगे और त्रास से पुरीषोत्सर्ग के कारण तुम्हारे गात्र मलमूत्र से उपलिप्त हो जायेंगे। शरीर, वाणी और चित्त तुम्हारे अधीन न रहेंगे। उस समय तुम क्या करोगे? ऐसा समझकर स्वस्थ अवस्था में ही कुशल-कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। जिस प्रकार बहुत से लोग क्रमशः खाने के लिये ही मछलियों को पालते हैं, उनका मरण आज नहीं तो कल अवश्य होगा, उसी प्रकार सत्त्वों को समझना चाहिये कि आज नहीं तो कल मृत्यु अवश्यमेव होगी। उन लोगों को विशेषकर तीव्र नारकीय दुःखों से भयभीत होना चाहिये, जिन्होंने पापमय कर्म किया है। सुकुमार होने के कारण जब तुम उष्णोदक के स्पर्श को भी सहन नहीं कर सकते तो नारक कर्म करके आरामसे क्यों बैठे हो? विना पुरुषार्थ किये फल की आकांक्षा करते हो; दुःख सहने की सामर्थ्य नहीं है, मृत्यु के वशीभूत हो। तुम्हारी दशा कष्टपूर्ण है। अष्टाक्षणविनिर्मुक्त मनुष्यभाव रूपी नौका तुमको मिल गयी है। दुःखमयी महानदी को पार करो। वीर्य का

अवलम्बन कर सब दुःखों को पार करो। यह सोने का समय नहीं है। यदि इस समय पुरुषार्थ न करोगे, तो फिर नौका का मिलना कठिन होगा। ऐसा समागम बार-बार नहीं होता। कुत्सित कर्मों में आसक्त न हो। शुभ कर्मों में रति होने से अपर्यन्त सुख-प्रवाह प्रवाहित होता है। इसको छोड़कर तुम्हारी प्रवृत्ति रति, हास, क्रीडा इत्यादि में क्यों है? ये केवल दुःख के हेतु हैं।

अविषाद, बलव्यूह, निपुणता, आत्मवशवर्तिता, परात्मसमता और परात्मपरिवर्त्तन से वीर्य-समृद्धि का लाभ होता है। कोई पुरुष-विशेष अपरिमित पुण्य, ज्ञान के बल से दुष्कर कर्मों का अनुष्ठान कर कहीं असंख्येय कल्पों में बुद्धत्व को प्राप्त होता है। 'मैं साधारण व्यक्ति किस प्रकार बुद्धत्व को प्राप्त करूँगा?' ऐसा विषाद न करना चाहिये; क्योंकि सत्यवादी तथागत बुद्ध ने सत्य कहा है कि जिन बुद्धों ने उत्साहवश, दुर्लभ, अनुत्तरबोधि को पाया है, वे भी संसार-सागर के आवर्त्त में परिभ्रमण करते हुए मच्छर, मक्खी, कीड़े की योनियों में उत्पन्न हुए थे। जिसमें पुरुषार्थ है, उसके लिये कुछ दुष्कर नहीं। मैं मनुष्य स्वभाव में हूँ; हित-अहित पहचानने की मुझमें शक्ति है।

सर्वज्ञ के बताये हुये मार्ग के अपरित्याग से बोधि अवश्य प्राप्त होगी। अतिदुष्कर कर्म के श्रवण से इसमें अनध्यवसाय ठीक नहीं है। हस्त-पादादि दान में देना होगा; कैसे ऐसे दुष्कर्म कर सकेंगे, ऐसा भय केवल इसलिये होता है कि मोहवश गुरु और लाघव का परमार्थ विचार नहीं होता। पापकर्म कर सत्त्व नरकाग्नि में जलाये जाते हैं, और नाना प्रकार की यातनायें भोगते हैं। यह दुःख महान्, पर निष्फल है। इससे बोधि नहीं प्राप्त होती, पर बुद्धत्व का प्रसाधक दुःख अल्प और सफल है। शरीर में प्रवृष्ट शल्य के उद्धरण में थोड़ा दुःख अवश्य होता है, पर बहुव्यथा का निवर्तन होता है। इसी प्रकार थोड़ा दुःख सहकर दीर्घकालिक दुःख का उपशम होता है। इसलिये इस थोड़े से दुःख को सहना उचित है। वैद्य लंघन, पाचन आदि दुःखमय क्रियाओं द्वारा रोगियों को आरोग्य-लाभ कराता है। इससे बहुत से दुःख नष्ट हो जाते हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को थोड़ा दुःख स्वीकार करना चाहिये। पर सर्वव्याधिचिकित्सक भगवान् ने साधक के लिये इन उचित दुःखोत्पादिनी क्रियाओं का कर्त्तव्य-रूप में प्रतिपादन नहीं किया। वह सामर्थ्यानुसार मृदु उपचार द्वारा

दीर्घ रोगियों की चिकित्सा करते हैं। प्रारम्भ में शल्य के परित्याग में; यथा शाकादि दान में, नियुक्त करते हैं। पीछे से जब मृदु दानाभ्यासकर्म से अधिक मात्रा में दानाभ्यासप्रकर्ष होता है, तब अपना मांस रुधिर आदि भी प्रसन्नतापूर्वक देने की सामर्थ्य प्रकट होती है। जब अभ्यासवश स्वमांस में शाक के समान निरासङ्ग बुद्धि उत्पन्न होती है, तब स्वमांसादि-दान भी सुलभ हो जाता है।

बोधिसत्त्व को कायिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःख नहीं होते। पाप के विरत होने के कारण कायिक दुःख नहीं होता। बाह्य और अध्यात्म-नैरात्म्य होने के कारण मानसिक दुःख भी उसको नहीं होता। मिथ्याकल्पना से मानसिक और पाप से कायिक व्यथा होती है, पुण्य से शरीर-सुख और यथार्थज्ञान से मानसिक सुख मिलता है। जो दयामय है, और जिसका जीवन संसार में परमार्थ के लिये ही है, उसको कौन सा दुःख हो सकता है! यदि यह शंका हो कि दीर्घकाल में पुण्य-सञ्चय द्वारा सम्यक्सम्बोधि की प्राप्ति होती है, इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि शीघ्र काल में फल देनेवाले हीनयान का ही आश्रय ले; तो ऐसी शंका न करनी चाहिये; क्योंकि महायान पूर्वकृत पापों का क्षय करता है, और पुण्यसागर की प्राप्ति कराता है। इसलिये यह हीनयान की अपेक्षा शीघ्रगामी है।

बोधिचित्त-रथ पर आरूढ़ होना चाहिये। यह सब क्लेशों का निवारक है। इस प्रकार अधिकाधिक सुख पाते हुए कौन ऐसा सचेतन है जो विषाद को प्राप्त हो? सत्त्वों की अर्थसिद्धि के लिये बोधिसत्त्व के पास एक बलव्यूह है जो इस प्रकार है—छन्द, स्थाम, रति, और मुक्ति। 'छन्द' कुशल के अभिलाष को कहते हैं। इस भय से अशुभ कर्म से दुःख उत्पन्न होता है यह सोचकर कि शुभकर्म द्वारा अनेक प्रकार से मधुर फलों की उत्पत्ति होती है, सत्त्व को कुशल-कर्म का अभिलाष होना चाहिये। 'स्थाम' आरब्ध की दृढ़ता को कहते हैं। 'रति' सत्कर्म में आसक्ति है। 'मुक्ति' का अर्थ है उत्सर्ग। यह बलव्यूह वीर्य-साधन में चतुरङ्गिणी सेना का काम देता है। इसके द्वारा आलस्यादि विपक्ष का उन्मूलन कर वीर्य प्रवर्धन के लिये यत्न करना चाहिये।

मुझको अपने और पराये अप्रमेय काय-वाक्-चित्तसमाश्रित दोष नष्ट करने हैं। एक-एक दोष का क्षय मुझ मन्दवीर्य से अनेक शत-सहस्र कल्पों में होगा। दोष-नाश के लिये मुझमें लेशमात्र भी उत्साह नहीं

दिखलायी पड़ता। मैं अपरिमित दुःख का भाजन हूँ। मेरा हृदय क्यों नहीं विदीर्ण होता ? इस अद्‌भुत और दुर्लभ मनुष्य-जन्म को मैंने वृथा गँवाया। मैंने भगवत्पूजा का सुख नहीं उठाया। मैंने बुद्ध-शासन की पूजा नहीं की। भीतों को अभयदान नहीं दिया। दरिद्रों की आशा पूरी नहीं की। आर्तों को सुखी नहीं किया। मेरा जन्म केवल माता को दुःख देने के लिये हुआ है। पूर्वकृत पापों के कारण धर्म के अभिलाष का अभाव है। इसीलिये इस जन्म में मेरी यह दशा हुई है। ऐसा समझकर कौन कुशल-कर्म के अभिलाष का परित्याग करेगा ? सब कुशलों का मूल 'छन्द' है। उसका भी मूल बार-बार शुभ-अशुभ कर्मों के विपाक-फल की भावना है। जो पापी है, उनको अनेक प्रकार के कायिक, मानसिक नरकादि दुःख होते हैं, और उनके लाभ का विघात होता है। पुण्यवान् को पुण्यबल से अभिवांछित फल मिलता है, पापी को जब-जब सुख की इच्छा का उदय होता है, तब-तब दुःखशस्त्रों से उसका विघात होता है। जो असाधारण शुभकर्म करते हैं, वे इच्छा न होने पर मातृ-कुक्षि में नहीं उत्पन्न होते। जो अशुभ कर्म करते हैं, काल-दूत उनके शरीर की सारी खाल उधेड़ लेते हैं। आग में गलाये हुए ताँबे से उनके शरीर को स्नान कराते हैं, जलती हुई तलवार और शक्ति के प्रहार से मांस के सैकड़ों खण्ड करते हैं और सुतप्त लौहभूमि पर वे बार बार गिरते हैं। शुभ और अशुभ कर्मों का यह मधुर और कटु फल-विपाक होता है। इसलिये शुभकर्मों का अभिलाष होना चाहिये।

उपस्थित सामग्री का निरूपण कर बलाबल का विचार करना चाहिये। फिर कार्य का आरंभ करे अथवा न करे। आरंभ करने में इतना दोष नहीं है जितना कि आरंभ करके निवर्तन करने में है। प्रतिज्ञात कर्म के न करने से पाप होता है और उससे दुःख की वृद्धि होती है। इस प्रकार आरब्ध कर्म का ही सम्पादन न होता हो ऐसा नहीं है, पर उस काल में जो अन्य कार्य हो सकते थे, वे भी नहीं होते। कर्म, उपक्लेश और शक्ति में 'मान' होता है। 'मुझ अकेले के ही करने का यह काम है' यह भाव 'कर्म-मानिता' कहलाता है। सब सत्त्व क्लेशाधीन हैं; स्वार्थसाधन में समर्थ नहीं हैं, ये अशक्त हैं और मैं भारोद्वहन में समर्थ हूँ। इसलिये मुझको सब का सुख-सम्पादन करने के लिये बोधिचित्त का उत्पाद करना चाहिये। मुझ दास के रहते और लोग क्यों नीच कर्म करें ? जो काम मेरे करने का है, उसे और क्यों करे ? यदि मैं इस मान से कि यह मेरे लिये अयुक्त है, उसे न

करूँ, तो इससे तो यही अच्छा है कि मेरा मान ही नष्ट हो जाय। यदि मेरा चित्त दुर्बल है तो थोड़ी भी आपत्ति बाधक होगी। मृत सर्प को पाकर कौआ भी गरुड़ हो जाता है। जो विषादयुक्त है, उसके लिये आपत्ति सुलभ हैं, पर जो उत्साहसंपन्न हैं और स्मृति-संप्रजन्य द्वारा उपक्लेशों को अवकाश नहीं देता, उसको बड़े से बड़ा भी नहीं जीत सकता। इसलिये बोधिसत्त्व दृढ़चित्त हो आपत्ति का अन्त करता है। यदि बोधिसत्त्व क्लेशों के वशीभूत हो जाय तो उपहास हो; क्योंकि वह त्रैलोक्य के विजय की इच्छा रखता है। वह विचार करता है कि मैं सबको जीतूँ और मुझको कोई जीते। उसको इस बात का मान है कि मैं शाक्यर्सिह का पुत्र हूँ। जो मान से अभिभूत हो रहे हैं, वे मानी नहीं हैं; क्योंकि मानी शत्रु के वश में नहीं आता और वह मानरूपी शत्रु के वश में है। मान से वे दुर्गति को प्राप्त होते हैं। मनुष्यभाव में भी उनको सुख नहीं मिलता। वे दास, परभूत, मूर्ख और अशक्त होते हैं। यदि उनकी गणना मानियों में हों तो बताओ दीन किसे कहेंगे! वही सच्चा मानी, विजय और शूर है जो मानशत्रु की विजय करने के लिये मान धारण करता है और जो उसका नाश कर लोक में बुद्धत्व को प्राप्त होता है। संक्लेशों के बीच में रहकर सहस्रगुण अग्रसर होना चाहिये। जो काम आगे आवे, उसका व्यसनी हो जाय। द्यूतादि क्रीड़ा में आसक्त पुरुष उसके सुख को पाने की बार-बार इच्छा करता है, सुख के लिये ही कर्म किया जाता है, अन्यथा कर्म में प्रवृत्ति न हो। पर कर्म ही जिसको सुख स्वरूप है, जिसको कर्म के अतिरिक्त किसी दूसरे सूख का अभिलाष नहीं है, वह निष्कर्म होकर कैसे सुखी रह सकता है?

बोधिसत्त्व को चाहिये कि एक काम के समान होने पर दूसरे काम में लग जाय। पर अपनी शक्ति का क्षय जानकर काम को उस समय छोड़ देना चाहिये। यदि कार्य अच्छी तरह समाप्त हो जाय तो उत्तरोत्तर कार्य के लिये अभिलाषी होनी चाहिये। क्लेशों के प्रहार से अपनी रक्षा करनी चाहिये और जिस प्रकार शस्त्र-विद्या में कुशल शत्रु के साथ खड्ग-युद्ध करते हुए निपुणतर दृढ़ प्रहार किया जाता है; उसी प्रकार दृढ़ प्रहार करना चाहिये। अणुमात्र भी दोष को अवकाश न देना चाहिये। जैसे विष रुधिर में प्रवेश कर शरीर भर में व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार दोष अवकाश पाकर चित्त में व्याप्त हो जाता है।

अतः क्लेश-प्रहार के निवारण में यत्नवान् होना चाहिये। जब निद्रा

और आलस्य का प्रादुर्भाव हो, तब उनका शीघ्र प्रतीकार करे; जैसे किसी पुरुष की गोंद में यदि सर्प चढ़ आता है तो वह झट से खड़ा हो जाता है। जब-जब स्मृति-प्रमोष हो, तब-तब परिताप होना चाहिये और सोचना चाहिये कि क्या करें कि जिससे फिर ऐसा न हो। बोधिसत्त्व को सत्संग की इच्छा करनी चाहिये। जैसे रूई वायु की गति से सञ्चालित होती है, वैसे ही बोधिसत्त्व उत्साह के वश होता है और इस प्रकार अभ्यास-परायण होने से ऋद्धि की प्राप्ति होती है॥

८. ध्यान-पारमिता

वीर्य की वृद्धि कर समाधि में मन का आरोप करे अर्थात् चित्तैकाग्रता के लिये यत्नवान् हो, क्योंकि विक्षिप्तचित्त पुरुष वीर्यवान् होता हुआ भी क्लेशों से कवलित होता है। जन-सम्पर्क के विवर्जन से तथा कामादि वितर्कों के विवर्जन से विक्षेप का प्रादुर्भाव नहीं होता और निरासङ्ग होने से आलम्बन में चित्त की प्रतिष्ठा होती है। इसलिये संसार का परित्याग कर रागद्वेष मोहादि विक्षेपहेतुओं का परित्याग करना चाहिये। स्नेह के वशीभूत होने से और लाभ, सत्कार, यश आदि के प्रलोभन से संसार नहीं छोड़ा जाता। विद्वान् को सोचना चाहिये कि जिसने चित्तैकाग्रता द्वारा यथाभूत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की है, वही क्लेशादि दुःखों का प्रहाण कर सकता है। ऐसा विचार कर क्लेश-मुमुक्षु पहले शपथ अर्थात् चित्तैकाग्रता के उत्पादन की चेष्टा करे। जो समाहितचित्त है और जिसको यथाभूत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई है, उसकी बाह्य चेष्टा का निवर्तन होता है और शम के होने से उसका चित्त चञ्चल नहीं होता।

लोकविषय में निरपेक्ष बुद्धि रखने से ही यह शमथ उत्पन्न होता है। अनित्य पुत्रदारादिकों में अनित्य सत्त्व का स्नेह रखना युक्त नहीं है, जब यह विदित है कि अनेक जन्मपर्यन्त उस आत्मप्रिय का पुनः दर्शन नहीं होगा। यह जानते हुए भी दर्शन न मिलने से चित्त व्याकुल हो जाता है और किसी प्रकार सुस्थिर नहीं होता। जब उसका प्रियदर्शन होता है, तब भी चित्त का पूर्ण रूप से सन्तपर्ण नहीं होता और दर्शन का अभिलाष पूर्ववत् पीड़ा देता है। उसको प्रियसमागम की आकांक्षा से मोह उत्पन्न होता है। वह गुण-दोष नहीं विचारता। अतः वह निरन्तर शोक-सन्तप्त रहता है। उस प्रिय की चिन्ता से तथा तल्लीनचित्तता के कारण प्रतिक्षण आयु का क्षय होता है और कोई कुशल कर्म सम्पादित नहीं होता। जिस

मित्र के लिये आयु का क्षय होता है वह स्थिर नहीं है। वह क्षणभंगुर है, अशाश्वत है। उसके लिये दीर्घकालावस्थायी शाश्वतधर्म की हानि क्यों करते हो? यदि यह सोचते हो कि उसके समागम से हित-सुख की प्राप्ति होगी तो यह भूल है; क्योंकि यदि तुम्हारा आचरण उसके सदृश हुआ तो तुम अवश्य दुर्गति को प्राप्त होगे और यदि असदृश हुआ तो वह तुमसे द्वेष करेगा। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में वह तुम्हारे हित-सुख का निमित्त नहीं हो सकता। इस समागम से क्या लाभ है? क्षण में ये मित्र हैं और क्षण में ये शत्रु हैं। जहाँ प्रसन्न होना चाहिये, वहाँ कोप करते हैं। इनका आराधन दुष्कर है। यदि इनसे इनके हित की बात कहो तो ये कोप करते हैं, और दूसरे को भी हित-पथ से निवारण करते हैं, और यदि उनकी बात न मानी जाय तो क्रुद्ध होते हैं। संसार के मूढ़ पुरुषों से भला कहीं हित हो सकता है! वे दूसरे का उत्कर्ष नहीं कर सकते। जो उनके बराबर के हैं, उनसे विवाद करते हैं; और जो उनसे अधम हैं, उनसे अभिमान करते हैं; जो उनका दोषकीर्तन करते हैं, उनसे वह द्वेष करते हैं। मूढ़ के संसर्ग से आत्मोत्कर्ष, परनिन्दा, संसार-रति-कथा आदि अकुशल अवश्यमेव होते हैं। दूसरे के संग से अनर्थ का समागम निश्चय जानो। यह विचार कर अकेला सुखपूर्वक रहने का निश्चय करे। मूढ़ की की संगति की न करे। यदि दैव योग से कभी संग हो तो प्रिय उपचारों द्वारा उसका आराधन करे और उसके प्रति उदासीन वृत्ति रखे। जिस प्रकार भृंग कुसुम से मधु-संग्रह करता है, पर परिचय नहीं पैदा करता; उसी प्रकार मूढ़ से केवल उसको ले ले जो धर्मार्थ उपयुक्त हो।

इस प्रकाँर प्रिय-संगति का कारण स्नेह अपाकृत होता है। साम्प्रत लाभादि-तृष्णा का जिनके कारण लोक का परित्याग नहीं बन पड़ता, परिहार करना चाहिये। विद्वान् को रति की आकांक्षा न करनी चाहिये। जहाँ जहाँ मनुष्य का चित्त रमता है, वह वह वस्तु सहस्र-गुना दुःखरूप हो उपस्थित होती है। इच्छा से भय की उत्पत्ति होती है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष किसी वस्तु की इच्छा न रखे। बहुतों को विविध लाभ और यश प्राप्त हुए, पर वे लाभ यश के साथ कहाँ गये, यह किसी को पता नहीं। कुछ मेरी प्रशंसा करते हैं, अपनी प्रशंसा सुनकर क्यों प्रसन्न होऊँ! और आत्मनिन्दा सुनकर क्यों विषाद को प्राप्त होऊँ? जब बुद्ध भी अनेक सत्त्वों का परितोष न कर सके, तो मुझ जैसे अज्ञों की क्या! मुझको लोकचिन्ता न करनी चाहिये। जो सत्त्व लाभ-रहित हैं, उसकी यह कहकर लोग निन्दा

करते हैं कि यह सत्त्व पुण्य-रहित है, इसीलिये क्लेश उठाकर भी वह पिण्डपातादिमात्र लाभ भी नहीं पाता, और जो लाभ-सत्कार प्राप्त करते हैं, उनका यह कहकर लोग उपहास करते हैं कि इन्होंने दानपति को किसी प्रकार प्रसन्न कर यह लाभ प्राप्त किया है। उभयथा उनके चित्त को शान्ति नहीं मिलती। ऐसे लोग स्वभाव से दुःख के हेतु होते हैं। ऐसे लोगों का संवास न मालूम क्यों प्रिय होता है ? मूढ़ पुरुष किसी का मित्र नहीं है, उसकी प्रीति निःस्वार्थ नहीं होती। जो प्रीति स्वार्थ पर आश्रित है, वह अपने लिये ही होती है।

मुझको अरण्य-वास के लिये यत्नशील होना चाहिये। वृक्ष तुच्छ दृष्टि से नहीं देखते और न उनके आराधन के लिये कोई प्रयत्न करना पड़ता है। कब इन वृक्षों के सहवास का सुख मुझको मिलेगा ? कब मै शून्य देवकुल में, वृक्षमूल में, गुहा में सर्वनिरपेक्ष हो बिना पीछे देखे हुए निवास करूँगा ? कब मैं गह त्यागकर स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकृति के विस्तीर्ण प्रदेशों में, जहाँ किसी का स्वामित्व न हो, विहार करूँगा ? कब मैं मृण्मय भिक्षापात्र ले शरीरनिरपेक्ष हो निर्भय विहार करूँगा ? भिक्षापात्र ही मेरा समस्त धन होगा, मेरा चीवर चोरों के लिये भी अनुपयुक्त होगा। फिर मुझको किसी प्रकार का भय न रहेगा।

मैं कब श्मशान-भूमि में जाकर दुर्गन्धयुक्त निज देह की तुलना पूर्वमृत जीवों के अस्थिपंजर से करूँगा ? शृगाल भी अतिदुर्गन्ध के कारण समीप नही आवेंगे। इस शरीर के साथ उत्पन्न होनेवाले अस्थिखण्ड भी पृथक् हो जायँगे, फिर प्रियजनों का क्या कहना ! यदि यह सोचा जाय कि पुत्र-कलत्रादि सुख-दुःख में मेरे सहायक होते हैं, इसलिये इनका अनुनय करना युक्त है; तो ऐसा नही है। कोई किसी का दुःख बाँट नही लेता। जीव अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है। सब लोग अपने कर्म का फल भोगते हैं। इसलिये यह केवल अभिमान है कि पुत्र-कलत्रादि सुख-दुःख में सहायक होते हैं। यह केवल विघ्न ही करते हैं। अतः उन प्रियजनों से कोई लाभ नहीं है।

परमार्थ-दृष्टि से देखा जाय तो कौन किस की संगति करता है। जिस प्रकार राह चलते पथिकों का एक स्थान में मिलन होता है और फ़िर वियोग होता है, उसी प्रकार संसाररूपी मार्ग पर चलते हुए ज्ञाति, सगोत्र आदि सम्बन्धियों द्वारा आवास-परिग्रह होता है। मरने पर वह

उनके साथ नहीं जाते। पूर्व इसके कि लोग मरणावस्था में उसका परित्याग करें और उसके लिये विलाप करें, मनुष्य को वन का आश्रय लेना चाहिये। न किसी से परिचय और न किसी से विरोध रखे। स्वजन बान्धवों के लिये प्रव्रज्या के अन्तर वह मृत के समान है। वन में जाति, सगोत्रादि कोई उसके समीपवर्त्ती नहीं हैं जो अपने शोक से व्यथा पहुँचावें या विक्षेप करें। इसकिये एकान्तवास-प्रिय होना चाहिये। एकान्तवास में आयास या क्लेश नहीं है। वह कल्याण-दायक है और सब प्रकार के विक्षेपों का शमन करता है। इस प्रकार जन-सम्पर्क के विवर्जन से काय-विवेक का लाभ होता है। तदनन्तर चित्त-विवेक की आवश्यकता है। चित्त के समाधान के लिये प्रयत्न-शील होना चाहिये। चित्त-समाधान का विपक्षी काम-वितर्क है। इसका निवारण करना चाहिये। रूपादि विषयों के सेवन से लोक और परलोक दोनों में अनर्थ होता है। जिसके लिये तुमने पाप और अपयश को भी न गिना, और अपने को भय में डाला, वह अब अस्थिमात्र है, और किसी के अधिकार में नहीं है। जो मुख कुछ काल पहले लज्जा से अवनत था और सदा अवगुण्ठन से आवृत्त रहता था, उसे आज गृध्र नोच रहे हैं। जो मुख दूसरों के दृष्टिपात से सुरक्षित था, उसे आज गीदड़ खा रहे हैं। अब क्यों नहीं उसकी रक्षा करते? गृध्रों श्रृगालों से विदारित इस मांस-पुंज को देखकर अब क्यों भागते हो? काष्ठ-लोष्ठ के समान निश्चल इस अस्थि-पंजर को देखकर अब क्यों त्रास होता है? पुरीष और श्लेष्मा दोनों एक ही आहार-पान से उत्पन्न होते हैं। इनमें पुरीष को तुम अपवित्र मानते हो फिर कामिनी के अधर मधुपान करने के लिये उसके श्लेष्म-पान में क्यों रति होती है? जो कामसुख के अभिलाषी हैं, उनकी विशेष रति अपवित्र स्त्री-कलेवर में ही होती है। यदि तुम्हारी आसक्ति अशुचि में नहीं है तो क्यों इस स्नायु-बद्ध अस्थि-पंजर और मांस के लोथड़े को आलिंगन करते हो? अपने ही इस अमेध्य शरीर पर संतोष करो। यह काय स्वभाव से ही विकृत है। यह अभिरति-स्थान नहीं है। जब शरीर का चर्म उत्पाटित होता है, तब त्रास उत्पन्न होता है। यह शरीर का स्वभाव है। पर ऐसा जानकर भी इसमें रति क्यों उत्पन्न होती है? यदि यह कहो कि यद्यपि शरीर स्वभाव से अमेध्य है, पर चन्दनादि सुरभि वस्तुओं के उपलेप से कमनीय हो जाता है, तो यह उचित नहीं है। सहस्र संस्कार करने पर भी शरीर का स्वभाव नहीं बदल सकता। नग्न, बीभत्स और

भयंकर काय की केशनखादि रचना-विशेष कर स्नान, अभ्यङ्ग और अनुलेपन द्वारा विविध संस्कार कर मनुष्य आत्मव्यामोहन करता है, जो उसके बध का कारण होता है।

बिना धन के सुख का उपभोग नहीं होता। बाल्यावस्था में धनोपार्जन की शक्ति नहीं होती। युवावस्था धनोपार्जन में ही व्यतीत होती है। जब उमर ढल जाती है, तब धन का कोई उपयोग नहीं रह जाता। कुछ लोग दिन भर भृति-कर्म कर सायंकाल को परिश्रान्त होकर लौटते हैं और मृत-कल्प सो जाते हैं। वह इस प्रकार केवल आयु का क्षय करते हैं, काम-सुख का आस्वाद नहीं करते।

जो दूसरों के सेवक हैं, उनको स्वामी के कार्यवश प्रवास का क्लेश भोगना पड़ता है। वे अनेक वर्षों तक स्त्री और पुत्र को नहीं पाते। जिस सुख की लालसा से दूसरे का दासत्व स्वीकार किया, वह सुख भी न मिला। केवल दूसरों का काम कर व्यर्थ ही आयु का क्षय किया। लोग जीविका के लिये रण में प्रवृत्त होते हैं, जहाँ जीवन का भी संशय होता है, यह विडम्बना नहीं तो क्या है? इस जन्म में भी कामासक्त पुरुष विविध दुःखों का अनुभव करते हैं। वे सुख-लिप्सा से कार्य में प्रवृत्त होते हैं, पर अनर्थ-परम्परा की प्रसूति होती है। धन का अर्जन और अर्जित धन की प्रत्यवायों से रक्षा कष्टमय है, और रक्षित धन का नाश विषाद और चित्त की मलिनता का कारण होता है। इस कारण अर्थ अनर्थ का कारण होता है। धनासक्त पुरुष का चित्त एकाग्र नहीं होता। भव-दुःख से विमुक्त होने के लिये उसको अवकाश भी नहीं मिलता। इस प्रकार कामासक्ति में अनर्थ बहुत हैं, सुखोत्पाद की बात भी नहीं है। धनासक्त पुरुष की वही दशा है, जो उस बैल की होती है जिसको शकट-भार वहन करना पड़ता है, और खाने को घास मिलती है। इस थोड़े से सुखास्वाद के लिये मनुष्य अपनी दुर्लभ-सम्पत्ति नष्ट कर देता है। निश्चय ही मनुष्य की उलटी मति है, क्योंकि वह निकृष्ट, अनित्य और नरकगामी शरीर के सुख के लिये निरन्तर परिश्रम करता रहता है। इस परिश्रम का कोटिशत भाग भी बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये पर्याप्त है। इस पर भी मन्दबुद्धिवाले लोग बुद्धत्व के लिये उत्साही नहीं होते। जो कामान्वेषी हैं, उनको बोधिसत्त्व की अपेक्षा कहीं अधिक दुःख उठाना पड़ता है। काम का निदान दुःख है। शस्त्र, विष, अग्नि इत्यादि मरणमात्र दुःख देते हैं, पर काम दीर्घकालिक

तीव्र नरक-दुःख का हेतु है। काम का परित्याग कर चित्त विवेक में रति उत्पन्न करनी चाहिये। और कलह शून्य, शान्त वनभूमियों में विहार कर सुखी होना चाहिये। वे धन्य हैं, जो वन में सुखपूर्वक भ्रमण करते हैं और सत्त्वों को सुख देने के लिये चिन्तन करते हैं, या वन में, शून्य आलय में, वृक्ष के तले या गुफा में, अपेक्षाविरत हो यथेष्ट विहार करते हैं। जिस सन्तोष-सुख का भोग स्वच्छन्दचारी निर्गृही करता है, वह सन्तोषसुख इन्द्र को भी दुर्लभ है। इस प्रकार काय-विवेक और चित्त-विवेक के गुणों का चिन्तन कर सत्त्व वितर्कों का उपशमन करता है, और जब चित्त परिशुद्ध होता है, तब बोधि-चित्त की भावना में प्रकर्ष पद की प्राप्ति होती है।

वह भावना करता है कि सब प्राणियों को समान रूप से सुख अनुग्राहक और दुःख बाधक होता है, इसलिये मुझको आत्मवत् सबका पालन करना चाहिये। वह विचारता है कि जब मुझको और दूसरों को सुख समान रूप से प्रिय और दुःख तथा भय समानरूप से अप्रिय है, तो मुझमें क्या विशेषता है कि मैं अपने ही सुख के लिये यत्नवान् होऊँ और अपनी ही रक्षा करूँ? करुणा-परतन्त्रता से लोग दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं और सभी दुःख के अपहरण के लिये यत्नवान् होते हैं। एक के दुःख से यदि बहुत सत्त्वों का दुःख दूर हो तो दयावान् को वह दुःख उत्पादित करना चाहिये। जो कृपावान् हैं, वह दूसरे के उद्धार के लिये नारकीय दुःख को भी सुख ही मानते हैं। जीवों के निस्तार से उनको अनन्त परितोष होता है॥

६. प्रज्ञा-पारमिता

चित्त की एकाग्रता से प्रज्ञा के प्रादुर्भाव में सहायता मिलती है। जिसका चित्त समाहित है, उसी को यथाभूत परिज्ञान होता है। प्रज्ञा से सब आवरणों की अत्यन्त हानि होती है। प्रज्ञा के अनुकूलवर्ती होने पर ही दान आदि पाँच पारमितायें सम्यक्सम्बोधि की प्राप्ति कराने में समर्थ और हेतु होती हैं। दानादि गुण प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होकर अभ्यासवश प्रकर्ष की पराकाष्ठा को पहुँचते हैं और अविद्याप्रवर्त्तित सकल विकल्प का ध्वंस कर तथा क्लेश और आवरणों को निर्मूल कर परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति में हेतु होते हैं। इस प्रकार षट्-पारमिताओं में प्रज्ञापारमिता की प्रधानता पायी जाती है। 'आर्यशतसाहस्री-प्रज्ञापारमिता' में भगवान् कहते हैं—"हे सुभूति! जिस प्रकार सूर्य-मण्डल और चन्द्र-मण्डल चार

द्वीपों को प्रकाशमान करते हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा-पारमिता का कार्य पञ्च-पारमिता में दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार बिना सप्तरत्न से समन्वागत हुए राजा चक्रवर्ती का पद नहीं पाता, उसी प्रकार प्रज्ञापारमिता से रहित होने पर पञ्च-पारमिता 'पारमिता' के नाम से नहीं पुकारी जा सकती। प्रज्ञापारमिता अन्य पाँच पारमिताओं को अभिभूत करती है। जो जन्म से अन्धे हैं, उनकी संख्या चाहे जितनी ही क्यों न हो, बिना मार्ग-प्रदर्शक के मार्गावतरण में असमर्थ हैं। इसी प्रकार दानादि पाँच पारमिताएँ नेत्र-विकल हैं; बिना प्रज्ञा-चक्षु की सहायता के बोधि-मार्ग में अवतरण नहीं कर सकतीं। जब पञ्च पारमिताएँ प्रज्ञा-पारमिता से परिगृहीत होती हैं, तभी सचक्षुष्क होती हैं। जिस प्रकार क्षुद्र नदियाँ गंगा नाम की महानदी का अनुगमन कर उसके साथ महासमुद्र में प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार पाँच पारमिताएँ प्रज्ञा-पारमिता से परिगृहीत हो और उसका अनुगमन कर सर्वाकारज्ञता को प्राप्त होती हैं"।

अतः यह पारमिता पञ्चात्मक पुण्यसम्भार की समुत्थापक है। जब चित्त समाहित होता है, तब चित्त को सुख-शान्ति मिलती है और चित्त के शान्त होने से ही प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है। शिक्षासमुच्चय में कहा है[1]—इस 'शमथ' का क्या माहात्म्य है? यथाभूत ज्ञानोत्पत्ति में सामर्थ्य ही इसका माहात्म्य है, क्योंकि भगवान् ने कहा है कि जो समाहित-चित्त है, वही यथाभूत का ज्ञान रखता है। जो यथाभूतदर्शी है, उसी के हृदय में सत्त्वों के प्रति महाकरुणा उत्पन्न होती है। इस महा-करुणा से प्रेरित हो शील, प्रज्ञा और समाधि इन तीनों शिक्षाओं को पूरा कर बोधिसत्त्व सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करता है।

सर्व धर्म के अनुपलम्भ को ही प्रज्ञा-पारमिता कहते हैं। अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता में कहा है—"शून्यता में जो प्रतिष्ठित हैं उसी ने प्रज्ञापारमिता प्राप्त की है[2]"। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावों की उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः होती है, न उभयतः होती है और न अहेतुतः होती है; तभी प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति होती है। उस समय किसी प्रकार का व्यवहार नहीं रह जाता। उस समय इस परमार्थ सत्य की

---

१. 'किं पुनरस्य शमथस्य माहात्म्यं यथाभूत-ज्ञानजनशक्तिः'। यस्मात् समाहितो यथाभूतं जानातीत्युक्तवान् मुनिः। (शि० स० पृ० ११९)

२. "योऽनुपलम्भः सर्वधर्माणां सा प्रज्ञापारमितेत्युच्यते"।

प्रतीति होती है कि दृश्यमान वस्तुसमूह माया के सदृश हैं, स्वप्न और प्रतिविम्ब की तरह अलीक और मिथ्या हैं। केवल व्यवहारदशा में उनका सत्यत्व है। जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह सांवृत स्वरूप है। यथा-भूत-दर्शन से इस अनादि संसार-प्रवाह का यथावस्थित सांवृत-स्वरूप उद्भावित होता है। व्यवहारदशा में ही प्रतीत्य-समुत्पाद की सत्ता है; पर परमार्थ दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म-शून्य है; क्योंकि परमार्थ में भावों का स्वकृतत्व परकृतत्व और उभयकृतत्व निषिद्ध है। वास्तव में सब शून्य ही शून्य है। सब धर्म स्वभाव से अनुत्पन्न हैं। यह ज्ञान आर्य-ज्ञान कहलाता है। जब इस आर्य-ज्ञान का उदय होता है तब अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या के निरोध से संस्कारों का निरोध होता है। इस प्रकार पूर्वपूर्व कारणभूत के निरोध से उत्तरोत्तर कार्यभूत का निरोध होता है। अन्त में दुःख का निरोध होता है। इस प्रकार अविद्या, तृष्णा और उपादान रूपी क्लेश-मार्ग का, संस्कार और भवरूपी कर्म-मार्ग का और दुःख मार्ग का व्यवच्छेद होता है। पर जो मनुष्य असत् में सत् का समारोप करता है, उसकी बुद्धि विपर्यस्त होती है। और उसको रागादि क्लेश उत्पन्न होते हैं। इसी से कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्म ही से जन्म होता है और जन्म के कारण ही जरा, मरण, व्याधि, शोक, परिदेवनादि दुःख उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार केवल महान् दुःख-स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।

प्रज्ञा द्वारा सब धर्मों की निःस्वभावता सिद्ध होती है और प्रत्यवेक्ष-माण जगत् स्वप्नमायादिवत् हो जाता है। तब इस ज्ञान का स्फुरण होता है कि जो प्रत्यय के अधीन है, वह शून्य है। सब धर्म मायोपम है। बुद्ध भी मायोपम हैं। यथार्थ में बुद्धधर्म निःस्वभाव है। सम्यक्सम्बुद्धत्व भी मायोपम है। निर्वाण भी मायोपम हैं। यदि निर्वाण से भी कोई विशिष्ट तर धर्म हो तो वह भी मायोपम तथा स्वप्नवत् ही है। जब परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है तब वासनादि निःशेष दोषराशि की विनिवृत्ति होती है। यही प्रज्ञा सब दुःखों के उपशम की हेतु है।

सर्वधर्मशून्यता के स्वीकार करने से लोकव्यवहार असम्भव हो जाता है। जब सब कुछ शून्य ही शून्य है, यहाँ तक कि बुद्धत्व और निर्वाण भी शून्य हैं, तब लोक-व्यवहार कहाँ से कहाँ चल सकता है? शून्य का स्वरूप अनिर्वचनीय है, यह अनक्षर है। इसलिये इसका ज्ञान और उपदेश कैसे हो

सकता है ? शून्यता के सम्बन्ध में इतना भी कहना कि यह अनक्षर है अर्थात् वाग्विषयातीत है, मिथ्या है। ऐसा केवल समारोप से ही होता है। जब किसी के सम्वन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता और जब 'शून्यता' शब्द का प्रयोग भी केवल लोकव्यवहारसिद्ध है, परन्तु परमार्थ में अलीक और मिथ्या है, तब एक प्रकार से हमारा मुँह ही बन्द हो जाता है और लोक-व्यवहार का अत्यन्त व्यवच्छेद होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए सत्यद्वय की व्यवस्था की गयी है—संवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य। संवृति-सत्य व्यावहारिक सत्य है। 'संवृति' उसे कहते हैं जिससे यथाभूत-परिज्ञान का आवरण हो। अविद्या से ही स्वभाव का आवरण होता है और यथावस्थित सांवृत स्वरूप का उद्भावन होता है। अविद्या से ही असत् का सत् में आरोप होता है और वह असत् सत्यवत् प्रतिभात होता है।

लोक में यह संवृति दो प्रकार की है :—तथ्य-संवृति और मिथ्या-संवृति। जिस वस्तुसमूह के ग्रहण में इन्द्रियों का उपघात नहीं होता अर्थात् जिसकी उपलब्धि इन्द्रियों द्वारा बिना किसी दोष के होती है, वह लोक में सत्य प्रतीयमान होता है और उसकी संज्ञा '**तथ्य-संवृति**' है। पर मृगतृष्णा के समान जिस वस्तु की इन्द्रियोपलब्धि दोषवती होती है, वह विकल्पित है, और लोक में उसकी संज्ञा '**मिथ्या-संवृति**' है। पर दोनों प्रकार के संवृति-सत्य सम्यग्दर्शी के लिये मृषा है; क्योंकि परमार्थ-दशा में संवृति-सत्य भी अलीक और मिथ्या है। परमार्थ सत्य वह है जिसके द्वारा वस्तु का अकृत्रिम रूप अवभासित होता है। वस्तु स्वभाव के अधिगम से आवृति, वासना और क्लेश की हानि होती है।

सब धर्म निःस्वभाव और शून्य हैं। तथता, भूतकोटि, धर्मधातु इत्यादि शून्य के पर्याय है। जो रूप दृश्यमान है, वह सत्स्वभाव नहीं है, क्योंकि उत्तर काल में उसकी स्थिति नहीं है। जिसका जो स्वभाव होता है, वह कदापि किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तित नहीं होता। उसका स्वरूप अविचलित है; अन्यथा उसकी स्वभावता के नष्ट होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। उत्पद्यमान वस्तु का न तो कहीं से सत्-स्वरूप में आगम होता है, और न निरोध होने पर उसका कहीं लय होता है। हेतुप्रत्यय-सामग्री का आश्रय लेकर ही वस्तु माया के समान उत्पन्न होती है, और हेतुप्रत्ययसामग्री की विकलता से ही सर्व वस्तु-जात का निरोध होता है।

जो वस्तु हेतुप्रत्यय-सामग्री का आश्रय लेकर उत्पन्न होती है; अर्थात् जिसकी उत्पत्ति पराधीन है, उस वस्तु की सत्त्वभावता कहाँ ? यदि परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो हेतुप्रत्ययसामग्री से भी किसी पदार्थ की समुत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि वह सामग्री भी अपर सामग्री से जनित है और उसका आत्म-लाभ भी पराधीन होने के कारण स्वभावरहित है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व सामग्री की निःस्वभावता जाननी चाहिये। जब कार्य कारण के अनुरूप होता है, तब किस प्रकार निःस्वभाव से स्वभाव की उत्पत्ति सम्भव है ! जो हेतुओं से निर्मित हैं और जो माया से निर्मित हैं, उनके सम्बन्ध में निरूपण करने से ज्ञात होगा कि वह प्रतिबिम्ब के समान कृत्रिम हैं। जिस प्रकार मुखादि-बिम्ब आदर्शमण्डल के सन्निधान से उसमें प्रतिबिम्बित होता है और यदि उसका अभाव हो तो मुख-बिम्ब का उसमें प्रतिभास न हो, उसी प्रकार जिस वस्तु के रूप की उपलब्धि दूसरे हेतु-प्रत्यय के सन्निधान से होती है, अन्यथा नहीं होती; वह वस्तु प्रतिबिम्ब के समान कृत्रिम है। इसलिये यत्किञ्चित् हेतुप्रत्ययोपजनित है, वह परमार्थ में असत् है। इस प्रकार शून्य धर्मों से शून्य धर्म ही उत्पन्न होते हैं। भावों की उत्पत्ति स्वतः स्वभाव से नहीं है। उत्पाद के पूर्व वह स्वभाव विद्यमान नहीं है; इसलिये कहाँ से उसकी उत्पत्ति हो ? उत्पन्न होने पर उसका स्वरूप निष्पन्न हो जाता है; फिर क्या उत्पादित किया जाय ? यदि यह कहा जाय कि जात का पुनर्जन्म होता है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि बीज और अंकुर एक नहीं हैं। रूप, रस, वीर्य और विपाक में दोनों भिन्न हैं। अपने स्वभाव से यदि जन्म होता तो किसी की उत्पत्ति ही न होती। स्वभाव और उत्पत्ति इतरेतराश्रित हैं। जब तक स्वभाव नहीं होता तब तक उत्पत्ति नहीं होती और जब तक उत्पत्ति नहीं होती तब तक स्वभाव नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि स्वतः किसी की उत्पत्ति नहीं होती। परतः भी किसी उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि ऐसा मानने में शालि-बीज से कोद्रवांकुर की उत्पत्ति का प्रसग उपस्थित होगा; अथवा ऐसी अवस्था में सबका जन्म सबसे मानना पड़ेगा जो दूषित है। यह मानना भी ठीक न होगा कि कार्यकारण का अन्योन्य जन्यजनकभाव नियामक होने से सबकी उत्पत्ति होती है। जब तक कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक यह नहीं बतलाया जा सकता कि इसकी शक्ति किसमें है। और जब कार्य की उत्पत्ति होती है, उस अवस्था में कारण का अभाव होने से यह नहीं कहा जा सकता कि यह किसकी शक्ति है। कार्य-कारण का जन्यजनकभाव नहीं है; क्योंकि दोनों समान

काल में नहीं रहते। कार्यकारण की एक सन्तति मानना भी युक्त नहीं है; क्योंकि कार्य-कारण के बिना सन्तति का अभाव है और कार्य-कारण का एक क्षण भी अवस्था नहीं है। पूर्वापर क्षण-प्रवाह में सन्तति की कल्पना की गयी है। वास्तव में सन्तति-नियम नहीं है। इस प्रकार सादृश्य भी कोई नियामक नहीं है। अतः परतः भी किसी की उत्पत्ति नहीं होती और उभयतः भी उत्पत्ति नहीं होती। दोनों में से जब प्रत्येक अलग अलग सम्भव में असमर्थ हैं, तब फिर दोनों मिलकर किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं? यदि सिकता के एक कण में तैल दान की सामर्थ्य नहीं है, तो अनेक कण मिलकर भी योग्यता नहीं प्राप्त कर सकते। अतः उभयतः भी किसी की उत्पत्ति का होना सम्भव नहीं है। यह भी युक्त नहीं है कि अहेतुतः उत्पत्ति होती है; क्योंकि ऐसा मानने में भावों के देशकालादि नियम के अभाव का प्रसङ्ग होगा और जो परमार्थ-सत्य की उपलब्धि चाहते है, उनके लिये किसी प्रतिनियत उपाय का अनुष्ठान न हो सकेगा।

इसलिए अहेतुतः भाव स्वभाव का प्रतिलाभ नहीं करते। नागार्जुन कहते हैं[1] —जब परिदृश्यमान रूप का सद्भाव विचार करने पर नहीं मालूम पड़ता, तब अनागत आदि की सम्भावना की क्या कथा? अतः यह सिद्ध हुआ कि भाव तत्त्वतः निःस्वभाव है। निःस्वभाव ही सब भावों का पारमार्थिक रूप ठहरता है। यह परमार्थ परम प्रयोजनीय है, पर इसमें भी अभिनिवेश न होना चाहिये; क्योंकि भावाभिनिवेश और शून्यताभिनिवेश में कोई विशेषता नहीं है। दोनों ही सांवृत होने के कारण कल्पनात्मक हैं। अभाव का भी कोई स्वरूप नहीं है, भाव-विकल्प ही सकल विकल्प का प्रधान कारण है। जब उसका निराकरण हुआ, तब सब विकल्प ही प्रहार में निरस्त हो जाते हैं।

वस्तुतः न किसी का समुत्पाद है और न समुच्छेद। यदि प्रतीत्यसमुत्पाद के सम्बन्ध में यह व्यवस्थित है कि वह अनुत्पादाविशिष्ट है तो फिर भगवान् ने यह क्यों कहा है कि संस्कार अनित्य हैं, उदय-व्यय उनका धर्म है; वह उत्पन्न होकर निरुद्ध होते हैं और उनका उपशम सुखकर है। यदि सब शून्य है, तो सुगति और दुर्गति भी स्वभाव-शून्य है। यदि दुर्गति

---

१. न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥ (म० शा० १-१)

निःस्वभाव है तो निर्वाण के लिये पुरुषार्थ व्यर्थ है। पर ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है। यदि हम परमार्थदृष्टि से विवेचना करें तो दुर्गति स्वभाव-शून्य है। परन्तु लोकदशा में दुर्गति सत्य है। जो यह ज्ञान रखता है कि समस्त वस्तुसमूह शून्य और प्रपंच-रहित हैं वह संसार में उपलिप्त नहीं होता। उसके लिये न सुगति है, न दुर्गति। वह सुख और दुःख, पाप और पुण्य, दोनों से परे हैं। किन्तु जिसको यथाभूत-दर्शन नहीं है, वह संसार-चक्र में भ्रमण करता है। यदि तत्त्वतः सब भाव उत्पाद-निरोध से रहित हैं, केवल कल्पना में जाति-जरा मरणादि का योग होता है, तो यह महान् विरोध उपस्थित होता है कि सब आवरणों का प्रहाण कर निर्वाण में प्रतिष्ठित बुद्ध भी जन्मादि ग्रहण करें। यदि ऐसा है तो बोधिचर्या का भी कुछ प्रयोजन नहीं है। बोधिचर्या का आश्रय इसलिये लिया जाता है कि इससे सब सांसारिक धर्मों की निवृत्ति होती है और सर्वगुणालंकृत बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। यदि बोधिचर्या के ग्रहण से भी सांसारिक धर्म की निवृत्ति न हो, तो उससे क्या लाभ ? पर यह भी शंका अयुक्त है। जबतक प्रत्यय-सामग्री है, तबतक माया है; अर्थात् जबतक कारण का विनाश नहीं होता तबतक माया का निवर्तन नहीं होता। पर जब प्रत्यय-हेतु नष्ट हो जाते हैं, तब काल्पनिक व्यवहार में भी सांसारिक धर्म नहीं रहते। प्रत्ययों का समुच्छेद तत्त्वाभ्यास द्वारा अविद्या आदि का निरोध करने से होता है।

अनेक प्रकार की प्रतीत्यता का कारण 'संवृति' है। 'संवृति' का अर्थ है 'आवरण' अर्थात् 'अविद्या का आवरण'। इस आवरण द्वारा यथा-भूत-दर्शन नहीं होता; किन्तु मृषा-ज्ञान होता है। यह आवरण उसी प्रकार हमको आच्छन्न करता है, जिस प्रकार जन्म होते ही आकाश प्रत्येक ओर हमको आच्छन्न कर लेता है। संवृति स्वतः सिद्ध है। किसी अन्य प्रकार से इसका उत्पाद नहीं बतलाया जा सकता। स्वप्न में हम जो कुछ देखते हैं, उसका मिथ्यात्व जाग्रत अवस्था में ही अनुभूत होता है। स्वप्नावस्था में किसी प्रमाण द्वारा उसका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार संवृति को मृषा-दर्शन प्रमाणित करने के लिये उन युक्तियों का प्रयोग नहीं हो सकता जो सांवृतिक अवस्था की हैं। केवल परमार्थ-सत्य के अधिगम से ही संवृति-सत्य मृषा सिद्ध हो सकता है। जब तक परमार्थ-सत्य की उपलब्धि नहीं होती, तब तक सब युक्तियाँ संवृति को अप्रामाणिक ठहराने के लिये अपर्याप्त हैं। व्यवहार के लिये संवृति-सत्य की कल्पना की गयी है। जबतक लोक है, तबतक संवृति-सत्य लोक का अवितथ रूप है। इस

प्रकार सब पदार्थों का स्वभाव दो प्रकार का होता है—सांवृतिक और पारमार्थिक। मृषादर्शी का जो विषय है वह संवृति-सत्य कहलाता है, सम्यग्दर्शी का जो विषय है वह तत्त्व या परमार्थ-सत्य कहलाता है।

संवृति-सत्य की तो प्रतीति होती है, क्योंकि हमारी बुद्धि अविद्या के अन्धकार से आवृत्त है। अविद्या से उपप्लुत होने के कारण चित्त का स्वभाव अविद्यायुक्त हो जाता है; इसलिये संवृति-सत्य की प्रतीति होती है। पर यह नहीं ज्ञात है कि परमार्थ-सत्य का क्या स्वरूप और लक्षण है? परमार्थ सत्य ज्ञान का विषय नहीं है। वह सर्वज्ञान का अतिक्रमण करता है। वह किसी प्रकार बुद्धि का विषय नहीं हो सकता, तथापि कहा जा सकता है कि परमार्थ तत्त्व सर्वप्रपंचविनिर्मुक्त है, इसलिये सर्वोपाधि से शून्य है। जो सर्वोपाधिशून्य है, वह कैसे कल्पना द्वारा जाना जा सकता है? उसका स्वरूप कल्पना से अतीत है और शब्दों का विषय नहीं है। वहाँ शब्दों की प्रवृत्ति नहीं होती। यद्यपि सकल विकल्प की हानि होने से परमार्थतत्त्व का प्रतिपादन नहीं हो सकता, तथापि संवृत्ति का आश्रय लेकर शास्त्र में यत्किञ्चित् निदर्शनोपदर्शन किया जाता है। वास्तव में तत्त्व अवाच्य हैं, पर दृष्टान्त द्वारा कथञ्चित् शास्त्र में वर्णित हैं। बिना व्यवहार का आश्रय लिये परमार्थ का उपदेश नहीं हो सकता और बिना परमार्थ को अधिगत किये निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती—यह आर्य नागार्जुन ने कहा है[1]। आर्य ही परमार्थ सत्य की उपलब्धि करते हैं। इसमें उनकी संवित् प्रमाण है।

सत्यद्वय की व्यवस्था होने से तदधिकृत लोग भी दो श्रेणी के हैं—१. योगी, २. प्राकृतक। योग समाधि को कहते हैं। सब धर्मों का अनुपलम्भ अर्थात् सर्वधर्मशून्यता ही इस समाधि का लक्षण है। योगी तत्त्व को यथारूप देखता है। प्राकृतक वह है जो प्रकृति अर्थात् अविद्या से आवृत्त है। वह वस्तु-तत्त्व को विपरीत भाव से देखता है। प्राकृत ज्ञान भ्रान्त है। जिन रूपादिकों का स्वरूप सर्वजनप्रतिपन्न है, तथापि दानादि पारमिता का आदरपूर्वक अभ्यास करना चाहिये। यद्यपि दानादि वस्तुतः स्वभाव-रहित हैं तथापि परमार्थ तत्त्व के अधिगम के लिये सब सत्वों पर

---

१. व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥ [मध्यमकशा०, २४।१०]

करुणा कर बोधिसत्त्व को इनका उपादान नितान्त प्रयोजनीय है। मार्गाभ्यास करने से समलावस्था से निर्मलावस्था और सविकल्पावस्था से निर्विकल्पावस्था उत्पन्न होती है। मध्यमकावतार में कहा है व्यवहार-सत्य उपाय अथवा हेतुरूप है और परमार्थसत्य उपेय अथवा फलस्वरूप है। दानादिपारमिता-रूपी उपाय द्वारा परमार्थ-तत्त्व का लाभ है[1]।

बोधिसत्त्व की उत्कृष्टतम साधना प्रज्ञापारमिता की है। प्रज्ञापारमिता' और 'धर्मधातु' पर्याय हैं, इनके आदर के लिये बौद्धग्रन्थों में प्रज्ञापारमिता तथा धर्मधातु के पूर्व भगवती और भगवान् विशेषण लगाते हैं। किन्तु तत्त्व का यह अभिधान भी संवृति-सत्य के उपादान से ही है[2]।

बोधिचित्तोत्पादसूत्रशास्त्र[3] में प्रज्ञापारमिता को सर्वधर्ममुद्राक्षया मुद्रा कहा है। उनके अनुसार प्रज्ञापारमिता मुद्रालक्षण नहीं है। वह सत्य, भूत, प्रज्ञोपाय है। बोधिसत्त्व का चित्त इस प्रकार प्रज्ञा की भावना करने से, धर्मता के परिशुद्ध होने से शान्त हो जाता है और उसकी प्रज्ञापारमिता पूरी होती है।

इस प्रकार षट्पारमिताओं के अधिगत होने से बोधिसत्त्व की साधना फलवती होती है॥

●

---

१. 'उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्'। [म० अ० ६।८]

२. 'संवृति-सत्यमुपादायाभिधीयते'; बो० पं०, पृ० ४२१।

३. 'अपि नाम कश्चन धर्मो यो ह्यलक्षणो नामेत्युच्यते सर्वधर्ममुद्राक्षया मुद्रा। आसु मुद्रासु न मुद्रालक्षणमित्युच्यते। सत्यं भूतं प्रज्ञोपायः प्रज्ञापारमिता।······बोधिसत्त्वस्य महासत्त्वस्य प्रज्ञां भावयतो न चित्तं चरति; धर्मतायाः परिशुद्धत्वात्। एवं पूरयति प्रज्ञापारमिताम्।' [बो० चि० सू० शा०, पृ० २७]

बोधिचर्यावतारस्य

विषयक्रमः

श्रीशान्तिदेवरचिते बोधिचर्यावतारणे ।
परिच्छेदक्रमेणेदं विषयाणां निरूपणम् ॥

६. क्षान्तिपारमिता १२०-१७३

(षष्ठः परिच्छेदः)

७. वीर्यपारमिता १७४-२०५

(सप्तमः परिच्छेदः)

●

आर्यशान्तिदेवविरचितः

बोधिचर्यावतारः

श्रीप्रज्ञाकरमतिविरचितया

पञ्जिकाख्यव्याख्यया संवलितः

* ॐ नमो बुद्धाय *

बोधिचर्यावतारे

१. बोधिचित्तानुशंसा

(प्रथमः परिच्छेदः)

मङ्गलम्

* सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान् [P 1]
प्रणिपत्यादरतोऽखिलाँश्च वन्द्यान् ।
सुगतात्मजसंवरावतारं
कथयिष्यामि यथागमं[1] समासात्[1] ॥

[2]·········अखिलांश्च वन्द्यानिति । कल्याणमित्रप्रभृतीनां संग्रहः । सुगतात्मजसंवरावतारमिति । अभिधेयकथनम् । कथयिष्यामीति । प्रयोजनाभिधानम् । सम्बन्धप्रतिपादनपदं तु न विद्यते, सामर्थ्यादेव तु स प्रतिपत्तव्यः । [P 2] यथागममिति । स्वातन्त्र्यपरिहारपदम् । समासादिति पुनरुक्ततापरिहारवचनम् । इति समुदायार्थः ।

अवयवार्थस्तु उच्यते । सुगतानित्यत्र गतशब्देन सर्वपृथग्जनेभ्यो भगवतां व्यवच्छेदं दर्शयति; तेषां संसारान्तर्गतत्वात्, भगवतां तु संसारविनिर्गतत्वात् । सुशब्दस्तु प्रशस्ताद्यर्थत्रयवृत्तिविशिष्टं सुग········· । तेनायमर्थः—प्रशस्तं यथा भवति एवं मध्यमप्रतिपदा क्लेशाद्यावरणप्रहाणं गताः सुगताः । अनेन प्रहाणसम्पत्तिरुक्ता । यदि वा—प्रशस्तं सर्वधर्मनिःस्वभावतातत्त्वं गता अधिगताः सुगताः । अनेन अधिगमसम्पदुपदर्शिता । यदि वा········· तीर्थिकशास्तृभ्यो भगवतां विशेषश्चोपदर्शितो भवति । तेषामात्मादिभावाभिनिवेशवशात् प्रशस्तगमनाभावात् । आत्मादीनां च प्रमाणबाधितत्वात् । संसाराप्रतिपक्षत्वाच्च अप्रशस्तं गमनम् । अपुनरावृत्त्या वा गताः, पुनर्जन्मनो रागादिना हंकारशुद्धया अहंकारबीजस्य अविद्यायाः

---

१. मैं (शान्तिदेव) आर्यसङ्घ तथा धर्मकाय सहित सभी बुद्धों एवं अन्य वन्दनीय जनों को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रणाम कर, भगवान् बुद्ध के मानसपुत्र बोधिसत्त्वों के आचार-पथ का संक्षेप में शास्त्रोक्त पद्धति से वर्णन करूँगा ॥

१-१. समुच्चितार्थवाक्यैः—पाठा० ।

२. ···एतच्चिह्नाङ्कितः पाठः सर्वत्र परिभ्रष्टः ।

सर्वथा प्रहाणात् सुगताः। अनेन स्रोतआपन्न-सकृदागामिबोधिसत्त्वेभ्योऽपि भगवतां विशेषो दर्शितः। तेषां प्रशस्तगमनेऽपि सर्वधात्वप्रहाणात्[1] पुनरावृत्तिसम्भवात्। निःशेषं वा ·········सर्वंवासनाया अपि कायवाग्बुद्धिवैगुण्य-[P 3] लक्षणायाः स्वयमधिगतमार्गोक्तावपाटवस्य वा सर्वथा प्रहाणात् सुगताः। एतावता सम्पूर्णगामित्वं भगवतां प्रतिपादितम्। अनेनापि अनागामि-श्रावक-प्रत्येकबुद्धेभ्यो भगवतामसाधारणगुणत्वमावेदितम्। तेषां·····कायवाग्बुद्धिवैगुण्यस्य स्वाधिगतमार्गोक्त्यपाटवस्य च सम्भवात्। एवं च बुद्धत्वमशेषगुणसरसमसाधारणमपरयोगिभिः सुगतशब्देन ख्यापितम्। तानेवम्भूतान् सुगतानादरतः परमप्रसादेन प्रणिपत्येति नमस्कृत्य सुगतात्मजसंवरावतारं कथयिष्यामीति सम्बन्धः।

किंभूतान् ? ससुतानिति। सुताश्च मुनीनामिह लब्धप्रमुदितादिभूमयो बोधिसत्त्वा एव गृह्यन्ते; तेषामेव अत्र अधिकृतत्वात्। तैः सह। अनेन विशेषणेन आर्यसङ्घस्य नमस्कारोऽन्तर्भावितः। अपरं विशेषणमाह— सधर्मकायानिति। सर्वापद्भिर्विमुक्तो भगवतां स्वाभाविको धर्मकायः। स एव च अधिगमस्वभावो धर्मः। समूहार्थो वा कायशब्दः, जनकायो बलकाय इति यथा। तेन प्रवचनस्यापि ग्रहणम्। तेन सह। अनेनापि धर्मस्य नमस्कारोऽन्तर्भावित इति। रत्नत्रयनमस्कारोऽयमित्युक्तं भवति॥

[P 4] ननु बुद्धाद्धर्मो धर्मतश्च आर्यसङ्घ इति क्रमः, तत् किमिति बुद्धानन्तरमार्यसङ्घः, तदनु धर्म इति व्यतिक्रमनिर्देशः ? सत्यम्; इह श्लोक[2]-बन्धानुरोधाद् व्यतिक्रमनिर्देशो वेदितव्यः। योजनात्तु सुगतान् सधर्मकायान् ससुतान् प्रणिपत्य—इति अनुक्रमेणैव। न कश्चिदत्र दोषः। अथवा। बोधिसत्त्वानामपि अधिगतधर्मत्वादानुरूप्येण धर्मकायो विद्यत एव। तेषामपि सह धर्मकायेन नमस्करणं प्रतिपादनीयम्। तेऽपि हि समधिगतधर्मतया सुगतत्वनियताः सुगतप्रायाः। इति धर्मात् पूर्वं निर्देशः। इति न किंचिदयुक्तम्। किमेतानेव ? नेत्याह—अखिलांश्च वन्द्यानिति। अपरानपि समस्तान् वन्दनीयान् आचार्योपाध्यायप्रभृतीनपि। आदरतः प्रणिपत्येति। इति पूर्वार्धेन सुगतादीनां नमस्कृतिमभिधाय अपरार्धेन अभिधेयादीनि प्रतिपादयन्नाह-- सुगतात्मजेत्यादि। आत्मनो जाताः आत्मजाः। सुगतानामात्मजाः जिनपुत्राः, बोधिसत्त्वा इत्यर्थः। तेषां संवरावतारम्। संवरणं संव्रियते वा अनेनेति

---

१. सर्वथार्हत्त्व०—पाठा०।

२. लोकबद्धानुरोधात्—पाठा०।

संवरः, बोधिचित्तग्रहणपूर्वकं बोधिसत्त्वशिक्षासमादानम्। तच्च यथावसरं वक्ष्यामः। तस्य अवतरणम्। अवतीर्यते तस्मिन् वा अनेनेत्यवतारो मार्गः, येन बोधिसत्त्वपदप्राप्तौ सुगतत्वमवाप्यते। तं कथयिष्यामि प्रतिपादयिष्यामि। अनेन ग्रन्थेनेत्यर्थः। एवमनेन प्रतिपाद्यमानत्वात् संवरावतारः [P 5] अभिधेयमस्य, इदमभिधानं संवरावतारस्य, इति अभिधानाभिधेयलक्षणः सम्बन्धोऽप्यर्थात् कथितः। तत्कथनं च अभिधानप्रयोजनम्। परमार्थतस्तु अभिधेयस्वरूपव्युत्पत्तिरेव तत्प्रयोजनम्। अभिधेयस्य पुनः श्रुतमय्यादि-प्रज्ञोत्पादनक्रमेण सर्वावरणविगमाद् बुद्धत्वमेव प्रयोजनमिति प्रयोजननिष्ठा। इदं च सुगतात्मजसंवरावतारशब्दे एव अन्तर्भावितम्; तदनन्तरमेवोक्तेः। यदनुशंसकथनेन च सूचयिष्यति—

"अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा जिनरत्नप्रतिमां करोत्यनर्घाम्"।

(बो० च०--१.१०)

इति सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि प्रवृत्त्यङ्गतया प्रतिपादितानि। अन्यथा अनभिधेयादिशङ्कया प्रेक्षावतामत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्। ननु त्वया स्वातन्त्र्येण कथितं कथनं कथं ग्रहीष्यन्ति? इत्याह—यथागममिति। आगमानतिक्रमेण। यथैव प्रवचने भगवद्भिः प्रतिपादितः, तथा मयापि तदर्थानतिवृत्त्या प्रतिपादयितव्यः। अनेन आगमात् स्वातन्त्र्यं परिहृतं भवति। उत्सूत्रमिदं न भवतीत्यर्थः। प्रवचनार्थावगाहनमपि च अवक्रतया अनेन आत्मनो दर्शितम्। इदमपि प्रवृत्त्यङ्गमेव। ननु यदि यथागमं कथयितव्यः, तर्हि आगमे एव तदभिलाषिणः प्रवर्तिष्यन्ते, तत्किमनेन? इत्याह—[P 6] समासादिति। संक्षेपात्। यदि नाम आगमेऽपि कथितः; तथापि तत्र अतिविस्तरेण नानासूत्रान्तेषु प्रतिपादनात्; अहं तु पिण्डीकृत्य संक्षेपेण कथयिष्यामीति विशेषः। अनेन पुनरुक्तमिदं भवतीति परिहृतम्। अयमपि च अप्रवृत्त्यङ्गतापरिहारः। तस्मात् प्रवृत्त्यङ्गत्वादभिधेयादिकथनमसङ्गतं न भवति, तर्हि प्रणामकरणमपार्थकम्। तदपि श्रेयोलाभाद्यर्थमभिधीयमानं कथमपार्थकम्? अयमस्याभिप्रायः—सुगतादिप्रणामसमुद्भूतपुण्यसम्भार-समाक्रान्तचित्तसन्तानस्य प्रतनुतरपुराकृतपापवृत्तेरुपशान्तविघ्नस्य आरब्धार्थपरिसमाप्तिरुपजायते। समस्तसाधुजनगतमार्गानुगमनमपि च अनेन आत्मनः प्रकाशितं भवेत्। इष्टदेवतादिनमस्कृतिश्रवणादास्तिकत्वसंभावनया श्रोतॄणामात्मग्रन्थे च गौरवमापादितं स्यात्। अत्र च सुगतशब्देन उद्भावित-भगवद्गुणमाहात्म्यश्रवणात् तदभिलाषिणस्तदुपार्जनप्रवणमानसाः सुगतात्मज-

संवरावतारपरिज्ञानाय यत्नवन्तः अस्मिन् प्रवर्तन्ते । [१]इदमभिमतदेवतादिप्रणामफलम् । एतेन इदमपि—येन यदभिमतमभिप्रेतं कर्तुम्, स तदेव करोतु, नान्यत् । अन्यकरणे अप्रस्तुताभिधानमतिप्रसङ्गश्च स्यात् । तदयमपि संवरा-[P 7] वतारकथने कृताभिप्रायः किमप्रस्तुतमिष्टदेवतादिप्रणामं करोति ? प्रागुक्तदोषद्वयप्रसङ्गादिति यदुच्यते, तदपि निराकृतं भवति; तदुपयोगस्य वर्णितत्वात् नाप्रस्तुताभिधानम् । यत् प्रकृतोपयोगि तद्वक्तव्यं नान्यत्, इत्यतिप्रसङ्गो नास्तीति सर्वं सुस्थम् ॥ १ ॥

ग्रन्थप्रयोजनम्

ननु आगमानतिरिक्तं संक्षेपेणाभिधीयमानमपि कथमर्थविशेषाद्यभावाद् विशेषेण प्रवृत्त्यङ्गतया कस्यचिदुपादेयं स्यात् ? तस्मादागमादधिकमपि किंचिदत्र वक्तव्यम् ? इत्याशङ्क्याह—

* न हि[२] किंचिदपूर्वमत्र वाच्यं न च संग्रथनकौशलं ममास्ति ।
अत एव न मे परार्थचिन्ता[३] स्वमनो [४]वासयितुं [५]कृतं मयेदम् ॥ २ ॥

नैव किञ्चिदपूर्वमपरमागमादतिरिक्तमस्मिन् वक्तव्यमस्ति मम । यस्मादर्थे वा हिशब्दः । तर्हि तदधिकप्रमेयानभिधानेऽपि पदार्थरचनाविशेषो भविष्यति । तस्मादपि विशेषेण प्रवृत्तिः स्यादिति । अत्राह—न चेति । नापि संग्रथनमर्थपदविन्यासविशेषः, तत्र कौशलं नैपुण्यं ममास्ति । अवधारणे वा चकारः । यद्येवम्, कथमस्य परार्थोपयोगित्वमिति ? आह—अत एवेति । परप्रसञ्जितमेव अभ्युपगच्छति । यस्मादपूर्वं वक्तुं मम शक्तिर्नास्ति । नापि संग्रथनकौशलमस्ति । न च परार्थचिन्तापि । परार्थोपयुक्तमिदं भवतीति [P 8] विकल्पोऽपि मे नास्ति, तत्र शक्तिवैगुण्यात् । किमर्थं करणाय यत्न इति चेद् ? आह—स्वमन इति । आत्मचित्तं सुगतात्मजसंवरावताराभ्यासरसेन अधिकाधिकं वासयितुं कृतं प्रणीतं मया प्रकरणमिदम् । संवरावतारकथनं वा । अतीतकालनिर्देशः अन्तस्तत्त्वनिष्पन्नं मनसि निधायेति ॥ २ ॥

---

२. (यद्यपि मुझे) इस ग्रन्थ में न तो कोई ऐसी अपूर्व बात कहने को है, (जो पूर्व विद्वानों ने न कही हो) और न इसमें कोई विशिष्ट रचनानैपुण्य ही है, अतः मेरा यह सोचना तो व्यर्थ ही है कि (यह ग्रन्थ) दूसरों के लिए बहुत महत्त्वशाली होगा। मैं तो इस के सहारे अपने मन को बोधिसत्त्वों के उस आचार-पथ में अधिक से अधिक भावित (तन्मय) करने का प्रयासमात्र कर रहा हूँ ॥

---

१. ०मभिमतं—पाठा० । २. न च—पाठा० । ३. परार्थयत्नः—पाठा० ।
४. भावयितुं—पाठा० । ५. ममेदनिष्टं—पाठा० ।

ननु नात्मार्थं ग्रन्थप्रणयनं दृष्टम्, न च स्वयंकृतेनैव आत्मनि विशेषाधानम्, तावतः संस्कारविशेषस्य प्रागेवात्मनि विद्यमानत्वादिति ? अत्राह—

* मम[1] तावदनेन याति वृद्धिं कुशलं भावयितुं प्रसादवेगः ।
अथ मत्समधातुरेव पश्येदपरोऽप्येनमतोऽपि सार्थकोऽयम् ॥ ३ ॥

अनेन ग्रन्थेन वा । कुशलं शुभनमस्कारं भावयितुमाराधयितुम् । वृद्धिं याति प्रसादवेगः । उत्तरोत्तरवर्धमानस्य प्रसन्नचित्तसन्तानस्य प्रवाहवाहितया प्रवृत्तिः । अनेन स्वार्थकारित्वमनुभवसिद्धमस्य निदर्शयति ।

परार्थकारित्वमपि लेशतः सम्भवति—इति दर्शयन्नाह—अथ मत्समे-त्यादि । अथेति प्रकारान्तरोपन्यासे । स्वार्थकारित्वमस्य तावदनुभव-सिद्धम् । यदि पुनर्मम समानप्रकृतिरेव कश्चिदन्यः पश्येदीक्षेत, एनं ग्रन्थमर्थं वा, अतोऽपि परार्थोपयुक्तत्वादपि सार्थकः सप्रयोजनोऽयम्; परार्थोपयोगस्यापि कथंचित् सम्भवात् । अनेन श्लोकेन निरभिमानतामात्मनो [P 9] दर्शयति ॥ ३ ॥

क्षणसम्पत्तेर्दौर्लभ्यम्

इदानीं संवरावतारकथां ग्राहयितुमुपोद्धातं रचयन्नाह—

* क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी ।
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः ॥ ४ ॥

अष्टाक्षणविनिर्मुक्तस्य क्षणस्य सम्पत्तिः समग्रता । इयं सुदुर्लभा सुष्ठु दुःखेन लभ्यत इति कथञ्चित् प्राप्या ।

---

३. तथापि इस रचना के सहारे, पुण्यभावना के लिये मेरी श्रद्धा में कुछ तो वृद्धि होगी ही ! और साथ ही साथ, हो सकता है कि, इस पर मेरे ही समान-धर्मा किसी अन्य की भी नजर पड़ जाय (तो वह भी इसे पढ़ कर प्रमुदित हो सकता है । इस तरह) इस ग्रन्थ की सार्थकता ही सिद्ध होगी ॥

४. नरकादि आठ अक्षणों की निवृत्ति के बाद यह क्षणसम्पत्ति (मानव शरीर) बहुत मुश्किल से मिली है । यह सभी पुरुषार्थों की साधिका है । यदि इस (दुर्लभ मानव शरीर) को पाकर इस समय भी मैंने अपना हित न सोचा तो फिर यह संयोग कब बैठ पायगा, पता नहीं ! ॥

---

1. यदि—पाठा० ।

महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमा ।

प्रतिलब्धा प्राप्ता, सा च पुरुषार्थसाधनी । पुरुषस्य अर्थः अभ्युदयनिः-श्रेयसलक्षणः, तस्य साधनी निष्पादनी । तदङ्गत्वात् तत्र समर्थेति यावत् । यदि च एवम्भूतायामपि अस्यां न हितं विचिन्त्यते, स्वपरसुखहेतुः स्वर्गापवर्गसाधनं नोपादीयते, तदा पुनरपि भूयोऽपि एष तथागतोत्पादः श्रद्धाक्षणविमुक्तो मनुष्यभावः इत्ययं समागमः समावेशः, मिलनमिति यावत् । कुतः कथम् ? [P 10] न कथंचिद्भविष्यति; सुदुर्लभत्वात् अक्षणावस्थायां धर्मप्रविचयस्य कर्तुमशक्यत्वात्, इत्यभिप्रायः ।

यथोक्तमार्यगण्डव्यूहसूत्रे आर्यजयोष्मायतनविमोक्षे—"दुर्लभा अष्टाक्षणनिवृत्तिः । दुर्लभो मनुष्यभावप्रतिलम्भः । दुर्लभा क्षणसम्पद्विशुद्धिः । दुर्लभो बुद्धधर्मश्रवणः । दुर्लभं सत्पुरुषसमवधानम् । दुर्लभानि भूतकल्याणमित्राणि । दुर्लभो भूतनयानुशासन्युपसंहारः । दुर्लभं सम्यग्जीवितं मनुष्यलोके" इति ॥ [ग० व्यू ९०]

इदमेवाभिसन्धायोक्तम्—

"मानुष्यं दुर्लभं लोके बुद्धोत्पादोऽतिदुर्लभः ।
ततोऽपि श्रद्धाप्रवज्याप्रतिपत्तिः सुदुर्लभा ॥
बोधौ चित्तं दृढं सर्वसत्त्वानामनुकम्पया ।
सर्वदुःखप्रशान्त्यर्थं दुर्लभानां परम्परा" ॥ इति ॥

अक्षणाः पुनरिमे—

नरकप्रेततिर्यञ्चो म्लेच्छा दीर्घायुषोऽमराः ।
मिथ्यादृग्बुद्धकान्तारौ मूकताष्टाविहाक्षणाः ॥ इति ।

तस्मादिदानीमेव उद्योगः कर्तव्य इति ॥ ४ ॥

बोधिचित्तमहिमा

साम्प्रतं बोधिचित्तग्रहणाय तत्राभिलाषमुत्पादयितुमनुशंसामवतारयन्नाह—

* रात्रौ यथा मेघघनान्धकारे, विद्युत् क्षणं दर्शयति प्रकाशम् । [P11]
बुद्धानुभावेन तथा कदाचिल्लोकस्य पुण्येषु मतिः क्षणं स्यात् ॥ ५ ॥

---

५. रात्रिकालीन घने अंधकार में जैसे बिजली क्षण भर के लिए अपनी

निशायां यथा जलदागमसमये मेघैर्बहुले तमसि सति सौदामनी क्षणलवमात्र-मालोकयति किंचिद्वस्तुजातं प्रकाशयति, सैवोपमा अत्रापि इत्याह--बुद्धानुभावेनेत्यादि। बुद्धा एव हि भगवन्तो हितसुखोपसंहाराय सदा भव्याभव्यतया सर्वसत्त्वसन्तानमवलोकयन्तस्तिष्ठन्ति। यदा यत्र येनोपायेन यस्मै यं भव्यं पश्यन्ति तदा तत्र तेनोपायेन तस्मै तमधितिष्ठन्ति। अभव्यावस्थायामुपेक्ष्य विहरन्ति। इति तथागताधिष्ठानेन कथंचिद् दुर्लभोत्पत्तिकत्वात्। लोकस्य जनस्य पुण्येषु हितसुखहेतुषु कुशलेषु कर्मसु बुद्धिर्मुहूर्तमेकं भवेत्; तत्र तस्या स्थिरत्वात्। अनादिसंसारे लोकेन अकुशलपक्षस्यैव अभ्यस्तत्वात् ॥ ५ ॥

यदि नाम एवम्, ततः किम् ? इत्याह--

* तस्माच्छुभं दुर्बलमेव नित्यं बलं तु पापस्य महत् सुघोरम्।
तज्जीयतेऽन्येन शुभेन केन सम्बोधिचित्तं यदि नाम न स्यात् ॥ ६ ॥

यत एवम्, तस्माच्छुभं पुण्यं दुर्बलं सामर्थ्यविकलमेव विद्यु- [P 12] दुन्मेषप्रायत्वात् अतिकृशम्। नित्यं सर्वकालम्। कस्य तर्हि अतिशयवद् बलमस्ति ? इत्याह—बलं त्विति। सामर्थ्यं पुनरशुभस्य महत्, मेघघनान्धकारसदृशत्वात्तस्य। सुघोरमतिभयंकरं नरकादिदुःखदायकत्वात्, सुदुर्जयत्वाच्च।

भवतु नाम महत् सामर्थ्यमस्य, तथापि तदपरेण बलवता पुण्येन जेष्यते, तथा च न काचित् क्षतिरिति ? आह—तदित्यादि। तत् तादृशं महासामर्थ्यं जीयते अभिभूयते। अन्येन इतरेण। केन ? न केनापीत्यर्थः।

कुतः पुनरेवमुच्यते ? सम्बोधीत्यादि। सम्यक्सम्बोधौ बुद्धत्वे यच्चित्तं सर्वसत्त्वसमुद्धरणाभिप्रायेण तत्प्राप्त्यर्थमध्याशयेन मनसिकारः। तद्यदि नाम न भवेत्, महासामर्थ्यं हि तदपरेण महीयसा पराजीयते, सूर्येणेव निशान्धकारः। न च सम्बोधिचित्तात् प्रतिपक्षो महीयानपरः सम्भवति। तस्मात् तत्प्रतिघाताय सम्बोधिचित्तमेव उपादेयं नान्यदित्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

चमक दिखा जाती है, वैसे ही लोगों की बुद्धि भी तथागत के करुणाकटाक्ष से कभी कदाचित् ही क्षणभर के लिये पुण्य की ओर अग्रसर हो पाती है ॥

६. इस लिये पुण्य हमेशा कमजोर रहता है, और पाप महाभयंकर बलशाली। उस पाप को दूसरा कोई पुण्य नहीं जीत पायगा, यदि बोधिचित्त नामक पुण्य न हो ॥

इतोऽपि सम्बोधिचित्तमुपादेयमित्याह—

* कल्पाननल्पान् प्रविचिन्तयद्भिर्दृष्टं मुनीन्द्रैर्हितमेतदेव ।
यतः सुखेनैव सुखं प्रवृद्धमुत्प्लावयत्यप्रमितान्जनौघान् ॥ ७ ॥

[P 13] एकोऽन्तरकल्पः कल्पः । विंशतिरन्तरकल्पाः कल्पः । अशीतिरन्तरकल्पाः कल्पः । स च महाकल्प इत्यभिधीयते । तदिह महाकल्पस्यैव ग्रहणम् । [1]अनल्पान् बहून् प्रथमासंख्येयान्तर्गतान् । प्रविचिन्तयद्भिः तात्पर्येण परिभावयद्भिः । दृष्टमधिगतम् । मुनीन्द्रैः बुद्धैर्भगवद्भिर्बोधिसत्त्वावस्थायाम् । हितं सर्वार्थसाधनयोग्यम्; तद्बीजभूतत्वात् । एतदेव सम्बोधिचित्तमेव । कथं पुनरदिमेव हितम् ? इत्याह— यत इत्यादि । यस्मात् सुखं प्रवृद्धं प्रकर्षगतं बुद्धत्वलक्षणम् । अप्रमितान् अप्रमेयान् । जनौघान् सत्त्वसमूहान् । उत्प्लावयति उत्तारयति संसारदुःखमहार्णवात् । तस्मादिदमेव हितम् ॥

अथ वा । यस्मात् सुखं देवमनुष्यसम्पत्तिलक्षणम् । प्रवृद्धं वृद्धिं गतम् । अर्थात् सम्बोधिचित्तादेव । उत्प्लावयति अतिशयेन सन्तर्पयति । सौकर्याधिकतरं यद्भवति तदुत्प्लावनमुच्यते, यथा 'दध्ना वयमुत्प्लाविताः' इति सौकर्यादधिकतरं दधि भूतमित्यर्थः ॥

यदि वा । यतः सम्बोधिचित्तात् सुखं प्रवृद्धमिति योजनीयम् ॥

कथं प्रवृद्धम् ? इत्याह—सुखेनैवेति । न अकृच्छ्रेण । न शिरोलुञ्चनादिना महता कष्टेन । तथा हि बोधिचित्तसंवरादेव बोधिसत्त्वेऽमितपुण्यज्ञानसम्भारात् प्रवर्धमानो देवमनुष्यसम्पत्तीः सुखमधिगच्छन् सत्त्वानेव अधिकतरं ताभिः सन्तर्पयतीति । यद्वक्ष्यति—

"एवं सुखात् सुखं गच्छन् को विषीदेत् सचेतनः ।
बोधिचित्तरथं प्राप्य सर्वखेदश्रमापहम्" ॥ इति ॥ (बो० च० ७-३०)

ननु भगवतामपि मैत्रीबलादिजातकेषु [जा० मा०--८] महद्दुष्करं [P 14] श्रूयते तत् कथं सुखेनैव सुखं प्रवृद्धिमति ? नैष दोषः; यतः उत्पाद्यमेवं परहितसुखाधायकं दुःखं स्वपरयोः कृपात्मभिः । सुखमेव तादृशं दुःखं परदुःखदुःखिनां धीमतामिति प्रतिपादयिष्यते ॥ ७ ॥

---

७. मुनीन्द्रों (बुद्धों) ने भी अनेक कल्पों तक चिन्तन मनन आदि करते-करते एकमात्र इस बोधिचित्त को ही श्रेयस्कर माना है । इससे अनायास ही समृद्ध सात्त्विक सुख अपार जनसमूह को गद्गद कर देता है ॥

---

१. कल्पान्—पाठा० ।

अस्मादपि स्वपरहितहेतुत्वाद्बोधिचित्तं न परित्याज्यमेवेति दर्शयन्नाह–

* भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपि सत्त्वव्यसनानि हर्तुकामैः ।
बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम् ॥ ८ ॥

संसारदुःखशतानि नरकादिगतिदुःखानामसाधवेदितानां शतानि अपर्यन्तसमूहाँस्तर्तुकामैः परित्यक्तुमिच्छद्भिः श्रावकप्रत्येकबुद्धगोत्रैः । न केवलमात्मीयानि, लोकानां जात्यादिदुःखान्यपि हर्तुकामैरपनेतुकामैर्बोधिसत्त्वगोत्रैः । न केवलं स्वपरदुःखानि हर्तुकामैः, अपि च, बहूनि सुखान्येव सौख्यानि तेषां शतानि देवमनुष्योपपत्तिलभ्यानि अनुभवितुकामैः संसारसुखाभिलाषुकैरपि । सदैव सर्वकालं न विमोच्यमपरित्याज्यं बोधिचित्तम् । स्वीकर्त [P 15] व्यमित्यर्थः । अथवा सम्बोधिकांक्षिणामेव विशेषणानि ॥ ८ ॥

अस्मादपि गुणविशेषाद् बोधिचित्तं ग्राह्यमित्याह—

* भवचारकबन्धनो वराकः सुगतानां सुत उच्यते क्षणेन
स नरामरलोकवन्दनीयो भवति स्मोदित एव बोधिचित्ते ॥ ९ ॥

संसार एव बन्धनागारम्; तत्र बन्धनं बन्धो रागादय एव यस्येति विग्रहः । तादृशो वराकस्तपस्वी सन् । उदिते एव बोधिचित्ते प्रथमतरं बोधिचित्तसंवरग्रहणसमये । सुगतानां सुत उच्यते, बुद्धपुत्र इत्यभिधीयते । क्षणेन तत्क्षणमेव । न केवलमेवमित्याह—सनरामरेत्यादि । सह नरामरैः मनुष्यदेवैर्वर्तन्ते ये असुरादयो लोकाः, तेषामपि वन्दनीयो नमस्करणीयः स्तवनीयश्च भवति स्म । स्मशब्देन अतीतकालाभिद्योतनाद् बोधिचित्तोदयसमये एव भूतः ॥ ९ ॥

अस्मादपि गुणानुशंसदर्शनाद् बोधिचित्तग्रहणे यत्नः करणीय इत्याह—

* अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा जिनरत्नप्रतिमां करोत्यनर्घाम् । [P 16]
रसजातमतीव वेधनीयं सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तसंज्ञम् ॥ १० ॥

---

८. भवसागर के सैंकड़ों-हजारों दुःखों से पार पाने के इच्छुकों, प्राणियों का दुःखों से छुटकारा चाहने वालों तथा नाना प्रकार के सुखभोग की वाञ्छा वालों को बोधिचित्त का कभी परित्याग नहीं करना चाहिये ॥

९. संसार के कारागार में बंधा यह अकिञ्चन प्राणी बोधिचित्त के उत्पादक्षणों में ही 'बुद्धपुत्र' (बोधिसत्त्व) कहलाने लगता है । और मनुष्यों तथा देवताओं के लिये श्रद्धेय बन जाता है ॥

१०. (अतः) बहुत मुश्किल से वेधनीय महारसायनरूपी इस बोधिचित्त

अमेध्यप्रतिमामिमां मनुष्यादिकलेवरस्वभावां तद्धातुकां तत्स्वभावाम्। तेन संवर्धितामित्यर्थः। तां गृहीत्वा आदाय। जिन एव रत्नम्, दुर्लभप्रतिलम्भादिगुणयोगात्। तस्य प्रतिमां करोति निष्पादयति बोधिचित्तम्। तथागतविग्रहं निर्वर्तयतीत्यर्थः। किम्भूताम्? अनर्घाम्। न विद्यते अर्घो मूल्यं यस्याः। सर्वत्रैधातुकातिशायिगुणत्वाद् गुणपर्यन्तापरिज्ञानाच्च। तथोक्तां ताम्। अत एव रसजातं रसप्रकारम्। अत्युच्चवेधकारित्वादतीव वेधनीयम्। कर्तरि अनीयः, करणे वा। तत् तादृशम्। बोधिचित्तं संज्ञा यस्य रसजातस्य। बोधिचित्तापरव्यपदेशम्। सुदृढं गृह्णत यथा गृहीतं पुनर्न चलति। गृह्णीतेति प्राप्ते गृह्णतेति यथागमपाठात्। तस्माज्जिनरत्नमात्मानं कर्तुकामैर्बोधिचित्तमहारसः सुदृढं ग्रहीतव्यः। उक्तं च आर्यमैत्रेयविमोक्षे [ग० व्यू० सूत्रे-४०१]—

"तद्यथा, कुलपुत्र, अस्ति हाटकप्रभासं नाम रसजातम्। तस्यैकं पलं [P 17] लोहपलसहस्रं सुवर्णीकरोति। न च तद्रसपलं शक्यते तेन लोहपलसहस्रेण पर्यादातुं लोहीकर्तुं वा। एवमेव एकः सर्वज्ञताचित्तोत्पादरसधातुः कुशलमूलपरिणामज्ञानसंगृहीतः सर्वकर्मक्लेशावरणलोहानि पर्यादाय सर्वधर्मान् सर्वज्ञतासुवर्णान् करोति। न च सर्वज्ञताचित्तोत्पादरसधातुः शक्यते सर्वकर्मक्लेशावरणलोहादिभिः पर्यादातुं तत्कर्तुं वा" इति ॥ १० ॥

भवगतिषु विभूतिकामैरपि नात्र संशयो विपर्यासो वा कर्तव्यः- इत्युपदर्शयन्नाह—

* सुपरीक्षितमप्रमेयधीभिर्बहुमूल्यं जगदेकसार्थवाहैः।
गतिपत्तनविप्रवासशीलाः सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तरत्नम् ॥ ११ ॥

गतय एव पत्तनानि पण्यद्रव्यक्रयविक्रयनगराणि इह पत्तनानि। तद्वत् शुभाशुभकर्मपण्यद्रव्यक्रयविक्रयस्थानानि गतिपत्तनानि। तेषु विप्रवासो विप्रवसनमेव शीलं स्वभावो येषां ते तथोक्ताः। तेषां सम्बोधनम्। हे गतिपत्तनविप्रवासशीलाः, सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तरत्नम्। बोधिचित्तमेव रत्नं रत्नमिव। यथा चिन्तामणिमहारत्नं सर्वदारिद्र्यदुर्गतिप्रशमनहेतु, तथा इदमपि बोधिचित्तरत्नम्। अयमभिप्रायः—वाणिज्य एव सुखसम्पत्तिलाभार्थिनो

को दृढ़ता से ग्रहण कर लेना चाहिये; ताकि इस अपवित्र शरीर रूपी प्रतिमा को बुद्धरत्नरूपी बहुमूल्य प्रतिमा में बदला जा सके ॥

११. ओ सुगति-दुर्गतिरूपी कर्म-गति के नगरों में भटकने वालो! महाप्राज्ञ

यूयम्। अत इदमेव महारत्नं महतादरेण गृह्णीत। कुतः? बहुमूल्यमिति। हेतुपदमेतत्। यस्मादनर्घमिदं सर्वातिशायि लौकिकलोकोत्तरसंपत्ति- [P 18] निदानभूत्वात्, तस्मादिदमेव ग्राह्यमित्यर्थः। कथमिदं ज्ञायते? इति चेदाह— सुपरीक्षितमिति। सुष्ठु निरूपितं सम्यङ् निर्णीतमित्यर्थः। कैः? इत्याह— अप्रमेयधीभिः। अप्रमेया प्रमातुमशक्या धीर्बुद्धिर्येषां तैः महाप्राज्ञैः बुद्धबोधिसत्त्वैः। एतावता परीक्षायां स्खलितमपि नास्ति इति सुपरीक्षितमुच्यते। पुनरपि किम्भूतैः? जगदेकसार्थवाहैः। सार्थं वाहयन्तीत्यण्। जगतामेक एव सार्थवाहाः करुणावशवर्तिनो बुद्धा भगवन्तो बोधिसत्त्वाश्च, तैः। यथा खलु वणिजां हिताहितप्राप्तिपरिहारयोर्हितैषिणो ज्ञानवन्तश्च सार्थवाहा नेतारो भवन्ति, इति न तत्र विसंवादसंभावना, तथा अत्रापीत्यभिप्रायः। तस्मादिदमेव बोधिचित्तरत्नमनघं सुदृढं ग्राह्यमिति।

एतच्च तत्रैवोक्तम्—"तद्यथा, कुलपुत्र, यावच्चन्द्रसूर्यौ मण्डलप्रभया अवभासेते, अत्रान्तरे ये केचिद्धनधान्यरत्नजातरूपरजतपुष्पधूपगन्धमाल्यविलेपनपरिभोगाः, ते सर्वे वशिराजमहामणिरत्नस्य मूल्यं न क्षमन्ते; एवमेव यावत् त्रिष्वपि अध्वसु सर्वज्ञानं धर्मधातुविषयमवभासयति, अत्रान्तरे यानि कानिचित् सर्वदेवमनुष्य-सर्वसत्त्व-सर्वश्रावक-प्रत्येकबुद्धकुशलमूलानि सास्रवानास्रवाणि सर्वाणि तानि बोधिचित्तोत्पादवशिराजमहामणिरत्नस्य मूल्यं न क्षमन्ते" (ग० व्यू०—४००) इति ॥ ११ ॥

इदमपरमसाधारणमतिशयवत् कल्पतरोरिव माहात्म्यमस्य [P 19] उपदर्शयन्नाह—

* कदलीव फलं विहाय याति क्षयमन्यत् कुशलं हि सर्वमेव।
सततं फलति क्षयं न याति प्रसवत्येव तु बोधिचित्तवृक्षः ॥ १२ ॥

कदली यथा फलमेकवारं दत्त्वा न पुनः फलति, तथा बोधिचित्तादन्यदपि कुशलं सर्वमेव किञ्चिदेव विपाके परिपक्वे न पुनः फलदानसमर्थं भवति। तावतैवास्य परिक्षयात्, विपाकस्य च अव्याकृततया पुनः फलानुबन्धाभावात्। बोधिचित्तस्य पुनरयं विशेषः इत्याह—सततमित्यादि। सर्वकालं

एवं संसार के अनुपम नियन्ता बुद्ध-बोधिसत्त्वों द्वारा परखे गये इस अनमोल बोधि चित-रत्न का दृढ़ता से ग्रहण करो तो ! ॥

१२. क्योंकि अन्य सभी उपकारी वृक्ष केले की तरह एक बार फल देकर

फलति देवमनुष्योपपत्तिषु सुखसम्पत्तिप्रदानात् । क्षयं न याति तदन्यकुशलवत्, स्थिरस्वभावत्वात् । प्रतिक्षणमनेकप्रकारैः शुभमेघप्रवाहैरापूर्यमाणत्वाच्च प्रसवत्येव तु बोधिचित्तवृक्षः, अविच्छिन्नसुखसम्पत्तिफलप्रसवनात्, उत्तरोत्तरमपरापरगुणविशेषजननाच्च । बोधिचित्तं वृक्ष इव । "उपमितं व्याघ्रादिभिः" (पा० सू० २. १. ५६) इति समासः । यस्मादेवम्, तस्मादनुपरतमतिशयवत्सर्वसुखसम्पदः प्राप्तुकामैः प्रेक्षावद्भिरिदमेव ग्राह्यम् । कथितं [P 20] चैतदार्यक्षयमतिनिर्देशे--"तद्यथापि नाम, भदन्त शारद्वतीपुत्र, महासमुद्रपतितस्योदकबिन्दोर्नास्त्यन्तरा परिक्षयः पर्यादानं यावन्न कल्पपर्यन्तः इति; एवमेव बोधिपरिणामितस्य कुशलमूलस्य नास्त्यन्तरा परिक्षयः पर्यादानं यावन्न बोधिमण्डनिषदनम्" (ग० व्यू० ८८) इति ॥ १२ ॥

न केवलं सर्वशुभसञ्चयकारणम्, अकुशलपक्षक्षयहेतुरपि बोधिचित्तमिति सार्धश्लोकेनाह--

* कृत्वापि पापानि सुदारुणानि यदाश्रयादुत्तरति क्षणेन ।
शूराश्रयेणेव महाभयानि नाश्रीयते तत् कथमज्ञसत्त्वैः ॥ १३ ॥
युगान्तकालानलवन्महान्ति पापानि यन्निर्दहति क्षणेन ।

बोधिचित्तग्रहणात् पूर्वं कृत्वापि पापानि अकुशलकर्माणि नरकादिषु दुःसहदुःखदायकत्वात् सुदारुणानि अतिभयङ्कराणि महान्ति वा यस्य बोधिचित्तस्य आश्रयादाश्रयणात् तदुत्पादनरक्षणवर्धनसेवनलक्षणात् उत्तरति निस्तरति । तत्सामर्थ्याभिभवेन अतिक्रामतीत्यर्थः । क्षणेन एकस्मिन्नेव क्षणे महतः पुण्यराशेः समुपार्जनात् । तदुत्पादनमात्रेण । कथमिवोत्तरति ? शूराश्रयेणेव [P 21] महाभयानि बलवत्पुरुषाश्रयेण यथा महापराधं कृत्वापि कश्चिदुत्तरति तदपराधफलान्निर्भयो भवति, तथा प्रकृतेऽपि । तदेवम्भूतं बोधिचित्तं कथं किमिति नाश्रीयते न सेव्यते ? अज्ञसत्त्वैः प्रज्ञाविकलैर्मूढजनैरित्यर्थः । आश्रयणीयमेव तद्भवेदिति भावः ।

इदमपि तत्रैवोक्तम्--"तद्यथा, कुलपुत्र, शूरसन्निश्रितः पुरुषः

स्वयं नष्ट हो जाते हैं, परन्तु बोधिचित्त-रूपी वृक्ष कभी क्षीण नहीं होता, अपितु निरन्तर फल-फूल देता रहता है ॥

१३. भयंकर से भयंकर अकुशल कर्मों (पापों) का इस बोधिचित्त के सहारे से उसी तरह नाश किया जा सकता है जिस तरह बलवान् पुरुष के सहारे

सर्वशत्रुभ्यो न बिभेति, एवमेव बोधिचित्तोत्पादशूरसन्निश्रितो बोधिसत्त्वः सर्वदुश्चरितशत्रुभ्यो न बिभेति" इति ।। १३ ।।

अपरमपि बोधिचित्तात् पापक्षयदृष्टान्तमाह—

युगान्तकाले प्रलयसमये अनलो वह्निः सप्तसूर्योदयसमुद्भूतः यथा सर्वं कामधातुं सप्रथमध्यानं निर्दहति, निःशेषं दहति यथा भस्मापि नावशिष्यते, तद्वत् पापानि । किंभूतानि ? महान्ति सुमेरुप्रख्यानि महारौरवादिदुःखविपाकानि यद् बोधिचित्तं निर्दहति तद्विपाकोपघातान्निर्मूलयति । क्षणेन नचिरेण । नाश्रीयते तत्कथमज्ञसत्त्वैरिति सम्बन्धः कार्यः ।

एतदपि तत्रैवोक्तम्— "कल्पोद्दाहाग्निभूतं सर्वदुष्कृतनिर्दहनतया । पातालभूतं सर्वाकुशलधर्मपर्यादानकरणतया" इति ।

ननु कृतकर्मविप्रणाशवादी भगवान्, तत् कथमिदमभिधीयते ? सत्यमुच्यते; बोधिचित्तप्रसूते प्रतिक्षणमाकाशधातुव्यापके महति [P 22] पुण्यौघेऽन्तर्भूततया लवणपलोपमन्यायेन अप्रज्ञायमानत्वात्, बलवता प्रतिपक्षेण अभिभूतत्वाच्च, फलदानासमर्थं दग्धमेव तदित्यदोषः । यदि वा निरुपायाभिसन्धिना तदुक्तम्—'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इति । इदं तु सर्वपापनिर्मूलने महानुपायः । तथा हि—यदा बोधिसत्त्वः 'सर्वसत्त्वानाकाशधातुव्यापिनः सर्वदुःखात् समुद्धृत्य सर्वसुखसम्पन्नान् करिष्यामि' इत्यध्याशयेन विचिन्तयति । पूर्वकृतं च पापं विदूषणासमुदाचारादिभिः क्षपयति, तदा बोधिचित्तबलादेव तत्सन्ताने पापस्य कः सद्भावः, येन चोद्यस्यावकाशः स्यादिति सर्वं निराकुलम् । एतावता यदुक्तम्—"तज्जीयतेऽन्येन शुभेन केन" (बो० च० १. ६) इति, तदपि विस्पष्टीकृतम् । अन्ये पुनः—'अनियतविपाकापेक्षया सर्वमेतदुच्यते, नियतविपाकस्य तु कर्मणः केनचित्प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्' इत्याहुः ।।

इत्थमपि बोधिचित्तमुपादेयमित्याह—

* यस्यानुशंसानमितानुवाच मैत्रेयनाथः सुधनाय धीमान् ।। १४ ।।

यस्य बोधिचित्तस्य अनुशंसान् स्वाभाविकान् गुणान् अमितान् अप्रमाणान् मैत्रेयनाथः भगवानजितः । किंभूतः ? धीमान् बोधिसत्त्वः । उवाच उक्तवान् । सुधना सुधननाम्ने बोधिसत्त्वाय । [P 23]

कमजोर आदमी बड़ी से बड़ी विपत्ति से छुटकारा पा जाता है । प्रज्ञाविकल मूढ प्राणी इतनी छोटी सी बात क्यों नहीं समझ पाते ? ।'

१४. जो बोधिचित्त प्रलयकालीन सात सूर्यों के उदय से समुद्भूत अग्नि के

तथा च आर्यगण्डव्यूहसूत्रे वर्णितम्--"बोधिचित्तं हि, कुलपुत्र, बीजभूतं सर्वबुद्धधर्माणाम्। क्षेत्रभूतं सर्वजगच्छुक्लधर्मविरोहणतया। धरणिभूतं सर्वलोकप्रतिशरणतया। यावत् पितृभूतं सर्वबोधिसत्त्वारक्षणतया। ··· पे० ·····। वैश्रवणभूतं सर्वदारिद्र्यसञ्छेदनतया। चिन्तामणिराजभूतं सर्वार्थसंसाधनतया। भद्रघटभूतं सर्वाभिप्रायपरिपूरणतया। शक्तिभूतं क्लेशशत्रुविजयाय" इत्यादि विस्तरः॥

"नाश्रीयते तत् कथमज्ञसत्त्वैः" [बो० च० १. १३] इति अत्रापि योजनीयम्॥ १४॥

बोधिचित्तस्य भेदद्वयम्

इदानीं बोधिचित्तस्य प्रभेदं दर्शयेन्नाह—

* तद्बोधिचित्तं द्विविधं विज्ञातव्यं समासतः।
बोधिप्रणिधिचित्तं च बोधिप्रस्थानमेव च॥ १५॥

तत् समनन्तरप्रदर्शितानुशंसं बोधिचित्तं द्विविधं द्विप्रकारं विज्ञातव्यं वेदितव्यम्। गोत्रभूम्यादिगतानेकप्रकारसम्भवेऽपि कथं द्विविधः ? इत्याह—समासतः। अपरप्रकारसम्भवेऽपि संक्षेपतः इदं द्विविधमुच्यते। द्विविधमपि कथम् ? बोधिप्रणिधिचित्तमित्येकम्, बोधिप्रस्थानमिति द्वितीयम्। १. बोधौ [P 24] प्रणिधिः, तदेव चित्तं तत्र वा चित्तम्। यच्चित्तं प्रणिधानादुत्पन्नं भवति दानादिप्रवृत्तिविकलं च, तत् प्रणिधिचित्तम्। तद्यथा—सर्वजगत्परित्राणाय बुद्धो भवेयमिति प्रथमतरं प्रार्थनाकारा चेतना। २. प्रस्थाने चित्तं प्रस्थानमेव वा चित्तम्, चित्तस्य तत्स्वभावत्वात्। पूर्वकमनस्कारपुरःसरमेव यतः प्रभृति संवरग्रहणपूर्वकं सम्भारेषु प्रवर्तते, तत् प्रस्थानचित्तम्। इति उक्तक्रमेण द्वैविध्यम्। 'इयानेव भेदः'—इति एवकारेण प्रतिपादयति। चकारद्वयं परस्परसमुच्चये। द्वयोरपि बोधिचित्तत्वं दर्शयति। तेन पूर्वकं बोधिचित्तं न भवतीति शङ्का निरस्यति। शूरंगमसूत्रे (आद्यो) शाठ्योत्पादितस्यापि बोधिचित्तस्य बुद्धत्वहेतुत्वाभिधानात्। तथा आर्यगण्डव्यूहे चोक्तम्—

"दुर्लभाः, कुलपुत्र, ते सत्त्वाः सत्त्वलोके ये अनुत्तरस्यां सम्यक्सम्बोधौ चित्तं प्रणिदधति। ततोऽपि दुर्लभतमास्ते सत्त्वाः ये अनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमनुप्रस्थिताः" (ग० व्यू० ८) इति॥ १५॥

समान क्षणमात्र में घोर पापों को जला डालता है। और मैत्रेयनाथ ने भिक्षु सुधन के सामने जिसकी नाना प्रकार से प्रशंसा की है॥

१५. उस बोधिचित्त के संक्षेप में दो भेद जानने चाहिये—१. बोधिप्रणिधान चित्त, एवं २. बोधिप्रस्थान चित्त॥

इदानीमुक्तमेव प्रभेदमुदाहरणेन व्यक्तीकुर्वन्नाह—

* गन्तुकामस्य गन्तुश्च यथा भेदः प्रतीयते ।
तथा भेदोऽनयोर्ज्ञेयो याथासंख्येन पण्डितैः ॥ १६ ॥

यथा कश्चित् पुरुषः अभिमतदेशप्राप्तये गन्तुकामः गमना- [P 25] भिप्रायः, न तु पुनर्गच्छत्येव, अन्यः पुनस्तत्प्राप्तये प्रस्थितो गच्छत्येव । यद्वद्यथा तयोर्भेदो विशेषः प्रतीयते अवगम्यते, तद्वत्तथा भेदो नानात्वमनयोर्बोधिप्रणिधिप्रस्थानचेतसोर्ज्ञेयः अवबोद्धव्यः पण्डितैर्विचक्षणैः । कथम् ? याथासंख्येन । स्वार्थेऽप्यण् । प्राक्तनं प्रणिधिचित्तस्य निदर्शनम्, पश्चात्तनं प्रस्थानचेतसः— इति संख्यार्थः ॥ १६ ॥

बोधिप्रणिधिचित्तं महाफलम्

तदेतत् प्रणिधिचित्तं प्रतिपत्तिविकलमपि संसारे महाफलं भगवता वर्णितमित्याह—

* बोधिप्रणिधिचित्तस्य संसारेऽपि फलं महत् ।

यदि नाम तत् प्रतिपत्तिविकलम्, तथापि तस्य आस्तां तावद् बुद्धत्वम्, संसारेऽपि देवमनुष्योपपत्तिस्वभावं सुखसम्पत्तिलक्षणं फलं महत्, अन्यस्मात् कुशलाद् बृहत् । सततं फलतीत्यादिविशेषणविशिष्टत्वात् । तथा चोक्तमार्यमैत्रेयविमोक्षे—

"तद्यथापि नाम, कुलपुत्र, भिन्नमपि वज्ररत्नं सर्वरत्नप्रतिविशिष्टं सुवर्णालङ्कारमभिभवति, वज्ररत्ननाम च न विजहाति, सर्वदारिद्र्यं च विनिवर्तयति; एवमेव, कुलपुत्र, प्रतिपत्तिभिन्नमपि सर्वज्ञताचित्तोत्पादवज्ररत्नं सर्वश्रावकप्रत्येकबुद्धगुणसुवर्णालङ्कारमभिभवति, बोधिचित्त-[P 26] नाम च न विजहाति, संसारदारिद्र्यं च विनिवर्तयति"(ग०व्यू० ५०८)इति॥

तस्माद् योऽपि पारमितासु सर्वेण सर्वं सर्वथा शिक्षितुमसमर्थः, तेनापि बोधिचित्तमुत्पादनीयम् । एवमुपायपरिग्रहेण महाफलत्वात् ।

यथोक्तमार्यापरराजाववादकसूत्रे—"यस्मात् त्वं, महाराज, बहुकृत्यो बहुकरणीयः, असहः सर्वेण सर्वं सर्वथा सर्वदा दानपारमितायां शिक्षितुम्,

---

१६. जाने की इच्छा करनेवाले और जाते हुए व्यक्तियों में जो भेद होता है, सुधी जनों को वही भेद इन दो चित्तों में भी क्रमशः समझ लेना चाहिये ॥

१७. यद्यपि संसार में बोधिप्रणिधिचित्त का भी महान् फल होता है, पर

यावत् प्रज्ञापारमितायां शिक्षितुम्। तस्मात्तर्हि त्वं, महाराज, एवमेव सम्बोधिच्छन्दं श्रद्धां प्रार्थनां प्रणिधिं च, गच्छन्नपि तिष्ठन्नपि निषण्णोऽपि शयानोऽपि जाग्रदपि भुञ्जानोऽपि पिबन्नपि, सततममितमनुस्मर, मनसि कुरु, भावय। सर्वबुद्ध-बोधिसत्त्व-प्रत्येकबुद्धआर्यश्रावक-पृथग्जनानामात्मनश्च अतीतानागतप्रत्युत्पन्नानि कुशलमूलानि पिण्डयित्वा तुलयित्वा अनुमोदयस्व अग्रया अनुमोदनया। अनुमोद्य च सर्वबुद्धबोधिसत्त्वप्रत्येकबुद्धार्यश्रावकाणां पूजाकर्माणि निर्यातय। निर्यात्य च सर्वसत्त्वसाधारणानि कुरु। ततः सर्वसत्त्वानां यावत् सर्वज्ञताप्रतिलम्भाय सर्वबुद्धधर्मपरिपूरणाय दिने दिने त्रैकाल्यमनुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ परिणामय। एवं खलु त्वं, महाराज, [P 27] प्रतिपन्नः सन् राज्यं च कारयिष्यसि, राज्यकृत्यानि च न हापयिष्यसि, बोधिसम्भारांश्च परिपूरयिष्यसि"—इत्यादिकमुक्त्वाऽऽह— "स खलु पुनस्त्वं, महाराज, सम्यक्सम्बोधिचित्तकुशलमूलविपाकेन अनेककृत्वो देवेषु उपपन्नोऽभूः। अनेककृत्वो मनुष्येषु उपपन्नोऽभूः। सर्वासु च देवमनुष्योपपत्तिषु आधिपत्यं कारयिष्यसि" इति विस्तरः। इति चर्याविकलेऽपि बोधिचित्ते नावमन्यना कार्या; तस्यापि अनन्तसंसारे सुखप्रसवनात्।

बोधिप्रस्थानचित्तं चातितरां विपुलफलम्

यत् पुनः प्रतिपत्तिसारं बोधिचित्तं तदतितरां विपुलं फलमेवेति सिद्धमित्याह—

* न त्वविच्छिन्नपुण्यत्वं यथा प्रस्थानचेतसः ॥ १७ ॥

न तु न पुनः। यथा प्रस्थानचित्तस्य अविच्छिन्नपुण्यत्वं निरन्तरशुभप्रवाहवाहित्वम्, न तथा अस्येति भावः ॥ १७ ॥

बोधिचित्तमहिमा

इदमेव अविच्छिन्नपुण्यत्वं वृत्तद्वयेन प्रसाधयन्नाह—

* यतः प्रभृत्यपर्यन्तसत्त्वधातुप्रमोक्षणे।
समाददाति तच्चित्तमनिवर्त्येन चेतसा ॥ १८ ॥

* ततःप्रभृति सुप्तस्य प्रमत्तस्याप्यनेकशः।
अविच्छिन्नाः पुण्यधाराः प्रवर्तन्ते नभःसमाः ॥ १९ ॥

बोधिप्रस्थानचित्त के समान इसमें पुण्य का सातत्य (प्रवाह) नहीं रह पाता। इन दोनों में पुण्य की निरन्तरता के कारण बोधिप्रस्थान चित्त ही श्रेष्ठ है ॥

१८. १९. (बोधिप्रस्थान के इस अविच्छिन्न पुण्यत्व को और स्पष्ट कर रहे

यतःप्रभृति यस्मादारभ्य। न विद्यते पर्यन्तः इयत्ता अस्येति अपर्यन्तस्य आकाशधातुव्यापिनः सत्त्वधातोः प्रमोक्षणे प्रमोक्षे सर्वदुःखोपशम- [P 28] निमित्ते। समाददाति तच्चित्तम्, सम्यक्संबोधिचित्तं समादाय वर्तते। कथम्? अनिवर्त्येन चेतसा अप्रवृत्तिभ्रष्टेन मनसा॥ १८॥

ततःप्रभृति तदादिं कृत्वा। सुप्तस्य मिद्धाक्रान्तचित्तस्य, प्रमत्तस्य विक्षिप्तचित्तस्यापि। उभयत्रापिः सम्बध्यते। उपलक्षणं चैतत्। गच्छतोऽपि तिष्ठतोऽपि निषण्णस्यापि भुञ्जानस्यापि मूर्च्छाद्यवस्थायामपीत्यादि द्रष्टव्यम्। अनेकश इति। प्रतिक्षणमनेकवारम्। अविच्छिन्नाः पुण्यधाराः निरन्तरसन्ततयः शुभवेगाः प्रवर्तन्ते। नभसमाः प्रतिक्षणमाकाशधातुप्रमाणाः। तस्मात् प्रतिपत्तिसारेण बोधिसत्त्वेन भवितव्यम्।

आर्यसमाधिराजे चोक्तम् —"तस्मात् प्रतिपत्तिसारो भविष्यामि–इत्येवं, कुमार, शिक्षितव्यम्। तत् कस्य हेतोः? प्रतिपत्तिसारस्य, कुमार, न दुर्लभा भवति अनुत्तरा सम्यक्सम्बोधिः" इति [समाधि०–१०]॥ १९॥

अविच्छिन्नपुण्यत्वमस्य भगवतैवोक्तमित्युपदर्शयन्नाह—

* इदं सुबाहुपृच्छायां सोपपत्तिकमुक्तवान्।
हीनाधिमुक्तिसत्त्वार्थं स्वयमेव तथागतः॥ २०॥

इदमेव अप्रमेयपुण्यत्वं स्वयमेव आत्मनैव तथागतो बुद्धो भगवानुक्तवान् कथितवान्। क्व? सुबाहुपृच्छायां सुबाहुपृच्छानाम्नि सूत्रे। कथम्? सोपपत्तिकं सयुक्तिकम्। किमर्थम्? हीनाधिमुक्तिसत्त्वार्थम्। हीने [P 29] श्रावकप्रत्येकबुद्धयाने अधिमुक्तिः श्रद्धा छन्दो वा येषां ते। ते सत्त्वाश्च। तेभ्य इदं तदर्थम्। तत् प्रयोजनमुद्दिश्येत्यर्थः। तथा हि—ये अनियतगोत्राश्चिरतरकालेन बहुतरसम्भारोपार्जनभीता महायानाच्चित्तं व्यावर्त्य लघुतरकालेन अल्पतरसम्भारसाध्ये श्रावकप्रत्येकबुद्धयाने चित्तमुपादयन्ति, तद्व्यावर्तनार्थं भगवानुपपत्तिमाह॥ २०॥

हैं—) अनन्त प्राणिलोक की विमुक्ति के लिये बोधिसत्त्व जिस क्षण स्थिर भाव से उस बोधिचित्त का ग्रहण करता है उसी क्षण से उसमें सोते-जागते, स्वस्थ-विक्षिप्त अवस्थाओं में बार-बार आकाश के समान विस्तृत पुण्य-प्रवाह निरन्तर बहता रहता है॥

२०. इस बात (बोधिचित्त द्वारा पुण्य की निरन्तरता) को तथागत ने स्वयं भी "सुबाहुपृच्छा" नामक सूत्र में हीनयान के श्रद्धालु जिज्ञासुओं को लक्ष्य कर के युक्तिपूर्वक कहा है॥

तामेवोपपत्तिं वृत्तद्वयेन कथयन्नाह—

* शिरःशूलानि सत्त्वानां नाशयामीति चिन्तयन् ।
अप्रमेयेण पुण्येन गृह्यते स्म हिताशयः ॥ २१ ॥

* किमुताप्रतिमं शूलमेकैकस्य जिहीर्षतः ।
अप्रमेयगुणं सत्त्वमेकैकं च चिकीर्षतः ॥ २२ ॥

'कतिपयजनानां मस्तकपीडां नाशयामि मन्त्रेण अगदेन वा'—इत्येवं [P 30] मनसि कुर्वन् अप्रमाणेन सुकृतेन असौ कल्याणाभिप्रायो गृहीतो द्रष्टव्यः। किं पुनरप्रमाणं संसारदुःखं प्रतिसत्त्वमप्रमाणस्य जगतो हर्तुमिच्छतः। अपि च तच्छूलमपनीय सर्वसत्त्वान् सर्वगुणसमङ्गिनः कर्तुमिच्छतः किमप्रमेयं पुण्यं न भवति ?—इति विभक्तिविपरिणामेन योजनीयम् । अविच्छिन्नाः पुण्यधाराः किमुत तस्य न प्रवर्तन्ते नभःसमा इति । तस्माद् यथा सम्भार-बाहुल्यसाध्यं बुद्धत्वम्, यथा सम्भारवैपुल्येऽपि प्रतिक्षणमिति हेतुविशेषादत्रैव महायाने महान् लाभः । अतो नास्मच्चित्तमभयस्थाने कातरतया विनि-वर्तनीयमित्युपदर्शितं भवति । यद्वक्ष्यति—

"क्षपयन् पूर्वपापानि प्रतीच्छन् पुण्यसागरान् ।
बोधिचित्तबलादेव श्रावकेभ्योऽपि शीघ्रगः" ॥

(बो० च० ७. २९) इति ॥ २२ ॥

यश्चैवं सर्वसत्त्वानां हितसुखार्थमुद्युज्यते, स देवादिभ्योऽप्यसाधारण-गुणत्वात् प्रशस्य इत्युपदर्शयन्नाह—

* कस्य मातुः पितुर्वापि हिताशंसेयमीदृशी ।
देवतानामृषीणां वा ब्रह्मणां वा भविष्यति ॥ २३ ॥

कस्य सत्त्वस्य मातुर्जनन्याः । कस्य पितुर्वा जनकस्य । देवतानां सोमवरुणादीनाम् । ऋषीणां वा वसिष्ठगोतमादीनाम् । ब्रह्मणां वा वेधसाम् । [P 31] इयमीदृशी हिताशंसा हितोपसंहारमतिः यादृशी समनन्तरं प्रति-

---

२१-२२. जब कुछ प्राणियों की ही शिरोवेदना दूर करने की बात सोचने वाले जनहितैषी को अतुलित पुण्य मिलता है तो फिर प्रत्येक प्राणी की अनन्त पीड़ाओं के हरने और सब प्राणियों को अपार शुभकर्मकारी बनाने की इच्छा रखने वाले बोधिसत्त्व के पुण्यप्रवाह का तो कहना ही क्या ! ॥

२३. यह प्राणिमात्र का, अनुपम हितचिन्तन किसकी माता या पिता का या किन्हीं देवताओं, ऋषियों या ब्राह्मणों में से किसका हो सकता है ! (किसी का भी नहीं) ॥

पादिता बोधिसत्त्वस्य भविष्यति इति। आस्तां तावत् भूता भवति वा, भविष्यत्यपि नैव कस्यचिद् बोधिसत्त्वमन्तरेणान्यस्य ।। २३ ।।

कुतः पुनरेतत् ? इत्याह—

* तेषामेव च सत्त्वानां स्वार्थेऽप्येष मनोरथः ।
नोत्पन्नपूर्वः स्वप्नेऽपि परार्थे सम्भवः कुतः ।। २४ ।।

तेषां मात्रादीनां स्वार्थेऽपि आत्मनः कृतेऽपि एष मनोरथः सर्वदुःखमपहर्तुम्, अप्रमाणगुणानाधातुं नोत्पन्नपूर्वः अभूतपूर्वः स्वप्नेऽपि। आस्तां तावज्जाग्रदवस्थायां बुद्धिपूर्वकमुत्पन्नः, परार्थे कदाचिदुत्पद्येत ? इत्याह—परार्थे सम्भवः कुतः। आत्मा हि वल्लभो लोकस्य परस्मात्। तत्रैव चेन्नास्ति, परार्थे सम्भावनापि कुतः ?

अथवा—स्वप्नेऽपि परार्थे सम्भवः कुतः ? इति योज्यम् ।। २४ ।।

तदेवमसाधारणत्वं बोधिसत्त्वस्य प्रतिपाद्य उपसंहरन्नाह—

* सत्त्वरत्नविशेषोऽयमपूर्वो जायते कथम्[1] ।
यत्परार्थाशयोऽन्येषां न स्वार्थेऽप्युपजायते ।। २५ ।।

एवमत्यद्भुतकर्मकारितया दुर्लभोत्पादात् सत्त्व एव रत्नविशेषः अपूर्वः अनुपलब्धपूर्वः। अयमिति यादृशगुणोऽत्र कथितः। जायते कथम्! कथमित्यद्भुते। कस्मात् पुनरेवमुच्यते ? आह—यत्परार्थेति। यस्य महात्मनः परार्थाशयः, अन्येषां सत्त्वानामुक्तक्रमेण न स्वार्थेऽप्युपजायते इत्यस्मात् ।।

अत्र च अन्येऽपि बोधिचित्तोत्पादकस्य गुणा वक्तव्याः। यथा आर्यगण्डव्यूहे भगवता आर्यमैत्रेयेण सुधनमधिकृत्य उद्भाविताः। [P 32] ते च अतिविस्तरेण शास्त्रकृता शिक्षासमुच्चये दर्शिताश्च, तत्रव अवधारयितव्याः ।। २५ ।।

---

२४. ऐसा मनोरथ तो उन प्राणियों के मन में अपने लिये भी स्वप्न तक में नहीं हुआ, फिर दूसरों के लिये होना तो बहुत दूर की बात है ! ।।

२५. यह कैसा अपूर्व बोधिसत्त्व रत्नविशेष संसार में जन्म लेता है कि जो दूसरों का हितचिन्तन करते हुए उस चिन्तन का अपने पर कभी प्रयोग नहीं करता (अपने लिये कभी सुखकामना नहीं करता) ।।

---

१. कुतः—पाठा० ।

पुनरपि बोधिचित्तानुशंसाद्वारेण बोधिसत्त्वस्याप्रमेयपुण्यत्वमाह—

* जगदानन्दबीजस्य जगद्दुःखौषधस्य च ।
चित्तरत्नस्य यत्पुण्यं तत्कथं हि प्रमीयताम् ॥ २६ ॥

सर्वसत्त्वानां सर्वप्रामोद्यकारणस्य देवादिसर्वसम्पत्तिनिदानभूतत्वात् । चित्तरत्नस्य बोधिचित्तस्य यत् पुण्यं तत् कथं हि प्रमीयताम्, केन प्रकारेण नाम संख्येयताम्; अतिविपुलतया प्रमातुमशक्यत्वात् ।

एतदुक्तमार्यवीरदत्तपरिपृच्छायाम्—

"बोधिचित्ताद्धि यत्पुण्यं तच्च रूपि भवेद्यदि ।
आकाशधातुं सम्पूर्य भूयश्चोत्तरि तद्भवेत्" ॥ इति ॥

यदि नाम सामान्येन निर्देशः, तथापि प्रस्थानचित्तस्येति द्रष्टव्यम्, तस्यैव प्रकृतत्वात् । पुनरपि तस्यैव विशेषणमाह—जगद्दुःखौषधस्य चेति । सर्वप्राणभृतां कायिकचैतसिकसर्वदुःखनिवर्तनतया सर्वव्याधिहरणमहागद-स्वभावत्वात् । तदनेन अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुत्वं बोधिचित्तस्य प्रतिपादितं [P 33]भवति । अतो युक्तमेव अस्य असंख्येयपुण्यत्वमित्युक्तं भवति ॥२६॥

कथं पुनरेतद्युक्तम् ? इत्याशङ्क्य प्रतिपादयन्नाह—

* हिताशंसनमात्रेण बुद्धपूजा विशिष्यते ।
कि पुनः सर्वसत्त्वानां सर्वसौख्यार्थमुद्यमात् ॥ २७ ॥

'सर्वजगत्परित्राणाय बुद्धो भवेयम्' इत्यध्याशयेन आशसनात् प्रार्थनात् केवलात् प्रतिपत्तिविकलाद् बोधिचित्तादित्यर्थः, यत्पुण्यं भवति तद् बुद्ध-पूजामतिशेते—इत्यागमाद्भवत्येव पुण्यस्कन्धप्रसवहेतुः । इति प्रथमस्य बोधि-चित्तस्य माहात्म्यमुक्तम् । एतदपि तत्रैवोक्तम्—

"गङ्गावालिकसंख्यानि बुद्धक्षेत्राणि यो नरः ।
दद्यात् सद्रत्नपूर्णानि लोकनाथेभ्य एव हि ॥
यश्चैकः प्राञ्जलिर्भूत्वा चित्तं बोधाय नामयेत् ।
इयं विशिष्यते पूजा यस्यान्तोऽपि न विद्यते" ॥ इति ॥

---

२६. जो जगत् के लिये आनन्दोत्पत्ति का मूल कारण है, और जो जगत् के सभी दुखों का औषध है उस बोधिचित्तरत्न का माप (तोल) किस तराजू से किया जा सकता है ! ॥

२७. केवल हितचिन्तनमात्र से ही बुद्ध की पूजा भी श्रेष्ठ होती है, फिर सब प्राणियों के लिये समग्र सुख हेतु प्रयत्न का तो कहना ही क्या है ! ॥

किं पुनः 'सर्वदुःखितजनानां सर्वदुःखमपनीय सर्वसुखसम्पन्नान् करिष्यामि' इत्युद्योगकरणादतिशयवत् पुण्यं न भवति ॥ २७ ॥

लोकस्वभावः

ननु हिताहितप्राप्तिपरिहारयोः स्वयमेव सत्त्वा विचक्षणाः, तत् कुत्रोद्यमस्योपयोगः ? इति वृत्तत्रितयेन परिहरन्नाह—

* दुःखमेवाभिधावन्ति दुःखनिःसरणाशयाः । [P 34]
सुखेच्छयैव सम्मोहात् स्वसुखं घ्नन्ति शत्रुवत् ॥ २८ ॥

* यस्तेषां सुखरङ्काणां पीडितानामनेकशः ।
तृप्तिं सर्वसुखैः कुर्यात् सर्वाः पीडाश्छिनत्ति च ॥ २९ ॥

* नाशयत्यपि सम्मोहं साधुस्तेन समः कुतः !
कुतो वा तादृशं मित्रं पुण्यं वा तादृशं कुतः ! ॥ ३० ॥

दुःखान्निःसरणाभिप्रायाः प्राणातिपातादिभिरकुशलैः कर्मभिः क्षुधादिदुःखप्रतीकारमिच्छन्तः । दुःखमेव नरकादिप्रपातवेदनास्वभावम् । अभिधावन्ति तदभिमुखाः प्रवर्तन्ते । दुःखमेव प्रविशन्तीत्यर्थः । शलभा इव दीपशिखामिति । अत एव सुखेच्छयैव सुखाभिलाषेणैव स्वसुखं घ्नन्ति शत्रुवत् । आत्मसुखघाताय कथमात्मनैव शत्रवो भवन्तीति चेत् ? सम्मोहाद् विपर्यासवशात् हिताहितप्राप्तिपरिहारयोः परिज्ञानाभावात् ॥ २८ ॥

अतो यः पुण्यात्मा अकारणवत्सलः तेषां विपर्यस्तानां सुखरङ्काणां सुखाभिलाषुकाणां सर्वशोऽलब्धसुखानां पीडितानां दुःखितानाम् । अनेकश इति । अनेकैर्दुःखशतैर्बहुधा बाधितानां तृप्तिमाप्यायनं सर्वसुखैः कुर्यात्

---

२८. (शङ्का—स्वहित की प्राप्ति और अहित के परिहार में तो प्राणी स्वयं सावधान रहते हैं, इसके लिये बोधिसत्त्व के परार्थचिन्तन का क्या उपयोग है ? उत्तर देते हैं—) कुछ मूढ़ प्राणी दुःख से छुटकारा पाने की चाह रखते हुए भी स्वभावसंस्कारवश परहिंसादि द्वारा पुनः दुःख की ओर ही दौड़ पड़ते हैं और मोहवश वे सुख-प्राप्ति की इच्छा से अपने सुखों की शत्रु के समान ही हत्या कर डालते हैं ॥

२९-३०. जो (बोधिसत्त्व) सुख के लिये छटपटाते उन अनेक प्रकार से पीड़ितों को सब सुखों से तृप्त करता है, उनकी सब परेशानियों को दूर करता है, उनके अज्ञान का नाश करता है, उसके समान साधु (सज्जन = सन्त) कहाँ मिलेगा ! उसके समान प्राणियों का दूसरा मित्र कौन होगा ! अथवा उसके जैसा पुण्यात्मा अन्यत्र कहाँ मिलेगा ! ॥

कायिकचैतसिकैः। यदि वा। अनेकशः अनेकप्रकारं तृप्तिं सर्वसुखैः कुर्यात् इति योजनीयम्। न सुखतृप्तिमात्रं जनयति, किं तर्हि ? सर्वाः पीडाः समस्ता दुःखा वेदनाश्छिनत्ति च शमयति च ॥ २९ ॥

न केवलं दुःखप्रशान्तिं सुखतृप्तिं च करोति, नाशयत्यपि सम्मोहम्, अपरिज्ञानमपि निवर्तयति ।

[P 35] "अपथमिदमेष पन्था भयमत इत एत गात माऽवसादम्" ।

इति हेयोपादेयमार्गप्रकाशनात्। यश्चैवं परव्यसननिवर्तनपरतन्त्रो हितसुखविधानतत्परश्च सर्वभूतानाम्। साधुस्तेन समः कुतः, तेन महात्मना तुल्यः साधुः कुतः! नैव कुतश्चिद्विद्यते, अकारणपरमवत्सलस्वभावत्वात्। कुतो वा तादृशं मित्रम्, हितसुखोपसंहारप्रवणमानसं परमविश्वासस्थानं तादृशं तत्समं मित्रम् कुतः! नैव सम्भवति। पुण्यं वा तादृशं कुतः! एवं विरहतो बोधिसत्त्वस्य यत् पुण्यमुपजायते, तदपि न केनचित् पुण्येन समानम् ॥ ३० ॥

बोधिसत्त्वमाहात्म्यम्

* कृते यः प्रतिकुर्वीत सोऽपि तावत् प्रशस्यते।
अव्यापारितसाधुस्तु बोधिसत्त्वः किमुच्यताम्! ॥ ३१ ॥

पूर्वं भयसङ्कटव्यसनेषु उपकृतमनेन इत्युपकृते सति प्रत्युपकारं करोति यः, सोऽपि तावत् प्रशस्यते लोकेन स्तूयते – साधुरयमिति। यः पुनरव्यापारितसाधुः अनभ्यर्थितकल्याणोपनेता बोधिसत्त्वः, किमुच्यतां किमपरमभिधीयताम्! तस्य प्रशंसा कर्तुमशक्येत्यर्थः ॥ ३१ ॥

दृष्टव्यवहारमपेक्ष्यापि[1] बोधिसत्त्वस्य पुण्यमाहात्म्यमुद्भावयन्नाह—

* कतिपयजनसत्रदायकः कुशलकृदित्यभिपूज्यते जनैः। [P 36]
क्षणमशनकमात्रदानतः सपरिभवं दिवसार्धयापनात् ॥ ३२ ॥

---

३१. जो उपकार करने पर प्रत्युपकार करता है, उसकी भी सब प्रशंसा करते हैं। फिर इस अकारणमित्र बोधिसत्त्व की प्रशंसा किन शब्दों से की जाय! ॥

३२. लोग तो कुछ ऐसे सत्रदायक धनपतियों को भी, जो किसी को आधा दिन ही भूख मिटाने लायक रूखा-सूखा भोजन तिरस्कार के साथ देते हैं, पुण्यात्मा मानकर पूजते हैं।

---

१. अपेक्ष्यमपि—पाटा० ।

[१]परमितसत्त्वानामाहारपानमात्रदानसमादानमादिशन् 'पुण्यकर्मा अयम्' इति पूज्यते सत्क्रियते जनैः सत्कर्मरतैर्लोकैः। तदपि दानं क्षणम्, न सकलमहः, तदर्धं वा, अपि तु मुहूर्तमेकम्। अशनकमात्रदानत इति। कुत्सितमशनमशनकम्, अप्रणीतं भोजनम्, तदेव केवलं तन्मात्रम्, तथाविधव्यञ्जनरहितम्। तस्य दानतः परित्यागतः। कथम्? सपरिभवम्। क्रियाविशेषणमेतत्। सतिरस्कारं नमस्कारपुरःसरम्। हठात् सत्त्रागारं प्रविशतः खटचपेटादिना प्रहृत्येति यावत्। पुनः किंभूतात्? दिवसार्धयापनात् प्रहरद्वयोपस्तम्भनात्। मध्याह्ने भुक्त्वा सायं पुनराहारान्वेषणात्॥ ३२॥

बोधिसत्त्वस्य पुनरेतद्विपरीतं दानमिति प्रतिपादयन्नाह—

* किमु निरवधिसत्त्वसंख्यया निरवधिकालमनुप्रयच्छतः।
गगनजनपरिक्षयाक्षयं सकलमनोरथसम्प्रपूरणम्॥ ३३॥

न विद्यते अवधिरियत्ता। 'इयद्भ्यः शतहस्रलक्षणकोटिसंख्ये-[P 37]भ्यो दास्यामि, ततः परं न' इति न सत्त्वानां गणनया ददाति, किं तु निरवधिसत्त्वसंख्यया। नापि नियतकालम्, अपि तु निरवधिकालम्। 'कल्पशतसहस्रलक्षकोटिशतं यावद्दास्यामि, ततः परं न' इति सावधिकं न ददाति। गगनेति। गगनमिव जनाः गगनजनाः। यथा आकाशपर्यन्तं तथा जनोऽपीत्यर्थः। यदि वा। गगनं च जनाश्च ते गगनजनाः, तेषां परिक्षयः पर्यवदानम्। यावदाकाशधातुर्यावच्च सत्त्वा न परिनिर्वृताः तावदधिकम्। यद्वक्ष्यति—

"आकाशस्य स्थितिर्यावद्यावच्च जगतः स्थितिः।
तावन्मम स्थितिर्भूयात्" (बो० च० १०.५५) इति।

तस्मादक्षयम्, न विद्यते क्षयः पर्यन्तोऽस्येति कृत्वा। अयमभिप्रायः—गगनजनपरिक्षयावधि यद्दानं तद्वस्तुतोऽक्षयमेव; तेषां परिक्षयाभावात्। नापि प्रतिनियतं वस्तु, अपि तु सकलमनोरथसम्प्रपूरणम्। यद् यस्याभिमतं तत् सर्वमनवद्यमभिप्रायाह्लादनकरं परमप्रेमगौरवसत्कारप्रियवचनपुरःसर प्रमुदितमनसा अनुप्रयच्छतो बोधिसत्त्वस्य किं पुनः पूजा न युज्यते? तस्य सुतरां युज्यते इति योज्यम्।

---

३३. तब आकाश में जीवों के स्थिति-काल तक समग्र मनोरथों के परिपूरक, असंख्य प्राणियों के लिये अनन्त काल तक अक्षय अन्न के दाता (बोधिसत्त्व) का किन शब्दों में माहात्म्य-वर्णन किया जाय ! ॥

---

१. समादानम्=नित्यकर्मेति हेमचन्द्रः।

[P 38] यदुक्तं नारायणपरिपृच्छायाम्--"न तद्वस्तु उपादातव्यं यस्मिन् वस्तुनि नास्य त्यागचित्तमुत्पद्यते। न त्यागबुद्धिः क्रमेत। यावत् अयं ममात्मभावः सर्वसत्त्वेभ्य उत्सृष्टः परित्यक्तः, प्रागेव बाह्यानि वस्तूनि। यस्य यस्य सत्त्वस्य येन येन यद्यत् कार्यं भविष्यति, तस्मै तस्मै तत्तद्दास्यामि। तत्संविद्यमानं हस्तं हस्तार्थिकेभ्यो दास्यामि, यावत् शिरः शिरोर्थिकेभ्यः परित्यक्ष्यामि, कः पुनर्वादो बाह्येषु वस्तुषु! यदुत धनधान्य-जातरूप-रजतरत्नाभरणहयरथगजवाहनग्रामनगरनिगमजनपदराज्यराष्ट्रराजधानी-पत्तनदासीदासकर्मकरपौरुषेयपुत्रदुहितृपरिवारेषु"। इति विस्तरः॥

बोधिसत्त्ववैरिणो गतिः

एवं च गुणरत्नसमुच्चयस्थाने परहितसुखविधानैकपरममहाव्रते बोधिसत्त्वे स्वात्महितकामैः स्वचित्तं रक्षितव्यं प्रयत्नत इत्युपदर्शयन्नाह--

* इति सत्रपतौ जिनस्य पुत्रे कलुषं स्वे हृदये करोति यश्च।
कलुषोदयसंख्यया स कल्पान् नरकेष्वावसतीति नाथ आह॥ ३४॥

इत्येवमुक्तक्रमेण सत्रपतौ सर्वदा सुखदानपतौ जिनस्य पुत्रे सुगतस्य सुते। बोधिसत्त्वे इत्यर्थः। कलुषं पापचित्तं स्वे हृदये आत्मचित्तसन्ताने करोति उत्पादयति दुरात्मा यः, स नरकेष्वावसति इति नाथो बुद्धो भगवानाह, ब्रूते। "उपान्वध्याङ्वसः" [पा० सू० १. ४. ४८] इति कर्मत्वे प्राप्ते अधिकरण-विवक्षा। कियद् यावत्? कलुषोदयसंख्यया कल्पान्। यावतः क्षणाँस्तत्सन्ताने [P 39] कलुषचित्तमुत्पद्यते, तावतः कल्पान् कलुषचित्तक्षणसंख्यान् नरकेषु तिष्ठतीति भावः।

यदुक्तं प्रशान्तविनिश्चयप्रातिहार्यसूत्रे--"यावन्ति मञ्जुश्रीर्बोधिसत्त्वो बोधिसत्त्वस्यान्तिके प्रतिघचित्तान्युत्पादयति अवमन्यनाचित्तानि वा, तावतः कल्पाँस्तेन सन्नाहः सन्नद्धव्यः--वस्तव्यं मया महानरकेषु" इति॥

ननु तथागतस्य दुष्टचित्तेन रुधिरमुत्पादयतो नावीचौ चित्तोत्पादन-क्षणसंख्यया कल्पान् अवस्थितिरुक्ता। न तथागतात् कश्चिदधिकतरः सम्भवति त्रैलोक्ये। तत् कथमिदमतिदुर्घटं नीयते? सत्यम्, न खलु यथा-

---

३४. "इस तरह के सत्रदायक (सदावर्त बाँटने वाले) बोधिसत्त्व के प्रति जो अपने मन में पापमय विचार रखता है, उस उतने कल्प तक अवश्य ही नरक में रहना पड़ेगा, जितने क्षण उसके हृदय में उनके प्रति पाप-विचार का उदय हुआ है"--ऐसा भगवान् ने अपने उपदेशों में अनेक स्थलों पर कहा है॥

भूतमस्मिन् नये वस्तुतत्त्वव्यवस्था। सर्वस्य प्रवचनस्य नेयनीतार्थतया[1] व्यवस्थापनात्। न हि कश्चित् तथागते सदेवकोऽपि लोको दुष्टचित्तमुत्पादयितुं क्षमते। अनल्पकल्पसंख्यया अभ्यासेन सर्वसत्त्वेषु मैत्रचित्तस्य सात्मीभावात्, नास्य काये शस्त्रं क्रमतीति मैत्रचित्तस्यानुशंसकथनात्। न च कर्मप्लुतिरिह वस्तुतो दर्शिता; कर्मावरणस्य बुद्धानां प्रहीणत्वात्। तस्माद् वैनेयजनाभिसन्धिना तदुपदर्शितम्, न परमार्थतः। बोधिसत्त्वापकारे तु बुद्धत्वमेव समूलोपघातमुपहृतं भवेत्। तथा च सदेवकस्य लोकस्य अर्थः उपहतो भवेत्। यथागममिदमुक्तम्। परमार्थमिह भगवानेव [P 40] जानाति।

इदमुक्तं च श्रद्धाबलाधानावतारमुद्रासूत्रे—"यः कश्चिन्मञ्जुश्रीः कुलपुत्रो वा कुलदुहिता वा गङ्गानदीवालुकासमान् स्तूपान् विनिपातयेद्दहेद्वा, यश्चान्यः कुलपुत्रो वा कुलदुहिता वा महायानाधिमुक्तस्य बोधिसत्त्वस्य महासत्त्वस्य व्यापादखिलक्रोधचित्तमुत्पाद्य आक्रोशयेत् परिभाषयेत्; अयं ततोऽसंख्येयतरं पापं प्रविशति। तत् कस्माद्धेतोः? बोधिसत्त्वनिर्जाता हि बुद्धा भगवन्तः, बुद्धनिर्जाताश्च स्तूपाः सर्वसुखोपधानानि च सर्वदेवनिकायाश्च। बोधिसत्त्वमसत्कृत्य सर्वबुद्धा असत्कृता भवन्ति। बोधिसत्त्वं सत्कृत्य सर्वबुद्धाः सत्कृता भवन्ति" इत्यादि॥

बोधिसत्त्वे प्रसन्नचेतसः महत् पुण्यम्

यस्य पुनस्तत्र प्रसन्नं चित्तमुत्पद्यते, तस्य कियत् पुण्यफलमुपजायते? इत्याह—

* अथ यस्य मनः प्रसादमेति प्रसवेत्तस्य ततोऽधिकं फलम्।
महता हि बलेन [2]पापकं जिनपुत्रेषु शुभं त्वयत्नतः[3] ॥३५॥

यस्य पुनः पुण्यात्मनो मनः प्रसादमुपयाति बोधिसत्त्वे, प्रसवेत्तस्य ततोऽधिकं फलम्, तस्य प्रसन्नचित्तस्य प्रसवेदुपजायेत ततोऽधिकं फलं तस्मात् पूर्वकपापफलाद् बहुतरं पुण्यकर्मफलं विपाकविशेषात् प्रसवेदुत्पद्येत। [P 41]

---

३५. पर जिसके मन में बोधिसत्त्व के प्रति श्रद्धा हो, उसे उसका अत्यधिक फल मिलता है। किसी बलवत्तर पाप के कारण भले ही वह बोधिसत्त्व के प्रति कभी कोई कुकृत्य कर बैठे, अन्यथा उसके प्रति सहज भाव से सुकृत ही होता रहता है॥

---

१. नयनीतार्थ०—पाठा०।　　२. पापकर्म—पाठा०।
३. शुभत्वं यत्नतः—पाठा०।

यदि वा। तत्समधिकविपाकफलाधायकं कर्मैव फलमुच्यते। अधिकतरफलजनकं कर्म उपजायते इति यावत्।

उक्तं च नियतानियतावतारमुद्रासूत्रे—"स चेन्मञ्जुश्रीः दशसु दिक्षु सर्वलोकधातुषु सर्वसत्त्वा उत्पाटिताक्षा भवेयुः परिकल्पमुपादाय। अथ कश्चिदेव कुलपुत्रो वा कुलदुहिता वा तेषां सर्वसत्त्वानां मैत्रचित्तस्तान्यक्षीणि जनयेत् परिकल्पमुपादाय। योऽन्यो वा मञ्जुश्रीः कुलपुत्रो वा कुलदुहिता वा महायानाधिमुक्तं बोधिसत्त्वं प्रसन्नचित्तः पश्येत्, अयं ततोऽसंख्येयतरं पुण्यं प्रसवति" इति।

तस्मादस्मिन् महति पुण्यक्षेत्रे शुभचित्तमेव करणीयमात्मज्ञैः।

अपि च। इतोऽपि शुभचित्तमेव कर्तुमुचितम्; यस्मान्महता बलेन परमकृच्छ्रेण पापकं पापमेव पापकं कुत्सितत्वाद्वा दुष्कृतं कर्म बोधिसत्त्वेषु क्रियते, तेषां सकलकायवाङ्मनःप्रचारस्य प्रसादजनकत्वात्। बोधिचित्त- [P 42] प्रभावाच्च न बोधिसत्त्वेषु कस्यचिदपकारचित्तमुत्पद्यते।

एतदुक्तमार्यमञ्जुश्रीविमोक्षे—"तद्यथा, कुलपुत्र, चिन्तामणिरत्नराजमुकुटावबद्धानां महानागराज्ञां नास्ति परोपक्रमभयम्, एवमेव बोधिचित्तमहाकरुणाचिन्तामणिरत्नराजमुकुटावबद्धानां बोधिसत्त्वानां नास्ति दुर्गत्यपायपरोपक्रमभयम्" इति॥

अतः किमर्थमनर्थोपार्जनं कटुकफलं तेषु प्रयत्नतः प्रारभ्यते? अत एव शुभं त्वयत्नतः, संग्रहवस्त्वादिभिः सर्वसत्त्वहितसुखकर्मकारित्वात् परिशुद्धकर्मकारितया, क्वचिदपि स्खलिताभावाच्च। अप्रयत्नत एव प्रीतिप्रसादप्रामोद्यमुपजायते तेषु। अतः कुशलं पुनरयत्नत एव प्रसूयते॥३५॥

नमस्यानि शरीराणि

साम्प्रतमुत्पादितबोधिचित्तेषु अतिशयवता आत्मना मनःप्रसादमाविष्कुर्वन् शास्त्रकारस्तान् नमस्यन्नाह—

* तेषां शरीराणि नमस्करोमि यत्रोदितं तद्वरचित्तरत्नम्।
यत्रापकारोऽपि सुखानुबन्धी सुखाकरांस्तान् शरणं प्रयामि॥३६॥

---

३६. उन पुण्यात्मभाजनों (बोधिसत्त्व के माता-पिताओं) के शरीरों को मैं प्रणाम करता हूं, जिनमें श्रेष्ठ बोधिसत्त्व उत्पन्न हुआ हो। और जिनके प्रति किया गया उपकार भी सुखद होता है, मैं उन सुख के आगारों की शरण ग्रहण करता हूँ॥

तेषां पुरुषकुञ्जराणां शरीराणि आत्मभावान् नमस्करोमि प्रणिपत्य वन्दे। यत्र येषु (येषां ?) सन्तानेषु उदितमुत्पन्नं तदुक्तानुशंसं वरचित्तरत्नम्। चित्तमेव रत्नं चिन्तामणिसदृशम्। वरं श्रेष्ठं सर्वदारिद्र्यदुःखापहारित्वात्। तच्च तद्वरचित्तरत्नं चेति विग्रहः। तदिति भिन्नं वा। इयं च अधिकगुणाधारस्य सत्कृतिः। अपरमपि तद्विशेषणमाह - यत्रापकारोऽपीति। येषु परमकल्याणहृदयेषु बोधिसत्त्वेषु अपकारोऽपि पराभवोऽपि कृतः [P 48] तत्कर्तुः सुखानुबन्धी परम्परया सुखमावहतीति। अयमभिप्रायः—तत्रापकारः कर्तुमशक्यः। सम्भवे वा कथञ्चित् तदपकारमेव निमित्तं कृत्वा प्रवृत्तानां दुष्टाभिप्रायाणां पुनः केनचिन्निमित्तेन तत्प्रसादसमुत्पादनात्। तत्र अपकारो निर्वाणे सुखमनुबध्नाति। तद्यथा मैत्रीबलजातके (जा० मा०-८) पञ्चकानधिकृत्योक्तम्—"बोधिसत्त्वप्रणिधानाद्वा अपकारोऽपि सुखानुबन्धीत्युच्यते"। यद्वक्ष्यति—

"अभ्याख्यास्यन्ति मां ये च ये चान्येऽप्यकारिणः।
[1]उत्प्रासकास्तथान्येऽपि सर्वे स्युर्बोधिभागिनः"॥ इति।
(बोधि०---३. १६)

अथवा--यत्रापकारोऽपि येषामपकारोऽपि महाकरुणाध्याशयात् प्रियपुत्रेण कृत इव दुःखहेतुरपि सुखमेव जनयति, यथा क्षान्तिपरिच्छेदे [बो० च० ६. १०६-१०७] कथयिष्यामः। एवं सर्वथा सुखहेतुत्वात् सुखार्थिनां रत्नाकर इव रत्नार्थिनामाश्रयणीया बोधिसत्त्वा इत्युपदर्शयति। सुखाकरांस्तान् शरणं प्रयामि। सुखस्य आकराः सर्वसुखैकप्रभवत्वात्। तान् उक्तक्रमेण अपकारोऽपि सुखहेतून्। शरणं प्रयामि। 'ते मम त्राणं भवन्तु' इति भावः॥ ३६॥

इति प्रज्ञाकरमतिविरचितायां बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां
बोधिचित्तानुशंसाविवरणं नाम प्रथमः परिच्छेदः॥



---

१. तत्प्रासका---पाटा०।

२. पापदेशना

(द्वितीयः परिच्छेदः)

रत्नत्रयस्य मनोमयी पूजा

[P 4] साम्प्रतमेवं क्षणसम्पत्समागमं दुर्लभमधिगम्य विदितबोधि-:चित्तानुशंसः बोधिचित्तग्रहणार्थं बुद्धबोधिसत्त्वानामुखीकृत्य वन्दनपूजनशरणगमनपापदेशनापुण्यानुमोदनबुद्धायेषणायाचनाबोधिपरिणामनं च कुर्वन्नाह--

* तच्चिरत्नग्रहणाय सम्यक् पूजां करोम्येष तथागतानाम् ।
सद्धर्मरत्नस्य च निर्मलस्य बुद्धात्मजानां च गुणोदधीनाम् ।। १ ।।

तस्य समनन्तरप्रतिपादितानुशंसस्य चित्तरत्नस्य ग्रहणाय स्वीकाराय। तदुत्पादमित्यर्थः । तथागतानां बुद्धानां भगवतां पूजां करोमि । एषोऽहमिति बोधिचित्तग्राहकोऽयमात्मानं निदर्शयति । अयं बुद्धरत्नस्य निर्देशः । सद्धर्मरत्नस्य चेति आगमाधिगमलक्षणस्य । निर्मलस्येति त्रिकल्याणतया त्रिकोटि-[P45] शुद्धस्य प्रकृतिप्रभास्वरस्य च; सर्वदा सर्वमलानामस्थानत्वात्, क्लेशानामागन्तुकत्वात्,समस्तमलापहरणपटुत्वाच्च । अयं च धर्मरत्नस्य निर्देशः। तदात्मजानां च बुद्धसुतानाम् । गुणोदधीनां गुणरत्नसमुद्राणाम् आर्यावलोकित-मञ्जुघोषप्रभृतीनाम् । अयं तु सङ्घरत्नस्य निर्देशः । इत्यादौ रत्नत्रयपूजाविधिः । 'पूजां करोमि' इति सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । सम्यगिति पूजाया एव विशेषणम् । सम्यगविपरीतं यथा भवति । तीव्रचित्तप्रसादेन वा ग्रहणस्य वा विशेषणम् । सम्यग्ग्रहणाय अतिशयप्रसन्नचित्तेन न परानुरोधादिना । यथा गृहीतं न पुनर्भ्रंश्यति इति ।। १ ।।

पूजामेव कथयन्नाह—

* यावन्ति पुष्पाणि फलानि चैव भैषज्यजातानि च यानि सन्ति ।
रत्नानि यावन्ति च सन्ति लोके जलानि च स्वच्छमनोरमाणि ।। २ ।।

---

१. मैं अत्यन्त प्रसन्नचित्त से उस बोधिचित्तरत्न को स्वीकार करने के लिये बुद्धों की, त्रिकोटिपरिशुद्ध एवं प्रकृतितः प्रभास्वर सद्धर्मरत्न तथा आर्य अवलोकित, मञ्जुघोष प्रभृति गुणसागर बुद्धपुत्रों की पूजा करता हूं ।।

२. संसार में जितने भी पुण्य हैं या फल हैं, और जितनी औषधियाँ हैं, जितने रत्न हैं या नदियों के मीठे जल हैं--इन सबको रत्नत्रय की भेंट चढाता हूँ ।।

यत् परिमाणमेषामिति यावन्ति निरवशेषाणि। पुष्पाणि फलानि चैव। आकाशधातुप्रसरावधीनि सर्वाण्यपीमानि अपरिग्रहाणि। "आदाय बुद्धया मुनिपुङ्गवेभ्यो निर्यातयाम्येष सपुत्रकेभ्यः" (बो०च०२.६) इति सर्वत्र पूर्वेषु योजनीयम्। भैषज्यजातानि औषधिप्रकाराः। स्वच्छमनोरमाणीति रत्नानामपि विशेषणम्॥ २॥

* महीधरा रत्नमयास्तथान्ये वनप्रदेशाश्च विवेकरम्याः। [P 46]
लताः सुपुष्पाभरणोज्ज्वलाश्च द्रुमाश्च ये सत्फलनम्रशाखाः॥ ३॥

* देवादिलोकेषु च गन्धधूपाः कल्पद्रुमा रत्नमयाश्च वृक्षाः।
सरांसि चाम्भोरुहभूषणानि हंसस्वनात्यन्तमनोहराणि॥ ४॥

महीधराः पर्वताः। रत्नमया रत्नस्वभावाः। विवेकरम्या इति विवेकोपरम्या मनोहराः। विवेकानुकूला इति यावत्। सुपुष्पाभरणोज्ज्वलाश्चेति शोभनपुष्पाण्येवाभरणानि मण्डनानि तैरुज्ज्वला अतिभ्राजिष्णवः। सत्फलनम्रशाखा इति, सन्ति च शोभनानि वर्णगन्धरससम्पन्नानि तानि फलानि चेति तैर्नम्रा अवनता भूमिलग्ना इव शाखा येषां ते कल्पद्रुमाः कल्पवृक्षाः। अम्भोरुहभूषणानि पद्मान्येव भूषणानि येषां तानि तथा। हंसस्वनात्यन्तमनोहराणि हंसानां स्वनै रुतैरत्यन्तमनोहराणि रमणीयानि तानि तथा॥ ३-४॥

*अकृष्टजातानि च शस्यजातान्यन्यानि वा पूज्यविभूषणानि।
आकाशधातुप्रसरावधीनि सर्वाण्यपीमान्यपरिग्रहाणि॥ ५॥ [P 47]

अकृष्टान्येव हलविलेखनमन्तरेणैव जातानि प्रादुर्भूतानि। शस्यजातानि व्रीहिविशेषाः। अन्यानि वा पूज्यविभूषणानि पूज्यानामाराध्यानां विभूषणानि शोभाकराणि अन्यानि अपराणि आकाशधातुप्रसरावधीनि आकाशधातोः प्रसरोऽवकाशः विस्तारो वा, तावदवधीनि तत्पर्यन्तानि। सर्वाण्यपीमानि

---

३. रत्नों से भूषित जितने भी पर्वत हैं, जितने भी स्वभावतः मनोहर वनखण्ड हैं, पुष्पाभरण से भूषित लताएँ हैं, फलों से झुकी शाखाओं वाले वृक्ष हैं (इन सब को रत्नत्रय के लिये उपहार में देता हूँ)॥

४. देवलोकों में पायी जाने वाली गन्ध-धूपों को, कल्पवृक्षों को, रत्नमय वृक्षों को, कमलपुष्पों से शोभित तालावों को॥

५. विना बोये अपने आप उगे धान्यसमूह, अथवा अन्य सभी पूजनीय जनोचित लौकिक पदार्थों को, यदि वे दूसरों के कब्जे में न हों, तो मैं अपनी तरफ से उन सब को॥

उक्तानि उक्तसदृशानि अपरिग्रहाणि अममानि, न केनचित् स्वीकृतानीत्यर्थः ।। ५ ।।

* आदाय बुद्धया मुनिपुङ्गवेभ्यो निर्यातयाम्येष सपुत्रकेभ्यः ।
गृह्णन्तु तन्मे वरदक्षिणीया महाकृपा माममनुकम्पमानाः ।। ६ ।।

आदाय बुद्धया गृहीत्वा मनोविज्ञानेन । मुनिपुङ्गवेभ्यो मुनिवृषभेभ्यो निर्यातयामि प्रयच्छामि । सपुत्रकेभ्यः सबोधिसत्त्वगणेभ्यः । गृह्णन्तु तन्मे स्वीकुर्वन्तु तदेतत् सर्वं मम पूजोपहारवस्तु । वरदक्षिणीया अनुत्तरदक्षिणापात्राणि बुद्धबोधिसत्त्वाः । महाकृपाः सर्वसत्त्वहितसुखविधानैकमनसः । मां दीनदुःखितसत्त्वमनुकम्पमानाः करुणायमानाः । ममानुग्रहायेति यावत् ।। ६ ।।

[P 48] स्यादेतत्—किं पुनरेवं मनोमयपूजामात्रं विधीयते, यावता तत्तद्वस्तु मनोहरं साक्षादेव कस्मान्नोपनीयते ? इत्याशङ्क्याह—

* अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किञ्चित् ।
अतो ममार्थाय परार्थचित्ता गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या ।। ७ ।।

अकृतपुण्योऽस्मि, अत एव महादरिद्रः । पुण्ये सर्वोपकरणसम्पत्तिर्भवति । तदभावात् पूजार्थमन्यदुपकरणं मम नास्ति किञ्चित् । अतो ममार्थाय मम पुण्यकामतया भगवन्तश्च परार्थचित्ताः परहितसुखाभिलाषिणो महाकारुणिकत्वात् । अतो गृह्णन्तु नाथा इदमुक्तं पूजोपकरणं मया निर्यातितम् । आत्मशक्त्येति स्वसामर्थ्येन ।। ७ ।।

अयं पुनरात्मभावो ममायत्तोऽस्ति, तं निर्यातयामीत्याह—

* ददामि चात्मानमहं जिनेभ्यः सर्वेण सर्वं च तदात्मजेभ्यः ।
परिग्रहं मे कुरुताग्रसत्त्वा युष्मासु दासत्वमुपैमि भक्त्या ।। ८ ।।

---

६. अपने मनःसङ्कल्प द्वारा बोधिसत्त्वों को श्रद्धापूर्वक भेंट चढाता हूँ । श्रेष्ठ दानपात्रभूत वे कृपालु मेरी इस मानसिकी पूजा से मुझ पर अनुकम्पा करें ।।

७. मैंने कोई पुण्य नहीं किया, अतः मैं अकिञ्चन हूँ । इस वास्ते मेरे पास आप की पूजा के लिये कोई साधन नहीं है । अतः हे परहितसाधनतत्पर ! प्रभो ! आप सामर्थ्यानुसार मेरी पूजा को मेरे हित के लिये आत्मभाव से स्वीकार करें ।।

८. मैं सर्व प्रकार से अपना सब कुछ बुद्धों और बोधिसत्त्वों के प्रति समर्पित करता हूँ । हे नरश्रेष्ठ ! मुझे अपना बना लें । मैं भक्तिपूर्वक श्रद्धालु हृदय से आप का सच्चा दास्य भाव स्वीकार करता हूँ ।।

आत्मानं च प्रयच्छामि जिनेभ्यः । सर्वेण सर्वं च सर्वप्रकारेण । [P 49] आत्मस्वीकारं परित्यज्य तदात्मजेभ्योऽपि । मां प्रतिगृह्णीत नरवृषभाः । युष्मासु दासत्वं दासभावं स्वीकरोमि । न जीविकादिलोभात्, अपि तु भक्त्या परमगौरवेण । श्रद्धाविलेन चेतसेत्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु कः पुनरत्र गुणोऽस्ति ? इत्याह—

* परिग्रहेणास्मि भवत्कृतेन निर्भीर्भवे सत्त्वहितं करोमि ।
पूर्वं च पापं समतिक्रमामि नान्यच्च पापं प्रकरोमि भूयः ॥ ९ ॥

भवत्कृतेन युष्मदीयेन महदाश्रयेण विगतभयः संसारे लोकानां हितमर्थं सम्पादयामि । महदाश्रयेऽपि नाकुशलकर्मावृतस्य स्वहितकरणेऽपि सामर्थ्यमस्तीत्याह—पूर्वं चेत्यादि । पूर्वमपरिज्ञानात् कृतमकुशलकर्म समतिक्रमामि विदूषणासमुदाचारादिभिर्निर्हरामि । समतिक्रामतीत्युक्ते समतिक्रमामीत्युक्तं शाब्दव्यवहारेष्वनादरात्, अर्थप्रतिशरणताधातुप्रधानत्वाच्च । अपरं च पापं न पुनः करोमि । आयत्यां पुनरकरणसंवरं विदधे ॥९॥

स्नानपूजा

इति सर्वमात्मनिर्यातनाप्रभृतिपूजोपहारं निर्यात्य पुनर्विशेषेण पूजां विधातुमाह—

* रत्नोज्ज्वलस्तम्भमनोरमेषु मुक्तामयोद्भासिवितानकेषु । [P 50]
स्वच्छोज्ज्वलस्फाटिककुट्टिमेषु सुगन्धिषु स्नानगृहेषु तेषु ॥ १० ॥

रत्नैरिन्द्रनीलादिभिरुज्ज्वलाः प्रभास्वरा ये स्तम्भाः तैर्मनोहराः कमनीयाः । तेषु स्नानगृहेषु 'स्नानं करोमि' इति (२. ११) योज्यम् । पुनः किंभूतेषु ? मुक्तामया मौक्तिकरचनाखचिता उद्भासिनः उद्भास्वराः विताना इव वितानकाः येषु ते तथा, तेषु । स्वच्छाः सुनिर्मलाः, उज्ज्वला दीप्तिमन्तः, स्फटिकस्येमे स्फाटिकाः, कुट्टिमाः भूमिरचनाविशेषा येषु, तेषु । सुगन्धिषु कृष्णागुरुचन्दनादिधूपितवासितेषु । स्नानाय गृहाः तेषु ॥ १० ॥

---

९. आप के अपना वना लेने से मैं निर्भय होकर जगत् के प्राणियों का हित कर सकूँगा । पहले किये पापों से छुटकारा पा जाऊँगा, और आगे भी पापों की ओर प्रवृत्त नहीं होऊँगा ॥ (मानसी पूजा समाप्त) ॥

१०. ११. (अब शान्तिदेव भगवान् को स्नानपूजा अर्पित कर रहे हैं)—

* मनोज्ञगन्धोदकपुष्पपूर्णैः कुम्भैर्महारत्नमयैरनेकैः ।
स्नानं करोम्येष तथागतानां तदात्मजानां च सगीतिवाद्यम् ॥११॥

उदकं च पुष्पाणि च मनोज्ञगन्धानि च तानि । तैः पूर्णाः कुम्भा घटाः, तैः । महारत्नमयैः महान्ति वैदूर्यादीनि च रत्नानि च तानि, तत्स्वभावैः । अनेकैः शतसहस्रकोटिभिः । सङ्गीतवाद्यं सह मनोहरगीतनृत्तमुरजादिवाद्यैः ॥ ११ ॥

वस्त्रैः पूजा

* प्रधूपितैर्धौतमलैरतुल्यैर्वस्त्रैश्च तेषां तनुमुन्मृषामि । [P 5]
ततः सुरक्तानि सुधूपितानि ददामि तेभ्यो वरचीवराणि ॥ १२ ॥

प्रधूपितैरगुरुप्रभृतिधूपैः । धौतमलैः प्रक्षालितकल्मषैः । निर्मलैरित्यर्थः । अतुल्यैरप्रतिसमैः । वस्त्रैर्दुकूलैः । तेषां तथागतानां तदात्मजानां च । तनुं शरीरम् । उन्मृषामि सम्मार्जयामि । ततस्तस्मादुन्मर्षणानन्तरम् । सुरक्तानि शोभनरागैः सुष्ठु वा रक्तानि । शोभनधूपेन धूपितानि । ददामि तेभ्यो जिनेभ्यः । वरचीवराणि अनुत्तराण्याच्छादनानि ॥ १२ ॥

* दिव्यैर्मृदुश्लक्ष्णविचित्रशोभैर्वस्त्रैरलङ्कारवरैश्च तैस्तैः ।
समन्तभद्राजितमञ्जुघोषलोकेश्वरादीनपि मण्डयामि ॥ १३ ॥

दिव्यैर्दिवि भवैर्देवार्हैः । मृदूनि च सुकुमारस्पर्शानि, श्लक्ष्णानि च सूक्ष्माणि । विचित्रा नानावर्णकृता शोभा येषां तैर्वस्त्रैः । अलंकारवरैश्च विभूषणप्रधानैः । तैस्तैरिति मुकुटकटककेयूरहारनूपुरादिभिः । समन्तभद्राजितमञ्जुघोषलोकेश्वरादीनपि बोधिसत्त्वान् मण्डयामि अलङ्करोमि ॥ १३ ॥

रत्नजटित स्तम्भों से मनोहर, मोती जड़े उज्ज्वल चन्दवों से सुशोभित, स्वच्छ तथा श्वेत स्फटिक जड़े स्नानगृहों में सुगन्धित पुष्पों और चूर्णों से युक्त शीतल, जल से पूर्ण, रत्नजटित कलशों से जिनों और जिनपुत्रों को मङ्गलगीत, वाद्यों के साथ स्नान कराता हूँ ॥

१२. (वस्त्रादि से पूजा —) अनुपम और धवल अगर-तगर-धूप से, तथा स्वच्छ वस्त्र से जिनों और जिनपुत्रों के शरीर को पोंछता हूं । फिर भलीभांति रंगे और धुले हुये उत्तम चीवर उन्हें भेंट करता हूँ ॥

१३. आर्य समन्तभद्र, अजित, मञ्जुघोष एवं लोकेश्वर आदि बोधिसत्त्वों को भी दिव्य, कोमल, चिकने और चित्र-विचित्र वस्त्रों और अलङ्कारों से विभूषित करता हूं ॥

गन्धैः पूजा

* सर्वत्रिसाहस्रविसारिगन्धैर्गन्धोत्तमैस्ताननुलेपयामि । [P 52]
सूत्तप्तसून्मृष्टसुधौतहेमप्रभोज्ज्वलान् सर्वमुनीन्द्रकायान् ।। १४ ।।

सहस्रं चतुर्द्वीपिकानां तथा चन्द्र-सूर्य-मेरूणां प्रत्येकं कामदेवानां ब्रह्मलोकानां च। साहस्रश्चूलिको मतः । स एव सहस्रगुणिते द्विसाहस्रः । तत्सहस्रं त्रिसाहस्रः । शतकोटिः चातुर्द्वीपिकानामित्यर्थः । एवं सर्वासु दिक्षु लोकधातुरनन्तोऽपर्यन्तश्च । सर्वत्रिसाहस्राणि विसर्तुं शीलं येषां ते तथा। तैः गन्धोत्तमैर्यक्षकर्दमहरिचन्दनादिभिः । तान् मुनीन्द्रकायाननुलेपयामि समालभे। किंभूतान् ? सूत्तप्तं पुटपाकादिना परिशोधितान्तर्मलम् । सून्मृष्टं रोषाणादिमणिसम्मार्जितम् । सुधौतं क्षाराम्ललवणादिप्रक्षालितबहिर्मलम् । तथाभूतं च तद्धेम चेति । तस्य प्रभा, द्युतिरित्यर्थः । तद्वदुज्ज्वलान् द्युतिमतः । एतच्च यथालोकप्रसिद्धितः कथितम् । न तु तथागतकायशोभाया लौकिकं किञ्चिदुपमानमस्ति ।। १४ ।।

माल्यपूजा

साम्प्रतं माल्यपूजामुपक्षिपति—

* मान्दारवेन्दीवरमल्लिकाद्यैः सर्वैः सुगन्धैः कुसुमैर्मनोज्ञैः ।
अभ्यर्चयाम्यर्च्यतमान् मुनीन्द्रान् स्रग्भिश्च संस्थानमनोरमाभिः ।।१५।।[P53]

मान्दारवं देवेषु पुष्पविशेषः । इन्दीवरमुत्पलम् । मल्लिका वार्षिकी । एतत्प्रमुखैः सर्वैः शोभनगन्धैः पुष्पैर्मनोहारिभिः पूज्यतमान् मुनीन्द्रान् पूजयामि । स्रग्भिश्च मालाभिश्च ग्रथनरचनाविशेषकमनीयाभिः ।। १५ ।।

धूपपूजा

धूपपूजामाह—

* स्फीतस्फुरद्गन्धमनोरमैश्च तान् धूपमेघैरुपधूपयामि ।

---

१४. (गन्धानुलेपन—) सभी तथागतों के शरीरों पर समग्र त्रिसाहस्र लोकधातुओं में सुगन्ध फैलाने वाले उत्तम गन्धद्रव्यों का अनुलेपन करता हूं, जो भलीभाँति तपाये, माँजे, धोये सुवर्ण के समान उज्ज्वल हैं ।

१५. (माल्यार्पण—) और इन परमपूज्य तथागतों को ससम्मान पारिजात, कमल, जूही आदि के सुन्दर सुगन्धित फूलों से भलीभाँति बनी मालाओं को अर्पण करता हूं ।।

स्फीता मांसलाः । स्फुरन्तश्च दिगन्तव्यापिनः बहुलगन्धोद्गारिणो वा । तादृशा गन्धा येषां धूपमेघानां ते तथा, तैः । धूपा मेघा इव अम्बरतलावलम्बिबिम्बाः । "उपमितं व्याघ्रादिभिः" (पा० २. १. २६) इति समासः । धूपानां वा मेघाः, तैः, मेघवदुद्गच्छद्भिरित्यर्थः । तानिति मुनीन्द्रान् उपधूपयामि ॥

नैवेद्यपूजा

नैवेद्यपूजामाह—

* भोज्यैश्च खाद्यैर्विविधैश्च पेयैस्तेभ्यो निवेद्यं च निवेदयामि ॥ १६ ॥

भोज्यं यन्मुखमापूर्य भुज्यते । खाद्यं यत् कवलशः । छेद्यं घृतपूरादि । पेयं यत् पीयते एव पानकादि । एभिर्विविधैर्नानाप्रकारोपसंस्कृतैः । तेभ्यो मुनीन्द्रेभ्यो निवेद्यं च निवेदयामि ॥ १६ ॥

दीपपूजा

[P 54] दीपपूजामाह—

* रत्नप्रदीपांश्च निवेदयामि सुवर्णपद्मेषु निविष्टपङ्क्तीन् ।

रत्नमयाः प्रदीपाः तान् । निविष्टा पंक्तिर्माला येषां ते तथा । क्वेति ? सुवर्णपद्मेषु । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः ।

पुष्पैः पूजा

* गन्धोपलिप्तेषु च कुट्टिमेषु किरामि पुष्पप्रकरान् मनोज्ञान् ॥ १७ ॥

गन्धोपलिप्तेषु चन्दनकुङ्कुमादिगन्धैश्चर्चितेषु ॥ १७ ॥

विमानैः पूजनम्

* प्रलम्बमुक्तामणिहारशोभानाभास्वरान् दिङ्मुखमण्डनाँस्तान् ।
विमानमेघान् स्तुतिगीतरम्यान् मैत्रीमयेभ्योऽपि निवेदयामि ॥१८॥

---

१६. (धूप-समर्पण–) उन मुनीन्द्रों को मेघों के समान आकाश को छूने वाले धूपगुच्छों से धूपदान करता हूं ॥

(नैवेद्यार्पण–) और नाना प्रकार के खाद्य, भोज्य और पेय पदार्थों से उन्हें नैवेद्य अर्पित करता हूं ॥

१७. (दीपपूजा–) उन्हें सुवर्णकमलों पर पंक्तिबद्ध सजे रत्नदीप समर्पित करता हूं । और उनके सुगन्धलिप्त कुट्टिमों (चबूतरों) पर मनोहर पुष्प बिखेरता हूं ॥

१८. उन मैत्रीभावनायुक्त बुद्धों को लटकती हुई मोतियों की मालाओं से सुसज्जित, चमकते हुए दिग्भागों को विभूषित करने वाले, स्तुति-गीतों से रमणीय, ऊँचे-ऊँचे विमान (सुवर्णमय गृह) भेंट करता हूं ॥

प्रलम्बैर्मुक्तामणिहारैः शोभा येषां तान् **विमानमेघान्** विमानसमूहान्, आलोककारिणः सर्वदिक्शोभाकरान् ।। १८ ।।

छत्त्रैः पूजा

* सुवर्णदण्डैः कमनीयरूपैः संसक्तमुक्तानि समुच्छ्रितानि ।
प्रधारयाम्येष महामुनीनां रत्नातपत्राण्यतिशोभनानि ।। १९ ।।

कनकमयदण्डैः कान्तिमत्संस्थानैः । मुक्ताखचितानि रत्न- [P 55] मयानि छत्त्राणि । **समुच्छ्रितानीति** उद्दण्डितानि ।। १९ ।।

पूजोपहारोपसंहारः

इदानीं पूजोपहारमुपसंहरन्नाह—

* अतः परं प्रतिष्ठन्तां पूजामेघा मनोरमाः ।
तूर्यसङ्गीतिमेघाश्च सर्वसत्त्वप्रहर्षणाः ।। २० ।।

इतः प्रभृति एते **पूजामेघा** मया निर्यातिताः, अन्ये वा देवादिभिरुपनीताः कल्पं वा कल्पावशेषं **प्रतिष्ठन्ताम्** प्रकर्षवृत्तिस्थिता भवन्तु । **तूर्यसङ्गीतिमेघाश्च** तूर्याणि मुरजादिवाद्यानि, सङ्गीतयः समेत्य गीतयः । समुदायगीतानीत्यर्थः । अथवा । सङ्गीतकानि नृत्तगीतवादितानि समुदितान्युच्यन्ते । तेषां मेघाः अनेकसमुदायाः । ते च **सर्वसत्त्वप्रहर्षणाः** सर्वसत्त्वानां प्रमोदकारिणः, न पुनरशक्यश्रवणाः । प्रतिष्ठन्तामिति सम्बन्धः ।। २० ।।

सद्धर्मादिपूजा

सामान्येनाभिसंक्षिप्य सद्धर्मादिषु पूजामाह—

* सर्वसद्धर्मरत्नेषु चैत्येषु प्रतिमासु च ।
पुष्परत्नादिवर्षाश्च प्रवर्तन्तां निरन्तरम् ।। २१ ।।

द्वादशाङ्गप्रवचनात्मकेषु **सर्वसद्धर्मरत्नेषु** । रत्नमिव रत्नं वस्तुत्त्वालोककारित्वात्, परमनिर्वृतिहेतुत्वाच्च । **स्तूपेषु** भगवच्चैत्येषु । **प्रतिमासु चेति**

---

१९. (छत्रदान–) उन्हीं तथागतों, बोधिसत्त्वों पर सुवर्णखचितदण्डयुक्त, देखने में सुन्दर, मुक्ताजटित, अतिरमणीय, ऊँचे-ऊँचे छत्र आदरपूर्वक लगाता हूं ।।

२०. (पूजोपसंहार–) इसके बाद समग्र प्राणियों को प्रहर्षित करने वाले मनोहर पूजामेघ नृत्य-गीत-वादित्र मेघ उन तथागतों पर प्रवृत्त हों ।।

२१. (स्तूपादि पर पुष्पवृष्टि–) मेरे द्वारा समग्र सद्धर्मरत्नों, स्तूपों और प्रतिमाओं पर निरन्तर पुष्परत्नादि की वर्षा होती रहे ।।

बुद्धबोधिसत्त्वविग्रहप्रतिकृतिषु । पुष्पवृष्टयो रत्नवृष्टयश्च । आदिशब्दाच्चन्दनचूर्णवस्त्रादिवर्षाः । निरन्तरमिति आसंसारमनवच्छिन्नम् ।। २१ ।।

अनुत्तरपूजा

[P 56] अनुत्तरपूजामतिदिशन्नाह—

* मञ्जुघोषप्रभृतयः पूजयन्ति यथा जिनान् ।
तथा तथागतान्नाथान् सपुत्रान् पूजयाम्यहम् ।। २२ ।।

मञ्जुघोष-समन्तभद्राजित-लोकनाथप्रमुखा दशभूमीश्वरा बोधिसत्त्वाः यथा येन अध्याशयेन तथागतान् पूजयन्ति, तथा तेन अधिमोक्षेण अहमपि तथागतान् सह पुत्रैः बोधिसत्त्वगणैः पूजयामि ।। २२ ।।

स्तुतिपूजा

स्तुतिपूजामाह—

* स्वराङ्गसागरैः स्तोत्रैः स्तौमि चाहं गुणोदधीन् ।
स्तुतिसङ्गीतिमेघाश्च सम्भवन्त्वेष्वनन्यथा ।। २३ ।।

स्वराः सप्त गान्धारादयः । तेषामङ्गानि प्रभेदाः कामोदादयः । तेषां सागरवदतिबाहुल्यात् सागराः, तैः स्तोत्रैः । स्तुतय एव सङ्गीतयः, स्तुतीनां वा सङ्गीतयः समुदायाः । तासां मेघाः सम्भवन्तु उपतिष्ठन्ताम् । एषु बुद्धबोधिसत्त्वेषु । अनन्यथा अविपरीता यथा मयोपकल्पितास्तथैवेत्यर्थः ।। २३ ।।

बुद्ध-धर्म-सङ्घरत्नेषु प्रणामपूजा

बुद्धधर्मसङ्घरत्नेषु प्रणामपूजामाह—

* सर्वक्षेत्राणुसंख्यैश्च प्रणामैः प्रणमाम्यहम् ।
सर्वत्र्यध्वगतान् बुद्धान् सहधर्मगणोत्तमान् ।। २४ ।।

---

२२. (लोकोत्तरपूजा–) मञ्जुघोष आदि बोधिसत्त्व जिस तरह बुद्धों की पूजा करते हैं; उसी तरह मैं पुत्रों (शिष्यों) सहित तथागतों की पूजा करता हूं ।।

२३. (स्तोत्रपाठ–) गान्धार आदि स्वरों तथा कामोद आदि उनके प्रभेदों से युक्त स्तोत्रों से मैं गुणसागर तथागतों की स्तुति करता हूं । उनपर मेरी स्तुति रूप संगीतियों के मेघ, मेरी भावना के अनुसार, उमड़ पड़ें ।।

२४. (प्रणामपूजा–) मैं श्रेष्ठ धर्म और सङ्घ सहित अतीत अनागत प्रत्युत्पन्न तथागतों को दशों दिशाओं में व्याप्त बुद्धक्षेत्रों की अणु-संख्या जितने प्रणाम करता हूं ।।

यावन्ति दशसु दिक्षु बुद्धक्षेत्राणि, तेषु यावन्तोऽणवः, तत्संख्यैः [P 57] प्रणामैः। **सर्वत्राध्वगतानिति** अतीतप्रत्युत्पन्नानागतान्। किम्भूतान्? **सहधर्मगणोत्तमान्** गणानामुत्तमोऽग्रभूतो बोधिसत्त्वगणः। धर्मश्च गणोत्तमश्च ताभ्यां सह॥ २४॥

तथागतस्तूपादिषु प्रणामः

तथागतस्तूपेषु प्रणाममाह—

* सर्वचैत्यानि वन्देऽहं बोधिसत्त्वाश्रयाँस्तथा।
नमः करोम्युपाध्यायानभिवन्द्यान् यतींस्तथा॥ २५॥

ऊर्ध्वतिर्यगधस्तनासु दिशासु विदिशासु च। सशरीराशरीरेषु स्तूपेषु प्रणमाम्यहमित्यर्थः। **बोधिसत्त्वाश्रयानपीति** जातकावदानजन्मादिस्थानानि। **अभिवन्द्यानिति** वृद्धान् वन्दनार्हान्। तदनेन पूजावन्दनाविधिरुक्तः॥

अयं च पूजाविधिस्त्रिसमयराजे कथितः। यथोक्तम्—"स्थलजा रत्नपर्वताः। जलजा रत्नपर्वताः। स्थलजजलजानि रत्नानि दशदिगवस्थितानि। अममान्यपरिग्रहाणि। देयानीत्युक्तम्। अनया च दिशा सर्वभैषज्यानि सर्वरसायनानि सर्वसलिलानि। अनवद्यानि आमण्डलानि (?) सर्वकाञ्चमण्डलानि। विवृत्तेषु परमरसस्पर्शसम्पन्ना भूपर्पटका अमृतलता। अकृष्टोप्ताः शालयः। सर्वोत्तरकुरुद्वीपेषु च परिशुद्धेषु च लोकधातुषु ये रमणीयाः परिभोगाः"। इति।

यथा **आर्यरत्नमेघे** चाह— [P58]

"स यानीमानि सूत्रान्तेषु उदाराणि पूजोपस्थानानि शृणोति, तान्याशयतस्तीव्रेणाध्याशयेन बुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः परिणामयति, तथा स विविधानि पूजोपस्थानान्यनुविचिन्तयति" इति॥ २५॥

रत्नत्रयशरणगमनपूर्विका पापदेशना

साम्प्रतं रत्नत्रयशरणगमनपूर्वकं पापदेशनामाह—

* बुद्धं गच्छामि शरणं यावदा बोधिमण्डतः।
धर्मं गच्छामि शरणं बोधिसत्त्वगणं तथा॥ २६॥

---

२५. मैं सभी बुद्धस्तूपों एवं बोधिसत्त्वों के वासस्थनों की वन्दना करता हूं। एवमेव वृद्ध, उपाध्याय एवं मुनियों को प्रणाम करता हूं॥

२६. (पापदेशना–) मैं जब तक सम्यक्सम्बोधि न प्राप्त कर लूं, उस समय तक बुद्धों और बोधिसत्त्वों का आज्ञाकारी रहूंगा॥

त्राणार्थं शरणार्थम्। गमनं तदाज्ञापरिपालनम्। यो हि यं शरणं गच्छति, स तदाज्ञां नातिक्रमतीति भावः। **बोधिमण्डत** इति। मण्डशब्दोऽयं सारवचनम्, घृतमण्ड इति यथा। तथा च सति बोधिप्रधानं यावत्। यावत् सम्यक्सम्बोधिं नाधिगच्छामि इत्यर्थः॥ २६॥

* विज्ञापयामि सम्बुद्धान् सर्वदिक्षु व्यवस्थितान्।
महाकारुणिकाँश्चापि बोधिसत्त्वान् कृताञ्जलिः॥ २७॥

विज्ञापयामीत्यनेन बुद्धबोधिसत्त्वानामग्रगतमात्मानं ध्यात्वा अध्याशयेनैतद्वक्तव्यमित्युपदर्शितम्। **कृताञ्जलिरिति** कायविज्ञप्तिरुक्ता। अञ्जलिः करद्वयेन सम्पुटं कृत्वेत्यर्थः॥ २७॥

* अनादिमति संसारे जन्मन्यत्रैव वा पुनः। [P 59]
यन्मया पशुना पापं कृतं कारितमेव वा॥ २८॥

* यच्चानुमोदितं किञ्चिदात्मघाताय मोहतः।
तदत्ययं देशयामि पश्चात्तापेन तापितः॥ २९॥

अनादिमतीति। पूर्वजन्मपरम्परासु। **जन्मन्यत्रैवेति**। अस्मिन्नपि जन्मनि, न केवलं पूर्वत्र। **पशुनेति**। मोहबहुलतामात्मनो दर्शयति। त्रिविधं कर्म कायवाङ्मनोभिस्तत्र **कृतम्**। त्रिभिरपि **कारितमिति**। वाङ्मनोभ्यामनुमोदितमित्यपि। **आत्मघातायेति** तत्पापकर्मफलस्य मम आत्मन्येव विपाकात्। **तदत्ययमिति** तदापत्तिम्। **देशयामि** प्रकाशयामि उत्तानीकरोमि, न प्रच्छादयामि। **पश्चात्तापेनेति** अकुशलकर्मणो नरकादौ दुःखविपाकश्रवणात्॥ २८-२९॥

अधुना यथाप्रधानमत्ययदेशनामाह—

* रत्नत्रयेऽपकारो यो मातापितृषु वा मया।
गुरुष्वन्येषु वा क्षेपात् कायवाग्बुद्धिभिः कृतः॥ ३०॥

---

२७. (निवेदना—) सभी दिशाओं में स्थित महाकारुणिक बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों से मैं हाथ जोड़कर यह निवेदन करता हूं॥

२८-२९. इस अनादि संसार में पहले जन्मों में या इस जन्म में मैंने जो पाप (अपराध) किये हों या उन्हें करने के लिये किसी को प्रेरित किया हो, जिनसे मानों मैं आत्महत्या की ओर ही बढ़ा हूं, और आज मुझे जिनके लिये पश्चात्ताप है, उनके नाश के लिये मैं आप के सम्मुख प्रायश्चित्त करता हूं॥

३०-३१. मैंने राग-द्वेषादि दुर्गुणों से प्रेरित होकर रत्नत्रय के साथ, माता-

रत्नत्रये इति अनुत्तरगुणक्षेत्रे । मातेत्यादिना उपकारिक्षेत्रे । तत्रापकारस्य विस्तरतीव्रदुःखविपाकत्वात् ।। ३० ।।

* अनेकदोषदुष्टेन मया पापेन नायकाः ।
यत्कृतं दारुणं पापं तत्सर्वं देशयाम्यहम् ।। ३१ ।।

अनेकदोषदुष्टेनेति रागादिक्लेशदूषितेन, न स्वतन्त्रेणेत्यर्थः ।।३१।। [P 60]

* कथं च निःसराम्यस्मान्नित्योद्वेगोऽस्मि नायकाः ।
मा भून्मे मृत्युरचिरादक्षीणे पापसञ्चये[1] ।। ३२ ।।

पापकर्मणि संवेगमाह—

* कथं च निःसराम्यस्मात् परित्रायत सत्वरम् ।

कथं केन प्रकारेण । अस्मादशुभात् । सत्वरं शीघ्रम् ।

केयं त्वरा भवतः ? इत्याह—

* मा ममाक्षीणपापस्य मरणं शीघ्रमेष्यति ।। ३३ ।।

यावत् पापक्षयं न करोमि, तावन्मम मृत्युर्भविष्यति न । अन्यथा दुर्गतिगमनभयात् ।। ३३ ।।

ननु च अकृतपापपरिक्षयस्य भवतो मृत्योः कोऽवकाशः ? इत्याह—

* कृताकृतापरीक्षोऽयं मृत्युर्विश्रम्भघातकः ।
स्वस्थास्वस्थैरविश्वास्य आकस्मिकमहाशनिः ।। ३४ ।।

पिता के साथ या अन्य गुरुजनों के साथ मनसा वाचा कर्मणा जो भी पाप किये हों, हे नायक ! उन सभी को आप के सामने स्वीकार करते हुए मैं उनका प्रायश्चित्त करता हूं ।।

३२. हे स्वामिन् ! 'कैसे इन पापों से छुटकारा पाऊँ' यह सोच-सोच कर मैं हमेशा व्याकुल रहता हूँ । हे भगवन् ! मेरा निवेदन यही है कि आप की कृपा से जबतक मैं इनसे छुटकारा न पा लूं तब तक मेरी मृत्यु न हो ।।

३३. हे भगवन् ! मुझे जल्दी बचाइये । और बताइये, मेरा इन पापों से कैसे छुटकारा होगा ? इतना कीजिये कि पापों के क्षीण हुए विना मेरी मृत्यु न होने पावे ।।

३४. क्योंकि मौत बहुत विश्वासघाती है । वह, यह कुछ नहीं देखती कि

---

१. अयं श्लोकः क्वचिन्नोपलभ्यते, नाप्यस्य टीका ।

इदं कृतमिदमकृतं तावदिति न परीक्षते मृत्युः। विश्रम्भो विश्वासः। तेन घातकः। नापि 'नीरोगोऽहं युवा बलवत्कायो वा' इति विश्वसनीयम्। कुतः ? आकस्मिकमहाशनिरिति अचिन्तितवज्रपातसदृशः ॥ ३४ ॥

यद्येवं पापाद् भयम्, किमर्थं तर्हि तत् कृतम् ? इत्याह—

* प्रियाप्रियनिमित्तेन पापं कृतमनेकधा।
सर्वमुत्सृज्य गन्तव्यमिति न ज्ञातमीदृशम् ॥ ३५ ॥

[F 61] प्रिय आत्मा आत्मीयश्च, अप्रियस्तदपकारी। प्रियस्य हितसुखमप्रियस्य च तद्विपरीतमिच्छता कृतं पापमनेकधा प्राणातिपातादत्तादानादिभेदेनानेकप्रकारम्। ननु सर्वमेतन्नचिरेण परित्यज्य गन्तव्यम्, तत् किमिति निरर्थकं पापकमुपचीयते ? इत्याह— सर्वमित्यादि। सर्वं प्रियमप्रियं वा उत्सृज्य विहाय गन्तव्यम्। एतत्तु न मया मुग्धेन परिभावितम् ॥ ३५ ॥

* अप्रिया न भविष्यन्ति प्रियो मे न भविष्यति।
अहं च न भविष्यामि सर्वं च न भविष्यति[1] ॥ ३६ ॥

किमिदानीं परिशिष्टमवस्थितम् ? इत्याह—

* तत्तत्स्मरणतां याति यद्यद्वस्त्वनुभूयते।
स्वप्नानुभूतवत् सर्वं गतं न पुनरीक्ष्यते ॥ ३७ ॥

यद्यद्वस्त्विति सुखहेतुर्दुःखहेतुर्वा। अनुभूयते संवेद्यते। कथं पुनरेवम् ? इत्याह—स्वप्नानुभूतवदिति। यथा स्वप्नावस्थायामुपलब्धं विनष्टं न पुनरीक्ष्यते, तत्र स्मरणमात्रमेव अवशिष्यते ॥ ३७ ॥

आदमी क्या कुछ भला कार्य कर चुका है, या क्या करना बाकी है। विद्युदाघात की तरह इस आकस्मिक मृत्युरूपी आपत्ति के रहते स्वस्थ या अस्वस्थ रहने का क्या विश्वास है ? ॥

३५. मैंने अपने दोस्त-दुश्मनों को लेकर अनेक पाप किये हैं। 'इन सब को यहीं छोड़कर मुझे खाली हाथ चले जाना पड़ेगा'—यह तो मुझे पता ही न था ॥

३६. वस्तुतः यहाँ न तो मेरे दोस्त रहेंगे, न दुश्मन; न मैं रहूंगा, न यह सब कुछ (दृश्यमान जगत्) रहेगा ! ॥

३७. मैंने अतीत में जिस-जिस विषय रस का अनुभव किया है, वह सब कुछ अब मेरे लिये स्वप्नतुल्य हो चुका है ॥

---

१. श्लोकस्यास्य टीका क्वापि नोपलब्धा।

तथा अन्यदपि सर्वं प्रियादिसङ्गतमस्थिरमस्मिन्नेव जन्मनीत्युपदर्शयन्नाह—

* इहैव तिष्ठतस्तावद् गता नैके प्रियाप्रियाः ।
तन्निमित्तं तु यत् पापं तत्स्थितं घोरमग्रतः ॥ ३८ ॥

तिष्ठतः आसीनस्यैव मम पश्यतः । **गता** अनित्यतया ग्रसिताः । [P 62] यद्येवम्, तर्हि तदर्थं कृतं पापमपि तैः सह यास्यति ? इत्याह—**तन्निमित्तमि**त्यादि । तेषां प्रियादीनां निमित्तं तदर्थं **यत्कृतं पापं** तत्पुनर**ग्रत एव स्थितं** मे । तन्मया सह यास्यतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

नन्वेवं पश्यन्नपि कथं मूर्च्छितोऽसि ? इत्याह —

* एवमागन्तुकोऽस्मीति न मया प्रत्यवेक्षितम् ।
मोहानुनयविद्वेषैः कृतं पापमनेकधा ॥ ३९ ॥

नाहं कस्यचित् परितः, न मे कश्चित्—इत्येवं **न मया प्रत्यवेक्षितं** विचारितम् । तेन कारणेन । **अनुनय** आसङ्गः आत्मनि आत्मीये च । **विद्वेषः** प्रतिघः । तत् प्रतिकूलमाचरति ॥ ३९ ॥

चिरतरमतिदीर्घायुषो भवतः का मरणाशङ्का, तत् किमेवं बिभेषि ? इत्याह—

* रात्रिन्दिवमविश्राममायुषो वर्धते व्ययः ।
आयस्य चागमो नास्ति न मरिष्यामि किं न्वहम् ॥ ४० ॥

अहर्निशम् । **आयुषो वर्धते व्ययः,** आयुःसंस्काराः क्षीयन्ते । **अविश्राम**मिति । क्षणमपि न व्ययविच्छित्तिरस्ति । आगमनमा**गमः** अनुप्रवेशः । **स च आयस्य** उपचयस्य लेशतोऽपि न संविद्यते । तदहमेवं **किं नु न मरिष्यामि ?** अपि तु चिरमपि स्थित्वा जीवितं मरणपर्यवसानमिति ॥ ४० ॥

---

३८. मेरे रहते ही रहते मेरे अनेक हितैषी चले गये; परन्तु उनके लिये मैंने जो घोर पाप किये थे वे आज मेरे सामने भयंकर (विपक्ष के) रूप में खड़े हैं ॥

३९. मैंने अपने बारे में कभी यह नहीं सोचा कि मैं भी इस दुनिया में क्षण भर का ही मेहमान हूं । और मैंने राग, द्वेष, मोह में पड़ कर नाना प्रकार के पाप कर्म कर डाले ॥

४०. रात-दिन मेरी आयु क्षीण तो होती जा रही है, पर वह कहीं से बढती नजर नहीं आती । फिर भला मेरी मौत क्यों नहीं होगी ! ॥

स्यादेतत् । यन्निमित्तं कृतं पापम्, तेऽपि न नरकादिषु तत्फलदुःखानुभवकाले संविभागिनो भविष्यन्ति । तत् किमिति कातरभावमवलम्बसे ? इत्यत्राह— [P 63]

* इह शय्यागतेनापि बन्धुमध्येऽपि तिष्ठता ।
मयैवेकेन सोढव्या मर्मच्छेदादिवेदना ॥ ४१ ॥

आस्तां तावत्परलोके, इह अस्मिन्नेव भवे मरणान्तिकादिदुःखबाधायां स्वजनपरिजनमध्यगतेनापि । **मर्मच्छेदादिवेदनेति** पिपासागात्रसन्तापादिदुःखं **मयैवैकेन सोढव्यम्** । न तत्र अल्पीयानपि भागोऽन्यस्य सम्भवति ॥ ४१ ॥

किं पुनर्नरकादौ ? इत्याह—

* यमदूतैर्गृहीतस्य कुतो बन्धुः कुतः सुहृत् !
पुण्यमेकं तदा त्राण मया तच्च न सेवितम् ॥ ४२ ॥

कालदूतैर्गृहीतस्य अधिष्ठितस्य गलपाशेन बद्धस्य मुद्गरैराकोट्यमानस्य अटवीकान्तारगहनकण्टकविषमशिलाशकलैर्वितुद्यमानचरणस्य असहायस्य कर्मानुभवभूमिं नीयमानस्य । **कुतो बन्धुः कुतः सुहृत्** इति । न तत्र केचित् सहायास्त्राणं सम्भवन्ति । **पुण्यमेवैकं तदा त्राणं** स्यात् । **मया तच्च न सेवितम्**, तच्च पुण्यं त्राणभूतं **मया** नोपार्जितम् ॥ ४२ ॥

पुनरपि पापात् संवेगमाह—

* अनित्यजीवितासङ्गादिदं भयमजानता । [P 64]
प्रमत्तेन मया नाथा बहु पापमुपार्जितम्[1] ॥ ४३ ॥

अस्थायिनि जीविते । **आसङ्गादा**ग्रहात् । इदमागामि नरकादिदुःख**भयमजानता** अपश्यता । **प्रमत्तेनेति** यौवनरूपधनाधिपत्यादिमदमत्तेन ॥ ४३ ॥

---

४१. मुझे यहाँ खाट पर पड़े-पड़े, भाई-बन्धुओं के बीच रहते हुए भी मृत्यु के समय मर्मघाती वेदनाएँ अकेले ही सहन करनी पड़ेगीं ॥

४२. यमदूतों (मृत्यु) द्वारा गला पकड़े जाने पर, कहाँ भाई दिखायी देंगे ! और कहाँ इष्ट मित्र ! उस समय तो सिर्फ पहले कमाया हुआ पुण्य ही काम आयगा, जो मैंने कभी कुछ कमाया ही नहीं ! ॥

४३. हे स्वामिन् ! क्षणभंगुर इस जीवन में आसक्त मैंने मृत्यु-भय को न जानने के कारण, प्रमादवश बहुत से पाप कर डाले ॥

---

१. दुःखमु०—पाठा० ।

किं पुनरेवं संवेगबहुलो भवान् ? इत्याह—

* अङ्गच्छेदार्थमप्यद्य नीयमानो विशुष्यति ।
पिपासितो दीनदृष्टिरन्यदेवेक्षते जगत् ॥ ४४ ॥

अत्यल्पमिदं करचरणादिच्छेदनं दुःखं नरकदुःखात् । तथापि तत्रेयमवस्था भवति । विशुष्यति सर्वात्मना शोषमुपयाति । पिपासितस्तृष्णार्तः । दीनदृष्टिरिति कृपणदृष्टिः । अन्यदेवेति विपरीतम् ॥ ४४ ॥

नरकदुःखस्यातिशयमाह—

* किं पुनर्भैरवाकारैर्यमदूतैरधिष्ठितः ।
महात्रासज्वरग्रस्तः पुरीषोत्सर्गवेष्टितः ॥ ४५ ॥

* कातरैर्दृष्टिपातैश्च त्राणान्वेषी चतुर्दिशम् ।

भैरवाकारैरिति । भयङ्कररूपैः । अधिष्ठितः आत्मसात्कृतः । महात्रासनज्वरस्तेन ग्रस्तो गृहीतः । पुरीषमुच्चारः, तस्योत्सर्गो विनिर्गमः, तेन [P 65] वेष्टितो विलिप्तः ॥ ४५ ॥

कातरैरिति दीनैः । चतुर्दिशं त्राणान्वेषी ॥

कथम् ? इत्याह—

* को मे महाभयादस्मात् साधुस्त्राणं भविष्यति[1] ॥ ४६ ॥

साधुरकारणवत्सलः । त्राणं परित्राता ॥ ४६ ॥

* त्राणशून्या दिशो दृष्ट्वा पुनः सम्मोहमागतः ।
तदाहं किं करिष्यामि तस्मिन् स्थाने महाभये ॥ ४७ ॥

---

४४. अङ्गच्छेद के लिये साधारण व्यक्तियों द्वारा ले जाया जाता व्यक्ति भी जब भय के कारण थर-थर कांपने लगता है, उसका गला सूखने लग जाता है, कातरदृष्टि हो कर उस समय वह आस-पास के लोगों को किसी दूसरी नजर से ही देखने लगता है ॥

४५. तो फिर भयंकर आकृतिवाले यमदूतों द्वारा पकड़े जाने पर महाभयरूपी ज्वर से ग्रस्त, मल-मूत्र से लथ-पथ ॥

४६. 'कौन सज्जन इस महाभय से मेरी रक्षा करेगा'—यह सोचते हुए कातर नजरों से सब ओर शरणस्थल खोजता हुआ मैं ॥

४७. किसी भी ओर से सहारा न पाकर भय के मारे मूर्च्छित होकर उस महाभय (मृत्यु) से बचने का क्या उपाय करूँगा ! ॥

---

१. करिष्यति—पाठा० ।

एवमपि यदा कुत्रचिदपि त्राणं न पश्यति, तदा त्राणाभावात् पुनः सम्मोहमागतः । तदा तस्मिन् काले किं करिष्यामि ? सर्वक्रियासु असमर्थः सन् । तस्मिन् स्थाने प्रतापनादिनरकभूमौ ॥ ४७ ॥

तस्मादिदानीमेव प्रतीकारानुष्ठानं युक्तमित्याह—

* अद्यैव शरणं यामि जगन्नाथान् महाबलान् ।
जगद्रक्षार्थमुद्युक्तान् सर्वत्रासहरान् जिनान् ॥ ४८ ॥

जगतां नाथान् सर्वाश्वासनिर्वृतिस्थानभूतान् नायकान् । महाबलानिति सर्वत्राप्रतिहतसामर्थ्यान् । जगद्रक्षार्थमुद्युक्तानिति सर्वसत्त्वपरित्राणार्थमुद्युक्तान् । एवमपि त्राणानाश्रित्य भयोपशमो न स्यात्, तदा किं शरणगमनेन ? इत्यत्राह—सर्वत्रासहरानिति । सर्वव्यसनापहर्तॄन् ॥ ४८ ॥

धर्म-सङ्घशरणगमनमाह—

* तैश्चाप्यधिगतं धर्मं संसारभयनाशनम् । [P 66]
शरणं यामि भावेन बोधिसत्त्वगणं तथा ॥ ४९ ॥

तैर्बुद्धैर्भगवद्भिः । अधिगतं साक्षात्कृतम् । धर्मं निर्वाणमित्यर्थः । संसारभयनाशनं सर्वक्लेशप्रतिपक्षत्वात् । भावेनेति । परमप्रसादेन, न मायाशाठ्येन, विचिकित्सया वा । बोधिसत्त्वगणमिति सङ्घम् । तथेति भावेन ॥ ४९ ॥

इदानीं यथाप्रधानं बोधिसत्त्वेभ्य आत्मनिर्यातनं कुर्वन्नाह—

* समन्तभद्रायात्मानं ददामि भयविह्वलः ।
पुनश्च मञ्जुघोषाय ददाम्यात्मानमात्मना ॥ ५० ॥

समन्तभद्राय बोधिसत्त्वाय । आत्मानं ददामि निर्यातयामि । भयविह्वलो नरकादिभयव्याकुलः । पुनश्च मञ्जुघोषाय मञ्जुनाथाय । आत्मनेति न परप्रेरणाय । स्वयमेव प्रसन्नचित्त इत्यर्थः ॥ ५० ॥

---

४८. (अतः) मैं तो आज ही जगत् के स्वामी, महाबलशाली, जगत् की रक्षा में हमेशा तय्यार रहने वाले तथागतों की शरण में जाता हूँ ॥

४९. मैं उनके द्वारा साक्षात्कृत, जगद्भयनाशक धर्म तथा सङ्घ की शरण में श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जाता हूँ ॥

५०. भय से व्याकुल हो मैं स्वयं को समन्तभद्र के लिये आत्म-दान के रूप में अर्पित करता हूँ । फिर मञ्जुघोष के लिये भी आत्म-समर्पण करता हूँ ॥

* तं चावलोकितं नाथं कृपाव्याकुलचारिणम् ।
विरौम्यार्तरवं भीतः स मां रक्षतु पापिनम् ॥ ५१ ॥

आर्यावलोकितेश्वरम् । कृपया व्याकुलं चरितं शीलमस्येति **कृपाव्याकुलचारिणमिति** तस्यैव विशेषणम् । **विरौमि** आरवं करोमि । **आर्तरवमिति** क्रियाविशेषणम् । दुःखदीनकातरस्वरम् । **भीतः** त्रस्तः पापकर्मफलात् । **स मां रक्षतु** पापिनं कृतपापं मां त्रायताम् ॥ ५१ ॥

* आर्यमाकाशगर्भं च क्षितिगर्भं च भावतः ।
सर्वान् महाकृपांश्चापि त्राणान्वेषी विरौम्यहम् ॥ ५२ ॥ [P 67]

आर्यमाकाशगर्भं च बोधिसत्त्वम् । **क्षितिगर्भं च** बोधिसत्त्वम् । **विरौमीति** परेण सम्बन्धः । **सर्वान् महाकृपांश्चापि,** येऽपि न नामग्रहणेनोदाहृताः, तानपि परमकारुणिकान् परदुःखदुःखिनः ॥ ५२ ॥

* यं दृष्ट्वैव च सन्त्रस्ताः पलायन्ते चतुर्दिशम् ।
यमदूतादयो दुष्टास्तं नमस्यामि वज्रिणम् ॥ ५३ ॥

यस्य दर्शनमात्रेण **यमदूतादयः** । आदिशब्दादन्येऽपि यक्षराक्षसादयो दुष्टा **भीताः सन्तः पलायन्ते,** दूरमपगच्छन्ति । **तं नमस्यामि** नमस्करोमि । **वज्रिणमिति** । वज्रमस्यास्तीति वज्रपाणिं बोधिसत्त्वम् । तदनेन शरणगमनादिना पापक्षयार्थमाश्रयबलमुपदर्शितम् । यदुक्तं **चतुर्धर्मकसूत्रे**—

"तत्राश्रयबलं बुद्धधर्मसङ्घशरणगमनमनुत्सृष्टबोधिचित्तता च । स बलवत्सन्निश्रयेण न शक्यते पापेनाभिभवितुम्" । इति ॥ ५३ ॥

पुनरन्यथात्वशङ्का निराकर्तुमाह—

* अतीत्य युष्मद्वचनं साम्प्रतं भयदर्शनात् ।
शरणं यामि वो भीतो भयं नाशयत द्रुतम् ॥ ५४ ॥

---

५१. मैं भयभीत होकर, करुणा से व्याकुल हो दीनों की रक्षा के लिये दौड़ पड़ने वाले उस भगवान् अवलोकितेश्वर को कातर स्वर से पुकारता हूँ कि वे मुझ पापी की रक्षा करें ॥

५२. मैं शरण चाहता हुआ आर्य आकाशगर्भ, क्षितिगर्भ और सभी महाकारुणिकों को हृदय से पुकारता हूँ ॥

५३. यमदूत आदि दुष्ट जिन्हें देखते ही भय के मारे इधर-उधर भाग जाते हैं, उस वज्रधारी बुद्ध को मैं नमस्कार करता हूँ और निवेदन करता हूँ कि—॥

५४. 'पहले आप की बात न मानकर, अब भयाक्रान्त हो मैं आपकी शरण में आया हूँ, कृपया मेरा भय शीघ्र दूर करें' ॥

[P 68] अतिक्रम्य युष्मदाज्ञाम् । **साम्प्रतमिदानीम्** । **भयदर्शनात्**, तदतिक्रमे यस्मादनिष्टफलसम्भवदर्शनात्, **वो** युष्मान् **शरणं यामि भीतः** अनिष्टफलादुत्त्रस्तः । तस्मात्पुनरन्यथाशङ्का न कर्तव्या । अतो **भयं नाशयत**, पूर्वकृतपापाद् भयमपनयत । **द्रुतं** शीघ्रम् । ममेत्यध्याहार्यम् ॥ ५४ ॥

ननु एवमपि कः प्रत्येष्यति त्वद्वचनाद् ? इत्याशङ्क्य पुनरत्रार्थे दृढतामाह—

* इत्वरव्याधिभीतोऽपि वैद्यवाक्यं न लङ्घयेत् ।
किमु व्याधिशतैर्ग्रस्तश्चतुर्भिश्चतुरुत्तरैः ॥ ५५ ॥

इत्वरो गत्वरो नश्वरोऽचिरस्थायीत्यर्थः । लघुर्वा । स चासौ व्याधिश्चेति, तस्माद् भयेन । **वैद्यवाक्यं न लङ्घयेत्** वैद्योपदेशं नातिक्रमेत् । मा अयं व्याधिर्मम वृद्धिमुपगच्छेत् । किमु किं पुनः । **व्याधिशतैर्ग्रस्तो** लङ्घयेत् । **चतुर्भिश्चतुरुत्तरैरिति** चतुरधिकैश्चतुर्भिः शतैरित्यर्थः । शतमकालमृत्यूनाम्, एकं कालमरणमित्येकोत्तरं शतं मृत्यूनाम् । ते च प्रत्येकं वातपित्तश्लेष्मकृताः तत्सन्निपातकृताश्चेति चतुरुत्तराणि चत्वारि शतानि भवन्ति । इति कारणभेदात् कार्यभेदः, कार्यभेदाच्च कारणभेदव्यवस्था ॥ ५५ ॥

ननु तथापि किमत्र भयकारणं यन्नास्तीत्याह—

* एकेनापि यतः सर्वे जम्बुद्वीपगता नराः ।
नश्यन्ति येषां भैषज्यं सर्वदिक्षु न लभ्यते ॥ ५६ ॥

[P 69] एकेनापि व्याधिना कुपितेन यस्मात् सर्वे जम्बुद्वीपगता नराः प्राणिनो नश्यन्ति म्रियन्ते । अन्यच्च । येषां व्याधीनां भैषज्यं औषधं चिकित्सार्थं क्वचिदपि न प्राप्यते । अत्र **काशिराजपद्मकजातकमुपनेयम्** । "तद्यथानुश्रूयते—बोधिचर्यां चरन्नयमेव भगवानतीतेऽध्वनि पद्मो नाम काशिराजो बभूव । तस्मिन् समये सर्वे जम्बुद्वीपका मनुष्या महता रोगेण विकलीभूता म्रियन्ते च । तैरिदमालोचितम्—'अयमेव अस्माकं स्वामी राजा परमकारुणिकः प्रतीकारं विधास्यति' इति अस्यैव आत्मदुःखं निवेदयामः । ते

---

५५. शीघ्र दूर होने वाली सामान्य व्याधि के भय से भी कोई वैद्य का वचन नहीं टालता, फिर चार सौ चार (४०४) व्याधियों से ग्रस्त मेरे जैसे पामर जन की यह निश्चिन्तता कैसी ! ॥

५६. जम्बूद्वीप के सभी लोग एक ही व्याधि (मृत्यु) से मर रहे हैं, जिसकी चिकित्सा (प्रतीकार) कहीं ढूंढने पर भी नहीं मिलती ॥

च एवमवधार्य मिलित्वा, 'भो महाराज, भवति स्वामिनि परमहितैषिणि संविद्यमानेऽपि इयमस्माकमवस्था ?' इति तस्मिन् राजनि दुःखमाविष्कृतवन्तः । स च राजा करुणापरवशहृदयः तेषां दुःखमसहमानः 'शीघ्रममीषां रोगपीडामपनयत इति वैद्यानाज्ञापयामास । तेऽपि तथेति प्रतिश्रुत्य चिकित्साशास्त्राणि व्यवलोक्य सद्योरोहितमत्स्यमांसादन्यद् भैषज्यमलभमानाः तथैव राज्ञः प्रत्युक्तवन्तः ।'' इति विस्तरः । इदमेव जातकं भर्वोपलक्षणं दर्शितम् ।। ५६ ।।

* तत्र सर्वज्ञवैद्यस्य सर्वशल्यापहारिणः ।
वाक्यमुल्लङ्घयामीति धिङ् मामत्यन्तमोहितम् ।। ५७ ।।

कायिकमानसिकानेकशल्योद्धारिणः आत्मानं जुगुप्सते । धिङ् [P 70] मामत्यन्तमोहितमिति । एवं जानन्नपि यदि तथागताज्ञाया वैमुख्यमासेवे, तदा मम मोहस्य पर्यन्तो नास्ति । कुत्सनीयोऽस्मीत्यर्थः ।। ५७ ।।

किं पुनरेवम् ? इत्याह—

* अत्यप्रमत्तस्तिष्ठामि प्रपातेष्वितरेष्वपि ।
किमु योजनसाहस्रे प्रपाते दीर्घकालिके ।। ५८ ।।

पर्वतादिप्रपातेषु अल्पतरेषु यत्रास्थिभङ्गमात्रं मरणमात्रं वा दुःखं स्यात् । किमु योजनसाहस्र इति । योजनसहस्रं परिमाणमस्य (पा० सू० ५. १. २७) इत्यण् । अनेकयोजनसहस्रपरिमाणे अवीच्यादिकप्रपाते इत्यर्थः । दीर्घकालिक इति यत्रान्तरकल्पादिभिरायुषः क्षयः ।। ५८ ।।

सद्यो मरणमदृष्ट्वैव किमकाण्डे कातरतया सुखासिकां जहासि ? इत्याह—

* अद्यैव मरणं नैति न युक्ता मे सुखासिका ।
अवश्यमेति सा वेला न भविष्याम्यहं यदा ।। ५९ ।।

अवश्यमिति निश्चितमेतत् ।। ५९ ।।

---

५७. ऐसा होने पर भी, सब व्याधियों के नाशक सर्वज्ञ वैद्य के उपदेश का मैं उल्लङ्घन कर रहा हूँ (अतः) मुझ महामूढ को धिक्कार है ! ।।

५८. जब मैं छोटे-छोटे प्रपातों (=पतन-स्थलों) से अत्यन्त सावधान रहता हूं तो हजारों योजन गहरे प्रपात (अवीचि नरक) से, जहाँ चिरकाल रहना पड़ेगा, सावधान रहने की तो बात ही क्या ! ।।

५९. 'आज ही तो मृत्यु आ नहीं रही'—यह सोचकर मेरा आराम से बैठना ठीक नहीं लगता । क्या पता बहुत शीघ्र वह समय भी आ जाय जब मैं नहीं रहूँगा ।

तथापि भयमयुक्तमित्याह--

* अभयं केन मे दत्तं निःसरिष्यामि वा कथम् ।
अवश्यं न भविष्यामि कस्मान्मे सुस्थितं मनः ।। ६० ।।

[P 71] **अभयं** मा भैरिति **केन** सत्पुरुषेण **मम दत्तं** येन निर्भयो विहरिष्यामीति भावः । यदि वा निःसरणोपायोऽपि यदि भवेत्, तथापि भयमयुक्तम् । तदपि नास्ति । **निःसरिष्यामि वा कथं** ततो दुःखात् । **अवश्यं न भविष्यामीति** । सर्वजीवितं मरणपर्यवसानमित्युक्तं भगवता ।। ६० ।।

इत्थमपि न युक्ता मे सुखासिकेत्याह—

* पूर्वानुभूतनष्टेभ्यः किं मे सारमवस्थितम् !
येषु मेऽभिनिविष्टेन गुरूणां लङ्घितं वचः ।। ६१ ।।

अभिनिविष्टेनेति आसक्तेन । **गुरूणामिति** बुद्धबोधिसत्त्वकल्याणमित्राणाम् ।। ६१ ।।

तस्मादिदमहर्निशं मम मनसि कर्तुमुचितमित्याह—

* जीवलोकमिमं त्यक्त्वा बन्धून् परिचिताँस्तथा ।
एकाकी क्वापि यास्यामि किं मे सर्वैः प्रियाप्रियैः ।। ६२ ।।

जीवलोमं सत्त्वलोकम्, **इमं** मनुष्यादिसभागतालक्षणम् । **एकाकीति** असहायः । **क्वापीत्य**निश्चितस्थानम् ।। ६२ ।।

* इयमेव तु मे चिन्ता युक्ता रात्रिन्दिवं तदा ।
अशुभान्नियतं दुःखं निःसरेयं ततः कथम् ! ।। ६३ ।।

[P 72] **अशुभादिति** । अकुशलात् कर्मणः । **तत** इत्यशुभात् ।। ६३ ।।

---

६०. किसी ने मुझको अभयदान तो दे नहीं रखा, फिर मेरा छुटकारा कैसे होगा ! अवश्य मैं एक दिन नहीं रहूँगा, फिर भी मैं निश्चिन्त क्यों बैठा हूँ ! ।।

६१. पहले अनुभव की गयी वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर मेरे पास अब बचा ही क्या है कि जिसमें आसक्त हो मैने गुरु के उपदेशों का उल्लङ्घन किया ! ।।

६२. ये जगत् के प्राणी, ये भाई-बन्धु, ये परिचित स्नेही--सभी को छोड़ कर मुझे अकेले कहीं जाना पड़ेगा । फिर इन दोस्त-दुश्मनों से मेरा लेना-देना क्या ! ।।

६३. मुझे तो रात-दिन यही चिन्तन करना चाहिये कि निश्चित दुःखदायी पापों से कैसे छुटकारा पाऊँ ! ।।

साम्प्रतं कृतकर्मफलसम्वन्धनिश्चयो महताभिनिवेशेन पुनरत्ययदेशनामारभत इत्याह—

* मया बालेन मूढेन यत्किञ्चित्पापमाचितम् ।
प्रकृत्या यच्च सावद्यं प्रज्ञप्त्यावद्यमेव च ॥ ६४ ॥
* तत्सर्वं देशयाम्येष नाथानामग्रतः स्थितः ।
कृताञ्जलिर्दुःखभीतः प्रणिपत्य पुनः पुनः ॥ ६५ ॥
* अत्ययमत्ययत्वेन प्रतिगृह्णन्तु नायकाः ।

बालेनेति अजानता । **मूढेनेति** मोहान्धेन । **यत्किञ्चिदिति** कायेन वाचा मनसा वा । **प्रकृतिसावद्यं** प्राणातिपातादिदशाकुशलस्वभावम् । **प्रज्ञप्तिसावद्यं** यद् भगवता गृहीतसंवराणामेव प्रज्ञप्तमकालभोजनादिरूपम् ॥ ६४ ॥

देशयामीति वाग्विज्ञप्तिमुत्थापयति । **कृताञ्जलिरिति** कायविज्ञप्तिः । **प्रणिपत्य पुनःपुनरिति** अतिशयवच्चित्तसंवेगमुपदर्शयति ॥ ६५ ॥

अति यतत्यनेन नरकादिषु इति **अत्ययः**, अशुभं कर्म । **तमत्ययत्वेन** दोषत्वेन **प्रतिगृह्णन्तु** जानन्तु पश्यन्तु विदन्तु व्यक्तीकृतं मया । अनावरणचित्तेन, न प्रच्छादना अत्र ममास्तीति भावः ॥

पुनः स्खलितशङ्कामपाकर्तुं पुनरकरुणसंवरं कुर्वन्नाह—

* अभद्रकमिदं[1] नाथा न कर्तव्यं पुनर्मया ॥ ६६ ॥

यदार्यकान्तं विज्ञप्रशस्तं न भवति तद**भद्रकं** गर्हितम्, अनार्यं कर्मेत्युच्यते । तदद्यप्रभृति जानता पश्यता बुद्धिपूर्वकं सञ्चिन्त्य **पुनर्मया न कर्तव्यम्** । आयत्यां पुनरकरणसंवरमापत्स्ये इत्यर्थः । एतच्च **त्रिस्कन्धप्रवर्तनप्रस्तावे** (बोधि० ५. ९८-९९) व्यक्तीकरिष्यते ॥ ६६ ॥

इति प्रज्ञाकरमतिविरचितायां वोधिचिर्यावतारपञ्जिकायां
पापदेशना नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥

६४-६५. स्वभाव से निन्दनीय जो भी दुष्कर्म हैं, जैसे—हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य भाषण आदि; और व्रत ग्रहण कर उसे भङ्ग करने के कारण निन्दनीय दुष्कर्म, जैसे—विकाल भोजन, कामिनी-काञ्चन-परिग्रह आदि पाप कमाये । उन पापों के कारण हुए दुःख से घबरा कर मैं तथागत के सामने हाथ जोड़कर उनके लिये पश्चात्ताप करता हूँ ॥

६६. हे स्वामिन् ! मेरे अपराधों को अपराध के रूप में ही स्वीकार करो । हे मालिक ! अब मैं फिर कभी पतन की ओर ले जाने वाले ये पाप नहीं करूँगा ॥

---

१. न भद्रकम्—मु० पा० ।

३. बोधिचित्तपरिग्रहः

(तृतीयः परिच्छेदः)

पुण्यानुमोदना

[P 74] अधुना पापदेशनानन्तरं पुण्यानुमोदनामाह—

* अपायदुःखविश्रामं सर्वसत्त्वैः कृतं शुभम् ।
अनुमोदे [1]प्रसादेन सुखं तिष्ठन्तु दुःखिताः ॥ १ ॥

नरकादिगतौ दुःखमनुभवन्तो हि परिश्रान्ताः सुकृतविपाकमधिगम्य प्रतिलब्धसुखा विश्राम्यन्ति कियत्कालम् । **अनुमोदे प्रसादेन** इति संप्रहर्षयामि प्रसन्नचित्तः । अनुमोदनापि त्रिविधा—मनसा, कायेन, वाचा च । तत्र प्रसन्नचित्तः सम्प्रहर्षयति मनसा, कायेन रोमहर्षाश्रुपातगात्रकम्पादिकमनु-
[P 75] भवन्, वाचा च सम्प्रहृष्टचेतनः तथाविधामेव वाचमुच्चारयन्, साधु कृतं भद्रकं कृतमिति । **सुखं तिष्ठन्तु दुःखिता** इति यदर्थं तैस्तत्कर्म कृतम्, तदपि तेषां समृध्यतु इति भावः ॥ १ ॥

लौकिकं कर्मानुमोद्य लोकोत्तरमनुमोदमानः प्राह—

* संसारदुःखनिर्मोक्षमनुमोदे शरीरिणाम् ।
बोधिसत्त्वत्वबुद्धत्वमनुमोदे च तायिनाम् ॥ २ ॥

दुःखनिर्मोक्षमिति श्रावकबोधिः, प्रत्येकबुद्धबोधिर्वा । चित्तं वा तदर्थमुत्पादितं तथोच्यते । तदा बोधित्रयमपि तद्ग्राहः । **शरीरिणामिति** प्राणिनाम् । **बोधिसत्त्वत्वबुद्धत्वमिति** बोधिसत्त्वत्वं भगवतां हेत्ववस्थाम्, बुद्धत्वं फलावस्थामिति । **तायिनामिति** स्वाधिगतमार्गदेशकानाम् । यदुक्तम्—'तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः' इति । तद्विद्यते येषामिति । अथवा—तायः सन्तानार्थः आसंसारमप्रतिष्ठितनिर्वाणतयावस्थायिनाम् ॥ २ ॥

---

१. मैं हर्षपूर्वक, दुर्गति-दुःख से विरति एवं सभी प्राणियों द्वारा किये गये पुण्य का अनुदोदन करता हूँ ॥

२. और सांसारिक दुःखों से प्राणियों की मुक्ति एवं सन्तों की बोधिसत्त्वता और बुद्धता का अनुमोदन करता हूँ ॥

---

१. प्रमोदेन—मु० पा० ।

बोधिसत्त्वानां पुण्यानुमोदनां कुर्वन्नाह--

* चित्तोत्पादसमुद्रांश्च सर्वसत्त्वसुखावहान् ।
सर्वसत्त्वहिताधानाननुमोदे च शासिनाम् ।। ३ ।।

चित्तोत्पादाः प्रतिक्षणभाविनोऽपर्यन्तागाधतया **समुद्रा** इव समुद्राः तान् । [p 76] किंभूतान् ? **सर्वसत्त्वसुखावहान्** सर्वसत्त्वानां सुखमावहन्तीति तद्रसैकनिम्नस्वभावानित्यर्थः । **सर्वसत्त्वहिताधानानिति** हितविधायकान् । **शासिनामिति** । शासनं शासः बुद्धत्वोपायाभ्यासः, तदर्थत्वादुपचारात् । तद्विद्यते येषामिति शासिनो बोधिसत्त्वाः । तदुक्तम्--

"उपायाभ्यास एवायं तादर्थ्याच्छासनं मतम्" । इति ।।

अथवा-शासितुं शीलं येषामिति शासिनः । बोधिसत्त्वा हि दानादिभिः संग्रहवस्तुभिः सत्त्वान् संगृह्य सन्मार्गेऽवतारयन्ति ।। ३ ।।

एतावता अनुमोदना कथिता ।।

अध्येषणा

अध्येषणां कथयन्नाह —

* सर्वासु दिक्षु सम्बुद्धान् प्रार्थयामि कृताञ्जलिः ।
धर्मप्रदीपं कुर्वन्तु मोहाद् दुःखप्रपातिनाम् ।। ४ ।।

धर्मप्रदीपं कुर्वन्त्विति अज्ञानतमोवृत्तानां सत्त्वानां मार्गामार्गविशेषपरिज्ञानविकलानां धर्मदेशनात्मकमालोकं कुर्वन्तु ।। ४ ।।

एतावता अध्येषणा कथिता ।।

याचना

याचनामुपदर्शयन्नाह—

* निर्वातुकामांश्च जिनान् याचयामि कृताञ्जलिः ।
कल्पाननन्तांस्तिष्ठन्तु मा भूदन्धमिदं जगत् ।। ५ ।।

---

३. इसी तरह सभी बोधिसत्त्वों के प्राणियों को सुखदायक एवं हितकारक चित्तोत्पाद-सागरों का अनुमोदन करता हूँ ।।

४. मैं सभी दिशाओं में मौजूद सम्बुद्धों से करबद्ध निवेदन करता हूँ कि वे मोहवश दुःखमग्न प्राणियों के हितार्थ धर्मदीप का प्रकाश करते रहें ।।

५. निर्वाणाभिमुख बुद्धों से मैं हाथ जोड़कर निवेदन करता हूँ कि वे अनन्त कल्पों तक स्थित रहें, ताकि जगत् अन्धकारावृत न हो ।।

कृतकृत्यतया परिनिर्वाणं गन्तुमनसः। अपर्यन्तकल्पान् स्थितये **याचयामि। मा भूदन्धमिति** पूर्ववन्मार्गाज्ञाननिश्चेतनं मा भूत्। अनेनापि [P 77] याचना प्रोक्ता ॥ ५ ॥

परिणामना

याचनानन्तरमिदानीं परिणामनामाह—

* एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ॥ ६ ॥

एवमुक्तक्रमेण सर्वमिदं पूजापापदेशनापुण्यानुमोदनादि **कृत्वा** विधाय **यन्मया आसादितं** प्राप्तं **शुभं** सुकृतं **तेन शुभेन स्यां** भवेयं **सर्वसत्त्वानां** समस्तप्राणभृतां **सर्वदुःखप्रशान्तिकृदिति** निःशेषव्यसनप्रशमनसमर्थो भवेयम् ॥ ६ ॥

इति सामान्येन परिणमय्य पुनर्विशेषेणाह—

* ग्लानानामस्मि भैषज्यं भवेयं वैद्य एव च।
तदुपस्थायकश्चैव यावद्रोगापुनर्भवः ॥ ७ ॥

तेनेति सर्वत्र यथायोगं सम्बन्धनीयम्। **ग्लानानामिति**। व्याधिपीडितानाम्। **भैषज्यमिति**। औषधम्। **वैद्यश्चिकित्सकः। तदुपस्थायकः** तस्य ग्लानस्य परिचारकः। **रोगापुनर्भव** इति यावद् व्याधिनिवृत्तिः स्यात् ॥ ७ ॥

* क्षुत्पिपासाव्यथां हन्यामन्नपानप्रवर्षणैः। [P 78]
दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु भवेयं पानभोजनम् ॥ ८ ॥

क्षुद् बुभुक्षा। **पिपासा** तृष्णा। **तयोर्व्यथा,** ताभ्यां वा व्यथा। **तां हन्यां** निवर्तयम्। **अन्नपानप्रवर्षणैः** प्रबन्धाहारपानसम्पादनैः। **दुर्भिक्षान्तरकल्पेष्विति।**

"कल्पस्य शस्त्ररोगाभ्यां दुर्भिक्षेण च निर्गमः"। इति ॥

तत्र दशवर्षायुषि प्रजायामन्तरकल्पपर्यन्ते दुर्भिक्षेण संवर्तः प्रादुर्भवति वर्षान् सप्त, मासान् सप्त, दिवसानपि सप्तैव। यदुक्तम्—

---

६. इस तरह उपर्युक्त यह सब (कुशल कर्म) करके जो मैंने पुण्यार्जन किया है उससे मैं सब प्राणियों के सभी दुःखों का प्रशामक बनूँ ॥

७. रोगियों के लिये जब तक (उनकी) व्याधि दूर न हो औषध, वैदय एवं परिचारक बना रहू ॥

८. मैं अन्न-जल की वर्षा कर प्राणियों की भूख-प्यास का दर्द मिटाऊँ तथा महायुद्ध या महामारी के कारण होने वाले दुर्भिक्षान्त्तरकल्पों में उनके लिये पान-भोजन बनूँ ॥

"कल्पस्य शस्त्ररोगाभ्यां दुर्भिक्षेण विनिर्गमः ।
दिवसान् सप्त मासांश्च वर्षांश्चैव यथाक्रमम्" ॥ इति ।

तत्र अन्नपानाभावादन्योन्यमांसास्थिभक्षणमेव आहारः । तदपि केचिदलभमाना आहारवैकल्याच्च म्रियन्ते । तत्र **भवेयं पानभोजनम्** ॥८॥

* दरिद्राणां च सत्त्वानां निधिः स्यामहमक्षयः ।
नानोपकरणाकारैरुपतिष्ठेयमग्रतः ॥ ९ ॥

दरिद्राणामिति धनविकलानाम् । **अक्षय** इति आकृष्यमाण- [P 79] धनोऽपि यो न क्षीयते । **नानोपकरणाकारैरिति** शयनासनवसनभोजनाभरण-विलेपनप्रभृति यद्यदभिलषन्ति सत्त्वाः, तैस्तैरुपकरणविशेषाकारैः अहमेव **उपतिष्ठेयं** प्रत्युपस्थितो भवेयम् । तेषां दरिद्राणां सत्त्वानामग्रतः पुरतः ।

इदं च परिणामनमार्य**वज्रध्वजसूत्रे** विस्तरेण प्रतिपादितम् । तत्रेद-मुक्तम्—"स तानि कुशलमूलानि परिणामयन् एवं परिणामयति—अनेनाहं कुशलमूलेन सर्वसत्त्वानां लयनं भवेयं सर्वदुःखस्कन्धविनिवर्तनतया । सर्व-सत्त्वानां त्राणं भवेयं सर्वक्लेशपरिमोचनतया । सर्वसत्त्वानां शरणं भवेयं सर्वभयाद्रक्षणतया । सर्वसत्त्वानां गतिर्भवेयं सर्वभूम्यनुगमनतया । सर्व-सत्त्वानां परायणं भवेयमत्यन्तयोगक्षेमप्रतिलम्भनतया । सर्वसत्त्वानामालोको भवेयं वितिमिरज्ञानसन्दर्शनतया । सर्वसत्त्वानामुल्का भवेयमविद्यातमोऽन्ध-कारविनिवर्तनतया" । इत्यादि विस्तरः । इदमुक्त्वा पुनरिदमाह—"तत्राध्या-शयतः परिणमयति न वचनमात्रेण । तच्चोदग्रचित्तः परिणमयति । हृष्ट-चित्तः परिणमयति । प्रसन्नचित्तः परिणमयति । प्रमुदितचित्तः स्निग्धचित्तः परिणमयति । मैत्रचित्तः, प्रेमचित्तः, अनुग्रहचित्तः, हितचित्तः, सुखचित्तः परिणमयति" । इति विस्तरः ॥ ९ ॥

इदानीमात्मभावादिपरित्यागं कुर्वन्नाह— [P 80]

* आत्मभावाँस्तथा भोगान् सर्वत्र्यध्वगतं शुभम् ।
निरपेक्षस्त्यजाम्येष सर्वसत्त्वार्थसिद्धये ॥ १० ॥

---

९. हीन जनों के लिये मैं अक्षय कोश के रूप में सहायक बनूँ एवं नाना प्रकार के साधन लेकर उनके सम्मुख उपस्थित रहूँ ॥

१०. मैं अनासक्त रूप से, सब प्राणियों के हित-साधन के निमित्त, अपने शरीर और अतीत अनागत एवं वर्तमान पुण्यों का त्याग करता हूँ ॥

आत्मभावानिति। सर्वगतिच्युत्युपपत्तिषु सर्वकायान्। **निरपेक्षः सर्व**-प्रकारेण निरासङ्ग इत्यर्थः। **त्यजामि** उत्सृजामि। ददामीत्यर्थः। **भोगानिति**। उपभोग्यवस्तूनि हयगजरथप्रासादाद्याश्रयस्रक्चन्दनवस्त्राभरणकन्यादीनि। **सर्वत्र्यध्वगतं शुभमिति**। सर्वत्रैधातुकसंगृहीतं पुण्यानेञ्ज्यस्वभावम्। यदि वा दानशीलादिप्रसूतं भावनामयं च। त्र्यध्वगतम् अतीतानागतप्रत्युत्पन्नम्। [P 81] स्यादेतत्, अनागतस्य असत्स्वभावस्य कोऽयमुत्सर्गो नाम ? सत्यम्; किन्तु तत्सम्भवकाले तत्रासङ्गनिवारणार्थमेवमुच्यते, इदानीमेव तत्परित्यागात्, आशयस्य विशुद्धिवर्धनार्थं च। एतदेवाह--**निरपेक्ष इति**। तद्विपाकस्य स्वार्थेऽनपेक्षः। किमर्थमेवमनुष्ठीयते ? इत्याह--**सर्वसत्त्वार्थसिद्धये इति**। सर्वसत्त्वानां त्रैधातुकवर्तिनामभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणार्थनिष्पत्तये।

अतीतानागतशुभोत्सर्गस्तु **आर्यक्षयमतिसूत्रे**ऽभिहितः। यदुक्तम्--"कुशलानां च चित्तचैतसिकानामनुस्मृतिः, अनुस्मृत्य च बोधिपरिणामना—इदमतीतकौशल्यम्। या अनागतानां कुशलमूलानां निध्यप्तिर्बोधेरामुखीकर्मसमन्वाहारः, ये ये उत्पत्स्यन्ते कुशलाश्चित्तोत्पादाः,ताननुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ परिणामयिष्यामि--इदमनागतकौशल्यम्। इति विस्तरः। सर्वत्यागाधिमुक्तिं परिपूर्य परित्यागचित्तवेगात् तेन कायप्रयोगेण उत्सृष्टसर्वपरिग्रहः। सर्वपरिग्रहमूलाद्भवदुःखाद्विमुक्तो मुक्त इत्युच्यते इति विस्तरः" ॥ १० ॥

ननु च आत्मार्थमपि किञ्चिद्रक्षितुमुचितमिति मात्सर्यं निराकुर्वन्नाह–

* सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मनः।
त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयताम् ॥ ११ ॥

[P 82] सर्वेषां सास्रवात्मभावादीनां **त्यागः निर्वाणं** मोक्षः। **तदर्थि च मे मनः**, तदर्थि च मम चित्तम्। **त्यक्तव्यं चेदिति**। निर्वाणसमये यदि **सर्वम्**आत्मभावादि अवश्यं परित्यज्य यातव्यं मया, तदा **वरं सत्त्वेषु दीयताम्**, किमनेन मात्सर्यहेतुना विधृतेनेति भावः ॥ ११ ॥

---

११. सब कुछ का त्याग ही निर्वाण है, और मेरा चित्त निर्वाण के लिये व्याकुल है। मुझे यदि सब कुछ उत्सर्ग करना ही है तो यही अच्छा होगा वह उत्सर्ग उन प्राणियों के निमित्त कर दूँ ॥

तस्मादिदमिहानुरूपमित्याह—

* यश्चासुखीकृतश्चात्मा मयायं सर्वदेहिनाम् ।

यथाकामङ्गमकारितायां नियुक्तो मयाऽयमात्मा कायः । सर्वदेहिनां सर्वसत्त्वानां कृते । एतदेव दर्शयन्नाह—

* घ्नन्तु निन्दन्तु वा नित्यमाकिरन्तु च पांसुभिः ॥ १२ ॥

* क्रीडन्तु मम कायेन हसन्तु विलसन्तु च ।
दत्तस्तेभ्यो मया कायश्चिन्तया किं ममानया ! ॥ १३ ॥

* कारयन्तु च कर्माणि यानि तेषां सुखावहम् ।

दण्डादिभिस्ताडयन्तु वा, अवर्णवादैर्जुगुप्सन्तु, आकिरन्तु च पांसुभिः, धूलिभिरवकिरन्तु । दत्तस्तेभ्यो मया काय इति, सर्वः सर्वेण मया तेषां परित्यक्तः, किं मम समविषमचिन्तया ! कारयन्तु कर्माणीति अनवद्यानि ॥

एतदेवाह—

* अनर्थः कस्यचिन्मा भून्मामालम्ब्य कदाचन ॥ १४ ॥

अनिष्टं कस्यचित् प्राणिनो मा भूत, मामाश्रित्य कदाचन, इह परत्र वा ॥ १४ ॥

* येषां क्रुद्धाऽप्रसन्ना वा मामालम्ब्य मतिर्भवेत् । [P 83]
तेषां स एव हेतुः स्यान्नित्यं सर्वार्थसिद्धये ॥ १५ ॥

येषां क्रुद्धा येषामप्रसन्ना वा मतिश्चित्तं भवेत्, तेषां क्रुद्धाप्रसन्नमतीनां

---

१२. सब देहधारियों को जिस तरह सुख मिले उस तरह मैंने अपने शरीर का उन के लिये उत्सर्ग कर दिया है । अब वे चाहें तो इसकी हत्या करें, निन्दा करें या इसपर धूल फेंकें ॥

१३. वे चाहें तो इस शरीर से खेलें या विलास करें, मुझे इस की कोई चिन्ता नहीं; क्योंकि मैंने तो यह शरीर उन्हें दे ही डाला ॥

१४. जिन जिन कार्यों से उन्हें सुख मिले वे वे कार्य मेरे इस शरीर से करावें । मैं तो इतना ही चाहता हूं कि मेरे इस शरीर से उनका कोई अहित न हो ॥

१५. मेरे कारण जिनका मन क्रुद्ध या दुःखित हो, उनके लिये वही सर्वार्थ-सिद्धि का कारण बने ॥

स एव हेतुः स्यात्, क्रुद्धा अप्रसन्ना मतिरेव। पुंस्त्वं तु तच्छब्दस्य हेतुसमानाधिकरणतया। **सर्वार्थसिद्धय** इति। आत्मपराभ्युदयनिःश्रेयसनिष्पत्तये ॥१५॥

* अभ्याख्यास्यन्ति मां ये च ये चान्येऽप्यपकारिणः।
उत्प्रासकास्तथान्येऽपि सर्वे स्युर्बोधिभागिनः॥ १६॥

अभ्याख्यास्यन्ति इति। मिथ्यारोपितदोषेण दूषयिष्यन्ति। **अन्येऽपि ये** कायिकं मानसिकं वा **अपकारं** करिष्यन्ति। **उत्प्रासका** इति उपहासकाः, विडम्बकारिणो वा। तथा **अन्येऽपि** उदासीनाः प्रसन्नाश्च। **सर्वे** भवेयुर्बुद्धत्वलाभिनः।

* अनाथानामहं नाथः सार्थवाहश्च यायिनाम्।
पारेप्सूनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च॥ १७॥

अनाथानामिति। सान्नाय्यान्वेषिणाम्। **सार्थवाहश्च यायिनामिति**। सार्थ- [P 84] मुख्यो मार्गप्रपन्नानाम्। **पारेप्सूनामिति**। नद्यादीनां पारिमकूलं गन्तुकामानाम्॥ १७॥

* दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम्।
दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम्॥ १८॥

दीपार्थिनामिति। अन्धकारावस्थितानाम्। **शय्यार्थिनामिति**। शयनाभिलाषिणाम्। **दासार्थिनामिति**। उपस्थानार्थं ये भृत्यकर्मकरादीनिच्छन्ति॥

* चिन्तामणिर्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधिः।
भवेयं कल्पवृक्षश्च कामधेनुश्च देहिनाम्॥ १९॥

चिन्तामणिरिति। चिन्तितफलदाता रत्नविशेषः। **भद्रघट इति**। यद्यद्वस्तु अभिलषितमभिसन्धाय अस्मिन् हस्तं प्रक्षिपेत्, तत्सर्वं सम्पद्यते।

---

१६. जो मेरे निन्दक हों, या अपकारी हों, या उपहासकर्ता हों, वे भी सब बोधि प्राप्त करें॥

१७. मैं अनाथों का सहारा बनूँ और निर्वाण यात्रियों का मार्गदर्शक तथा पार जाना चाहने वालों के लिये नौका और बेडा (पुल) बनूँ॥

१८. प्रकाश चाहने वालों के लिये दीप बनूँ, शय्या चाहने वालों के लिये शय्या (खाट), तथा दास (सेवक) चाहने वालों के लिये मैं उनका दास बनूँ॥

१९. अर्थ (धन) चाहते वालों के लिये चिन्तामणि रत्न, भद्रघट, (यथेच्छ फलदाता घट), सिद्धमन्त्र, सर्वव्याधिनायक औषधि, कल्पवृक्ष, और कामधेनु (गौ) रूप सभी मनोकामनाएँ पूर्ण करने वाला बनूँ॥

सिद्धविद्येति सिद्धमन्त्रः। यद्यत्कर्म तया क्रियते, तत्सर्वं सिध्यति। **महौषधिरिति** यदेकैव सर्वोपद्रवपीडाप्रशमनहेतुः। **कल्पवृक्षश्चेति** कल्पितार्थसम्पादको वृक्षविशेषः। **कामधेनुश्चेति**। वाञ्छितदोहं दुह्यते ॥ १९ ॥

* पृथिव्यादीनि भूतानि निःशेषाकाशवासिनाम्।
सत्त्वानामप्रमेयाणां यथाभोगान्यनेकधा ॥ २० ॥

* एवमाकाशनिष्ठस्य सत्त्वधातोरनेकधा। [p 85]
भवेयमुपजीव्योऽहं यावत् सर्वे न निर्वृताः ॥ २१ ॥

पृथिव्यादीनीति पृथिवी वसुन्धरा, आदिशब्दादापस्तेजो वायुरिति चत्वारि महाभूतानि। तानि यथा शयनाशनसस्यफलमूलाद्याधारतया, तथा यानावगाहनादिहेतुतया। एवमन्यत्रापि योज्यम्। अनन्ताकाशधातुव्यापिनामसंख्यानां **सत्त्वानां** परिभोगमुपयन्ति; एवमेव अहमपि सर्वसत्त्वानामनेकप्रकारेण उपभोग्यो भवेयम्। **यावत् सर्वे न निर्वृताः**। इति यावत् सर्वे न संसारदुःखविनिर्मुक्ताः ॥

तस्मादेषामात्मभावादीनामुत्सर्गः कार्यो बोध्यर्थिना। एतच्च दानमतिविस्तरेण **शिक्षासमुच्चये** प्रदर्शितम्। तद्यथा तत्रैव **बोधिसत्त्वप्रातिमोक्षे** कथितम्—

"पुनरपरं, शारिपुत्र, बोधिसत्त्वः सर्वधर्मेषु परकीयसंज्ञामुत्पादयति, न कञ्चिद्भावमुपादत्ते, तत्कस्य हेतोः ? उपादानं हि भयमिति"।

इदमुक्त्वा तत्रैव पुनरिदमुक्तम्—

"तथा चित्तशूराः खलु पुनः, शारिपुत्र, बोधिसत्त्वा भवन्ति। यावत् स्वहस्तपरित्यागी भवति, पादपरित्यागी, नासापरित्यागी, शीर्षपरित्यागी, अङ्गप्रत्यङ्गपरित्यागी, यावत् सर्वस्वपरित्यागी" इति ॥

एवं **नारायणपरिपृच्छायामप्यभिहितम्**—"न तद्वस्तु उपादातव्यं यस्मिन् वस्तुनि नास्य त्यागचित्तमुत्पद्येत, न त्यागबुद्धिः क्रमेत", [P86] इति, यावत् "अपि तु खलु पुनः, कुलपुत्र, बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन एवं

---

२० जैसे अनन्त आकाशपर्यन्तव्यापी असंख्य प्राणियों के पृथ्वी आदि महाभूत नाना प्रकार से भोग्य होते हैं ॥

२१. उसी प्रकार, इन आकाशपर्यन्त वासी प्राणियों का तब तक हर तरह सहारा बना रहू जब तक वे सभी निर्वाण प्राप्त न कर लें ॥

चित्तमुत्पादयितव्यम्—'अयं ममात्मभावः सर्वसत्त्वेभ्य उत्सृष्टः परित्यक्तः, प्रागेव बाह्यानि वस्तूनि'। इति विस्तरः" ॥

तथा आर्याक्षयमतिसूत्रेऽपि देशितम्—"अयं मया कायः सर्वसत्त्वानां किङ्करणीयेषु क्षपितव्यः। तद्यथा इमानि चत्वारि महाभूतानि पृथिवीधातुरब्धातुस्तेजोधातुर्वायुर्धातुश्च नानासुखैः नानापर्यायैः नानारम्बणैः नानोपकरणैः नानापरिभोगैः सत्त्वानामुपभोगं गच्छन्ति; एवमेव अहमिमं चतुर्महाभूतसमुच्छ्रयं कायं नानासुखैः नानापर्यायैः नानारम्बणैः नानोपकरणैः नानापरिभोगैर्विस्तरेण सर्वसत्त्वानामुपजीव्यं करिष्यामीति विस्तरः" ॥

तच्चित्तरत्नेत्यारभ्य [बो० च० २. १] सर्वमिदं पूर्वकं बोधिचित्तसंवरग्रहणाय प्रयोगो वेदितव्यः। तदेवं पूजादि विधाय, आत्मभावादिदानमुत्सृज्य, प्रतिपन्नबोधिचित्तानुशंसः क्षणसम्पदं परमदुर्लभामवेत्य, श्रद्धामूलं दृढमुपस्थाप्य, सत्त्वानत्राणानपरायणान् करुणायमानः स्वसुखनिरपेक्षः परदुःखदुःखी तत्समुद्धरणाशयाभिप्रायो बुद्धत्वमेव तदुपायं समुत्पश्यन् तत्र बद्धसन्नाहः—

यदात्मनः परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम्। [P 87]
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम् ॥ इति।
(शि० स०, का १)

तेन आत्मनः सत्त्वधातोश्च—

दुःखान्तं कर्तुकामेन सुखान्तं गन्तुमिच्छता।
श्रद्धामूलं दृढीकृत्य बोधौ कार्या मतिर्दृढा ॥ इति ॥
(शि० स०, का० २) ॥ २१ ॥

सम्यक्सम्बोधिचित्तोत्पादः

सम्यक्सम्बोधिचित्तमुत्पादयितुमुपक्रमते—

* यथा गृहीतं सुगतैर्बोधिचित्तं पुरातनैः।
ते बोधिसत्त्वशिक्षायामानुपूर्व्या यथा स्थिताः ॥ २२ ॥

येनाशयेन सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रहाणार्थम्। यदि वा यथा गृहीतं तदेव भगवन्तो जानन्ति। बोधिचित्तमिति बोधिर्बुद्धत्वं सर्वावरणप्रहाणात् सर्वधर्मनिःस्वभावताधिगमः। एतच्च सप्रचयं प्रज्ञापरिच्छेदे वक्ष्यामः। तत्र चित्त-

---

२२-२३. जैसे पहले के बुद्धों ने बोधिचित्त का ग्रहण किया, जैसे उन्होंने

मध्याशयेन तत्प्राप्तये मनसिकारः—बुद्धो भवेयं सर्वसत्त्वहितसुख- [P 44] सम्पादनायेत्यर्थः ॥

इति पूर्वार्धेन बोधिचित्तोत्पादं प्रतिपाद्य शिक्षासंवरग्रहणं प्रतिपादयन्नाह—ते बोधिसत्त्वेत्यादि। बोधिसत्त्वशिक्षा यदुत्पादितबोधिचित्तेन बोधिसत्त्वेन सदा करणीयम्, तत्रेत्यर्थः। आनुपूर्वीति अनु[1]...... ...... ॥ २२ ॥

* तद्वदुत्पादयाम्येष बोधिचित्तं जगद्धिते।
तद्वदेव च ताः शिक्षाः शिक्षिष्यामि यथाक्रमम् ॥ २३ ॥

* एवं गृहीत्वा मतिमान् बोधिचित्तं प्रसादतः।
पुनः पुष्टस्य पुष्टचर्थं चित्तमेवं प्रहर्षयेत् ॥ २४ ॥

* अद्य मे सफलं जन्म सुलब्धो मानुषो भवः।
अद्य बुद्धकुले जातो बुद्धपुत्रोऽस्मि साम्प्रतम् ॥ २५ ॥

* तथाधुना मया कार्यं स्वकुलोचितकारिणाम्।
निर्मलस्य कुलस्यास्य कलङ्को न भवेद् यथा ॥ २६ ॥

* अन्धः सङ्कारकूटेभ्यो यथा रत्नमवाप्नुयात्।
तथा कथञ्चिदप्येतद् बोधिचित्तं ममोदितम् ॥ २७ ॥

* जगन्मृत्युविनाशाय जातमेतद् रसायनम्।
जगद्दारिद्रचशमनं निधानमिदमक्षयम् ॥ २८ ॥

क्रमशः बोधिसत्त्व-शिक्षा का पालन किया; वैसे ही जगद्धित के लिये मैं भी बोधिचित्त उत्पन्न कर उसी क्रम से उन शिक्षाओं का ग्रहण करूँगा ॥

२४. फिर श्रद्धायुक्त बुद्धिमान् जिज्ञासु बोधिचित्त ग्रहण कर, पूर्व की पुष्टि के लिये स्वचित्त को यों प्रमुदित करे— ॥

२५. "आज मेरा जन्म सफल हुआ, आज मेरा मानव शरीर कृतार्थ हुआ कि बुद्धकुल में मेरा जन्म हुआ है। अब मैं बुद्धपुत्र हूँ" ॥

२६. "अब मुझे अपने कुल के लिये कर्तव्यपरायण व्यक्तियों की भाँति ऐसी कार्यविधि अपनानी है जिससे मेरे कुल पर कोई कलङ्क न लगे" ॥

२७. "अन्धे को जैसे कूड़े के ढेर में रत्न मिल जाय, वैसे ही मुझ में यह बोधिचित्त जिस किसी प्रकार उदित हुआ है" ॥

२८. "यह बोधिचित्त जगत् की मृत्यु के नाश के लिये रसायन है और जगत् की दरिद्रता दूर करने वाली यह अक्षय निधि है" ॥

---

१. इतोऽग्रे चतुर्थपरिच्छेदस्य पञ्चचत्वारिंशत्कारिकापर्यन्तं पञ्जिका विनष्टा।

* जगद्व्याधिप्रशमनं भैषज्यमिदमुत्तमम् ।
भवाध्वभ्रमणश्रान्तजगद्विश्रामपादपः ॥ २९ ॥

* दुर्गत्युत्तरणे सेतुः सामान्यः सर्वयायिनाम् ।
जगत्क्लेशोपशमन उदितश्चित्तचन्द्रमाः ॥ ३० ॥

* जगदज्ञानतिमिरप्रोत्सारणमहारविः ।
सद्धर्मक्षीरमथनान्नवनीतं समुत्थितम् ॥ ३१ ॥

* सुखभोगबुभुक्षितस्य वा जनसार्थस्य भवाध्वचारिणः ।
सुखसत्त्रमिदं ह्युपस्थितं सकलाभ्यागतसत्त्वतर्पणम् ॥ ३२ ॥

* जगदद्य निमन्त्रितं मया सुगतत्वेन सुखेन चान्तरा ।
पुरतः खलु सर्वतायिनामभिनन्दन्तु सुरासुरादयः ॥ ३३ ॥

इति प्रज्ञाकरमतिविरचितायां बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां
बोधिचित्तपरिग्रहो नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥

---

२९. "यह जगत् की व्याधि शान्त करने वाली उत्तम औषध है और अब मार्ग में चक्कर लगाकर थके हुए प्राणियों के लिये यह विश्रामदायक छायावृक्ष है" ॥

३०. "सभी यात्रियों के लिये यह सुलभ सेतु है, जिससे दुर्गतियों का समुद्र पार किया जा सकता है। यह उदित हुआ बोधिचित्त चन्द्रमा जगत् के क्लेशताप को शान्त करने वाला है" ॥

३१. "जगत् के अज्ञानान्धकार का नाशक यह महासूर्य है। सद्धर्मरूपी दूध के मन्थन से निकला हुआ यह नवनीत है" ॥

३२. "भवमार्ग के यात्री, सुख-भोग के भूखे प्राणिसमूह के लिये सभी अतिथि-जनों को तृप्ति करने वाला यह ब्रह्मभोज सामने उपस्थित है" ॥

३३. "इस ब्रह्मभोज में मैं भवमार्ग के यात्री प्राणियों को सभी तथागतों के सामने निमन्त्रित करता हूं, देव-दानव आदि सभी मेरे इस निमन्त्रण का अभिनन्दन करें" ॥

४. बोधिचित्ताप्रमादः

(चतुर्थः परिच्छेदः)

शिक्षानतिक्रमे यत्नः कार्यः

* एवं गृहीत्वा सुदृढं बोधिचित्तं जिनात्मजः ।
शिक्षानतिक्रमे यत्नं कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ॥ १ ॥

* सहसा यत् समारब्धं सम्यग् यदविचारितम् ।
तत्र कुर्यान्न वेत्येवं प्रतिज्ञायापि युज्यते ॥ २ ॥

* विचारितं तु यद् बुद्धैर्महाप्राज्ञैश्च तत्सुतैः ।
मयापि च यथाशक्ति तत्र किं परिलम्ब्यते ॥ ३ ॥

* यदि चैवं प्रतिज्ञाय साधयेयं न कर्मणा ।
एतां सर्वां विसंवाद्य का गतिर्मे भविष्यति ॥ ४ ॥

* मनसा चिन्तयित्वापि यो न दद्यात् पुनर्नरः ।
स प्रेतो भवतीत्युक्तमल्पमात्रेऽपि वस्तुनि ॥ ५ ॥

* किमुतानुत्तरं सौख्यमुच्चैरुद्घुष्य भावतः ।
जगत् सर्वं विसंवाद्य का गतिर्मे भविष्यति ॥ ६ ॥

---

१. यों बोधिचित्त को दृढता से ग्रहण करते हुए बुद्धपुत्र को सावधान होकर यत्न करना चाहिये कि शिक्षा के प्रतिकूल आचरण न होने पावें ॥

२. "जिस कार्य का सहसा आरम्भ किया गया हो, जिस पर ठीक तरह से विचार न किया हो, उसके करने या न करने पर विचार उचित हैं, भले ही उसके करने की प्रतिज्ञा ही क्यों न कर ली गयी हो" ॥

३. परन्तु जिस कार्य पर मतिमान् बुद्ध या बुद्धपुत्र विचार कर चुके हों, उसको प्रारम्भ करने में मैं भरसक विलम्व क्यों करूँ ! ॥

४. इस प्रकार प्रतिज्ञा कर के भी यदि उसे क्रिया द्वारा पूरा न करूँ तो इन सब प्राणियों को धोखा देने पर मेरी क्या गति होगी ! ॥

५. ऐसा कहा गया है कि जो मन में छोटी सी वस्तु को देने का संकल्प करके फिर उसे नहीं देता वह प्रेत होता है ॥

६. सच्चे मन से सर्वोत्तम सुख (दान) की उच्च घोषणा करने के बाद इस सारे जगत् को धोखा देने पर मेरी क्या गति होगी ? ॥

* वेत्ति सर्वज्ञ एवैतामचिन्त्यां कर्मणो गतिम् ।
यद् बोधिचित्तत्यागेऽपि मोचयत्येव तां नरान् ॥ ७ ॥

* बोधिसत्त्वस्य तेनैवं सर्वापत्तिर्गरीयसी ।
यस्मादापद्यमानोऽसौ सर्वसत्त्वार्थहानिकृत् ॥ ८ ॥

* योऽप्यन्यः क्षणमप्यस्य पुण्यविघ्नं करिष्यति ।
तस्य दुर्गतिपर्यन्तो नास्ति सत्त्वार्थघातिनः ॥ ९ ॥

* एकस्यापि हि सत्त्वस्य हितं हत्वा हतो भवेत् ।
अशेषाकाशपर्यन्तवासिनां किमु देहिनाम् ! ॥ १० ॥

* एवमापत्तिबलतो बोधिचित्तबलेन च ।
दोलायमानः संसारे भूमिप्राप्तौ चिरायते ॥ ११ ॥

* तस्माद् यथाप्रतिज्ञातं साधनीयं मयाऽऽदरात् ।
नाद्य चेत् क्रियते यत्नस्तलेनास्मि तलं गतः ॥ १२ ॥

* अप्रमेया गता बुद्धाः सर्वसत्त्वगवेषकाः ।
नैषामहं स्वदोषेण चिकित्सागोचरं गतः ॥ १३ ॥

---

७. कर्म की इस अचिन्त्य गति को सर्वज्ञ बुद्ध ही भली भाँति जानते हैं जो वोधिचित्त के त्याग करने पर भी उन मनुष्यों को मुक्त कर देते हैं ॥

८. इसलिये यों बोधिचित्त का त्याग करने से वोधिसत्त्व को सब आपत्तियों (अपराधों) में गुरुतम आपत्ति लगती है; क्योंकि इस आपत्ति से वह सब प्राणियों के स्वार्थ की हानि करता है ॥

९. इस (बोधिसत्त्व) के पुण्य में जो कोई दूसरा कुछ क्षण के लिये भी विघ्न करेगा, प्राणियों के स्वार्थघाती उस पुरुष की दुर्गति का कोई अन्त नहीं है ॥

१०. एक प्राणी के हित का नाश करके ही मनुष्य स्वस्थिति से च्युत हो जाता है, फिर आकाशपर्यन्तव्यापी प्राणियों के अहितकर्ता का तो कहना ही क्या ! ॥

११. यों, आपत्तिवश (पतन) तथा वोधिचित्तवश (उत्थान) की ओर अग्रसर प्राणी को संसार में दोलायमान रहने से वोधिसत्त्वभूमि प्राप्त करने में विलम्ब लग जाता है ॥

१२. अतः की गयी प्रतिज्ञा को पूरा करना ही होगा । आज से ही यत्न शुरू नहीं किया गया तो मुझे रसातल से भी नीचे पहुँचा हुआ समझो ॥

१३. सभी प्राणियों का ध्यान रखने वाले असङ्ख्य बुद्ध आये और चले गये, पर अपनी ही कमी के कारण मैं इनकी चिकित्सा (सहायता) का अवलम्बन नहीं पा सका ॥

* अद्यापि चेत्तथैव स्यां यथैवाहं पुनः पुनः।
दुर्गति-व्याधि-मरणच्छेद-भेदाद्यवाप्नुयाम् ॥ १४ ॥

* कदा तथागतोत्पादं श्रद्धां मानुष्यमेव च।
कुशलाभ्यासयोग्यत्वमेवं लप्स्येऽतिदुर्लभम् ! ॥ १५ ॥

* आरोग्यदिवसं चेदं सभक्तं निरुपद्रवम्।
आयुःक्षणं विसंवादि कायो याचितकोपमः ॥ १६ ॥

* न हीदृशैर्मच्चरितैर्मानुष्यं लभ्यते पुनः।
अलभ्यमाने मानुष्ये पापमेव कुतः शुभम् ! ॥ १७ ॥

* यदा कुशलयोग्योऽपि कुशलं न करोम्यहम्।
अपायदुःखैः सम्मूढः किं करिष्याम्यहं तदा ! ॥ १८ ॥

* अकुर्वतश्च कुशलं पापं चाप्युपचिन्वतः।
हतः सुगतिशब्दोऽपि कल्पकोटिशतैरपि ॥ १९ ॥

---

१४. जैसे पिछले जन्मों में मैंने वार-बार दुर्गति, व्याधि, मरण, छेदन-भेदन (मार-काट) आदि पाये, वैसे ही आज भी पाता रहूँ तो ॥

१५. मैं बुद्धोत्पाद, श्रद्धा, मनुष्य-जन्म आदि पुण्याचरण की अत्यन्त दुर्लभ योग्यता वाले क्षेत्र कब पा सकूंगा ! ॥

१६. आज तो ये मेरे स्वास्थ्य के सुनहरे दिन हैं, सुन्दर भोजन मिलता है, शरीर भी नीरोग है; पर आयु का प्रत्येक क्षण धोखा देने वाला है, यह शरीर तो उधार ली हुई-सी वस्तु है ॥

१७. मुझे इस तरह के क्रिया-कलापों से पुनः मनुष्य-जन्म नहीं मिल सकेगा ! इस मनुष्य-जन्म के विना मुझ मे पाप ही पाप होगा, पुण्य भला फिर अन्य योनियों में कहाँ कर पाऊँगा ! ॥

१८. मैं पुण्य करने योग्य हो (मानव शरीर पा)कर भी जब पुण्य नहीं कर पाया तब दुर्गति से प्राप्त दुःखों से मूर्छित होने पर तो क्या पुण्य कर सकूँगा ! ॥

१९. कुछ भी पुण्य न कर दिन-रात पाप कमाने वालों को शत-शत कोटि कल्प तक 'सुगति' शब्द भी सुनने को नहीं मिलता, फिर उसके फलस्वरूप सुगति पाने की तो वात ही कहाँ ! ॥

* अत एवाह भगवान् मानुष्यमतिदुर्लभम् ।
महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमम् ॥ २० ॥

* एकक्षणकृतात् पापादवीचौ कल्पमास्यते ।
अनादिकालोपचितात् पापात् का सुगतौ कथा ! ॥ २१ ॥

* न च तन्मात्रमेवासौ वेदयित्वा विमुच्यते ।
यस्मात् तद्वेदयन्नेव पापमन्यत् प्रसूयते ॥ २२ ॥

* नातः परा वञ्चनास्ति न च मोहोऽस्त्यतः परः ।
यदीदृशं क्षणं प्राप्य नाभ्यस्तं कुशलं मया ॥ २३ ॥

* यदि चैवं विमृष्यामि पुनः सीदामि मोहितः ।
शोचिष्यामि चिरं भूयो यमदूतैः प्रचोदितः ॥ २४ ॥

* चिरं धक्ष्यति मे कायं नरकाग्निः सुदुःसहः ।
पश्चात्तापानलश्चित्तं चिरं धक्ष्यत्यशिक्षितम् ॥ २५ ॥

* कथञ्चिदपि सम्प्राप्तो हितभूमिं सुदुर्लभाम् ।
जानन्नपि च नीयेऽहं तानेव नरकान् पुनः ॥ २६ ॥

---

२०. इसीलिये भगवान् ने मानव जन्म को महासमुद्र में उतराते जूएँ के छेद में गर्दन फँसाये कछुए के समान अत्यन्त दुर्लभ कहा है ॥

२१. एक क्षण के लिये किये गये किसी विशिष्ट पाप के कारण कभी-कभी कल्प-कल्प तक अवीचि-नरक में रहना पड़ता है, फिर अनादि काल से सञ्चित पापों के रहते सुगति की बात ही कहाँ ! ॥

२२. उतने पाप-भोगों से मुक्त हो पाना ही कठिन है, क्योंकि उन्हें भोगते-भोगते बीच में ही दूसरे पाप हो जाना भी शक्य है ॥

२३. इससे बढ़ कर अपने आप को धोखा देना और क्या होगा या मूर्खता क्या होगी कि ऐसा मौका पाकर भी मैं पुण्य नहीं कर पाया ! ॥

२४. यदि इस तरह चिन्तन कर के भी मैं गफलत में ही पड़ा रहा तो यमदूतों द्वारा झकझोरे जाने पर मुझे चिरकाल तक पछताना ही पड़ेगा ॥

२५. यों असह्य नरकाग्नि में मेरा शरीर जलता रहेगा और उधर बुद्धों की दी हुई शिक्षा पर न चलने के कारण मेरा चित्त भी पछताता रहेगा ॥

२६. किसी प्रकार अपने लिये अत्यन्त दुर्लभ हितभूमि पाकर भी मैं जान-बूझ कर फिर अपने आप को उन्हीं नरक-भूमियों की तरफ लिये जा रहा हूं ॥

* अत्र मे चेतना नास्ति मन्त्रैरिव विमोहितः ।
न जाने केन मुह्यामि कोऽत्रान्तर्मम तिष्ठति ॥ २७ ॥

* हस्तपादादिरहितास्तृष्णाद्वेषादिशत्रवः ।
न शूरा न च ते प्राज्ञाः कथं दासीकृतोऽस्मि तैः ॥ २८ ॥

* मच्चित्तावस्थिता एव घ्नन्ति मामेव सुस्थिताः ।
तत्राप्यहं न कुप्यामि धिगस्थानसहिष्णुताम् ॥ २९ ॥

* सर्वे देवा मनुष्याश्च यदि स्युर्मम शत्रवः ।
तेऽपि नावीचिकं वह्निं समुदानयितुं क्षमाः ॥ ३० ॥

* मेरोरपि यदासङ्गान्न भस्माप्युपलभ्यते ।
क्षणात् क्षिपन्ति मां तत्र बलिनः क्लेशशत्रवः ॥ ३१ ॥

* न हि सर्वान्यशत्रूणां दीर्घमायुरपीदृशम् ।
अनाद्यन्तं महादीर्घं यन्मम क्लेशवैरिणाम् ॥ ३२ ॥

* सर्वे हिताय कल्पन्ते आनुकूल्येन सेविताः ।
सेव्यमानास्त्वमी क्लेशाः सुतरां दुःखकारकाः ॥ ३३ ॥

---

२७. अब मुझे होश भी नहीं रह गया, मानों मुझे मन्त्रमुग्ध कर दिया गया हो । न जाने मुझे कौन बहका रहा है मेरे अन्तस्तल में बैठकर ! ॥

२८. तृष्णा, द्वेष आदि शत्रुओं के न हाथ हैं न पैर, वे न वीर हैं न बुद्धिमान्; फिर भी उन्होंने मुझको अपना दास कैसे बना लिया ! ॥

२९. मेरे मन में बैठे हुए ये दुर्गुण मुझे ही मार रहे हैं और मुझे फिर भी क्रोध नहीं आता । बेमौके की इस सहनशीलता को धिक्कार है ! ॥

३०. यदि सभी देव और मानव मेरे दुश्मन बन जाँय तो भी वे मेरे लिए अवीचि नरक की अग्नि फूंक कर पैदा नहीं कर सकते ॥

३१. पर ये बलवान् दुर्गुण, अपनी दुश्मनी दिखाते हुए पल भर में मुझे वहाँ फेंक रहे हैं जहाँ स्पर्शमात्र से सुमेरु तक की राख भी का पता नहीं चलता ॥

३२. अन्य सभी शत्रुओं की आयु इतनी लम्बी नहीं होगी, जितनी कि मेरे इन क्लेशों की आदि अन्त विहीन लम्बी आयु हैं ॥

३३. दूसरे सभी लोग अनुकूलता से सेवा करने पर हित ही करते हैं, परन्तु ये क्लेश तो सेवा करने पर और अधिक तकलीफ पैदा करते हैं ॥

* इति सन्ततदीर्घवैरिषु व्यसनौघप्रसवैकहेतुषु ।
हृदये निवसत्सु निर्भयं मम संसाररतिः कथं भवेत् ! ।। ३४ ।।

* भवचारकपालका इमे नरकादिष्वपि वध्यघातकाः ।
मतिवेश्मनि लोभपञ्जरे यदि तिष्ठन्ति कुतः सुखं मम ।।३५।।

* तस्मान्न तावदहमत्र धुरं क्षिपामि,
यावन्न शत्रव इमे निहताः समक्षम् ।
स्वल्पेऽपि तावदपकारिणि बद्धरोषा,
मानोन्नतास्तमनिहत्य न यान्ति निद्राम् ।। ३६ ।।

* प्रकृतिमरणदुःखितान्धकारान् रणशिरसि प्रसभं निहन्तुमुग्राः ।
अगणितशरशक्तिघातदुःखा न विमुखतामुपयान्त्यसाधयित्वा ।।३७।।

* किमुत सततसर्वदुःखहेतून् प्रकृतिरिपूनुपहन्तुमुद्यतस्य ।
भवति मम विषाददैन्यमद्य व्यसनशतैरपि केन हेतुना वै ।। ३८ ।।

* अकारणेनैव रिपुक्षतानि गात्रेष्वलङ्कारवदुद्वहन्ति ।
महार्थसिद्ध्यै तु समुद्यतस्य दुःखानि कस्मान्मम बाधकानि ।। ३९ ।।

---

३४. यों इन दुःखसमूह के मूलतः जनक हेतुभूत चिरकाल के नित्य वैरियों के मेरे हृदय में निर्भय रहते, मेरा संसार से अनुराग कैसे समाप्त हो सकता है ! ।।

३५. जगत् रूपी जेल के प्रहरी, नरकादि में जल्लाद जैसे ये क्लेश, यदि मेरे बुद्धिगृह में लोभ के पिंजड़े में मौजूद हैं तो मुझे सुख कहाँ मिल सकता है ! ।।

३६. इसलिये जब तक मेरे ये शत्रु समूल नष्ट नहीं हो जाते, मैं इस कर्तव्य से च्युत नहीं होऊंगा; क्योंकि साधारण अपकारी को भी तेजस्वी पुरुष विना नष्ट किये नहीं छोड़ते (फिर ये तो मेरे महान् अपकारी हैं) ।।

३७. तेजस्वी पुरुष युद्ध में सहज मृत्यु के दुःखरूपी अन्धकार को बलपूर्वक नष्ट करने के लिये अगणित बाणों और भालों की चोट की पीड़ा को सहन करते हुए सफलता पाये विना पीछे नहीं मुड़ते ।।

३८. फिर निरन्तर अनेक दुःखों के कारणभूत इन सहज शत्रुओं का नाश करने में तत्पर मुझे सैंकड़ों दुःख होने पर भी विषाद और कायरता किस कारण महसूस हो सकती है ! ।।

३९. मनस्वी पुरुष, अपने को महान् सिद्ध करने के लिये, युद्ध में शत्रुओं द्वारा अकारण ही किये घावों को अलङ्कार की तरह अपने शरीर पर धारण करते हैं । फिर इस महान् कार्य की सिद्धि के लिये उद्यत मुझको कोई भी दुःख क्या बाधा पहुंचा सकता है ! ।।

* स्वजीविकामात्रनिबद्धचित्ताः कैवर्तचण्डालकृषीवलाद्याः ।
शीतातपादिव्यसनं सहन्ते जगद्धितार्थं न कथं सहेऽहम् ! ।। ४० ।।

* दशदिग्व्योमपर्यन्तजगत्क्लेशविमोक्षणे ।
प्रतिज्ञाय मदात्मापि न क्लेशेभ्यो विमोचितः ।। ४१ ।।

* आत्मप्रमाणमज्ञात्वा ब्रुवन्नुन्मत्तकस्तदा ।
अनिवर्ती भविष्यामि तस्मात् क्लेशवधे सदा ।। ४२ ।।

* अत्र ग्रही भविष्यामि वद्धवैरश्च विग्रही ।
अन्यत्र तद्विधात् क्लेशात् क्लेघातानुवन्धिनः ।। ४३ ।।

* गलन्त्वन्त्राणि मे कामं शिरः पततु नाम मे ।
न त्वेवावनतिं यामि सर्वथा क्लेशवैरिणाम् ।। ४४ ।।

* निर्वासितस्यापि तु नाम शत्रोर्देशान्तरे स्थानपरिग्रहः स्यात् ।
यतः पुनः सम्भृतशक्तिरेति न क्लेशशत्रोर्गतिरीदृशी तु ।। ४५ ।।

'''नाय, न तु क्लेशशत्रोः । न तस्य इतरशत्रुवत् समाचारो [P 89] दृश्यते । कुतः पुनरेवमिच्छया लभ्यते ? इत्याह—

---

४०. मछुए, चण्डाल, किसान आदि भी केवल अपनी आजीविका में मन से आसक्त होने के कारण सर्दी-गर्मी आदि सहते हैं; फिर जगत् के हितार्थ इन दुःखों को क्यों न सहूँ ! ।।

४१. आकाश की सीमा तक दसों दिशाओं के जगत् को क्लेशों से छुड़ाने की प्रतिज्ञा करके मैं अपने आप को ही क्लेशों से नहीं छुड़ा पाया ।।

४२. तब तो मैं अपनी ताकत विना जाने वडबोला बना रहा, पर अब क्लेशों का समूल नाश किये विना पीछे लौटने वाला नहीं ।।

४३. इनके नाश की मैं जिद्द (हठ) करना चाहूँगा । क्लेशध्वंस के सहकारी दुःखों को छोड़कर अन्य क्लेशों से मैं वैर करूँगा, उनसे लड़ूँगा ।।

४४. भले ही मेरी आँतें गल जाँय, मेरा शिर कटकर गिर पड़े, पर मैं अपने इन क्लेश-शत्रुओं के आगे नहीं झुकूँगा ।।

४५. शत्रु देशनिकाला पाकर भी दूसरे देश में शरणस्थल पा सकता है, जहाँ से शक्तिसंग्रह कर फिर आ सकता है; पर मेरे इन क्लेश-शत्रुओं की यह स्थिति भी नहीं है ।।

* क्वासौ यायान्मन्मनःस्थो निरस्तः
स्थित्वा यस्मिन् मद्वधार्थं यतेत ।
नोद्योगो मे केवलं मन्दबुद्धेः
क्लेशाः प्रज्ञादृष्टिसाध्या वराकाः ॥ ४६ ॥

मम चित्तान्निर्वासितः असौ क्लेशरिपुः कुत्र गत्वा अवस्थानं कुर्यात्, यत्रावस्थितिं कृत्वा मम वधाय यतेत ? नैव तत्स्थानमुत्पश्यामि, निर्मूलितस्य पुनरुत्थनायोगादिति भावः । अहमेव तु केवलमनुत्साही; अपटुबुद्धिप्रचारत्वात् । क्लेशाः पुनरिमे निर्मूलत्वात् परमार्थतत्त्वदर्शनमात्रप्रहेयास्तपस्विनः ॥ ४६ ॥

एतदेव प्रसाधयन्नाह—

* न क्लेशा विषयेषु नेन्द्रियगणे नाप्यन्तराले स्थिताः,
नातोऽन्यत्र कुह स्थिताः [1]पुनरमी मथ्नन्ति कृत्स्नं जगत् ।
मायैवेयमतो विमुञ्च हृदय ! त्रासं भजस्वोद्यमम्,
प्रज्ञार्थं किमकाण्ड एव नरकेष्वात्मानमाबाधसे ॥ ४७ ॥

मनोज्ञादिविषयदर्शनेऽपि केषाञ्चित् संवृतेन्द्रियाणां क्लेशानुत्पत्तेः [P 0] परमाणुशो विचारेऽपि तत्रादर्शनात् । न विषयेषु, नापि चक्षुरादीन्द्रियगणे पूर्ववत्; धर्मचिन्ताद्यवस्थायामिन्द्रियसद्भावेऽप्यनुपलब्धेः । नापि विषयेन्द्रिययोरन्तराले मध्ये तिष्ठन्ति; दृश्यानामनुपलब्धेरेव । न च एतेभ्योऽन्यस्मिन् स्थाने क्वचिदवस्थिता निश्चिताः । अतो निर्मूलतया तत्त्वशून्या आगन्तुका एव; अभूतपरिकल्पमात्रप्रसूतत्वात् । तथाभूता अपि जगदशेषं मथ्नन्ति ॥

---

४६. मन से निकाल दिये जाने पर उस क्लेश को जगह ही कहाँ है, जहाँ रुककर मुझे मारने का प्रयास करे । मुझमें कमी है तो इतनी ही कि मैं मन्दबुद्धि उन्हें मन से दूर नहीं कर रहा । बेचारे ये क्लेश तो, उसके विषय में सचाई जान लेने पर हेय ही हैं ॥

४७. "क्लेश न तो विषयों में है, न इन्द्रियसमूह में और न उनके बीच में । फिर भी ये समूचे जगत् को मथे डालते हैं अतः ये माया ही हैं । अतः हे हृदय ! निर्भय होकर प्रज्ञा के लिए प्रयास कर । व्यर्थ ही क्यों अपने आपको नरक (हेतुभूत क्लेशों) से पीड़ित कर रहा है" ॥

---

१. पुनरिमे – पाठा० ।

तथा च किमत्र समुचितमस्ति ? आह—**मायैवेति** ।

यथा हि **माया** हस्त्याकारतया तदाकारशून्यापि मन्त्रौषधप्रभावादिदम्प्रत्यतया मन्त्रेण तत्त्वरहिताऽपि प्रतिभासते, तथा अमी अपि क्लेशा विपर्यासनिमित्ता अयोनिशोमनसिकारसमुद्भूता इदम्प्रतीत्यतामात्रतो निस्तत्त्वा एव प्रकाशन्ते । अतो विजहीहि **हृदय त्रासं क्लेशेभ्यः** । के नाम अमी वराकाः परमार्थतो विचार्यमाणाः ? अतो **भजस्व उद्यम्**, उत्साहं कुरुष्व प्रज्ञार्थं तत्त्वप्रविचयाधिगमाय । **किमकाण्ड एव** निष्प्रयोजनमेव **नरकेषु** [P 91] सङ्घातादिषु क्लेशवशगतया **आत्मानमाबाधसे** पीडयसि ? ।। ४७ ।।

इदानीं प्राक्तनमर्थमशेषमुपसंहरन्नाह—

* एवं विनिश्चित्य करोमि यत्नं यथोक्तशिक्षाप्रतिपत्तिहेतोः ।
वैद्योपदेशाच्चलतः कुतोऽस्ति भैषज्यसाध्यस्य निरामयत्वम् ।। ४८ ।।

एवं समनन्तरसकलपरिच्छेदप्रतिपादितमर्थं **विनिश्चित्य** दृढीकृत्य अनन्तरमायास्वभावतां वा **करोमि यत्नम्** । किमर्थम् ? **यथोक्तशिक्षाप्रतिपत्तिहेतोः**, यथोक्तशिक्षा बोधिसत्त्वस्य तेषु तेषु सूत्रान्तेषु याः करणीतया प्रतिपादिताः, इहैव वा शास्त्रे संक्षेपेण तत्र तत्रोपदर्शिताः, तासां शिक्षणार्थम् ।।

उक्तानि च भगवता सूत्रान्तेषु बोधिसत्त्वशिक्षापदानि । तथोक्त**मार्यरत्नमेघे**—

"कथं च, कुलपुत्र, बोधिसत्त्वो बोधिसत्त्वशिक्षासंवरसम्वृतो भवति ? इह बोधिसत्त्व एवं विचारयति—न प्रतिमोक्षसंवरमात्रकेण मया शक्यमनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बोद्धुम् । किं तर्हि ? यानीमानि [P 92] तथागतेन तेषु तेषु सूत्रान्तेषु बोधिसत्त्वसमुदाचारा बोधिसत्त्वशिक्षापदानि प्रज्ञप्तानि, तेषु मया शिक्षितव्यम् । इति विस्तरः" ।।

तस्मादस्मद्विधेन मन्दबुद्धिना दुर्विज्ञेयो विस्तरोक्तत्वात् बोधिसत्त्वस्य संवरः ।

ततः किं युक्तम् ?

मर्मस्थानान्यतो विद्याद्येनानापत्तिको भवेत् । (शिक्षास०, का० ३)

कतमानि च तानि मर्मस्थानानि ? यदुत—

आत्मभावस्य भोगानां त्र्यध्ववृत्तेः शुभस्य च ।
उत्सर्गः सर्वसत्त्वेभ्यस्तद्रक्षाशुद्धिवर्धनम् ।। (शिक्षास०, का० ४)

---

४८. ऐसा निश्चय कर बुद्धवचनों में कही गयी शिक्षाओं पर आचरण करने का यत्न करूँगा; क्योंकि औषधि से ठीक होने वाला रोगी यदि वैद्य का ही उपदेश न माने तो उसे नीरोगता कैसे मिलेगी ? ।।

इत्युक्तम् । एष बोधिसत्त्वसंग्रहो यत्र बोधिसत्त्वानामभ्यासविश्रामेऽपि आपत्तयो व्यवस्थाप्यन्ते । यथोक्तं **बोधिसत्त्वप्रातिमोक्षसूत्रे**—

"यो बोधिसत्त्वेन मार्गः परिगृहीतः सर्वसत्त्वानां कृते दुःखक्षयगामी, स चेद् बोधिसत्त्वस्य तं मार्गं परिगृह्यावस्थितस्य अपि कल्पकोटेरत्ययेन एकं सुखचित्तमुत्पद्येत, अन्तशो निषद्याचित्तमपि, तत्र बोधिसत्त्वेन एवं चित्त- [P 93] मुत्पादयितव्यम् —'सर्वसत्त्वानामात्ययिकं परिगृह्य एतदपि मे बहु यन्निषीदामि' "। इति ॥

अत एवाह —**वैद्योपदेशादिति** । यथा वैद्योपदेशमकुर्वाणस्य भैषज्यसाध्यं करणीयं यस्य भैषज्येन वा साध्यस्य रोगिणः **कुतोऽस्ति निरामयत्वं** नीरोगता ? तथा सर्वज्ञमहावैद्योपदिष्टशिक्षाप्रतिपत्तिमकुर्वतः कुतो निरामयत्वं कर्मक्लेशोपजनितजात्यादिदुःदुखमहाभयाद्विमुक्तिः !

तदेवं समात्तसंवरस्य सामान्यमापत्तिलक्षणमुच्यते, येन आपत्तिलक्षणेन युक्तं वस्तु स्वयमप्युत्प्रेक्ष्य परिहरेत् । न च आपत्तिप्रतिरूपकेषु अनापत्तिप्रतिरूपकेषु च सम्मुह्येत् । बोधिसत्त्वः सर्वसत्त्वानां वर्तमानागतसर्वदुःखदौर्मनस्योपशमाय वर्तमानानागतसर्वसुखसौमनस्योत्पादाय च निःशाठ्यतः कायवाङ्मनःपराक्रमैः प्रयत्नं न करोति, तत्प्रत्ययसामग्रीं नान्वेषते, तदन्तरायप्रतीकराय न घटते, अल्पदुःखदौर्मनस्यं बहुदुःखदौर्मनस्यप्रतीकारभूतं नोत्पादयति, महार्थसिद्ध्यर्थं वा अल्पहानिं न करोति, क्षण- [P 94] मप्युपेक्षते, सापत्तिको भवति । संक्षेपतोऽनापत्तिः स्वशक्त्यविषयेषु कार्येषु, तत्र निष्फलतया शिक्षाप्रज्ञप्त्यभावात् । प्रकृतिसावद्यतया वा अन्यद् गृह्यत एव । यत्र तु स्वशक्त्यगोचरेऽपि योगसामर्थ्यादापत्तिः स्यात्, तन्न चिन्त्यम्, सामान्यपापदेशनान्तर्भावात् ततो मुक्तिः । एतत् समासतो बोधिसत्त्वशिक्षाशरीरम् । विस्तरतस्तु अप्रमेयकल्पपर्यवसाननिर्देश्यम् ।

अथवा संक्षेपतो द्वे बोधिसत्त्वस्यापत्ती । यथाशक्त्या युक्तायुक्तमसमीक्ष्यारभते, न निवर्तते ,उपेक्षते वा, सापत्तिको भवति । निरूप्य यथार्हमतिक्रामति, अन्तशश्चण्डालदासेनापि चोदितः, सापत्तिको भवति । यः पुनरेतदभ्यासार्थं व्युत्पादमिच्छति, तेन **शिक्षासमुच्चये** तावच्चर्यामुखमात्रशिक्षणार्थमभियोगः करणीयः, शिक्षणारम्भस्यैव महाफलत्वात् । यथोपवर्णितं **प्रशान्तविनिश्चयप्रातिहार्यसूत्रे**—

"इति बोधिसत्त्वशिक्षा समासतो यथोपदेशतः कथिता" इति ॥ ४८ ॥

इति प्रज्ञाकरमतिविरचितायां बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां
बोधिचित्ताप्रमादश्चतुर्थः परिच्छेदः ॥

५. सम्प्रजन्यरक्षणम्

(पञ्चमः परिच्छेदः)

[P 95] एवमात्मभावादीनामुत्सर्गं रक्षां च प्रतिपाद्य पुनर्विस्तरेण रक्षाशोधनवर्धनानि प्रतिपादयितुमुपक्रमते। उत्पादितबोधिचित्तेन हि बोधिसत्त्वेन उत्सृष्टस्यापि चात्मभावस्य रक्षाशोधनवर्धनानि। यस्मात्—

परिभोगाय सत्त्वानामात्मभावादि दीयते।
अरक्षिते कुतो भोगः किं दत्तं यन्न भुज्यते॥
तस्मात् सत्त्वोपभोगार्थमात्मभावादि पालयेत्।
कल्याणमित्रानुत्सर्गात् सूत्राणां च सदेक्षणात्॥

[शि० स० का०—५, ६]

तच्च आत्मभावादिपरिपालनादि शिक्षारक्षणादेव स्यात्। अन्यथा नरकादिविनिपातगमनात् तन्न स्यात्। अत इदमभिधीयते—

* शिक्षां रक्षितुकामेन चित्तं रक्ष्यं प्रयत्नतः।
न शिक्षा रक्षितुं शक्या चलं चित्तमरक्षता॥ १॥

शिक्ष्यते उपादीयते गृहीतसंवरणेनेति विहितेषु करणीयता, प्रति-[P 96] षिद्धेष्वकरणं शिक्षा, तां रक्षितुं परिपालयितुं कामेन इच्छता बोधिसत्त्वेन आत्मचित्तं रक्षितव्यं प्रयत्नत इति कथयिष्यमाणात्। अथ शिक्षारक्षणाधिकारे किमिति चित्तं रक्ष्यते? इत्याह—न शिक्षेति। अन्यथा शिक्षैव रक्षितुमशक्या चलमनायत्तं चित्तमरक्षता; चित्तस्य चलतायां शिक्षायाः स्थैर्यायोगात्॥ १॥

इतोऽपि चित्तमेव रक्षणीयमित्याह—

* अदान्ता मत्तमातङ्गा न कुर्वन्तीह तां व्यथाम्।
करोति यामवीच्यादौ मुक्तश्चित्तमतङ्गजः॥ २॥

अपरिकर्मिता मत्तवरवारणा न जनयन्ति तां पीडामिह लोके। परलोके

---

१. शिक्षा-पालन के इच्छुकों को प्रयत्नपूर्वक चित्त की रक्षा करनी चाहिये। चित्त के निरोध के विना बुद्धोक्त शिक्षाओं का पालन सम्भव नहीं॥ १॥

२. अशिक्षित (जंगली) मत्त हाथी भी वह कष्ट नहीं देते जो स्वच्छन्द चित्तरूपी हाथी अवीच्यादि नरकों में (ले जाकर) देता है॥

अवीच्यादौ यां करोति स्वच्छन्दतयावस्थितं **चित्तमेव मतङ्गज एव**। तथागताज्ञाङ्कुशेन कथञ्चिद् वशीक्रियमाणत्वात् ॥ २ ॥

तस्यायत्तीकरणे गुणमाह—

* वद्धश्चेच्चित्तमातङ्गः स्मृतिरज्ज्वा समन्ततः।
भयमस्तङ्गतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम् ॥ ३ ॥

यदि बद्धः कथञ्चिद् भवेत्। **स्मृति**र्वक्ष्यमाणलक्षणा। सैव **रज्जु**र्बन्धनोपायत्वात्। **समन्ततः** सर्वथा असत्पक्षे प्रचारनिरोधात्। तदा **भयमस्तङ्गतं** [P 97] प्रत्यस्तमितं **सर्व**मशेषम्। **सर्वं कल्याण**मभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणम्। **आगतं** सम्प्राप्तम्। देवश्चेद् वृष्टो निष्पन्नाः शालय इति यथा ॥ ३ ॥

ननु बहवश्च मृग-व्यालादयोऽप्युपद्रवकारिणः सन्ति, तेभ्यः कथं चित्तस्य वशीकरणाद् भयं न भविष्यति ? इत्याह—

* व्याघ्राः सिंहा गजा ऋक्षाः सर्पाः सर्वे च शत्रवः।
सर्वे नरकपालाश्च डाकिन्यो राक्षसास्तथा ॥ ४ ॥

* सर्वे बद्धा भवन्त्येते चित्तस्यैकस्य बन्धनात्।
चित्तस्यैकस्य दमनात् सर्वे दान्ता भवन्ति च ॥ ५ ॥

सुबोधम् ॥ ४-५ ॥

कुतः पुनरेवम् ? इत्याह—

* यस्माद्भयानि सर्वाणि दुःखान्यप्रमितानि च।
चित्तादेव भवन्तीति कथितं तत्त्ववादिना ॥ ६ ॥

सर्वे ह्येते कर्माक्षेपवशदनिष्टदायका भवन्ति। कर्म च चित्तमेव;

---

३. यदि चारों ओर से चित्तरूपी हाथी को स्मृति-सम्प्रजन्यरूपी रस्सी से बाँध लिया जाय तो सभी भय दूर हुए समझो और सभी कल्याण-सुखों की भी प्राप्ति समझो ॥

४-५. व्याघ्र, सिंह, हाथी, रीछ, सांप, सभी शत्रु, सभी नरकपाल, डाकिनी तथा राक्षस—ये सब एकमात्र चित्त के निरुद्ध हो जाने से बँध जाते हैं। एक चित्त का दमन करने से ही सब का दमन हो जाता है ॥

६. क्योंकि तत्त्ववादी भगवान् बुद्ध ने यह कहा है कि ये सभी भय और अपरिमित दुःख चञ्चल चित्त से ही होते हैं ॥

'चेतना कर्म' इति वचनात्। वाक्कायकर्मणोरपि चित्तमेव समुत्थापकम्; तदन्तरेण तयोरनुत्पत्तेः। 'चेतयित्वा कर्म' इति वचनात्। तस्मात् सर्वमिह कर्मनिर्मितमेव। तच्च चित्तान्नान्यत्। तदाह—

"कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत्। [P 98]
चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी"। इति।

(अभि० को०—४. १)

न च अनपकारचित्तस्य केचिदपकारिणो नाम। यस्मात्—

"निवृत्तपापचित्तस्य नास्ति लोके भयं द्विषः।
सुखहानिर्न तस्यास्ति यस्य चित्तं वशे स्थितम्"॥ इति।

अत इदमुक्तम्—

"चित्तस्य दमनं साधु चित्तं दान्तं सुखावहम्"। इति।

(धम्मपदे—३-३)

तत्त्ववादी भगवान्; वस्तुतत्त्वकथनशीलत्वात्। तेनेदं तत्त्वं कथितं प्रकाशितम्—सर्वं चित्तप्रसूतमिति। अतः सर्वत्र चित्तमेव प्रधानम्॥ ६॥

इत्थमेवैतन्नान्य इति प्रसाधयन्नाह—

* शस्त्राणि केन नरके घटितानि प्रयत्नतः।
तप्तायःकुट्टिमं केन कुतो जाताश्च ताः स्त्रियः॥ ७॥

नरकपालानां कुन्तामुसलादीनि, असिपत्रवनसमुद्भूतानि वा केन कृतानि? न तत्र कश्चित् कर्तास्ति ईश्वरादिः, तत्कर्तृत्वस्य अन्यत्र निषिद्धत्वात्, इहापि निषेत्स्यमानत्वात् (९-११०-१२६)। तप्तलोहमयी च भूमिः केन घटिता? ताश्च स्त्रियः कुतः कारणसाम्रीतो जाताः, याः [P 99] पारदारिकैः शाल्मलीवृक्षस्य अधस्तादुपरि च दृश्यन्ते? स च शाल्मलिर्वा? अतो नान्यत् कारणमत्र चित्तादुकल्पनीयम्। यदुक्तम्—

"सत्त्वलोकमथ भाजनलोकं चित्तमेव रचयत्यतिचित्रम्।
कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं कर्म चित्तमवधूय च नास्ति"॥

(मध्यमकाव०—६. ८९)

---

७. नरकों में यत्नपूर्वक शस्त्र किसने बनाये? तपे लोहे का फर्श किसने बनाया? वहाँ ये स्त्रियाँ कहाँ से पैदा हो गयीं?॥

तस्माच्चित्तमेवात्र कारणं नान्यदित्यत आह—

* पापचित्तसमुद्भूतं तत्तत् सर्वं जगौ मुनिः ।
तस्मान्न कश्चित् त्रैलोक्ये चित्तादन्यो भयानकः ॥ ८ ॥

पापकर्मोपस्कृतं चित्तमेव तेषां कारणं भगवान् कथितवान् । नापरं किञ्चित् । यत एवम्, तस्मान्न त्रिजगति पापचित्तादपरः कश्चिद् भयहेतुरस्ति । तस्माच्चित्तमेव वशीकर्तव्यम् । यदुक्तमार्यरत्नमेघे—

"चित्तपूर्वंगमाः सर्वधर्माः[1] । चित्ते परिज्ञाते सर्वधर्माः परिज्ञाता भवन्ति" ॥

अपि च—

"चित्तेन नीयते लोकश्चित्तं चित्तं न पश्यति ।
चित्तेन चीयते कर्म शुभं यदि वाशुभम् ॥

चित्तं भ्रमते अलातवत् । चित्तं विभ्रमते तरङ्गवत् । चित्तं दहते [P 100] दवाग्निवत् । चित्तं रोहयते (हरते) महाम्बुवत्" । इति च ।

एवं व्युपपरीक्षमाणश्चित्ते सूपस्थितस्मृतिर्विहरति, न च चित्तस्य वशं गच्छति । अपितु चित्तमेवास्य वशं गच्छति । चित्तेनास्य वशीभूतेन सर्वे धर्मा वशीभवन्तीति ॥ ८ ॥

स्यादेतत्—दानपारमितादिषु कथमिव चित्तं प्रधानम् ? सा हि सर्वसत्त्वानां दारिद्र्यापनयनलक्षणा ? इत्याह—

* अदरिद्रं जगत् कृत्वा दानपारमिता यदि ।
जगद्दरिद्रमद्यापि सा कथं पूर्वतायिनाम् ॥ ९ ॥

दारिद्र्यं हि नाम सास्रवसुखभोगबुभुक्षया चित्तकार्पण्यम् उपकरणवैकल्यं वा । तदपनीय जगतो यदि दानपारमिता पारिपूरिर्भवतीत्युच्यते, तदा सा कथम् ? न कथञ्चिदपि पूर्वतायिनां पूर्वमभिसम्बुद्धानां भगवतां युज्यते । कुतः ? जगद्दरिद्रमद्यापि, नाद्यापि यावज्जगद्दारिद्र्यमुपशाम्यति ॥

---

८. भगवान् ने कहा है कि वे सभी (शस्त्र आदि) पापी चित्त से उत्पन्न होते हैं । अतः तीनों लोकों में चित्त से भयानक दूसरा कोई नहीं हैं ॥

९. यदि जगत् की दीनता मिटाकर दानपारमिता होती है तो प्राक्तन तथागतों के लिये यह कैसे सम्भव हुई; क्योंकि जगत् तो आज भी दरिद्र है ! ॥

---

१. तु० धम्पदे—मनोपुब्बङ्गमा इत्यादि ।

यद्येवं नेष्यते, कथं सा भवति ? इत्याह—

* फलेन सह सर्वस्वत्यागचित्ताज्जनेऽखिले ।
दानपारमिता प्रोक्ता तस्मात् सा चित्तमेव तु ॥ १० ॥

सर्वस्वं बाह्याध्यात्मिकं सर्वं वस्तु दानं दानफलं च सर्व- [P 101] सत्त्वेभ्यः परित्यजतोऽभ्यासेन प्रकर्षगमनाद् यदा अपगतमात्सर्यमलं निरासङ्गतया चित्तमुत्पद्यते, तदा **दानपारमिता** निष्पन्नेत्युच्यते । **तस्मात् सा चित्तमेव**, नान्या दानपारमिता ॥ १० ॥

* मत्स्यादयः क्व नीयन्तां मारयेयं यतो न तान् !
लब्धे विरतिचित्ते तु शीलपारमिता मता ॥ ११ ॥

प्राणातिपातादिसर्वावद्यविरतिचित्तमेव हि शीलम्, न पुनस्तदाश्रयभूतबाह्यविषयनिवृत्तिस्वभावम् । यदि पुनर्वधादिविषयवस्तवभावेन तद्वधाद्यभावाच्छीलं स्यात, तदा ते **मत्स्यादयः क्व नीयन्तां** यत्र तेषां दर्शनं न स्यात् ! अन्यथा तद्वधाद्युपक्रमे शीलं न स्यात् । न चैवम् । तस्मात्तेषु विद्यमानेष्वपि **लब्धे विरतिचित्ते** निवृत्तिमनसिकारे **शीलपारमिता मता** सम्मता तत्स्वभावविदाम्; तस्मात् सा चित्तमेव ॥ ११ ॥

क्षान्तिपारमितापि न चित्ताद्भिन्नेत्याह—

* कियतो मारयिष्यामि दुर्जनान् गगनोपमान् ।
मारिते क्रोधचित्ते तु मारिताः सर्वशत्रवः ॥ १२ ॥

परापकारादिसम्भवेऽपि चित्तस्याकोपनता क्षान्तिः । अन्यथा [P 102] यदि सर्वशत्रूणां तद्विनिपातनेन वैरनिर्यातनं कृतवतः केनचिद्वैराभावादुपशान्तवैरस्य न कश्चिदपकारी स्यात् । इति मर्षणं क्षान्तिः । तदा एतदशक्यानुष्ठानम् । शत्रवो हि गगनसमत्वादपर्यन्ताः, तेषां मारणमशक्यम् । तस्मात् क्रोधादिनिवृत्तिचित्तमेव तेषामुपायेन मारणमिव, तत्कृतापकारस्यागणनात्, जन्मान्तरवैरासम्भवाच्च मारितप्रायास्ते ॥ १२ ॥

---

१०. सब प्राणियों के लिये फलसहित सर्वस्वत्यागी चित्त से दानपारमिता की पूर्णता कही गयी है, अतः वह दानपारमिता चित्त ही है ॥

११. मछली आदि क्षुद्र जन्तुओं को कहाँ ले जाया जाय कि उन्हें मारा न जा सके । अतः प्राणातिपातवेरमणी चित्त से शीलपारमिता मानी गयी है ॥

१२. मैं आकाश की तरह फैले कितने दुष्टों को मार पाऊँगा । हाँ ! यदि क्रोधचित्त पर निग्रह कर लिया जाय तो मानों सब शत्रुओं पर निग्रह हो गया ॥

अत्र अशक्यतायामप्युपायेन प्रवृत्तौ दृष्टान्तोपदर्शनेन शक्यतामाह—

* भूमि छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति ।
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी ।। १३ ।।

कण्टकाद्युपघातरक्षणार्थं पृथ्वी छादयितुमुचिता । न चैतच्छक्यम्, तावतश्चर्मणा केवलेन सर्वा भूमिश्छादिता भवति ।। १३ ।।

दृष्टान्तोक्तमर्थं प्रकृते योजयन्नाह—

* बाह्या भावा मया तद्वच्छक्या वारयितुं न हि ।
स्वचित्तं वारयिष्यामि किं ममान्यैर्निवारितैः ।। १४ ।।

शत्रुप्रभृतयो भावा मया वारयितुमशक्याः । तद्वत् मेदिनीचर्मच्छादन-[P 103] वत् अपकारक्रियायाः । अतः स्वचित्तमेव शक्यं वारयिष्यामि । अन्यवारणस्यापार्थकत्वात्, स्वचित्तवारणादेव तत्सिद्धेः । तस्मात् सा चित्तमेव ।। १४ ।।

वीर्यपारमिता तु कुशलोत्साहस्वभावा अतिविस्पष्टं चित्तमेवेत्याह—

* सहापि वाक्शरीराभ्यां मन्दवृत्तेर्न तत्फलम् ।
यत्पटोरेककस्यापि चित्तस्य ब्रह्मतादिकम् ।। १५ ।।

वचनकायसहितस्यापि चित्तस्य कुशलपक्षे मन्दप्रचारस्य न तादृशं फलमुपजायते, यादृशं ध्यानादिविषये पटुप्रवृत्तेरेकाकिनोऽपि चित्तस्य फलं ब्रह्मभूयादिकम् । तस्मात् सा चित्तमेव ।। १५ ।।

ध्यानं तु चित्तैकाग्रतालक्षणं चित्तादन्यथा वक्तुमशक्यमित्याह—

---

१३. क्योंकि सचाई तो यह है कि समग्र पृथ्वी को आच्छादित करने के लिये इतना चमड़ा कहाँ से मिल पायेगा, अतः उचित यही है चमड़े की एक जूना-जोड़ी से पृथ्वी को ढक दिया जाय । (अर्थात् दूसरों से बदला लेने की अपेक्षा अपना ही सुधार करना ज्यादा हितकर एवं सुकर है ।) ।।

१४. उसी तरह बाहरी पदार्थ भी मेरे रोके रुक नहीं सकते, अतः मैं तो अपने चित्त को ही रोकूँगा । दूसरे के रुकने या न रुकने से मेरा क्या हानि-लाभ होना है ! ।।

१५. शरीर और वाणी के साथ मन्दवृत्ति चित्त का वह लाभ नहीं होता जो तीव्रवृत्ति एकाकी चित्त द्वारा ब्रह्मत्वप्राप्तिरूप फल से हो सकता है ।।

* जपास्तपांसि सर्वाणि दीर्घकालकृतान्यपि।
अन्यचित्तेन मन्देन वृथैवेत्याह सर्ववित् ॥ १६ ॥

मन्त्राद्यावर्तनलक्षणा वचनव्यापारा जपाः। तपांसि च इन्द्रियदमनलक्षणाः कायिकाः[1]। तानि अतिबहुकालमभ्यस्तान्यपि अन्यत्र सक्तचितेन मिद्धाद्युपहतचित्तेन वा। समानपाटवविकलेनेत्यर्थः। वृथैव निष्फलमेव, अत्यर्थंक्लशफलत्वात्, अभिमतार्थेऽनुपयोगाद्वा। पुत्रोऽप्यपुत्र एव, पुत्रकार्याकरणाद्यथा। इत्याह भगवान् सर्वज्ञः। तस्माद् ध्यानपारमितापि चित्तमेव ॥ १६ ॥

[P 104] प्रज्ञा तु निर्विवादा चित्तमेवेत्याह—

* दुःखं हन्तुं सुखं प्राप्तुं ते भ्रमन्ति मुधाम्बरे।
यैरेतद्धर्मसर्वस्वं चित्तं गुह्यं न भावितम् ॥ १७ ॥

पञ्चगतिसंसारजात्यादिदुःखं प्रहातुं तत्प्रहाणे निर्वाणसुखमधिगन्तुं ते सत्त्वा मुधा निरर्थका एव भ्रमन्ति अम्बरे कासीपुष्पमिव निष्फलं संसारे। यदनुष्ठितं क्वचिदपि न लग्नमिति तदेवमभिधीयते पञ्चाग्निसेवा-शिरोलुञ्चनादिव्रतम्। के पुनरेवं भ्रमन्ति ? यैः संसारभयभीरुभिः सुखार्थिभिश्च धर्मसर्वस्वं सर्वलौकिकलोकोत्तरकर्मनिदानभूतं चित्तं बालानामगोचरस्वभावतया गुह्यं न भावितं तत्त्वचित्ततया पुनःपुनर्न स्थिरीकृतम्। तस्मादियमतितरां चित्तमेव। यथोपवर्णितमार्यगण्डव्यूहे—

"स्वचित्ताधिष्ठानं सर्वबोधिसत्त्वचर्या। स्वचित्ताधिष्ठानं सर्वसत्त्वपरिपाकविनयः। ...पे०...। तस्य मम, कुलपुत्र, एवं भवति—स्वचित्तमेवोपस्तम्भयितव्यं सर्वकुशलमूलैः। स्वचित्तमेव परिस्यन्दयितव्यं धर्ममेघैः। स्वचित्तमेव परिशोधयितव्यमावरणीयधर्मेभ्यः। स्वचित्तमेव दृढीकर्त्तव्यं वीर्येण"। इत्यादि ॥ १७ ॥

---

१६. भगवान् का भी कथन है कि मन्दवृत्ति और उपेक्षा से दीर्घकाल तक किये जप-तप आदि भी व्यर्थ ही हैं ॥

१७. जिन्होंने धर्म की प्राप्ति के एकमात्र आश्रय इस चित्त को तत्त्वज्ञान से शुद्ध न किया तो वे आकाश के नीचे (जहाँ-तहाँ) दुःखनाश और सुख की प्राप्ति के लिए व्यर्थ ही भटक रहे हैं ॥

---

१. व्यापाराः—इति शेषः।

इति चित्तस्वभावतां सर्वत्र प्रतिपाद्य उपसंहरन्नाह—

* तस्मात् स्वधिष्ठितं चित्तं मया कार्यं सुरक्षितम् । [P 105]
चित्तरक्षाव्रतं मुक्त्वा बहुभिः किं मम व्रतैः ! ॥ १८ ॥

एवमुत्पादितबोधिचित्तेन शिक्षारक्षणे यत्नवता मनसि कर्तव्यम्—**स्वधिष्ठितं सुरक्षितं** सम्प्रजन्येन वक्ष्यमाणरीत्या **मया स्वचित्तं कर्तव्यं** तदेकाग्रमानसेन। अत्रैव सर्वेषामन्तर्भावात्। अतश्चित्तरक्षणमेव प्रधानं **व्रतम्**। तद्विहाय **किमन्यैर्व्रतैर्बहुभिरपि मम** प्रयोजनम्? न किञ्चित्। तद्रहितस्य निष्फलत्वात्। एतावती चेयं बोधिसत्त्वशिक्षा यदुत चित्तपरिकर्म। एतन्मूलत्वात् सर्वसत्त्वार्थानाम्।

तद्यथा **धर्मसङ्गीतिसूत्रे** कीर्तितम्—"मतिविक्रमबोधिसत्त्व आह—योऽयं धर्मो धर्म इत्युच्यते नायं धर्मो देशस्थो न प्रदेशस्थोऽन्यत्र स्वचित्ताधीनो धर्मः। तस्मान्मया स्वचित्तं स्वाराधितं स्वधिष्ठितं सुपरिजितं सुसमारब्धं सुनिगृहीतं कर्तव्यम्। तत् कस्य हेतोः? यत्र चित्तं तत्र गुणदोषाः। तद् बोधिसत्त्वो दोषेभ्यश्चित्तं निवार्य गुणेषु प्रवर्तयति। तदुच्यते—चित्ताधीना बोधिः" इति ॥ १८ ॥

एवं चित्तायत्ततां सर्वत्र निश्चित्य चित्तदृढतायामुदाहरणमाह-[P 106]

* यथा चपलमध्यस्थो रक्षति व्रणमादरात् ।
एवं दुर्जनमध्यस्थो रक्षेच्चित्तव्रणं सदा ॥ १९ ॥

असमाहितजनमध्ये पुनरुपघातभयात्तद्गतमनसा **यथा व्रणं रक्षति** कश्चिदप्रमत्तः, एवं तथा शिक्षारक्षणकामः अकारणवैरिवालजनमध्ये संवसन् तत्परश्चि**त्तं व्रणमिव रक्षेत्** सर्वकालम् ॥ १९ ॥

यथाप्रसिद्धिन इदमुदाहरणम्। न तु पुनर्मनागपि सादृश्यमस्तीत्याह—

* व्रणदुःखलवाद् भीतो रक्षामि व्रणमादरात् ।
सङ्घात-पर्वताघाताद् भीतश्चित्तव्रणं न किम् ॥ २० ॥

---

१८. अतः मुझे स्वचित्त को पापों से सुरक्षित कर अपने वश में करना है। चित्त-रक्षाव्रत को छोड़, अन्य व्रतों को धारण करने से मुझे क्या मिलेगा ? ॥

१९. जिस तरह चञ्चल लोगों के बीच में बैठा पुरुष अपने व्रण की सावधानी से रक्षा करता है, उसी तरह दुर्जनों के मध्य रहकर स्वचित्तरूपी व्रण की रक्षा करनी चाहिये ॥

२०. मैं जब अपने शरीर के छोटे से घाव की भी सावधानी से रक्षा करता

ईषन्मात्रं दुःखं दुःखलवो व्रणकृतः। तस्माद्भीतो रक्षामि व्रणम्। प्रकृतानुरोधे रक्षतीति पाठो युक्तः। आदरात् तात्पर्येण। संघातनरकप्रभवादनेकवर्षसहस्रानुभूयमानदुःखात् पर्वतघातात् सर्वतो व्याप्तिप्रहारात् भीतः चित्तव्रणं न किं रक्षेदिति प्रकृतेन सम्बन्धः। यदि वा—अहं तु किं न रक्षामीति परिणामेन योजनीयम्। अथवा—एवमुत्पादितबोधिचित्तेन मनसा चिन्तयितव्यमित्यवतार्यते, तदा रक्षामीति॥ २०॥

कः पुनरेवं सति गुणः स्यात्? इत्याह—

* अनेन हि विहारेण विहरन् दुर्जनेष्वपि।
प्रमदाजनमध्येऽपि यतिर्धीरो न खण्डचते॥ २१॥ [P107]

यस्मादेवंमनसिकारेण विचरन् वनिताजनमध्येऽपि प्रसादपृष्ठे अयमनिवार्योऽतिशयेन कामरागेषु। तेनेदमुक्तम्—यतिर्धीर इति। अस्मिन् मनसिकारे निध्यप्तचित्तः। न खण्डचते शिक्षारक्षणमनसिकारान्न स्खलति॥ २१॥

पुनरेवं करणीयमित्यत्रार्थे दृढमभिनिवेशं दर्शयन्नाह—

* लाभा नश्यन्तु मे कामं सत्कारः कायजीवितम्।
नश्यत्वन्यच्च कुशलं मा तु चित्तं कदाचन॥ २२॥

चीवरपिण्डपातादयो नश्यन्तु, विलयं यान्तु, मम कामं यथेष्टम्। सत्कारो गौरवेण आसनदानपादवन्दनादिपूजा। कायो जीवितं च सर्वमेतन्नश्यतु। अन्योऽपि यत्किञ्चित् सुखसौमनस्यनिमित्तं तदपि नश्यतु। कुशलं पुनर्मम चित्तं मा कस्मिंश्चिदपि काले नङ्क्षीदिति॥ २२॥

हूं तो सङ्घात नरक के पर्वतसमान प्रहारों से डर कर चित्तरूपी व्रण की रक्षा क्यों न करूँ!॥

२१. यति को दुर्जनों और स्त्रियों के साथ इसी सावधानी के साथ व्यवहार करना चाहिये। इससे यति का पतन नहीं हो पाता॥

२२. भले ही मेरे सभी लाभ नष्ट हो जाँय, सत्कार, यह शरीर, यह जीवन, और सभी प्रकार के कुशल कर्म नष्ट हो जाँय, पर मेरा चित्त नष्ट न हो॥

अत्र पुनरादरमुत्पादयितुं शास्त्रकार आह—

* चित्तं रक्षितुकामानां मयैष क्रियतेऽञ्जलिः ।
स्मृतिं च सम्प्रजन्यं च सर्वयत्नेन रक्षत ॥ २३ ॥

अञ्जलिं कृत्वा प्रार्थयामि । किमर्थम् ? स्मृतिं च सम्प्रजन्यं च । न [P 108] केवलां स्मृतिम्, नापि केवलं सम्प्रजन्यमिति परस्परापेक्षया चकारद्वयम् ।

तत्र स्मृतिरार्यरत्नचूडसूत्रेऽभिहिता—"यया स्मृत्या सर्वक्लेशानां प्रादुर्भावो न भवति, यया स्मृत्या सर्वमारकर्मणामवतारं न ददाति, यया स्मृत्या दौवारिकभूतया सर्वेषामकुशलानां चित्तचैतसिकानां धर्माणामवकाशं न ददाति, इयमुच्यते—सम्यक्स्मृतिरिति ॥

संक्षेपतः पुनरियं स्मृतिरुच्यते–विहितप्रतिषिद्धयोर्यथायोगं स्मरणं स्मृतिः । यच्चाह—स्मृतिरालम्बनासम्प्रमोष इति ॥ २३ ॥

सम्प्रजन्यं तु प्रज्ञापारमितायामुक्तम्—"चरंश्चरामीति प्रजानाति । निषण्णो निषण्णोऽस्मीति प्रजानाति । शयानः शयितोऽस्मीति प्रजानाति । यथा यथास्य कायः स्थितो भवति तथा तथैनं प्रजानाति पेयालं ... सोऽति- [P 109] क्रामन् वा प्रतिक्रामन् वा सम्प्रजानचारी भवति । आलोकिते विलोकिते संमिञ्जिते प्रसारिते सङ्घाटीपटपात्रचीवरधारणे अशिते पीते खादिते निद्राक्लमचप्रतिविनोदने आगते गते स्थिते निषण्णे सुप्ते जागरिते भाषिते तूष्णीभावे प्रतिसंलयने सम्प्रजानचारी भवति" इति ।

इदमेव वक्ष्यति—

"एतदेव समासेन सम्प्रजन्यस्य लक्षणम् ।
यत्कायचित्तावेक्षायाः प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः" ॥ इति ।

(बो० च० ५. १०८)

कः पुनरनयोर्व्यतिरेके दोषः, येनैते यत्नेन रक्षणीये कथिते ?

---

२३. चित्त की रक्षा चाहने वालों से मैं करबद्ध निवेदन करता हूँ कि स्मृति वे और सम्प्रजन्य—दोनों की पूरे प्रयास के साथ रक्षा करें ॥

इत्याह—

* व्याध्याकुलो नरो यद्वन्न क्षमः सर्वकर्मसु ।
तथाभ्यां विकलं[1] चित्तं न क्षमं सर्वकर्मसु ॥ २४ ॥

रोगोपहतसामर्थ्यो यथा पुरुषः सर्वकर्मसु गमनभोजनादिषु अकर्मण्यो भवति, तथा स्मृतिसम्प्रजन्याभ्यां विकलं चित्त सर्वकर्मसु ध्यानाध्ययनादिलक्षणेषु ॥ २४ ॥

अनयोः समुदायाभावे दोषमुक्त्वा प्रत्येकमभावे कथयितुमाह—

* असम्प्रजन्यचित्तस्य श्रुतचिन्तितभावितम् ।
सच्छिद्रकुम्भजलवन्न स्मृताववतिष्ठते ॥ २५ ॥

न विद्यते सम्प्रजन्यं यस्मिंस्तदसम्प्रजन्यम् । तच्चित्तं यस्य तस्य ।[P110] श्रुतचिन्ताभावनामयप्रज्ञापरिनिष्टितं वस्तु न स्मरणमधिवसति । तन्मूलं च सर्वं कल्याणम् । किमिव ? यथा सच्छिद्रकुम्भे मुखनिक्षिप्तमुदकमधस्ताद् गच्छति नावतिष्ठते ॥ २५ ॥

इदमपरं तद्व्यतिरेके दूषणमाह—

* अनेके श्रुतवन्तोऽपि श्राद्धा यत्नपरा अपि ।
असम्प्रजन्यदोषेण भवन्त्यापत्तिकश्मलाः ॥ २६ ॥

बहवोऽपि बहुश्रुताः तथा श्रद्धावन्तो यत्नपराः शिक्षायामादरकारिणः असम्प्रजन्यदोषेण आपत्तिकलुषिता भवन्ति कायचित्तप्रचाराप्रत्यवेक्षणात् ॥२६॥

अपरमपि तदभावे दूषणमाह—

* असम्प्रजन्यचौरेण स्मृतिमोषानुसारिणा ।
उपचित्यापि पुण्यानि मुषिता यान्ति दुर्गतिम् ॥ २७ ॥

---

२४. जिस तरह रोगातुर व्यक्ति कोई काम करने लायक नहीं रहता, उसी तरह इन दोनों गुणों से रहित चित्त किसी काम लायक नहीं रहता ॥

२५. क्योंकि सावधान चित्त से विहीन व्यक्ति के श्रवण, मनन और निदिध्यासन फूटे हुए घट में जल की तरह स्मृति में नहीं ठहरते ॥

२६. लोक में देखा गया है कि अनेक बहुश्रुत, श्रद्धालु और प्रयत्नवान् व्यक्ति भी असम्प्रजन्य दोष के ही कारण व्रतभंग की आपत्ति से दूषित हो जाते हैं ॥

२७. स्मृति कमजोर हुई कि असम्प्रजन्यरूपी चोर पीछे लगा और पुण्य की कमाई चुरा ली । इस पर जिनके घर चोरी होती है वे पुण्यरूपी धन कमा कर भी व्यवहार में तकलीफ पाते ही दिखायी देते हैं ॥

---

१. व्याकुलं—पाठा ।

[P 111] असम्प्रजन्यमेव सम्प्रजन्याभावः क्लेशस्वभावश्चौरः कुशलधनापहरणात्। तेन स्मृतिमोषानुसारिणा रक्षपालभूतायाः स्मृतेः प्रमोषमभावमनुसृत्य मुषिता विलुप्तकुशलधनाः सन्तः उपचित्यापि पुण्यानि, कुशलधनानां सञ्चयं कृत्वापि, दुर्गतिपरायणा भवन्ति ॥ २७ ॥

कुतः पुनरेवम् ? इति उक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

* क्लेशतस्करसङ्घोऽयम् अवतारगवेषकः।
प्राप्यावतारं मुष्णाति हन्ति सद्गतिजीवितम् ॥ २८ ॥

तस्कराश्चौराः तेषां सङ्घातः अवतारगवेषकः पिशाचवदवतारमार्गप्रेक्षी। छिद्रान्वेषणतत्पर इत्यर्थः। प्राप्यावतारं प्रवेशमार्गमासाद्य मुष्णाति। ततो हन्ति शोभनगतये जीवितप्रतिलम्भम्; कुशलपाथेयाभावात् ॥ २८ ॥

स्मृतिः प्रत्युपस्थाप्या

स्मृतिमधिकृत्याधुना प्राह—

* तस्मात् स्मृतिर्मनोद्वारान्नापनेया कदाचन।
गतापि प्रत्युपस्थाप्या संस्मृत्यापायिकीं व्यथाम् ॥ २९ ॥

यतः स्मृतेरभावे दूषणमेवं स्यात् तस्मादिदमत्र दोषं पश्यता स्मृतिरालम्बनासम्प्रमोषलक्षणा मनोद्वारात् मनोगृहप्रवेशमार्गात् नापनेया नापसार्या। सदा अवस्थापयितव्येत्यर्थः। अथ कदाचित् प्रमादतस्ततोऽपगच्छेत्, तदा गतापि पुनर्निर्वर्त्योपस्थाप्या तत्रैवारोपयितव्या। कथम् ? संस्मृत्य मनसि निधाय आपायिकीं नरकादिदुर्गतिव्यथाम् ॥

तत्र द्वादशेमाः स्मृतयो निष्फलस्पन्दवर्जनार्थं तथागताज्ञानातिक्रमानुपालनविपाकगौरवस्मृतिप्रभृतयः शिक्षासमुच्चये प्रदर्शिताः, तत एव विवेकेनावधार्याः ॥

[P 112] सापि स्मृतिस्तीव्रादरात् समुत्पद्यते। आदरोऽपि शमथमाहात्म्यमवगम्य आतापेन जायते। एतच्च यथावसरं वक्ष्यामः ॥ २९ ॥

---

२८. इधर क्लेशरूपी चोरों का यह दल ऐसे कमजोर मौके ताकता ही रहता है। मौका मिलते ही सब कुछ चुरा ले जाता है और सद्गति के जीवनमूल (पुण्य) को नष्ट कर डालता है॥

२९. अतः भावी नारकीय कष्टों का स्मरण करते हुए स्मृति को मनोद्वार से कभी नहीं हटने देना चाहिये। हटी हुई स्मृति को पुनः वहीं स्थिर करना चाहिये॥

केषाञ्चित् पुनरन्यथापि स्मृतिरुत्पद्यते । तदुपदर्शयन्नाह—

* उपाध्यायानुशासन्या भीत्याप्यादरकारिणाम् ।
धन्यानां गुरुसंवासात् सुकरं जायते स्मृतिः ॥ ३० ॥

आचार्योपाध्यायसन्निधौ तदन्यतमाराध्यब्रह्मचारिसन्निधौ वा संवसतां तदनुशासन्या भीत्या तद्भयेनापि आदरः कार्येषु सर्वभावेनाभिमुख्यम्, अवज्ञा-प्रतिपक्षो धर्मः । तत्कारिणां यत्नवतां सुकृतिना तदनुशासनीं हिताहितविधि-प्रतिषेधनियममनुगृह्णतामकृच्छ्रेणैव स्मृतिरुत्पद्यते ॥ ३० ॥

इत्थमपि विहरन् स्मृतिमनसिकारबहुलविहारी भवतीति कारिकाद्वयेन दर्शयन्नाह—

* बुद्धाश्च बोधिसत्त्वाश्च सर्वत्राव्याहतेक्षणाः ।
सर्वमेवाग्रतस्तेषां तेषामस्मि पुरः स्थितः ॥ ३१ ॥

* इति ध्यात्वा तथा तिष्ठेत् त्रपादरभयान्वितः ।
बुद्धानुस्मृतिरप्येवं भवेत् तस्य मुहुर्मुहुः ॥ ३२ ॥

सर्वदा बुद्धबोधिसत्त्वानां समस्तवस्तुविषयाप्रतिहत- [P 113] ज्ञानचक्षुषां सर्वमेव वस्तुजातं पुरतोऽवस्थितमेव । अहमपि तेषां पुरोऽवस्थित एव, सर्ववस्तुवत् । इति मनसि निधाय तथैव संयतात्मा तिष्ठेत् । त्रपादरभयान्वितः । अप्रतिरूपे कर्मणि त्रपा लज्जा । शिक्षायामादरः, तदतिक्रमे भयम् । बुद्धबोधिसत्त्वेष्वेव वा त्रपादयः । एवं सति अपरोऽपि विशेषः स्यादित्याह–बुद्धेत्यादि । तदेवं विहरतस्तस्य प्रतिक्षणमकामत एव बुद्धानुस्मृतिः स्यात् ॥ ३१-३२ ॥

सम्प्रजन्यस्य उत्पत्ति-स्थैर्ययोः स्मृतिरेव कारणमिति कथयन्नाह—

---

३०. श्रद्धालु पुण्यात्माओं में आचार्य, उपाध्याय आदि के अनुशासन और भय तथा गुरुजनों के सत्संग से स्मृति सहज ही बनी रहती है ॥

३१. "बुद्ध और बोधिसत्त्वों की नजर सब जगह बेरोक-टोक पहुँचती रहती है । यहाँ तक कि उनके सामने सब कुछ हस्तामलकवत् रहता है । मानों मैं उनके सामने ही खड़ा हूँ"— ॥

३२. ऐसा समझ कर गुरुजनों के प्रति लज्जा, गौरव और भय के साथ उसी तरह संयत रहना चाहिए जिस तरह से उसे बराबर बुद्धस्मृति भी बनी रहे ॥

* सम्प्रजन्यं तदायाति न च यात्यागतं पुनः ।
स्मृतिर्यदा मनोद्वारे रक्षार्थमवतिष्ठते ।। ३३ ।।

यदा स्मृतिर्मनोगृहद्वारि क्लेशतस्करसङ्घातानुप्रवेशनिवारिणी दौवारिकवदवस्थिता भवति, तदा सम्प्रजन्यमयत्नत एवोत्पद्यते, उत्पन्नं च सत् स्थिरीभवति ।। ३३ ।।

एवं तावदनयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणदोषावभिधाय अनर्थविवर्जनार्थं निष्फलस्पन्दवर्जनमाह—

* पूर्वं तावदिदं चित्तं सदोपस्थाप्यमीदृशम् ।
निरिन्द्रियेणेव मया स्थातव्यं काष्ठवत् सदा ।। ३४ ।।

[P 114] प्रथमं तावत् इदं चित्तमित्यध्यात्मनि चिन्तयति—सर्वकालमीदृशमुक्तक्रमयुक्तमुपस्थापयितव्यम् । ततः परं निष्फलस्पन्दवर्जनार्थमपगतकरणग्रामेणेव निष्फलरूपादिविषयग्रहणसर्वविकल्पोपसंहारात् मया स्थातव्यम् । किमिव ? काष्ठवद्, चक्षुरादिव्यापारशून्यत्वात् ।। ३४ ।।

इदमेव व्यनक्ति—

* निष्फला नेत्रविक्षेपा न कर्त्तव्याः कदाचन ।
निध्यायन्तीव सततं कार्या दृष्टिरधोगता ।। ३५ ।।

ईषन्मुकुलितपक्ष्मयुगला नासाग्रविनिवेशिता युगमात्रव्यवलोकिनी वा कार्या दृष्टिः ।। ३५ ।।

प्रथमारम्भिणः सतताभ्यासेन क्लेशस्य परिहारार्थमाह—

* दृष्टिविश्रामहेतोस्तु दिशः पश्येत् कदाचन ।
आभासमात्रं दृष्ट्वा च स्वागतार्थं विलोकयेत् ।। ३६ ।।

---

३३. जब यह बुद्धस्मृति मनोद्वार पर पहरेदार के रूप में रहती है, तब सम्प्रजन्य अपने आप आ जाता है, और फिर लौटता नहीं ।।

३४. पहले अपने चित्त को इन उपायों से संयत करना चाहिए—
१—मुझे काष्ठवत् इन्द्रिय विहीन सा रहना चाहिये ।।

३५. २—कभी भी व्यर्थ इधर-उधर दृष्टिनिक्षेप नहीं करना चाहिये ।
३—दृष्टि निरन्तर नीची और ध्यानरत सी रखना चाहिये ।।

३६. ४—चक्षुरिन्द्रिय को आराम देने के लिए कभी-कभी ऊपर ओर भी में देख लेना चाहिये ।

दृष्टिःचित्तपरिखेदपरित्यागाय कदाचित् कर्हिचित् दिशो व्यवलोकयेत्। अथ कदाचित् कश्चित् तत्समीपमागच्छेत्, तदा तस्य प्रतिच्छायामात्रं विदित्वा स्वागतवादेन सन्तोषणार्थं विलोकयेत्। अन्यथा तत्र तस्य अवध्यानेन अकुशलं प्रसवेत् ॥ ३६ ॥ [P 115]

मार्गेऽपि तथादृष्टेर्गच्छत उपघातपरिहारार्थमाह—

* मार्गादौ भयबोधार्थं मुहुः पश्येच्चतुर्दिशम्।
दिशो विश्रम्य वीक्षेत परावृत्यैव पृष्ठतः ॥ ३७ ॥

भयहेतुचौरादिप्रतिपत्त्यर्थं चतुर्दिशमिति क्रमेण। अन्यथा आत्मभावस्य रक्षा कृता न स्यात्। सर्वदिग्व्यवलोकनं तु क्रियमाणमौद्धत्योपघातपरिहारार्थं स्थित्वा कर्तव्यम्। पृष्ठतो व्यवलोकनं परावृत्य पश्चान्मुखीभूय ॥ ३७ ॥

असमाधानस्य च रक्षणायाह—

* सरेदपसरेद्वापि पुरः पश्चान्निरूप्य च।
एवं सर्वास्ववस्थासु कार्यं बुद्ध्वा समाचरेत् ॥ ३८ ॥

सरेत् पुरः। अपसरेत् पश्चात्। प्रपाताद्युपघातं निरीक्ष्य च। एवमित्युक्तक्रमदिशा स्वपरहितप्रयोजनमवगम्य प्रतिपत्तिसारो भवेत् ॥ ३८ ॥

इदानीं सम्प्रजन्यकारितां शिक्षयितुमाह—

* कायेनैवमवस्थेयमित्याक्षिप्य क्रियां पुनः।
कथं कायः स्थित इति द्रष्टव्यं पुनरन्तरा ॥ ३९ ॥

चतुर्णामीर्यापथानामन्यतमस्मिन्नीर्यापथे। कायेनैवमिति [P 116] स्थितेन निषण्णेन वा अवस्थेयमिति। तदनन्तरं स्वाध्यायादिक्रियामारभ्य

५—आगन्तुक के आगमन का आभास मिलते ही आगन्तुक के स्वागतार्थ उसकी ओर नजर घुमानी चाहिये ॥

३७. ६—रास्ता चलते समय, भय का कारण जानने हेतु, चारों ओर देख लेना चाहिये। संयत भाव से कभी-कभी पीछे घूम कर भी देखना चाहिये ॥

३८. ७—आगे-पीछे का ध्यान रखकर ही आगे बढ़ना या पीछे लौटना चाहिये। इस तरह सब स्थितियों को समझ-बूझ कर (सम्प्रजन्य द्वारा) काम करना चाहिये ॥

३९. ८—काम करते समय, 'अब शरीर की स्थिति कैसी है'—यह भी बीच-बीच में देखते रहना चाहिये ॥

पुनरन्तराले व्यवलोकितव्यम्—कथं कायः स्थित इति । तस्मिन्नेवेर्यापथे, उत भिन्ने ईर्यापथे । भिन्ने पुनः पूर्ववदवस्थाप्यः ॥ ३९ ॥

चित्त प्रत्यवेक्षण

कायप्रत्यवेक्षणमभिधाय चित्तप्रत्यवेक्षणामाह—

* निरूप्यः सर्वयत्नेन चित्तमत्तद्विपस्तथा ।
धर्मचिन्तामहास्तम्भे यथा बद्धो न मुच्यते ॥ ४० ॥

धर्मस्य स्वपरहितलक्षणस्य चिन्तैव महास्तम्भो बन्धनायत्तीकरण-हेतुत्वात् ॥ ४० ॥

तस्मिन् बद्धोऽपि पुनः पुनर्निरूपणीय इत्याह—

* कुत्र मे वर्तत इति प्रत्यवेक्ष्यं तथा मनः ।
समाधानधुरं नैव क्षणमप्युत्सृजेद् यथा ॥ ४१ ॥

क्व पुनरिदं मनो मम वर्तते—पूर्वस्मिन्नालम्बने, अन्यत्र वा गतम् ? इति गतमवगम्य ततो निवर्त्य तत्रैव योजयितव्यम् । स्वरसवाहितायामुपेक्षणीयम् । इति शमथधुरमेकमपि क्षणं यथा न परित्यजति तथा धारतिव्यम् । एतावता शीलं हि समाधिसम्वर्तनीयमित्युक्तं भवति । यथोक्तं चन्द्रप्रदीपसूत्रे—

[P 117] "क्षिप्रं समाधिं लभते निरङ्गणं विशुद्धशीलस्यिमि आनुशंसाः" ॥इति ॥
[समाधि० सू० २७.६]

अतोऽवगम्यते–ये केचित् समाधिहेतवः प्रयोगाः, ते शीलेऽनुगता इति । तस्मात् समाध्यर्थिना स्मृतिसम्प्रजन्यशीलेन भवितव्यम् । तथा शीलार्थिनापि समाधौ यत्नः कार्य इति ॥ ४१ ॥

समाधानपरित्यागावकाशमाह—

* भयोत्सवादिसम्बन्धे यद्यशक्तो यथासुखम् ।
दानकाले तु शीलस्य यस्मादुक्तमुपेक्षणम् ॥ ४२ ॥

---

४०. ९–मतवाले हाथी के समान प्रमत्त चित्त का सब तरह से ध्यान रखना चाहिये कि वह धर्म-चिन्तन के विशाल स्तम्भ से बंधा रहे, उससे छूट न सके ॥

४१. १०–'मेरा मन कहाँ है'–यह देखते रहना जरूरी है, ताकि वह समाधि की धुरा को क्षणमात्र के लिए भी न छोड़ पाये ॥

४२. जब समाधि न लगे और भय, उत्साह आदि का आवेग आवे, तब आराम से बैठना चाहिये ॥

अग्निदाहादि भयम् । तथा रत्नत्रयपूजादिकृत उत्सवः । समधिकतरः सत्त्वार्थादिर्वा । तत्सम्भवे यदि स्थातुमशक्तः तदा कामचार इत्यनुज्ञातम् । सापत्तिको न भवतीत्यर्थः । कुतः पुनरयमनियमो लभ्यते ? इत्याह–दानेत्यादि । शीलं यद्यपि दानात्प्रकृष्टम्, तथापि अवरशिक्षायां शिक्षमाणस्य तदनन्तरमेव उत्तरशिक्षावस्थितस्य अभ्यासपाटवाभावात् कथञ्चित् तावत्कालं ततो निवर्तमानस्यापि नापत्तिः । दानस्यासौ कालो न शीलस्य । अत एवोक्तम्— यद्यशक्त इति । एतावन्मात्रेणेदमुदाहरणम् । यथोक्तम्[1]— 'तत्रैकस्यां [P 118] शिक्षायां निष्पाद्यमानायामशक्तस्य इतरशिक्षानभ्यासादनापत्तिः इति ।

आर्याक्षयमतिसूत्रेऽप्येवमवोचत्—"दानकाबे शीलोपसंहारस्योपेक्षा" । इति । न चातः शिथिलेन भवितव्यम् ।। ४२ ।।

यत्र कुशलपक्षसञ्चारेऽपि क्वचित् समाधानविघातः स्यात्, तन्नोपादेयमित्याह—

* यद् बुद्ध्वा कर्तुमारब्धं ततोऽन्यन्न विचिन्तयेत् ।
तदेव तावन्निष्पाद्यं तद्गतेनान्तरात्मना ।। ४३ ।।

स्वयमेव तु युक्त्यागमाभ्यां कल्याणमित्रवचनाद्वा यथाबलमवधार्य यत्किञ्चित्कर्म कतुमारब्धं ध्यानाध्ययनादिकम्, प्रथमतस्तदेव तावन्निष्पत्तिं नेयं तन्निम्नेन चेतसा, न पुनस्तदनिष्पन्नमेव परित्यज्य परमारम्भणीयम् ।।

किं पुनरेवं स्याद्यदि न स्यात् ? इत्याह—

* एवं हि सुकृतं सर्वमन्यथा नोभयं भवेत् ।
असम्प्रजन्यक्लेशोऽपि वृद्धिं चैवं गमिष्यति ।। ४४ ।।

इसी आशय से दान के समय शील की उपेक्षा की बात शास्त्र में कही गयी है ।।

४३. जो कार्य सोच-समझ कर आरम्भ किया गया है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य चिन्तन नहीं करना चाहिये । अपितु उसे ही पहले तन्मयता से पूरा करना चाहिये ।।

४४. इस तरह प्रारब्ध कार्य सरलता से पूर्ण हो जाता है । अन्यथा-चिन्तन से प्रारब्ध और प्रारभ्यमाण—दोनों ही पूरे नहीं होते । उलटे सम्प्रजन्यरूपी क्लेश भी बढ जाता है ।।

---

१. शिक्षासमुच्चये इति शेषः ।

[P 119] यस्मादेवमनुतिष्ठतः सर्वं सुश्लिष्टं कृतं स्यात् । तद्विपर्यये पुनर्दुःश्लिष्टमुभयं पूर्वं चात्तं पश्चात् स्वीकृतं च स्यात् । चलप्रवृत्तेरसम्प्रजन्यं स्यात् । प्रवेशे वृद्धिः स्यात् ।। ४४ ।।

इत्थमपि निष्फलं वर्जयेदित्याह—

* नानाविधप्रलापेषु वर्तमानेष्वनेकधा ।
कौतूहलेषु सर्वेषु हन्यादौत्सुक्यमागतम् ।। ४५ ।।

अनेकप्रकारेऽसम्बद्धाभिधानेऽपरोपाधिके प्रवर्तमाने आश्चर्यवस्तुषु च समस्तेषु स्वयमपि तत्क्रियायां दर्शनश्रवणाय वाञ्चित्तस्य तारतम्यं निवारयत् ।। ४५ ।।

अपरमपि निष्फलवर्जनाय प्रातिमोक्षोद्दिष्टमाचरेत्, इत्याह—

* मृन्मर्दन-तृणच्छेद-रेखाद्यफलमागतम् ।
स्मृत्वा ताथागतीं शिक्षां भीतस्तत्क्षणमुत्सृजेत्[1] ।। ४६ ।।

भूमिफलकादिषु नखदण्डादिना रेखाकर्षणलेखनादि निष्प्रयोजनमा- [P 120] गतमापतितं विवर्जयेत्, भगवता अत्र निवृत्तिराज्ञप्तेति संस्मृत्य, तदतिक्रमविपाकफलभयात् । तत्क्षणमिति न तत्र कालपरिलम्भं कुर्यात् ।।४६।।

संक्लेशसमुदाचारे सम्प्रजन्यकारितां यदेत्यादिभिः सप्तभिः श्लोकैः शिक्षयितुमाह—

* यदा चलितुकामः स्याद्वक्तुकामोऽपि वा भवेत् ।
स्वचित्तं प्रत्यवेक्ष्यादौ कुर्याद्धैर्येण युक्तिमत् ।। ४७ ।।

प्रथमत एव स्वचित्तं निरूप्य । [2]असंक्लिष्टावस्थायां करणीयमुक्तम् ।। ४७ ।।

---

४५. साथियो में अनेक प्रकार से चल रही गप्पों से या कुतूहलोत्पादक बातों से उत्सुक अपने मन को प्रयासपूर्वक रोकना चाहिये ।।

४६. तथागत की शिक्षा का स्मरण कर मिट्टी मसलना, तिनके तोड़ना, जमीन पर लकीरें खींचना आदि निरर्थक बातों को भयपूर्वक छोड़ देना चाहिये ।।

४७. जब कहीं चलने या बोलने का मन करे तो अपने चित को सम्हाल कर धैर्य और विवेक पूर्वक चलना या बोलना चाहिये ।।

---

१. तत्क्षणाद्भीत उत्सृजेत्—पाठा० ।
२. इतः पूर्वम् 'उक्तम्' इत्यधिको मुद्रितः पाठोऽपपाठ एव ।

एतदेव दर्शयति—

* अनुनीतं प्रतिहतं यदा पश्येत् स्वकं मनः ।
न कर्तव्यं न वक्तव्यं स्थातव्यं काष्ठवत्तदा ॥ ४८ ॥

रक्तं द्विष्टं वा स्वचित्तं यदा पश्येत्, तदा हस्तपादादिचलनमात्रमपि न कर्तव्यम्, नापि वचनोदीरणम् । अन्यथा तदुत्थापिते कायवाग्विज्ञप्ती अपि संक्लिष्टे स्याताम् । अतो बहिरिन्द्रियव्यापारविकल्पावुपसंहृत्य **स्थातव्यं काष्ठवत्तदा** । सर्वव्यापारविरहान्निर्व्यापाराः सर्वधर्मा इति मनसि निधाय ॥

अपरमाह—

* उद्धतं सोपहासं वा यदा मानमदान्वितम् ।
सोत्प्रासातिशयं वक्रं वञ्चकं च मनो भवेत् ॥ ४९ ॥

[P 121] **उद्धतमिति** । सद्धर्मादिश्रवणप्रमादादपि उद्धतम् । विक्षेपबहुलमित्यर्थः । **सोपहासं** वाग्विहेठनारम्भकम्, तया युक्तं वा । **मानश्चित्त**स्योन्नतिः । **मदः** स्वधर्मे चित्तस्याभिनिवेशः । ताभ्यामन्वितं तत्सम्प्रयुक्तम् । **उत्प्रास** कायिकी विहेठना, तेन सहोत्कटम् । **वक्रं** कुटिलं शठं वा । **वञ्चकं** प्रतारकं मायावि वा । यदि **मनो भवेत्**, स्थातव्यं काष्ठवत्तदेति (अग्रिमेण सह ५. ५०) सम्बन्धः ॥ ४९ ॥

* यदात्मोत्कर्षणाभासं परपंसनमेव वा ।
साधिक्षेपं ससंरम्भं स्थातव्यं काष्ठवत्तदा ॥ ५० ॥

आत्मोत्कर्षणं स्वगुणातिशयप्रकाशनम् । तदाभासं तत्प्रतिभासं तद्विकल्पनात् । **परपंसनं** परविग्रहः दोषाविष्करणं वा, तद्युक्तम् । **अधिक्षेपः** परस्य वचनतिरस्कारः । **संरम्भः** सदाकलिविवादनिमित्तचित्तप्रदोषः । उभयत्र सह तेन वर्तत इति विग्रहः । एवं यदा पश्येत् स्वकं मनः, **स्थातव्यं काष्ठवत् तदेति** सामान्योक्तमभिसम्बध्यते ॥ ५० ॥

---

४८. जब अपना मन किसी के प्रति रागी या द्वेषी मालूम पड़े, तब निष्क्रिय रहना चाहिये, बोलना नहीं चाहिये । ऐसे समय में व्यक्ति काठ की तरह निश्चल पड़ा रहे ॥

४९. जब चित्त चंचल, उपहासकारी, मानी, मदान्ध हो, हंसी-मजाक करने की मुद्रा में हो, उत्कट, कुटिल या दूसरे को धोखा देना चाह रहा हो ॥

५०. और जब वह आत्मप्रशंसा, परनिन्दा, गाली-गुपता देना या झगड़ा करना चाह रहा हो तब भी जिज्ञासु को काष्ठवद् निश्चल पड़े रहना चाहिये ॥

* लाभसत्कारकीर्त्यर्थि परिवारार्थि वा पुनः ।
उपस्थानार्थि मे चित्तं तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ।। ५१ ।।

[P 122] कीर्तिर्यशः । परिवारः दासीदासकर्मकरादिः । उपस्थानं पादधावनमर्दनादि । एभिरर्थि तदभिलाषं मम चित्तम् । तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ।। ५१ ।।

* परार्थरूक्षं स्वार्थार्थि परिषत्काममेव वा ।
वक्तुमिच्छति मे चित्तं तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ।। ५२ ।।

परार्थरूक्षं परार्थविमुखम् । स्वार्थार्थि स्वार्थाभिनिविष्टम् । परिषत् शिष्यान्तेवासिप्रभृतिजनसमाजः । तदभिलाषि तत्परिवारार्थि ।। ५२ ।।

* असहिष्ण्वलसं भीतं प्रगल्भं मुखरं तथा ।
स्वपक्षाभिनिविष्टं च तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ।। ५३ ।।

असहिष्णु असहनशीलम् । अलसं क्रियासु अकर्मण्यम् । कुसीदमित्यर्थः । भीतं कायजीवितभीरु भयहेतुभ्यो वा । प्रगल्भं धृष्टम् । मुखरं दुर्वचस्कम्, युक्तायुक्तमनपेक्ष्य अभिधायकं वा । स्वपक्षे शिष्यान्तेवासि-ज्ञाति-सालोहितादौ अभिनिविष्टं पक्षपातातिशयवत् ।। ५३ ।।

साम्प्रतं प्रतीकारनिर्देशमाह -

* एवं सङ्क्लिष्टमालोक्य निष्फलारम्भि वा मनः ।
निगृह्णीयाद् दृढं शूरः प्रतिपक्षेण तत्सदा ।। ५४ ।।

[P 123] उपदर्शितक्रमेण संक्लिष्टं संक्लेशसम्प्रयुक्तं निष्फलव्यापारं वा ज्ञात्वा स्वचित्तं सर्वप्रवृत्तिनिरोधेन प्रभावमन्दतां विधाय निगृह्णीयात् अभिभवेत् । दृढं यथा पुनरपि समुदाचारधर्मकं न भवति । क्लेशादिसंग्रामे

---

५१. मेरा चित्त अपने लिये लाभ-सत्कार-कीर्ति का अभिलाषी है, परिचारक चाहता है, उनसे सेवा चाहता है, अतः मैं काष्ठवत् निश्चल पड़ा हूं ।।

५२. मेरा चित्त अब परहितविमुख, स्वार्थपरायण या भीड-भाड़ इकट्ठी कर उसमें बोलना चाहता हैं, अतः मैं काष्ठवत् निश्चल पड़ा हूं ।।

५३. मेरा चित्त अब असहिष्णु, आलसी, डरा हुआ, उद्दण्ड अथवा अनर्गल प्रलापी एवं पक्षपाती हो गया है, अतः मैं काष्ठवत् निश्चल हूँ ।।

५४. जिज्ञासु पुरुष को चाहिये कि ऐसे क्लेशयुक्त, व्यर्थ प्रवृत्ति वाले मन का, उसके विरोधी भावों का उदय कर, निग्रह करे ।।

विजयाय कृतपरिकरः शूरो बोधिसत्त्वः। प्रतिपक्षेण यो यस्मिन् प्रतिपक्ष उक्तः, यथा—रागादावशुभादि, तेन तद्विपरीतविधानेनेत्यर्थः। सदा सर्वकालम्, यदा यदा संक्लिष्टं प्रतीयते।

उग्रपरिपृच्छायां गृहिणं बोधिसत्त्वमधिकृत्योक्तम्—"तेन सुरामैरेयमद्यप्रमादस्थानात् प्रतिविरतेन भवितव्यम्, अमत्तेन अनुन्मत्तेन अचपलेन अचञ्चलेन अभ्रान्तेन अमुखरेण अनुन्नतेन उपस्थितस्मृतिना सम्प्रजन्येन" इति ॥

अत्रैव च प्रव्रजितं बोधिसत्त्वमधिकृत्योक्तम्—"स्मृतिः सम्प्रजन्यस्याविक्षेपः" इति ॥

तथा आर्यतथागतगुह्यसूत्रे दर्शितम्—"न खलु पुनः, कुलपुत्र, बोधिसत्त्वस्य वाग् रक्ता वा दुष्टा वा मूढा वा क्लिष्टा वा क्षणव्याकरणी वा स्वपक्षोत्कर्षणवचना वा परपक्षनिग्रहवचना वा आत्मवर्णानु-[P 124] नयवचना वा परवर्णप्रतिघातवचना वा प्रतिज्ञोत्तारणवचना वा आभिमानिकव्याकरणवचना वा" इति ॥

एवं निष्फलस्पन्दवर्जनेन अनर्थादात्मभावस्य रक्षा प्रतिपादिता भवति। तस्मान्मया शीलसुस्थितेन अप्रकम्पेन अशिथिलेन भवितव्यमिति ॥

एतच्च समाहितचित्तस्य सिध्यति। अत इदं शमथमाहात्म्यमवगम्य तात्पर्येण भावयितव्यम्। अनेन तीव्र आदरो भवति शिक्षासु। तेनापि स्मृतिरुपतिष्ठते। उपस्थितस्मृतिर्निष्फलं कर्म वर्जयति। तस्य अनर्था न सम्भवन्ति। तस्मादात्मभावं रक्षितुकामेन स्मृतिमूलमन्विष्य नित्यमुपस्थितस्मृतिना भवितव्यम्। एतदेवाह— [P 125]

"तत्रात्मभावे का रक्षा यदनर्थविवर्जनम्।
केन तल्लभ्यते सर्वं निष्फलस्पन्दवर्जनात् ॥

एतत्सिध्येत् सदा स्मृत्या स्मृतिस्तीव्रादराद्भवेत्।
आदरः शममाहात्म्यं ज्ञात्वाऽऽतापेन जायते ॥ इति।

(शि० स०, का० ७-८)

शमथमाहात्म्यं तु यथावसरमिहैव कथयिष्यते ॥ ५४ ॥

अयमत्र पिण्डार्थः अनर्थविवर्जनार्थमवधारयितव्य इति वृत्तत्रितयेनोपदर्शयन्नाह—

* सुनिश्चितं सुप्रसन्नं धीरं सादरगौरवम् ।
सलज्जं सभयं शान्तं पराराधनतत्परम् ॥ ५५ ॥

* परस्परविरुद्धाभिर्बालेच्छाभिरखेदितम् ।
क्लेशोत्पादादिदं ह्येतदेषामिति दयान्वितम् ॥ ५६ ॥

* आत्मसत्त्ववशं नित्यमनवद्येषु वस्तुषु ।
निर्माणमिव निर्मानं धारयाम्येष मानसम् ॥ ५७ ॥ [P 126]

सुनिश्चितं सन्देहविपर्यासरहितम् । सुप्रसन्नं सदा प्रीतिसौमनस्यबहुलम् । धीरमचञ्चलम् । आदरः कथित एव । गौरवं आराध्येषु चित्तस्य नम्रता । ताभ्यां सह वर्तते । सलज्जं पूर्ववत् । सभयं स्खलितमालोक्य भीतम् । शान्तं संयतेन्द्रियम् । सत्त्वाराधनयत्नवत् ॥ ५५ ॥

यदेकस्य रुचिजनकं तदन्यस्य विपरीतम् । अन्योन्यविरुद्धाभिः पृथग्जनेच्छाभिरखेदितमविप्रतिसारि । कथम् ? दयान्वितम् । हेतुपदमेतत् । कुतः ? यस्मात् क्लेशोत्पादान्न स्वातन्त्र्यादिदमेतत् परस्परविरुद्धचरितमेषां बालानामिति मत्वा ॥ ५६ ॥

आत्मसत्त्ववशं स्वपरायत्तं सर्वकालम् । किं सर्वत्र ? न, अनवद्येषु वस्तुषु उभयसावद्यशून्येषु । किंवत् ? निर्माणमिव निर्मितवत् । विगतमानं मानसं धारयामि । एषोऽर्हन्ति बोधिसत्त्वो मनसि निवेशयेत् ॥ ५७ ॥

अस्मादपि संवेगमनसिकाराच्चित्तस्यानर्थविवर्जनेन रक्षा विधातव्येत्याह—

* चिरात् प्राप्तं क्षणवरं स्मृत्वा स्मृत्वा मुहुर्मुहुः । [P 127]
धारयामीदृशं चित्तमप्रकम्प्यं सुमेरुवत् ॥ ५८ ॥

---

५५. (जिज्ञासु कहता है—) मैं तो सुनिश्चित, अतीव प्रसन्न, धीर, आदर-सहित, गौरवान्वित, छोटे-बड़ों की लज्जा कर माननेवाले, शान्त, दूसरों का हितकारी, ॥

५६. मूढ लोगों की परस्पर विरुद्ध बातों से न चिढ़ता हुआ, 'क्लेश के कारण इनमें यह ऐसा है'—यह सोचते हुए उनके प्रति दयालु, ॥

५७. धर्माचरण में सदा स्वाधीन, ऋद्धिनिर्मित के समान निरभिमानी मन को धारण करता हूं ॥

५८. बहुत समय बाद प्राप्त श्रेष्ठ क्षण का बार-बार स्मरण कर चित्त को ऐसे निगृहीत करता हूं कि वह सुमेरु की तरह अडिग बना रहे ॥

अतिचिरेण कालेन लब्धम् उक्तं क्षणवरं स्मरणेन चेतसि कृत्वा पुनः पुनरन्तरं स्थिरीकरोमि ईदृशमुक्तस्वभावम्। अप्रकम्प्यं कम्पयितुमशक्यं कामादिवितर्कपवनैः पर्वतराजवत्॥

एवमेताभ्यां शीलसमाधिभ्यामन्योन्यसंवर्धकाभ्यां चित्तकर्मपरिनिष्पत्तिः। तस्मादवस्थितमेतत्--चित्तपरिकर्मैव बोधिसत्त्वशिक्षा इति। तेन यदुक्तम् —

"चित्तरक्षाव्रतं मुक्त्वा बहुभिः किं मम व्रतैः"। [बो० च० ५.१८]

इति, तत् परिनिष्ठितम्॥ ५८॥

पुनस्तदेकान्तमवधारयितुं कायप्रत्यवेक्षामाह—

* गृध्रैरामिषसंगृद्धैः कृष्यमाण इतस्ततः।
न करोत्यन्यथा कायः कस्मादत्र प्रतिक्रियाम्॥ ५९॥

कायस्य सर्वथा क्वचिदपि व्यापारो नास्ति, स्वात्मन्यपि सामर्थ्याभावात्। अन्यथा चित्तरहितो मृतस्य कायः। गृध्रादिभिर्विप्रलुज्यमान इतस्ततः प्रतीकारमात्मरक्षणार्थं किमिति न करोतीति पृच्छति, [P 128] सर्वसामर्थ्यविकलत्वात्। अत एव चित्तपरिकर्मैव साध्यम्। तस्मिन् परिकर्मिते कायस्य अयत्नत एव परिकर्मसिद्धेः, तत्परतन्त्रात्तस्येत्युक्तं भवति॥

एवं सर्वथानुपयोगिनि काये सापेक्षतां निरस्यन्नाह—

* रक्षसीमं मनः कस्मादात्मीकृत्य समुच्छ्रयम्।
त्वत्तश्चेत् पृथगेवायं तेनात्र तव को व्ययः॥ ६०॥

हे मन, अनात्मकमेव आत्मत्वेन स्वीकृत्य मांसास्थिपुञ्जं कायसंज्ञकं कस्मात् कारणात् त्वं रक्षसि? किमेवमिति चेत् भवतो यदि भिन्न एवायं कायः तेन अस्यापचये तव किमपचीयते?॥ ६०॥

पूर्वमेव चिरं स्वीकृत इति चेत्? आह—

---

५९. क्योंकि चित्तहीन शरीर निकम्मा है, अन्यथा शरीर के मुर्दा होने पर मांसलोभी गृध्रों से इधर-उधर खींचे जाने पर वह उनका प्रतीकार क्यों नहीं कर पाता!॥

६०. हे मन, तूं इस हड्डी-मांस के ढेर (शरीर) की, अपना समझ कर, क्यों रक्षा कर रहा है! यदि यह तुझसे पृथक् ही है तो इससे तेरा क्या बिगड़ेगा॥

* न स्वीकरोषि हे मूढ काष्ठपुत्तलकं शुचिम् ।
अमेध्यघटितं यन्त्रं कस्माद् रक्षसि पूतिकम् ॥ ६१ ॥

हे मूढ, मोहविजृम्भितमेतद् भवतः । **शुचि** पवित्रम् । अयं च अशुचिः । इदमेवाह—**अमेध्येति** । पूतिकं शतनधर्मकम् ॥ ६१ ॥

स्यादेतत्—किमन्यस्मिन्नसन्नपि दोष उच्यते ? इत्यत्राह—

* इमं चर्मपुटं तावत् स्वबुद्धयैव पृथक् कुरु ।]P 129]
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय ॥ ६२ ॥

* अस्थीन्यपि पृथक्कृत्वा पश्य मज्जानमन्ततः ।
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय ॥ ६३ ॥

चर्ममयं पुटम् । स्वमतिविशेषेण **पृथक् कुरु** स्वकायादपसारय । **अस्थि**-घटितपञ्जराद् यन्त्रात् **प्रज्ञा**त्मकेन **शस्त्रेण** मांसकर्तनेन । तदनन्तरम**स्थीन्यपि** खण्डशः **पृथग्** भिन्नानि **कृत्वा मज्जानं पश्य** अवलोकय । यदि अनन्तरं कायः चतुर्महाभूतिकः मातापित्रशुचिकललसम्भूतः दुःखमयः कृतघ्नश्चेति विस्तरेण प्रतिपादयिष्यति (बो० च० ९–५९–६०, ७९, ८८ इति) **किमत्र सारमस्ति** विज्ञप्रशस्तं न्याय्यं वा, इत्यात्मनैव **विचारय** ॥ ६२-६३ ॥

* एवमन्विष्य यत्नेन न दृष्टं सारमत्र ते ।
अधुना वद कस्मात् त्वं कायमद्यापि रक्षसि ॥ ६४ ॥

एवं कथितनयेन । साधूक्तमिति चेत्, **अधुना वद कस्मात् त्वमद्यापि** सर्वगुणविकलमपि **कायं रक्षसि** ? एवं विद्वानपि ॥ ६४ ॥

---

६१. अरे मूर्ख ! यदि तुझे यही व्यर्थ का कार्य करना है तो उस पवित्र कठ-पुतली को क्यों नहीं अपनाता (जिसमें यह सब गन्दगी तो नहीं है) । अशुचियुक्त, गन्दगी भरे इस यन्त्र की किसलिये इतनी देखभाल कर रहा है ! ॥

६२. चमड़े के इस खोल को अपने मन से चिन्तन द्वारा अलग कर ! फिर प्रज्ञाशस्त्र (सम्प्रजन्य) द्वारा इस मांस-अस्थिसमूह से अलग कर, ॥

६३. फिर हड्डियों को भी अलग कर मज्जा को देख और स्वयं विचार कर कि इसमें कोई तत्त्व है या नहीं ! ॥

६४. इस प्रकार यत्नपूर्वक मार्गणा करने पर भी इसमें तुझे कोई तत्त्व नहीं दिखायी दिया । अब तूं ही वता ! फिर भी तूं इस शरीर की रक्षा करने में ही क्यों लगा हुआ है ! ॥

तथापि अस्ति किञ्चिदत्रोपादेयमिति चेदाह—

* न खादितव्यमशुचि त्वया पेयं न शोणितम् ।
नान्त्राणि चूषितव्यानि किं कायेन करिष्यसि ।। ६५ ।। [P130]

यदस्ति, न तदुपयुक्तमिति संक्षेपार्थः । अतः किमनुपयोगिना **कायेन करिष्यसि** ? अत्र आसङ्गो न युक्त इत्यर्थः ।। ६५ ।।

अन्यप्रयोजनाभावादिदमेवोचितमुत्पश्यामः ? इत्याह—

* युक्तं गृध्रशृगालादेराहारार्थं तु रक्षितुम् ।
कर्मोपकरणं[1] त्वेतन्मनुष्याणां[1] शरीरकम् ।। ६६ ।।

यस्मात् कर्मणि केनचित् सहकारिभावेनोपयुज्यते इति रक्ष्यते ।। ६६ ।।

तथापि नात्राभिनिवेशः कार्य इत्याह—

* एवं ते रक्षतश्चापि मृत्युराच्छिद्य निर्दयः ।
कायं दास्यति गृध्रेभ्यस्तदा त्वं किं करिष्यसि ।। ६७ ।।

आच्छिद्येति बलात् । भवतो गृहीत्वा निष्कृपो मृत्युस्तव कायं गृध्रेभ्यो दास्यति, तदापि न कश्चित् प्रतिकारो भविष्यति इत्यभिप्रायः ।। ६७ ।।

स्यादेतत्, यद्यपि एवम्, तथापि भक्ताच्छादनमात्रेणापि परिपालनीय इत्यत्राह—

* न स्थास्यतीति भृत्याय न वस्त्रादि प्रदीयते । [P 131]
कायो यास्यति खादित्वा कस्मात्त्वं कुरुषे व्ययम् ।। ६८ ।।

---

६५. न तुझे गन्दी चीजें खाना है, न रक्त पीना है, न आँतें चूसनी हैं, फिर तूँ इस शरीर से क्या फायदा उठायेगा (कि इसकी इतने यत्न से रक्षा कर रहा है !) ।।

६६. कर्म-साधन होने के कारण ही इस शरीर की रक्षा करनी पड़ती है, अन्यथा यह गिद्धों या शृगालों का भोज्य पदार्थ बनने के लिये ही उपयुक्त है ।।

६७. और यत्नपूर्वक रक्षा करते हुए भी निर्दय मौत जब तेरे इस शरीर को तुझसे छीन कर गिद्धों को दे ही देगी तब तूँ क्या करेगा ? ।।

६८. सेवा में न ठहरने वाले नौकर को अपनी ओर से कपड़े-लत्ते नहीं दिये

१-१. ०करणत्वं तन्मनु०; कर्मोपकरणं त्वेतन्मनु०—पाठा० ।

यदि नाम भृत्यकर्मकरणम्, तथापि तत्रानवस्थायित्वभावे विचक्षणो ज्ञात्वैव प्रवर्तते, एवं प्रकृतेऽपि तद्धर्मिणि केनाभिप्रायेण हे मनः त्वं कुरुषे व्यथमुपकरणोपक्षयम् ? ।। ६८ ।।

तत् किं सर्वथैव निरवकाशोऽयं कर्तव्यः ? नेत्याह—

* दत्वास्मै वेतनं तस्मात् स्वार्थं कुरु मनोऽधुना ।
न हि वैतनिकोपात्तं सर्वं तस्मै प्रदीयते ।। ६९ ।।

वेतनं कर्ममूल्यम् । तावन्मात्रं दत्वा अस्मै गत्वरशरीराय, कर्मोपकरणत्वात्, स्वप्रयोजनमनुविधेयं हे मनः ! अनेनैवोपार्जितं कस्मादस्मै न दीयते इति चेत् ? न हि यस्मात् यत्किञ्चित् कर्मकरेणोपात्तं सर्वं तस्मै कर्मकराय प्रदीयते इति न्यायोऽस्ति ।। ६९ ।।

तस्मादेवमुपस्तम्भमात्रं दत्वा—

* काये नौबुद्धिमाधाय गत्यागमननिश्रयात् ।
यथाकामङ्गमं कायं कुरु सत्त्वार्थसिद्धये ।। ७० ।।

[P 132] काये नौबुद्धिं कृत्वा प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतोः इच्छायत्तं कायं कुरु सत्त्वार्थानुष्ठानाय निष्पत्तये वा । हे मनः इति प्रकृतमभिसम्बध्यते ।। ७० ।।

इति कायप्रत्यवेक्षया तत्स्वभावमुपयोगं च विचार्य परिनिश्चितकायप्रयोजनमुपसंहरन्नाह—

* एवं वशीकृतस्वात्मा नित्यं स्मितमुखो भवेत् ।
त्यजेद् भृकुटिसङ्कोचं पूर्वाभाषी जगत्सुहृत् ।। ७१ ।।

जाते, फिर तू क्यों इस शरीर पर व्यर्थ खर्च कर रहा है ! यह शरीर तो, तेरा खा-पी कर भी, चला जाने वाला ही हैं ।।

६९. हे मन ! इस शरीर को मामूली मजदूरी देकर (अस्थायी मजदूर की तरह) अपना काम भर निकाल ! मजदूर की सारी कमाई उसे ही नहीं दे दी जाती ! ।।

७०. तूं अपने इस शरीर को इस भवसागर में आने-जाने का साधनमात्र समझ । इस शरीर को तूं प्राणियों के हित-चिन्तन के लिए तेरे इच्छाधीन चलने वाला बना ।।

७१. इस तरह स्वयं को स्वाधीन कर सदा हँसमुख रहना चाहिये । आँखें टेढ़ी कर बात नहीं करना चाहिये । आने वाले के साथ उसके बोलने से पूर्व ही

उक्तनीत्या आयत्तीकृत आत्मा चित्तकायलक्षणः । सर्वदा प्रसन्नवदनो भवेत् । भ्रूललाटसङ्कोचं च प्रसादहानिकरं त्यजेत् । पूर्वमेव असञ्चोदित एव परेण स्वागतादिवादैः सन्तोषणशीलो भवेत् । सर्वसत्त्वानामकारण-बान्धवश्च ॥ ७१ ॥

इत्यपि शिक्षा अनर्थवर्जनाय कार्येत्याह—

* सशब्दपातं सहसा न पीठादीन् विनिक्षिपेत् ।
नास्फालयेत् कपाटं च स्यान्निःशब्दरुचिः सदा ॥ ७२ ॥

सहसा त्वरितमेव निष्प्रयोजनं हस्तदण्डादिना कपाटं च नाकोटयेत् । संक्षेपतः निःशब्दाभिरतिर्भवेत् ॥ ७२ ॥

क एवं सति गुणः स्यात् ? इत्याह—

* बको विडालश्चौरश्च निःशब्दो निभृतश्चरन् ।
प्राप्नोत्यभिमतं कार्यमेवं नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ७३ ॥

एते सर्वे निःशब्दा अनुद्धताश्च विहरन्तो विवक्षितमर्थं लभन्ते । व्रतिनापि तथैव समाधानकण्टकपरिहारेण विहर्तव्यम् ॥ ७३ ॥ [P 133]

इत्यपि शिक्षितव्यमित्याह—

* परचोदनदक्षाणामनधीष्टोपकारिणाम् ।
प्रतीच्छेच्छिरसा वाक्यं सर्वशिष्यः सदा भवेत् ॥ ७४ ॥

कुशल-समाचार पूछना चाहिये । इस तरह सबका कल्याणमित्र बनने का प्रयास करना चाहिये ॥

७२. बैठने आदि के पीठादि सामानों को इस तरह न रखे कि रखते समय उनसे आवाज हो, किवाड़ों को भड़भड़ा कर न बन्द करे । मतलब यह हैं कि सदा शान्त रहने का प्रयास करे ॥

७३. बगुला, बिल्ली और चौर शान्त और चुपचाप रहकर ही अपना मनोरथ पूरा कर पाते हैं । जिज्ञासु को भी स्वकार्यसिद्धि हेतु हमेशा इन्हीं की तरह आचरण करना चाहिये ॥

७४. उपदेश में परम कुशल, विना कहे उपकार करने वाले पुरुषों का सम्मान करना चाहिये । तथा कुछ ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से इनका शिष्य बने रहना चाहिये ॥

कौकृत्यविनोदनाववादानुशासनीसमर्थानां विनयादिकोविदानाम् अप्रार्थितहितैषिणां हितविधायकं वचनं मूर्ध्ना गृह्णीयात् । न तेषु स्वचित्तं दूषयितव्यम्, नाप्यवमानना कार्येति भावः । सर्वसत्त्वेषु गुरुगौरवधिया समाचरितव्यमिति सर्वं सर्वेभ्यः शिक्षेत् ॥ ७४ ॥

ईर्ष्यामलप्रक्षालनामाह –

* सुभाषितेषु सर्वेषु साधुकारमुदीरयेत् ।
पुण्यकारिणमालोक्य स्तुतिभिः सम्प्रहर्षयेत् ॥ ७५ ॥

परकीयगुणवर्धनवचनेषु तत्परितोषणाय साधु, साधु भद्रकमिदम्, इति शब्दमध्याशयेनोच्चारयेत् । कुशलकर्मकारिणमपि दृष्ट्वा 'साधु कृतम्', 'धन्यो भवान् सुकृतकर्मकारी' – इत्यादिभिः स्तुतिवचनैः प्रोत्साहयेत् ॥७५॥

लपनाशङ्कां निरस्यन्नाह—

* परोक्षं च गुणान् ब्रूयादनुब्रूयाच्च तोषतः । [P 134]
स्ववर्णे भाष्यमाणे च भावयेत्तद्गुणज्ञताम् ॥ ७६ ॥

परगुणान् सद्भूतानपि परोक्षं ब्रूयान्न समक्षम् । अन्यथा लपनां कश्चिन्मन्येत । परेण तु तत्समक्षमन्यस्य गुणे भाष्यमाणे तदनुवादकतया समक्षमपि ब्रूयात् । अन्यथा नास्य रुचिरत्रेति मत्वा स्वचित्तं प्रदूषयेत् परः । स्वगुणे पुनः केनचिद् गुणपक्षपातिना प्रसन्नेन समक्षं परोक्षं च कीर्त्यमाने चित्तस्योन्नतिं निवारयँस्तस्यैव गुणाभिधायकस्य गुणानुरागितां मनसि कुर्यात् ॥ ७६ ॥

परगुणामर्षणं वारयन्नाह--

* सर्वारम्भा हि तुष्टयर्थाः सा वित्तैरपि दुर्लभा ।
भोक्ष्ये तुष्टिसुखं तस्मात् परश्रमकृतैर्गुणैः ॥ ७७ ॥

---

७५. सब सुभाषित-प्रसङ्गों के अवसर पर उपस्थित लोगों का सम्मान करना चाहिये । पुण्यवान् जनों को देखकर उनकी स्तुति करते हुए प्रशंसा करनी चाहिये ॥

७६. उनका, पीठ पीछे ही, गुणानुवाद करना चाहिये, अन्यथा उसे वकवाद ही समझा जायगा । सन्तोषपूर्वक उनका समर्थन करना चाहिये । अपनी प्रशंसा सुन कर चुप रहना चाहिये ।

७७. (आर्य शान्तिदेव कहते हैं—) सब काम अपने सन्तोष के लिये ही किए जाते हैं । ∵ यह सन्तोष धन से नहीं खरीदा जा सकता । अतः दूसरों के श्रम से अर्जित गुणों से सन्तोष-सुख का अनुभव करूंगा ॥

सर्वेषां हीनमध्योत्कृष्टानां सत्त्वानाम् । सर्वे वा उपक्रमाः दुःखपरिहारेण तुष्टचर्थाः । सर्वारम्भपरिश्रमेण तुष्टिरेवोत्पादयितव्येत्यर्थः । सा च तुष्टिर्धनविसर्गैरपि दुर्लभा, स्याद्वा न वेति । इह पुनरयत्नसिद्धोपस्थिता कस्मात् परिहीयत इति मत्वा भोक्ष्ये अनुभविष्यामि सन्तोषसुखम् अन्ययत्ननिष्पादितैर्गुणैरुपनामितम् । न हि प्रियपुत्रगुणैरक्षमा युक्ता। इति भावनया परगुणश्रवणाच्चित्तकार्कश्यमपकुर्यात् ।। ७७ ।।

अत्रैवोपचयमाह—

* न चात्र मे व्ययः कश्चित् परत्र च महत् सुखम् । [P 135]
अप्रीतिदुःखं द्वेषैस्तु महद् दुःखं परत्र च ।। ७८ ।।

नैव अस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिमतो मम इह लोके वा उपक्षयलेशोऽपि सम्भवति । उपचयः पुनर्विद्यत एवेति दर्शयति—परत्र च महत् सुखं परगुणाभिनन्दनात् । एवमक्रियमाणे पुनरपचयो दृश्यते, उभयलोकेऽपि दुःखं परगुणासहनात् ।। ७८ ।।

तस्मात् सर्वकल्मषपरित्यागेन इयमुचिता कर्मकारिता शिक्षणीयेत्याह—

* विश्वस्तविन्यस्तपदं विस्पष्टार्थं मनोरमम् ।
श्रुतिसौख्यं कृपामूलं मृदुमन्दस्वरं वदेत् ।। ७९ ।।

सर्वावद्यविनिर्मुक्तत्वाद् विश्वस्तम् । आनुपूर्व्या व्यवस्थितपदम् । असन्दिग्धार्थम् । मनः प्रह्लादनकरम् । श्रवणाप्यायकम् । करुणारसनिष्यन्दभूतं न रागादिनिदानम् । मृदुस्वरकर्कशवचनम् । मन्दस्वरं यावता ध्वनिना प्रतिपाद्यस्य प्रतीतिः स्यात्, न ततो न्यूनं नातिरिक्तमुदीरयन् ।। ७९ ।।

* ऋजु पश्येत् सदा सत्त्वाँश्चक्षुषा सम्पिबन्निव ।
एतानेव समाश्रित्य बुद्धत्वं मे भविष्यति ।। ८० ।।

---

७८. इस कार्य में मेरा अपना कोई खर्च नहीं लगना है, और परलोक में भी इससे मुझे अत्यधिक सुख ही मिलेगा । द्वेष से तो यहाँ भी असन्तोष-दुःख है, और परलोक का तो कहना ही क्या ? ।।

७९. विश्वस्त एवं व्यवस्थित पदों से युक्त, निश्चित अर्थ वाले, मनोहर, सुनने में सुखदायी, दयापूर्ण मृदु शब्दों द्वारा मन्द स्वर से बातचीत करनी चाहिये ।।

८०. प्राणियों को सहज भाव से, आँखों से पीते हुए सा, देखना चाहिये । और सोचना चाहिये कि इन्हीं की सेवा के सहारे मुझे बुद्धत्व की प्राप्ति होगी ।।

अवक्रमकुटिलं परमप्रीतिरसभरावनतेन चक्षुषा तृषित इव शीतलजल-[P 136] परमाह्लादकरं सम्पिबन्निव सत्त्वान् व्यवलोकयन्। न रक्तेन न दुष्टेन मुग्धेन। परमोपकारका ह्येते। कुतः ? यस्मादेतान् सत्त्वान् समासाद्य दुर्लभलाभं बुद्धत्वं मे भविष्यति उत्पत्स्यते। एवं च विहरन् अद्यत्वेऽपि सत्त्वार्थसमर्थो भवत्येव। यदुक्तम्—

"सर्वत्राचपलो मन्दमितस्निग्धाभिभाषणात्।
आवर्जयेज्जनं भव्यमादेयश्चापि जायते"॥ इति।

(शि० स०, का० १०)

एतदेव च बोधिसत्त्वस्य कृत्यं यदुत सत्त्वावर्जनं नाम, यथा धर्मसङ्गीतिसूत्रे आर्यप्रियदर्शनेन बोधिसत्त्वेन परिदीपितम्—

तथा तथा, भगवन्, बोधिसत्त्वेन प्रतिपत्तव्यं यत्सहदर्शनेन सत्त्वाः प्रसीदेयुः। तत् कस्माद्धेतोः ? न, भगवन्, बोधिसत्त्वस्यान्यत् करणीयमस्ति, अन्यत्र सत्त्वावर्जनात्। सत्त्वपरिपाक एवेयं, भगवन्, बोधिसत्त्वस्य धर्म-सङ्गीतिरिति॥

एवमक्रियमाणे को दोष इति चेत् ?

"अनादेयं तु तं लोकः परिभूय जिनाङ्कुरम्।
भस्मच्छन्नं यथा वह्निं पच्येत नरकादिशु"॥ इति।

(शि० स०, का० ११)

तस्मात् सत्त्वाराधनमेव बोधिसत्त्वस्य कर्म उपकारिक्षेत्रम-[P 137] साधारणं पुण्यप्रसूतिहेतुरिति॥ ८०॥

तत्प्रसङ्गेन अन्यदपि दर्शयन्नाह—

* सातत्याभिनिवेशोत्थं प्रतिपक्षोत्थमेव[1] च।
गुणोपकारिक्षेत्रे च दुःखिते च महच्छुभम्॥ ८१॥

समादानेन क्रियमाणम्। अभिनिवेशोत्थं तीव्रप्रसादजनितम्। प्रति-पक्षोत्थं क्लेशप्रतिपक्षशून्यतादिभावनाप्रसूतम्। गुणक्षेत्रं बुद्धबोधिसत्त्वादि।

---

८१. श्रद्धाजनित शून्यतादि भावना से उत्पन्न बुद्ध-धर्म-सङ्घ (गुणक्षेत्र), माता-पिता आचार्य (उपकार क्षेत्र), और दुःखित क्षेत्रों में दान आदि कर्मों से महान् पुण्य होता है॥

---

१. प्रतिपक्षार्थमेव—पाठा०।

उपकारक्षेत्रं मातापित्रादि । दुःखिता ग्लानादयः । एतेषु स्वल्पमपि कृतमप्रमेयशुभहेतुरुपजायते ॥ ८१ ॥

इदमपि बोधिसत्त्वेनाभ्यसनीयमित्याह—

* दक्ष उत्थानसम्पन्नः स्वयङ्कारी सदा भवेत् ।
नावकाशः प्रदातव्यः कस्यचित् सर्वकर्मसु ॥ ८२ ॥

दक्षः सर्वत्र पटुप्रचारः । उत्थानसम्पन्नः कौसीद्यापनयनाद् [P 138] वीर्यसमन्वागतः । अत एव स्वयमेव सर्वं करणीयम्, न परापेक्षा क्वचिदपि कर्मणि कार्या । इदमेव नावकाश इत्यादिना दर्शयति ॥ ८२ ॥

पारमिताभ्यासेऽनर्थविवर्जनायानुपूर्वकारितामाह—

* उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा दानपारमितादयः ।
नेतरार्थं त्यजेच्छ्रेष्ठामन्यत्राचारसेतुतः ॥ ८३ ॥

उपर्युपरितः । दानाच्छीलं श्रेष्ठम्, शीलात् क्षान्तिरित्यादयः । अतोऽवरपारमिताहेतोरुत्तरं न त्यजेत् । तद्विरोधेन न सेवेतेति भावः । किं सर्वथा ? नेत्याह—अन्यत्रेति । बोधिसत्त्वानां य आचारः शिक्षासंवरलक्षणः स एव कुशलजलरक्षणाय सेतुबन्धो विहितः, तस्मादन्यत्र तं विहाय । स यथा न भिद्यते इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

तस्मात्सम्भारमुपादित्सुना करुणापरतन्त्रेण सर्वं करणीयमुक्तमित्याह—

* एवं बुद्ध्वा परार्थेषु भवेत् सततमुत्थितः ।
निषिद्धमप्यनुज्ञातं कृपालोरर्थदर्शिनः ॥ ८४ ॥

एवमनुत्तरं ज्ञात्वा सत्त्वानां हितसुखविधानाय नित्यमारब्धवीर्यो भवेत् । प्रतिषिद्धार्थे प्रवृत्तौ कथं न सापत्तिक इति चेत् ? न क्वचिन्निषिद्धमपि

---

८२. निरन्तर उत्साहसम्पन्न व उद्योगपरायण होकर स्वयं सब कार्य करना चाहिये । अपने किसी भी कार्य में दूसरे को हस्तक्षेप करने का अवसर ही न दें ॥

८३. दानपारमितादि छह पारमिताओं में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर पारमिताएँ श्रेष्ठ हैं । इनमें आचाररूपी जल का बांध है, इसे कभी नहीं तोड़ना चाहिये । अर्थात् एक पारमिता की पूर्ति के लिए उससे श्रेष्ठ पारमिता की उपेक्षा नहीं करना चाहिये ॥

८४. ऐसा समझ कर दूसरों की भलाई में हमेशा तय्यार रहना चाहिए । प्राणियों के हितैषी, दयालु, जिज्ञासु को निषिद्ध कर्मों की भी अनुमति है ॥

[P 139] सत्त्वार्थविशेषं प्रज्ञाचक्षुषा पश्यतः करणीयतया अनुज्ञातं भगवता। सनिःसरणं च भगवतः शासनम्। तच्चापि न सर्वस्य, अपि तु कृपालोः करुणाप्रकर्षप्रवृत्तितया तत्परतन्त्रस्य परार्थैकरसस्य स्वप्रयोजनविमुखस्य। इति प्रज्ञाकरुणाभ्यामुद्भूतपरार्थवृत्तेरुपायकुशलस्य प्रवर्तनमानस्य नापत्तिः। अत्र च उपालिपरिपृच्छायामापत्त्यनापत्तिविभागो वेदितव्यः। तथा उपायकौशल्यसूत्रे ज्योतिष्कमाणवकाधिकारे ॥ ८४ ॥

'एषा रक्षात्मभावस्य भैषज्यवसनादिभिः'।

(शि० स०, का० १३)

इत्येतत् प्रतिपादयितुमाह—

* विनिपातगतानाथव्रतस्थान् सम्विभज्य च।
भुञ्जिता मध्यमां मात्रां त्रिचीवरबहिस्त्यजेत् ॥ ८५ ॥

भैषज्यवसनादिभिरात्मभावो हि परिपालनीयः; परार्थोपयोगित्वात्। यथोक्तं प्राक्—"तत्र द्विविधं भैषज्यम्—सततभैषज्यम्, ग्लानप्रत्यभैषज्यं [P 140] च। तत्र सततभैषज्यमोदनादि। तदर्थं पिण्डाय गोचरे चरता ग्रामप्रवेशे यथोक्तशिक्षायां स्मृतिमाधाय चरितव्यम्। ततो लब्धात् पिण्डपातात् चतुर्थभागविभक्तात् विनिपातगतानाथव्रतस्थान् सम्विभागिनः कुर्यात्। एकं प्रत्यङ्गं विनिपातिनाम्। द्वितीयमनाथानाम्। तृतीयं सब्रह्मचारिणां दत्वा चतुर्थमात्मना परिभुञ्जीत। स परिभुञ्जानो न रक्तः परिभुङ्क्ते असक्तः, अगृद्धः, अनध्यवसितः, अन्यत्र यावदेवास्य कायस्य स्थितये यापनायै। मध्यमां मात्राम्। तथा च परिभुङ्क्ते यथा नातिसंलिखितो भवति, नातिगुरुकायः। तत्कस्य हेतोः ? अतिसंलिखितो हि कुशलपक्षपराङ्मुखो भवति, अतिगुरुकायो मिद्धावष्टब्धो भवति। तेन तं पिण्डपातं परिभुज्य कुशलपक्षाभिमुखेन भवितव्यम्"। इति आर्यरत्नमेघेऽभिहितम्।

आर्यरत्नराशावपि—"परिभुञ्जता च एवं मनसिकार उत्पादयि- [P 141] तव्यः सन्ति अस्मिन् काये अशीतिकृमिकुलसहस्राणि, तानि अनेनैवोजसा सुखं विहरन्तु। इदानीं चैषामामिषेण संग्रहं करिष्यामि। बोधिप्राप्तश्च पुनर्धर्मेण संग्रहं करिष्यामि"। इति विस्तरः॥

---

८५. अपने भोजन में से पतित, अनाथ एवं साथियों को एक-एक भाग देकर अवशिष्ट चतुर्थ भाग को (न कम न ज्यादा) खाना चाहिये। तीन चीवरों से अधिकवस्त्र होने पर दूसरों को दे देना चाहिये ॥

पुनरत्रैवोक्तम्—"द्वयोरहं, काश्यप, श्रद्धादेयमनुजानामि। कतमयोर्द्वयोः ? युक्तस्य, मुक्तस्य च"। इति॥

अनया दिशा सर्वपरिभोगाः सत्त्वार्थमधिष्ठातव्याः। अन्यथा—

"आत्मतृष्णोपभोगात्तु क्लिष्टापत्तिः प्रजायते"॥ इति।

(शि० स०, का० १३)

यथोक्तं चन्द्रप्रदीपसूत्रे—

"ते भोजनं स्वादुरसं प्रणीतं लब्ध्वा च भुञ्जन्ति अयुक्तयोगाः।
तेषां स आहारु वधाय भोति यथ हस्तिपोतान विसा अधौतकाः॥

(समाधि० सू० ९.२९)

विस्तरेण चैतच्छिक्षासमुच्चये द्रष्टव्यम्॥

ग्लानभैषज्यं तु—यामिकम्, साप्ताहिकम्, यावज्जीविकमिति त्रिविधम्। एतच्च भिक्षुविनये प्रतिपादितं तत्रैवावधार्यम्॥

वसनादिभिरात्मरक्षामाह–त्रिचीवरबहिस्त्यजेत्। इति। सचेदागत्य कश्चिद् बोधिसत्त्वं पात्रचीवरं याचेत, तेनातित्यागो न कर्तव्यः। किं तु [P 142] यत्तदनुज्ञातं भगवता–त्रिचीवरं श्रमणकल्पः; ततोऽतिरिक्तं च यद्भवेत्, त्यक्तव्यमर्थिने, नान्यथा। उक्तं च बोधिसत्त्वप्रतिमोक्षे—"सचेत्पुनः कश्चिदागत्य पात्रं वा चीवरं वा याचेत, सचेत् तस्यातिरिक्तं भवेद् बुद्धानुज्ञातात्त्रिचीवरात्, यथापरित्यक्तं दातव्यम्। सचेत् पुनस्तस्य ऊनं त्रिचीवरं भवेत्, यन्निश्रित्य ब्रह्मचर्यावासः, तन्न परित्यक्तव्यम्। तत् कस्माद्धेतोः ? अविसर्जनीयं हि त्रिचीवरमुक्तं तथागतेन। सचेच्छारिपुत्र, बोधिसत्त्वस्त्रिचीवरं परित्यज्य याचनगुरुको भवेत्, न तेन अल्पेच्छता आसेविता भवेत्"॥ इति॥ ८५॥

अतित्यागं निषेधयन् पुनरात्मरक्षामुपदर्शयन्नाह—

* सद्धर्मसेवकं कायमितरार्थं न पीडयेत्।
एवमेव हि सत्त्वानामाशामाशु प्रपूरयेत्॥ ८६॥

सतां सत्पुरुषाणां बोधिसत्त्वानां धर्मः। लौकिकलोकोत्तरपरहितसुखविधानम्। तत्सेवकं कायम् अल्पार्थनिमित्तं न पीडयेत्; अन्यथा महतो-

---

८६. सद्धर्म की सेवा में लगे इस शरीर को अधिक नहीं सताना चाहिये; क्योंकि ऐसा करके ही यह शरीर दूसरे प्राणियों की आशाओं को शीघ्र पूरा कर सकता है॥

[P143] ऽर्थराशेर्हानिः स्यात् । अत एव पूर्वस्मिन् हेतुपदमेतत् । कुतः पुनरेवम् ? यस्मादनेनैव सुकुमारोपक्रमेण संवर्धमानः शीघ्रमेव सत्त्वानां हितसुखसम्पादनसमर्थो भवति ॥ ८६ ॥

यत एवं तस्मात्—

* त्यजेन्न जीवितं तस्मादशुद्धे करुणाशये ।
तुल्याशये तु तत्त्याज्यमित्थं न परिहीयते ॥ ८७ ॥

स्वशरीरशिरोदानादि न कर्तव्यमिति निषिद्धम् । कदा ? अशुद्धे मत्राभित्रेतरसर्वव्यसनिजनसाधारणप्रवृत्ते कृपाचित्ते । अत्यारब्धेन हि वीर्येण स्वपरहितार्थस्य बाधा स्यात् । समप्रवृत्ते पुनराशये स्वपरात्मनोऽतिरिक्ते वा न निषिध्यते । यदुक्तम्–तथा स्वपरबोधिपक्षश्रुताद्यन्तरायकरौ त्यागात्यागौ न कार्यौ । अधिकसत्त्वार्थशक्तेस्तुल्यशक्तेर्वा बोधिसत्त्वस्य अधिकतुल्यकुशलान्तरायकरौ त्यागात्यागौ न कार्याविति सिद्धं भवति । इदमेव च सन्धाय बोधिसत्त्वप्रातिमोक्षेऽभिहितम्–"यस्तु खलु पुनः, शारिपुत्र, अभिनिष्क्रान्तगृहावासो बोधिसत्त्वे बोध्यङ्गैरभियुक्तः, तेन कथं दानं [P 144] दातव्यम्, कतरं दानं दातव्यम्, कियद्रूपं दानं दातव्यम्···पे०····· धर्मदायकेन भवितव्यम् । यश्च, शारिपुत्र, गृही बोधिसत्त्वो गङ्गानदीवालिकासमानि बुद्धक्षेत्राणि सप्तरत्नपरिपूर्णानि तथागतेभ्योऽर्हद्भ्यः सम्यक्सम्बुद्धेभ्यो दानं दद्यात्, यश्च, शारिपुत्र, प्रव्रज्यापर्यापन्नो बोधिसत्त्वः एकां चतुष्पादिकां गाथां प्रकाशयेत्, अयमेव ततो बहुतरं पुण्यं प्रसवति । न, शारिपुत्र, तथागतेन प्रव्रजितस्य आमिषदानमनुज्ञातम् ··· पे०··· । यस्य पुनः, शारिपुत्र, पात्रागतः पात्रपर्यापन्नो लाभो भवेद्धार्मिको धर्मलब्धः, तेन साधारणभाजिना भवितव्यं सार्धं सब्रह्मचारिभिः" इति ॥

तत्रैवाह—"यस्तु खलु पुनः, शारिपुत्र, अनभिनिष्क्रान्तगृहावासो बोधिसत्त्वः, तेन धर्मं आसेवितव्यः । तत्र तेनाभियुक्तेन भवितव्यमिति । अन्यथा हि एकसत्त्वार्थसंग्रहार्थं महतः सत्त्वराशेस्तस्य च सत्त्वस्य बोधिसत्त्वाशयपरिकर्मान्तरायान्महतोऽर्थस्य हानिः कृता स्यादिति ॥

---

८७. शुभ कर्मों में विघ्नकर्ता करुणाशय हो तो अपने जीवन का उत्सर्ग नहीं करना चाहिये । सर्वसत्त्वहितकारी करुणाशय हो तो उसके लिये जीवनोत्सर्ग करना चाहिये । इस प्रकार बोधिसत्त्व का पतन नहीं होता ॥

अनेनोपायकौशलेन विहरन् न बोधिमार्गात् परिभ्रश्यते। अयमभिप्रायः—दत्तः पूर्वमेव अनेन आत्मभावः सर्वसत्त्वेभ्यः । केवलम- [P 145] कालपरिभोगात् परिरक्षणीयः । अतो न मात्सर्यस्यावकाशः । नापि प्रतिज्ञातार्थहानिः'' इति । यदुक्तम्—

"भैषज्यवृक्षस्य सुदर्शनस्य मूलादिभोगस्य यथैव बीजम् ।
दत्वापि संरक्ष्यमकालभोगात् सम्बद्धभैषज्यतरोस्तथैव" ॥ इति ॥ ८७ ॥

सत्त्वाशयरक्षणादप्यात्मा रक्षितव्य इत्याह—

* धर्मं निर्गौरवे स्वस्थे न शिरोवेष्टिते वदेत् ।
सच्छत्रदण्डशस्त्रे च नावगुण्ठितमस्तके ॥ ८८ ॥

देवमनुष्यपूजितो हि भगवतो धर्मः। ततोऽवध्यायन्ति देवतादयो गौरवमकुर्वतो धर्मप्रकाशनात् । निषिद्धं चैतद्भगवता इति तदाज्ञातिक्रमे सापत्तिको भवेत् । न वस्त्रादिबद्धशिरसि । सहशब्देन त्रिष्वपि सम्बन्धः । तथोत्तरीयादिना पिहितशीर्षे । प्रत्येकं स्वस्थ इति सम्बन्धनीयम् । ग्लाने पुनरनापत्तिः । उपलक्षणं चैतत् । न स्थितेन सुप्ताय निषण्णाय वा, न न निषण्णेन सुप्ताय चानासनेन निषण्णाय । नोत्पथयायिना मार्गयायिने, नाग्रगामिने पृष्ठगामिना, नाप्यलंकारयुक्ताय--इत्यादयोऽपि [P 146] द्रष्टव्या इति ॥

इदमप्यनर्थविवर्जनाय मूलापत्तिकारणमकरणीयमित्याह—

* गम्भीरोदारमल्पेषु न स्त्रीषु पुरुषं विना ।

गम्भीरो दुर्मेधसामगाधत्वात् । उदारश्च प्रकर्षपर्यन्तत्वात् । तादृशं च धर्ममल्पेषु असंस्कृतबुद्धिषु हीनाधिमुक्तिषु वा न वदेदिति प्रकृतेन सम्बन्धः । न मातृग्रामस्य एकाकी रहोगतो धर्मं वदेत् । वदन् सापत्तिको भवति । न दोषः पुरुषो यदि स्यात् ॥

* हीनोत्कृष्टेषु धर्मेषु समं गौरवमाचरेत् ॥ ८९ ॥

---

८८. अश्रद्धालु, पगड़ी बांधे, छाता डंडा या शस्त्र लिये हुए, एवं शिर ढके हुए पुरुषों को धर्मोपदेश नहीं करना चाहिये ।

८९. अधर्मी पुरुषों को गम्भीर-उदार धर्म की देशना नहीं करनी चाहिये । अकेली स्त्रियों की, कोई पुरुष न हो तो, देशना नहीं करनी चाहिये । हीनयान व महायान धर्मों में समान श्रद्धा रखना चाहिये ॥

श्रावकयानभाषितेषु वा महायानभाषितेषु वा धर्मेषु तुल्यं चित्तप्रसादादिकं कुर्यात् । अन्यथा सद्धर्मप्रतिक्षेपः स्यात् ॥ ८९ ॥

* नोदारधर्मपात्रं च हीने धर्मे नियोजयेत् ।
न चाचारं परित्यज्य सूत्रमन्त्रैः प्रलोभयेत् ॥ ९० ॥

गम्भीरोदारधर्मभाजनं च सत्त्वं निमित्तज्ञैर्ज्ञात्वा न श्रावकयानादिधर्मेष्ववतारयेत् । न च 'आचारं शिक्षासंवरकरणीयतां मुक्त्वा सूत्रान्तादि-[P 147] पाठेनैव तव शुद्धिर्भविष्यति' इति धर्मकामं प्रभावयेत् ।

आह चात्र—"पुनरपरोऽनर्थो रत्नकूटे दृष्टः—अपरिपाचितेषु सत्त्वेषु विश्वासो बोधिसत्त्वस्खलितम् । अभाजनीभूतेषु उदारबुद्धधर्मप्रकाशना बोधिसत्त्वस्खलितम् । उदाराधिमुक्तिकेषु सत्त्वेषु हीनयानप्रकाशना बोधिसत्त्वस्खलितम्" इति ॥

आर्यसर्वधर्मवैपुल्यसंग्रहे सूक्ष्मोऽप्यनर्थ उक्तः—"सूक्ष्मं हि, मञ्जुश्रीः, सद्धर्मप्रतिक्षेपकमावरणम् । यो हि कश्चिन्मञ्जुश्रीः, तथागतभाषिते धर्मे कस्मिंश्चित् शोभनसंज्ञां करोति, क्वचिदशोभनसंज्ञाम्, स सद्धर्मं प्रतिक्षिपति । तेन सद्धर्मप्रतिक्षेप्त्रा तथागतोऽभ्याख्यातो भवति, सङ्घोऽपवादितो भवति, य एवं वदति—'इदं युक्तमिदमयुक्तम्' । इति विस्तरः" ॥

आर्याकाशगर्भसूत्रे च मूलापत्तिप्रस्तावे चोक्तम्—"पुनरपरमादिकर्मिको बोधिसत्त्वः केषांश्चिदेवं वक्ष्यति—किं, भोः, प्रातिमोक्षविनयेन ? शीलेन सुरक्षितेन शीघ्रं त्वमनुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ चित्तमुत्पादयस्व । महायानं [P 140] पठ, यत्ते किञ्चित् कायवाङ्मनोभिः क्लेशप्रत्ययादकुशलं कर्म समुदानीतम्, तेन ते शुद्धिर्भविष्यत्यविपाकम्, यावद्यथा पूर्वोक्तम् । इयमादिकर्मिकस्य बोधिसत्त्वस्य तृतीया मूलापत्तिः" इति ॥ ९० ॥

अत इदमपि प्रातिमोक्षनिषिद्धं नाचरणीयमित्याह—

* दन्तकाष्ठस्य खेटस्य विसर्जनमपावृतम् ।
नेष्टं जले स्थले भोग्ये मूत्रादेश्चापि गर्हितम् ॥ ९१ ॥

---

९०. और महायान धर्म के योग्य (उत्तम जिज्ञासु) को हीनयान का उपदेश नहीं करना चाहिये । उन्हें आचरण को छोड़कर सूत्र और मन्त्रों के पाठमात्र से पुण्यार्जन का लोभ नहीं देना चाहिये ॥

९१. दतुअन, खखार (कफयुक्त थूक) को खुला नहीं छोड़ना चाहिये ।

खेटस्य श्लेष्मणो विसर्जनमपावृतं न कुर्यात्। जले स्थले भोग्ये उपभोग्ये मूत्रपुरीषादेरपि कुत्सितम्। अत्रापि देवताद्यवध्यानादपुण्यं प्रसवेत्॥

* मुखपूरं न भुञ्जीत, सशब्दं प्रसृताननम्।
प्रलम्बपादं नासीत, न बाहू मर्दयेत् समम्॥ ९२॥

मुखं पूरितं कृत्वा महत् कवलग्रहणात्। सशब्दं सुकसुनिकादिशब्देन। प्रसृताननं दूरं विदारितमुखम्। प्रलम्बपादं भूम्याद्यलग्नपादं खट्वाद्यारोहणे सति नासीत। द्वावपि बाहू सममेकस्मिन् काले न मर्दयेत्। क्रममर्दने न दोषः। सति प्रत्यये॥ ९२॥ [P 149]

* नैकयान्यस्त्रिया कुर्याद् यानं शयनमासनम्।

एकया अद्वितीयया अन्यस्त्रिया। गृहिप्रव्रजितयोरिदमिह साधारणमित्यन्यग्रहणम्। न कुर्याद्यानादि। संक्षेपेण सङ्कलय्य दर्शयन्नाह—

* लोकाप्रमादकं सर्वं दृष्ट्वा पृष्ट्वा च वर्जयेत्॥ ९३॥

लोकानां यत् प्रसादजनकं न भवति, तत् सर्वं दृष्ट्वा शास्त्रे व्यवहारे वा। पृष्ट्वा विज्ञान्। वर्जयेत्। अनेनैतद्दर्शितं भवति—दृष्टेऽपि यद् बाधाकरमेवंविधं तद्वर्जयेत् आपत्तिर्भवतीति। यदुक्तम् –

"रत्नमेघे जिनेनोक्तस्तेन संक्षेपसंवरः।
येनाप्रसादः सत्त्वानां तद्यत्नेन परित्यजेत्"॥ इति।
(शि० स०, का० १२)

यथाह –"कतमे च ते बोधिसत्त्वसमुदाचाराः? यात्रदिह [P 150] बोधिसत्त्वो नाधःस्थाने विहरति, नाकाले। नाकाले भाणी भवति। नाकालज्ञो भवति। नादेशज्ञो भवति। यतोनिदानमस्यान्तिके सत्त्वा अप्रसादं प्रतिसंवेदयेयुः। स सर्वसत्त्वानुरक्षया आत्मनश्च बोधिसम्भारपरिपूरणार्थं सम्यगीर्या-

---

और न उपयोग में आने वाले जल या भूमि में घृणास्पद मल-मूत्रादि का त्याग ही करना चाहिये॥

९२. मुँह को भर कर, या फैलाकर, या शब्द करते हुए भोजन नहीं करना चाहिये। और पैर फैलाकर नहीं बैठना चाहिये। एक साथ दोनों भुजाओं को नहीं मसलना चाहिये॥

९३. दूसरे की स्त्री, यदि अकेली हो तो उसके साथ बैठना, सोना या यात्रा नहीं करना चाहिये। अपनी कोई भी ऐसी आदत, जो दूसरोंको बुरी लगती हो, उसे

पथो भवति, मृदुभाणी मन्दभाणी असंसर्गबहुलः प्रविवेकाभिमुखः सुप्रसन्नमुखः" इति ॥ ९३ ॥

न बोधिसत्त्वेन अवमन्यना क्वचिदपि कर्तव्येत्याह—

* नाङ्गुल्या कारयेत्किञ्चिद्दक्षिणेन तु सादरम् ।
समस्तेनैव हस्तेन मार्गमप्येवमादिशेत् ॥ ९४ ॥

एकया अङ्गुल्या तर्जन्यादिकया न किञ्चिदुपदर्शयेत्, अपि तु समस्तेनैव समग्रेणैव हस्तेन । दक्षिणेन न वामेन । मार्गमपि कथयेत् । आस्तां तावत् सगौरवं वस्तु ॥ ९४ ॥

लोकाप्रसादनिवारणायाह—

* न बाहूत्क्षेपकं कञ्चिच्छब्दयेदल्पसम्भ्रमे ।
अच्छटादि तु कर्तव्यमन्यथा स्यादसंवृतः ॥ ९५ ॥

न भुजमुत्क्षिप्य कञ्चिदाह्वयेत्, अल्पप्रयोजनतारतम्ये । महति [P 151] पुनरदोषः । अच्छटादिशब्दं तु कुर्यात् । तदकरणेऽसमाहितचारितायामसंवृतः स्यात् । एतावता औद्धत्यपरिहारोऽपि दर्शितो भवति ॥ ९५ ॥

स हि शय्यां परिकल्पयन्नेवं परिकल्पयेदित्युपदर्शयन्नाह—

* नाथनिर्वाणशय्यावच्छयीतेप्सितया दिशा ।
सम्प्रजानंल्लघूत्थानः प्रागवश्यं नियोगतः ॥ ९६ ॥

भगवतो महानिर्वाणशय्यामिव शय्यां परिकल्पयेत् । अभिमतया दिशा शिरो विधाय, दक्षिणेन पार्श्वेन, पादस्योपरि पादमाधाय, दक्षिणं बाहुमुपधानं कृत्वा, वामं च प्रसार्य जङ्घोपरि निवेश्य, चीवरैः सुसंवृतकायः,

---

स्वयं समझ कर या दूसरों से पूछ कर सदा के लिये छोड़ देना चाहिये ॥

९४. दूसरों को जो कुछ दिखाना हो उसे सदा दोनों हाथों से दिखाना चाहिये, एक अंगुली से नहीं । दूसरे को रास्ता भी इसी प्रकार दिखाना चाहिये ॥

९५ थोड़ी सी घबराहट होते ही, भुजा उठा कर किसी को नहीं पुकारना चाहिये । ताली (या चुटकी) आदि बजाकर उसे संकेत जरूर कर दे, अन्यथा उसे असंस्कृत (असभ्य) समझा जायगा ।

९६. परिनिर्वाण के समय भगवान् के शयन की तरह, उचित दिशा में सावधान होकर सोना चाहिये । विना किसी के कहे शीघ्र ही उठ जाना चाहिये ॥

स्मृतः, सम्प्रजानानः, उत्थानसंज्ञी, आलोकसंज्ञी, शयितः, नाचित्तकमिद्धावष्टब्धः। न च निद्रासुखमास्वादयेत्, न च पार्श्वसुखम्, अन्यत्र यावदेवैषां महाभूतानां स्थितये यापनायै इति। **लघूत्थानः** शीघ्रमेवोत्तिष्ठेत्। न तु जृम्भिकां गात्रमोटनं कुर्वन्नालस्योपहितश्चिरेण। एतेभ्य एव सर्वेभ्यः पूर्वमेव ॥ ९६ ॥ [P 152]

इदमपरमभिसंक्षिप्य कथयन्नाह—

* आचारो बोधिसत्त्वानामप्रमेय उदाहृतः।
चित्तशोधनमाचारं नियतं तावदाचरेत् ॥ ९७ ॥

आचारः शिक्षणीयम्। **अप्रमेयः** असंख्येयः **बोधिसत्त्वप्रातिमोक्षादिषु** प्रदर्शितः। तत्संग्रहरूपं प्रथमतः **चित्तशोधनमेव आचारमाचरेत्। नियतम**वश्यन्तया ॥ ९७ ॥

सामान्यापत्तिशोधनायाह—

* रात्रिन्दिवं च त्रिस्कन्धं त्रिष्कालं च प्रवर्तयेत्।
शेषापत्तिशमस्तेन बोधिचित्तजिनाश्रयात् ॥ ९८ ॥

त्रिष्कृत्वो रात्रेः। त्रिष्कृत्वो दिवसस्य। **त्रिस्कन्धः** त्रयाणां स्कन्धानां पापदेशना-पुण्यानुमोदना-बोधिपरिणामनानां समाहारः। त्रिस्कन्धं प्रवर्तयेत्। शेषा मूलाया अन्याः। अथवा, सञ्चित्य प्रतिकृताः ताभ्योऽन्याः स्मृतिसम्प्रमोषेण असम्प्रजाता वा कृताः। तासां प्रशमः प्रतिकरणं तेन त्रिस्कन्धपरिवर्तनेन **बोधिचित्तस्य जिनानां च भगवतां समाश्रयणाच्च।**

एतेन विदूषणासमुदाचारादयो दर्शिता भवन्ति।

तत्र पापशोधनं **चतुर्धर्मकसूत्रे** देशितम्—"चतुर्भिर्मैत्रेय, धर्मैः समन्वागतो बोधिसत्त्वो महासत्त्वः कृतोपचितं पापमभिभवति। [P 153] कतमैश्चतुर्भिः? यदुत विदूषणासमुदाचारेण, प्रतिपक्षसमुदाचारेण, प्रत्या-

---

९७. यों बोधिसत्त्व के आचारों की गणना नहीं है। परन्तु जिस आचार से चित्त शुद्ध हो पावे उसका पालन अवश्य करना चाहिये ॥

९८. पापदेशना, पुण्यानुमोदना, और बोधिपरिणामना—इन तीन स्कन्धों की आवृत्ति दिन में तीन बार और रात में तीन बार अवश्य करनी चाहिये। ऐसा करने से बाकी बची आपत्तियों का शमन बुद्ध और बोधिचित्त के आलम्बन से स्वयं हो जाता है ॥

पत्तिबलेन, आश्रयबलेन च। १. तत्र विदूषणासमुदाचारः अकुशलं कर्म कृत्वा विप्रतिसाररूपात् सविगर्हणा पापदेशना, तदनुष्ठानं तत्समुदाचारः। २. तत्र प्रतिपक्षसमुदाचारः अकुशलप्रतिपक्षः कुशलम्, तत्समुदाचारः, कृत्वाप्यकुशलं कर्म कुशले कर्मण्यत्यन्तमभियोगः। ३. तत्र प्रत्यापत्तिबलं संवरसमादानादकरणसंवरलाभः। ४. तत्राश्रयबलं बुद्धधर्मसङ्घशरणगमनम्, अनुत्सृष्टबोधिचित्तता च। बलवत्सन्निश्रयेण न शक्यते पापेनाभिभवितुम्। एभिर्मैत्रेय, चतुर्भिर्धर्मैः समन्वागतो बोधिसत्त्वो महासत्त्वः कृतोपचितं पापमभिभवति" इति॥

विशेषतस्तु बोधिसत्त्वापत्तीनां गुर्वीणां लघ्वीनां च देशना आर्योपालिपरिपृच्छायामुक्ताः। ताः शिक्षासमुच्चये द्रष्टव्याः॥

सर्वापत्तयो बोधिसत्त्वेन पञ्चत्रिंशतो बुद्धानां भगवतामन्तिके रात्रिन्दिवमेकाकिना देशयितव्याः। तत्रेयं देशना—"अहमेवंनामा बुद्धं शरणं गच्छामीत्यारभ्य यावत् संघं शरणं गच्छामि, नमः शाक्यमुनये [P 154] तथागतायार्हते सम्यक्सम्बुद्धाय। नमो वज्रप्रमर्दिने इत्यारभ्य यावत्—

उपैमि सर्वान् शरणं कृताञ्जलिः"।

इति विस्तरमुक्त्वाह—"इति, शारिपुत्र, बोधिसत्त्वेन इमान् पञ्चत्रिंशतो बुद्धान् प्रमुखान् कृत्वा सर्वगतानुगतैर्मनसिकारैः पापविशुद्धिः कार्या। तस्यैवं पापविशुद्धस्य त एव बुद्धा भगवन्तो मुखान्युपदर्शयन्ति······पे०······न तत् शक्यं सर्वश्रावकप्रत्येकबुद्धनिकायैरापत्तिकौकृत्यस्थानं विशोधयितुं यद् बोधिसत्त्वस्तेषां बुद्धानां भगवतां नामधेयधारणपरिकीर्तनेन रात्रिन्दिवं त्रिस्कन्धकधर्मपर्यायप्रवर्तनेन आपत्तिकौकृत्यान्निःसरति, समाधिं च प्रतिलभते"॥ इति। एतत् साकल्येन शिक्षासमुच्चये वेदितव्यम्॥

[P 155] उक्तो विदूषणासमुदाचारः। प्रतिपक्षसमुदाचारप्रत्यापत्तिबले अपि विस्तरेण शिक्षासमुच्चयादेव द्रष्टव्ये। आर्यमैत्रेयविमोक्षे (ग० व्यू० पृ० १२१) तु बोधिचित्तेन पापविशुद्धिरुक्ता। तच्चोक्तमेव प्राक्। जिनाश्रयात् पापविशुद्धौ सूकरिकावदानमुदाहार्यम्—

"ये बुद्धं शरणं यान्ति न ते गच्छन्ति दुर्गतिम्।
प्रहाय मानुषान् कायान् दिव्यान् कायाँल्लभन्ति ते"॥ इति॥

एवं धर्मं सङ्घं चाधिकृत्य पाठः। अनेनाश्रयबलमुक्तम्॥ ९८॥

पुनरनियमेन दर्शयन्नाह—

* या अवस्थाः प्रपद्येत स्वयं परवशोऽपि वा।
तास्ववस्थासु याः शिक्षाः शिक्षेत् ता एव यत्नतः ॥ ९९ ॥

स्वयमात्मना परायत्तो वा सत्त्वार्थक्रियायां प्रवृत्तः ॥ ९९ ॥

किं पुनरेवमनियमेनाभिधीयते ? इत्याह—

* न हि तद्विद्यते किञ्चिद्यन्न शिक्ष्यं जिनात्मजैः।
न तदस्ति न यत् पुण्यमेवं विहरतः सतः ॥ १०० ॥

यस्मात् सर्वाकारं सर्ववस्तुतत्त्वमधिगम्य सर्वेषां हितसुखविधानार्थमुद्यच्छद्भिर्बुद्धसुतैः न तदस्ति किञ्चित्, यन्न शिक्षितव्यम्। अन्यथा सर्वाकारः सर्वसत्त्वानामर्थः कर्तुमशक्यः। पुण्यसम्भारोऽपि एवं [P 156] विचरतोऽपर्यन्त एव स्यात् ॥ १०० ॥

इयमपि शिक्षापदमुद्रा अवधारयितव्येत्याह—

* पारम्पर्येण साक्षाद्वा सत्त्वार्थं नान्यदाचरेत्।
सत्त्वानामेव चार्थाय सर्वं बोधाय नामयेत् ॥ १०१ ॥

अन्ततः स्वयमाहारादिक्रियया परप्रेरणया अपरापरदूतप्रेरणया वा, साक्षात स्वयमेव आमिषदानादिना वा, यत् सत्त्वानां हितसुखहेतुर्न भवति, तन्नकुर्यात् कारयेद्वा। न चैतदेव केवलम्। किञ्चित् सत्त्वानामेव संसारदुःखपतितानां ततो निःसरणाय सर्वं कुशलमूलमनुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ परिणामयेत् ॥

एतावता श्लोकद्वयेन पुण्यवृद्धिरुपदर्शिता भवति ॥ १०१ ॥

---

९९. स्वाधीन या पराधीन–जिन स्थितियों में रहना पड़े, उन अवस्थाओं में जो कुछ सीखने योग्य उसे प्रयत्नपूर्वक सीखना चाहिये ॥

१००. ऐसा कुछ नहीं है, जो बुद्धपुत्रों को सीखना आवश्यक न हो। इस प्रकार विहार करते जिज्ञासु से वह कार्य होगा ही नहीं जो पुण्य न हो ॥

१०१. साक्षात् या परम्परा से जो प्राणियों के लिये हितावह न हो, उसे नहीं करना चाहिये। प्राणि-हितार्थ समझ कर ही बोधि की परिणामना करनी चाहिये ॥

यदुक्तम्—

"कल्याणमित्रानुत्सर्गात्" इति,

[शि० स०, का० ६]

तदाह—

* सदा कल्याणमित्रं च जीवितार्थेऽपि न त्यजेत्।
बोधिसत्त्वव्रतधरं महायानार्थकोविदम् ॥ १०२ ॥

कल्याणकर्मणि अभ्युदयनिःश्रेयसप्राप्तिलक्षणे मित्रमसाधारणो बन्धुः, [P 157] तत् कायजीवितविप्रणाशभयभीतोऽपि न त्यजेत्। कल्याणमित्रानुशंसाश्च प्रज्ञापारमितायामार्याष्टसाहस्त्रिकायां (अष्ट० पृ० ३०) सद प्ररुदितपरिवर्ताद् वेदितव्याः। चतुर्धर्मकसूत्रेऽप्युक्तम्—"कल्याणमित्रं, भिक्षवो, बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन यावज्जीवं न त्यक्तव्यमपि जीवितहेतोः" इति। अपरित्याज्यस्य कल्याणमित्रस्य लक्षणमाह—बोधिसत्त्वशिक्षासंवरे व्यवस्थितम्। महायानार्थपण्डितम्। एतादृशं सुदुर्लभम् ॥ १०२ ॥

कल्याणमित्रस्य पर्युपासनपरिज्ञानार्थमाह

* श्रीसम्भवविमोक्षाच्च शिक्षेद्यद् गुरुवर्तनम्।

श्रीसम्भवविमोक्षात् आर्यगण्डव्यूहपरिवर्तात् (ग० व्यू०, पृ० ४६२) कल्याणमित्रपर्युपासनं शिक्षेत् जानीयात्। यथोक्तमार्यगण्डव्यूहे आर्यश्रीसम्भवेन "कल्याणमित्रसंधारिताः, कुलपुत्र, बोधिसत्त्वा न पतन्ति दुर्गतिषु"। यावत्—"संचोदकाः कल्याणमित्रा अकरणीयानाम्। सन्निवारकाः प्रमादस्थानात्। निष्कासयितारः संसारपुरात्। तस्मात्तर्हि, कुलपुत्र, एवंमन- [P 158] सिकाराप्रतिप्रस्रब्धेन कल्याणमित्राण्युपसंक्रमितव्यानि। पृथिवीसमचित्तेन सर्वभारोद्वहनापरितसनतया। वज्रसमचित्तेन अभेद्याशयतया। चक्रवालसमचित्तेन सर्वदुःखसम्प्रवेधनतया। लोकदाससमचित्तेन सर्वकर्मसमादानाविजुगुप्सनतया। रजोहरणसमचित्तेन मानाभिमानविवर्जनतया। यानसमचित्तेन गुरुभारनिर्वाहनतया। अश्वसमचित्तेन अक्रुध्यनतया। नौसमचित्तेन गमनागमनापरितसनतया। सुपुत्रसदृशेन कल्याणमित्रमुखवीक्षणतया

---

१०२. ऐसे कल्याणमित्र का जो बोधिसत्त्वव्रती हो, महायान धर्म में कुशल हो, कभी त्याग नहीं करना चाहिये। भले ही उससे स्वजीवन (स्वार्थ) का ही अहित क्यों न होता हो ! ॥

१०३. श्रीसम्भवविमोक्षसूत्र से कल्याणमित्रों की चर्या सीखना चाहिये।

आत्मनि च ते, कुलपुत्र, आतुरसंज्ञोत्पादयितव्या, कल्याणमित्रेषु च वैद्यसंज्ञा, अनुशासनीषु भैषज्यसंज्ञा, प्रतिपत्तिषु व्याधिनिर्घातनसंज्ञा। आत्मनि च ते, कुलपुत्र, भीरुसंज्ञोत्पादयितव्या, कल्याणमित्रेषु शूरसंज्ञा, अनुशासनीषु प्रहरणसंज्ञा, प्रतिपत्तिषु शत्रुनिर्घातनसंज्ञा''। इति।

यदुक्तम्—

"सूत्राणां च सदेक्षणात्'' इति

(शि० स०, का० ६)

तदुपदर्शयितुमाह--

* एतच्चान्यच्च बुद्धोक्तं ज्ञेयं सूत्रान्तवाचनात् ॥ १०३ ॥

एतदिह शास्त्रे प्रतिपादितम्, अन्यद्यदिह नोक्तम्। बुद्धेन भगवता बोधिसत्त्वानां करणीयतया निर्दिष्टम, तन्नानासूत्रान्तार्थपरिचयाद् [P 159] वेदितव्यम् ॥ १०३ ॥

एतदेव दर्शयति--

* शिक्षाः सूत्रेषु दृश्यन्ते तस्मात् सूत्राणि वाचयेत्।

शिक्षा बोधिसत्त्वानां हेयोपादेयलक्षणाः। सूत्रेषु महायानसूत्रान्तेषु यत एवं तस्मात्। इदं तु विशेषनिर्देशमाह—

* आकाशगर्भसूत्रे च मूलापत्तीर्निरूपयेत् ॥ १०४ ॥

आर्याकाशगर्भसूत्रे क्षत्रियस्य मूर्धाभिषिक्तस्य पञ्च मूलापत्तयो निर्दिष्टाः। तथा सामान्येन एका मूलापत्तिः। तथा आदिकर्मिकस्य बोधिसत्त्वस्य अष्टौ मूलापत्तय इति। तथा च तत्रोक्तम्--"पञ्च, कुलपुत्र, क्षत्रियस्य मूर्धाभिषिक्तस्य मूलापत्तयः, याभिर्मूलापत्तिभिः क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तः सर्वाणि पूर्वावरोपितानि कुशलमूलानि झोषयति। वस्तुपतितः पराजितः सर्वदेवमनुष्यसुखेभ्यः अपायगामी भवति। कतमाः पञ्च? यः, कुलपुत्र, क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तः स्तौपिकं वस्तु अपहरति साङ्घिकं [P 160]

सूत्रान्तों का अध्ययन कर भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट दूसरी बातें भी इसी तरह जानलेनी चाहिये ॥

१०४. सूत्रान्तों में शिक्षा कही गयीं है, अतः इन सूत्रों का वाचन निरन्तर करना चाहिये।

आकाशगर्भसूत्र के अध्ययन से मूल आपत्तियों का ज्ञान करना चाहिये ॥

वा चातुर्दिशसंघे निर्यातितं वा स्वयं वा अपहरति हारयतिवा- इयं प्रथमा मूलापत्तिः । एवं त्रियानभाषितधर्मप्रतिक्षेपात् द्वितीया । प्रव्रजितस्य शीलवतो दुःशीलस्य वा काषायापहरणात्, गृहस्थकरणात्, कायप्रहारात्, चारके प्रक्षेपात् जीवितवियोजनाद्वा तृतीया । पञ्चानन्तर्येष्वन्यतमकरणाच्चतुर्थी । मिथ्यादृष्टेः, दशाकुशलकर्मपथसमादानात्, परसमादापनाद्वा पञ्चमी" इति ।

तथा ग्रामभेदादिकरणात् सर्वेषां साधारणी चैका । तत्रैवोक्तम्-"आदि कर्मिकाणां महायानसम्प्रस्थितानां कुलपुत्राणां कुलदुहितॄणं च अष्टौ मूलापत्तयः,याभिर्मूलापत्तिभिः स्खलिता आदिकर्मिका महायानसम्प्रस्थिताःसर्वाणि पूर्वारोपितानीत्यादि पूर्ववत् । कतमा अष्टौ ? ये सत्त्वाः पूर्वदुश्चरितहेतुना [P 161] अस्मिन् क्लिष्टे पञ्चकषाये लोके उत्पन्नाः, ते इत्वरकुशलमूलाः । यावत्, तेषामिदं परमं गम्भीरं शून्यताप्रतिसंयुक्तं सूत्रान्तं यावद्विस्तरेणाग्रतः स्मारयन्ति प्रकाशयन्ति । ते हि अकृतश्रमा बालपृथग्जनाः शृण्वन्त उत्त्रस्यन्ति, यावद् विवर्तयन्ति अनुत्तरायाः सम्यक्सम्बोधेश्चित्तम्, श्रावकयाने चित्तं प्रणिदधति । एषा आदिकर्मिकस्य बोधिसत्त्वस्य मूलापत्तिः प्रथमा, मूलापत्त्या इत्यादि पूर्ववत् । तस्माद् बोधिसत्त्वेन परसत्त्वानां परपुद्गलानानामशयानुशयं प्रथमं ज्ञात्वा यथाशयानां सत्त्वानामनुपूर्वेण धर्मदेशना कर्तव्येति । सोपायायाः सम्यक्सम्बोधेर्विनिवर्त्य हीनयाने परस्य चित्तमुत्पादयतो द्वितीया । प्रातिमोक्षशिक्षासंवरं विहाय महायाने चित्तोत्पादमात्रेण तत्पठनेन चास्य शुद्धिप्रकाशनात् तृतीया । श्रावकादियानस्य तत्फलस्य गोपननिन्दाप्रकाशनात्, महायाने सर्वशुद्धिप्रकाशनात्, परेषां तद्वचनकरणाच्चतुर्थी । कीर्तिलाभादिहेतोः महायानपठनादिना, तथा तत्प्रत्ययात् परेषां कुत्सानिन्दादिभाषणात्, आत्मोत्कर्षणात्, उत्तरमनुष्यधर्मोपगमात् पञ्चमी । पाठमात्रेण गम्भीरधर्माधिगमप्रकाशनात्, परेषां तथैव समादापनात् षष्ठी । क्षत्रियस्य पुरोहितामात्यचण्डालैर्ये भिक्षवो दण्डिता अर्थदण्डेन साङ्घिकं स्तौपिकं वा चातुर्दिशसाङ्घिकं वा द्रव्यमपहृत्य तेभ्य एवोपनामयन्ति । ते च क्षत्रिया उभयेऽपि मूलापत्तिमापद्यन्ते— [P 162] इयं सप्तमी । धर्माधर्मविवादनापूर्वं शिक्षाप्रणयनात, तन्मूलाचारविपन्नानां सत्कारात्, प्रहाणिकानामुपभोगपरिभोगाण्यन्यत्र परिणामनात् उभयेऽपि मूलापत्तिमाद्यन्ते—इयमष्टमी" ॥

आसां च मूलापत्तीनां सुखग्रहणार्थं शास्त्रकारोपदर्शिताः संग्रहकारिका उच्यन्ते—

"रत्नत्रयस्वहरणादापत् पाराजिका मता ।
सद्धर्मस्य प्रतिक्षेपाद् द्वितीया मुनिनोदिता ॥

दुःशीलस्यापि वा भिक्षोः कापायस्तैन्यताडनात् ।
चारके वा विनिक्षेपादपप्रव्राजनेन च ॥

पञ्चानन्तर्यकरणान्मिथ्यादृष्टिग्रहेण च ।
ग्रामादिभेदनाद्वापि मूलापत्तिर्जिनोदिता ॥

शून्यतायाश्च कथनता सत्त्वेष्वकृतबुद्धिषु ।
बुद्धत्वप्रस्थितानां तु संबोधेर्विनिवर्तनात् ॥

प्रतिमोक्षं परित्यज्य महायाने नियोजनात् ।
शिष्ययानं न रागादिप्रहाणायेति वा ग्रहात् ॥ [P 163]

परेषां ग्रहणाद्वापि पुनः स्वगुणकाशनात् ।
परपंसनतो लाभसत्कारश्लोकहेतुना ॥

गम्भीरक्षान्तिकोऽस्मीति मिथ्यैव कथनात् पुनः ।
दण्डापयेद्वा श्रमणान् दद्याद्वा शरणत्रयात् ॥

गृह्णीयाद्दीयमानं वा शमथत्याजनात् पुनः ।
प्रतिसंलीनभोगं च स्वाध्यायिषु निवेदनात् ॥

मूला आपत्तयो ह्येता महानरकहेतवः ।
आर्यस्याकाशगर्भस्य स्वप्ने देश्याः पुरःस्थितैः ॥

बोधिचित्तपरित्यागाद् याचकायाप्रदानतः ।
तीव्रमात्सर्यलोभाभ्यां क्रोधाद्वा सत्त्वताडनात् ॥

प्रसाद्यमानो यत्नेन सत्त्वेषु न तितिक्षते ।
क्लेशात् परानुवृत्त्या वा सद्धर्माभासवर्णनात्" ॥ इति ॥

तस्मिन्नेव सूत्रे समुद्धरणमासामुक्तम् ॥ १०४ ॥

शिक्षासमुच्चयेऽपि बोधिसत्त्वानां करणीयमुपदिष्टमिति तदपि निरूपणीयमित्याह—

*** शिक्षासमुच्चयोऽवश्यं द्रष्टव्यश्च[1] पुनः पुनः ।** [P.641]
विस्तरेण सदाचारो यस्मात्तत्र प्रदर्शितः ॥ १०५ ॥

---

१०५. साथ ही शिक्षासमुच्चय का भी बार-बार अध्ययन करना चाहिये; क्योंकि उसमें सदाचार का वर्णन विस्तार के साथ किया है ॥

---

१. द्रष्टव्यस्तु–पाठा० ।

शिक्षासमुच्चयोऽपि स्वयमेभिरेव कृतः। **अवश्यं** नियमेन। **द्रष्टव्यः पुनः पुनरसकृत्**। अभ्यसनीय इति भावः। कुतः ? **यस्मात् सतां** बोधिसत्त्वानाम्। आचरणमाचार इतिकर्तव्यता। **तत्र** शिक्षासमुच्चये। **विस्तरेण** प्रबन्धेन। **प्रदर्शितः** विस्पष्टीकृत्य प्रकाशितः, तस्मात् ॥ १०५ ॥

यदि तस्याभ्यासेऽशक्तिः, तदा—

* संक्षेपेणाथवा तावत् पश्येत् सूत्रसमुच्चयम्।

नानासूत्रैकदेशानां वा **समुच्चयमेभिरेव** कृतं **संक्षेपेण पश्येत्** व्यवलोकयेत् ग्रन्थतोऽर्थतो वा। अत्रापि पूर्वकमेव प्रयोजनम्। यदि वा—

* आर्यनागार्जुनबद्धं द्वितीयं च प्रयत्नतः ॥ १०६ ॥

आर्यनागार्जुनपादैर्निबद्धं द्वितीयं शिक्षासमुच्चयं सूत्रसमुच्चयं च पश्येत् **प्रयत्नतः** आदरतः। यदिह न दृश्यते, तत् तत्र दृश्यते इति भावः ॥ १०६ ॥

नियमेन शिक्षादर्शनेऽपि साकल्येन सर्वेषामुपयोगमाह—

* यतो निवार्यते यत्र यदेव च नियुज्यते। [P 165]
तल्लोकचित्तरक्षार्थं शिक्षां दृष्ट्वा समाचरेत् ॥ १०७ ॥

यतो हेयादकरणीयान्निवार्यते, न करणीयमेतदिति प्रतिषिध्यते। **यत्र** शिक्षासमुच्चये, सूत्रसमुच्चये वा। **यदेव**, कर्म कर्तव्यतया **नियुज्यते** विधीयते, तत् प्रसिद्धं विहितं वा। **लोकानां चित्तमाशयः**, तस्य **रक्षार्थम्**, तद्यथा विकोपितं न स्यात्। **शिक्षां दृष्ट्वा** शिक्षासमुच्चयादिषु। प्रतिपादं **समाचरेत्**। यत्र यद्यथा युज्यते, तत्र तथा व्यवहरेत्। अन्यथा अर्थसम्मूढव्यवहारस्य आपत्तिकश्मलता स्यात् ॥ १०७ ॥

एतावता आत्मभावस्य शुद्धिराख्याता। यदाह—

"आत्मभावस्य का शुद्धिः पापक्लेशविशोधनम्।
सम्बुद्धोक्त्यनुसारेण यत्नाभावे त्वपायगः" ॥ इति ॥

(शि० स०, का० १९)

---

१०६. अथवा संक्षेप से देखना हो तो मेरे द्वारा रचित या आर्यनागार्जुन द्वारा रचित 'सूत्रसमुच्चय' की आवृत्ति अवश्य करनी चाहिये ॥

१०७. जहाँ जिसका विधान या निषेध है, उस शिक्षा का आचरण जान-बूझकर लोकहित की भावना से अवश्य करना चाहिये ॥

यदुक्तम्—"सदा स्मृति-सम्प्रजन्यचारिणा भवितव्यम्" इति, ततः स्मृतेः स्वनाम्नैव स्वरूपं प्रतीतम्। सम्प्रजन्यस्य तु न ज्ञायते कीदृशम्? इति, तत्स्वरूपप्रतिपत्तये प्राह—

* एतदेव समासेन सम्प्रजन्यस्य लक्षणम्।
यत्कायचित्तावस्थायाः प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः ॥ १०८ ॥

यत्कायावस्थायाः चित्तावस्थायाश्च सर्वेर्यापथेषु प्रत्यवेक्षा निरूपणं [P 166] सर्ववारं यथा प्रतिपादितं प्राक् ॥ १०८ ॥

सर्वमेतदुक्तशिक्षाकौशलं कर्मणा निष्पादयितव्यम्, न वचनमात्रेणेति नियमयितुमाह —

* कायेनैव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु किं भवेत्!
चिकित्सापाठमात्रेण रोगिणः किं भविष्यति ॥ १०९ ॥

मनःपूर्वङ्गमत्वात् कायव्यापारस्य, सोऽप्यनेनैव प्रतिपादितः। प्रतिपत्त्या सर्वं सम्पादयिष्यामि, न तु शब्दमात्रघोषणया निष्फलत्वादिति बोधिसत्त्वेन यतितव्यम्। कथमिव? वैद्यकशास्त्राध्ययनमात्रेण तत्क्रियामकुर्वतो व्याधिग्रस्तस्य किं फलं निष्पत्स्यते? तावन्मात्रेण रोगस्य तस्याविनिवृत्तेः। न किञ्चिदिति भावः। तस्मात् सर्वमेतत् क्रियानुष्ठानेन निष्पादयितव्यमिति ॥ १०९ ॥

इति प्रज्ञाकरमतिविरचितायां बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां
सम्प्रजन्यरक्षणम् नाम पञ्चमः परिच्छेदः ॥



---

१०८. (इस अध्याय में कहे) सम्प्रजन्य का संक्षेप में यही लक्षण है कि शरीर और चित्त की अवस्थाओं का निरन्तर बार-बार प्रत्यवेक्षण किया जाय ॥

१०९. जैसे चिकित्सा-ग्रन्थों के पाठमात्र से रोगी का कभी भला नहीं होता, जब तक कि उनमें लिखे प्रयोगों (नुस्खों) का अपने शरीर पर प्रयोग न करे। इसी तरह वाणी (सन्त-महात्माओं के सद्वचन) के पाठमात्र से क्या भला होना है! भला तो तभी होगा जब शरीर-मन से उन वचनों का पालन किया जाय ॥



६. क्षान्तिपारमिता

(षष्ठः परिच्छेदः)

शुभविशुद्धिः

द्वेषदोषाः

तदेवं बहुधा शीलविशुद्धिं प्रतिपाद्य आत्मभावादीनां रक्षा- [P 167] शुद्धिं प्रतिपाद्य शुभविशुद्धिं प्रतिपादयितुम्, यच्चोक्तम्—

"क्षमेत श्रुतमेषेत संश्रयेत वनं ततः।
समाधानाय युज्येत भावयेदशुभादिकम्" ॥ (शि० स०, का० २०)

इत्येतच्च अभिधातुमुपक्रमते—

* सर्वमेतत् सुचरितं दानं सुगतपूजनम्।
कृतं कल्पसहस्रैर्यत् प्रतिघः प्रतिहन्ति तत् ॥ १ ॥

सर्वमेतदिति शीलसंवरसमादानप्रसूतम्। **सुचरितं** कुशलं कर्म। **दानं** त्रिविधम्। सामान्येन **सुगतपूजनमपि** त्रिविधम्। **कृतम्** उपार्जितमनेकैः **कल्पसहस्रैर्यत्** तत् सर्वं **प्रतिघः** सत्त्वविद्वेषः **प्रतिहन्ति** निर्दहति वह्निलव इव तृणसङ्घातम्।

आर्यमञ्जुश्रीविक्रीडितसूत्रे (दि० अ० १२२) चाह—"प्रतिघः प्रतिघ इति, मञ्जुश्रीः, कल्पशतोपचितं कुशलं प्रतिहन्ति, तेनोच्यते—प्रतिघः" इति। [P :68]

आर्यसर्वास्तिवादिना पठ्यते—"पश्यथ, भिक्षवः, एतं भिक्षुं केशनखस्तूपे सर्वाङ्गेण प्रणिपत्य चित्तमभिप्रसादयन्तम्? एवं भदन्त! अनेन, भिक्षवो, भिक्षुणा यावती भूमिराक्रान्ता, अधश्चतुरशीतियोजनसहस्राणि, यावत् काञ्चनवज्रमण्डलान्तरे यावन्त्यो वालिकाः, तावन्त्यनेन भिक्षुणा चक्रवर्तिराज्यसहस्राणि परिभोक्तव्यानि... यावत्... अथायुष्मानुपालिर्येन भगवांस्तेनाञ्जलिं प्रणम्य भगवन्तमेतदवोचत्—"यदुक्तं भगवता अस्य भिक्षोरेवं महान्ति कुशलमूलानि, कुत्रेमानि, भगवन्, कुशलानि तनुत्वं परिक्षयं

---

१. द्वेष-निरूपण—यह जो सहस्रों कल्पों तक किये गये सदाचरण, दान, बुद्ध-पूजन आदि सत्कर्म है, उन्हें द्वेषबुद्धि नष्ट कर डालती है ॥

पर्यादान गच्छन्ति ?" "नाहमुपाले, एवं क्षतिमुपहतिं च समनुपश्यामि यथा सब्रह्मचारी सब्रह्मचारिणोऽन्तिके दुष्टचित्तमुत्पादयति। तत्रोपाले, इमानि महान्ति कुशलमूलानि तनुत्वं परिक्षयं पर्यादानं गच्छन्ति। तस्मात्तर्हि उपाले, एवं शिक्षितव्यं यद्दग्धस्थूणायामपि चित्तं न प्रदूषयिष्यामः, प्रागेव सविज्ञानके काये" इति ॥ १ ॥ [P 169]

अत एवाह—

* न च द्वेषसमं पापं न च क्षान्तिसमं तपः।
तस्मात् क्षान्तिं प्रयत्नेन भावयेद्विविधैर्नयैः ॥ २ ॥

न च द्वेषेण समं पापमशुभं पुण्याभिभवहेतुरस्ति। न च क्षान्त्या तितिक्षया समं तुल्यं तपः। सुमहत्परिश्रमसाध्यत्वात् सुकृतम्। यत एवम्, तस्मात् क्षान्तिं क्षमां सर्वतात्पर्येण भावयेदभ्यसेत्। विविधैर्नानाप्रकारैरुपायैर्वक्ष्यमाणैः ॥ २ ॥

दृष्टधर्म एव द्वेषस्य दोषान् वृत्तत्रयेणोपदर्शयन्नाह—

* मनः शमं न गृह्णाति न प्रीतिसुखमश्नुते।
न निद्रां न धृतिं याति द्वेषशल्ये हृदि स्थिते ॥ ३ ॥

* पूजयत्यर्थमानैर्यान् येऽपि चैनं समाश्रिताः।
तेऽप्येनं हन्तुमिच्छन्ति स्वामिनं द्वेषदुर्भगम् ॥ ४ ॥

* सुहृदोऽप्युद्विजन्तेऽस्माद् ददाति न च सेव्यते।
संक्षेपान्नास्ति तत्किञ्चित् कोपनो[1] येन सुस्थितः ॥ ५ ॥

---

२. इस द्वेषबुद्धि के समान कोई अन्य पाप नहीं है, और क्षमा के समान कोई अन्य तप नहीं है। अतः हर उपाय से स्वचित्त में क्षमा-भावना का अभ्यास करना चाहिये ॥

३. जिज्ञासु का हृदय जब तक द्वेष-कण्टक से व्रणित रहता है, तब तक उसका मन शान्त नहीं रह पाता। और न तब तक वह सुख का अनुभव कर पाता है, न वह सुख की नींद सो पाता है; न धैर्यपूर्वक कोई कार्य कर पाता है ॥

४. द्वेषबुद्धिवाले (दुष्ट) लोग, अपने उस स्वामी को भी मार डालना चाहते हैं, जिससे उन्हें धन-मान आदि संसार के सभी ऐश्वर्य मिलते रहते हैं ॥

५. इन द्वेषबुद्धिवालों से उनके मित्र भी घबराते हैं। वे अपनी सेवा के लिये धन देने को सन्नद्ध हैं, पर उनकी कोई सेवा नहीं करना चाहता। संक्षेप में,

---

१. क्रोधनः—इति मुद्रितः पाठः।

[P 170] शमं प्रशमं न गृह्णाति नाश्रयते। अनुपशान्त एव सदा द्वेषानलप्रज्वलितत्वात् न प्रीतिसुखं सौमनस्यसुखमश्नुते आप्नोति, तेनैवाक्रान्तत्वात्। न निद्रां न धृतिं चित्तसुखं लभते कायचित्तसन्तापकारिणि द्वेषशल्ये हृदयनिवासिनि। पूजयति सत्करोति लाभसत्कारैर्यान्। येऽपि चानुजीविनः, एनं द्वेषिणं स्वामिनमपकर्तुमिच्छन्ति ॥ ३ ॥

किमिति ? द्वेषदुर्भगम् अप्रियमिति हेतुपदमेतत्। सुहृदो मित्राण्यपि उद्विजन्ते उत्त्रसन्ति अस्माद् द्वेषिणः। दानोन्मुखोऽपि भृत्यवर्गैर्न सेव्यते नोपगम्यते। किं बहुना ? इदमिह संक्षेपेणावधार्यताम्—नास्ति तदुपशमकारणं किञ्चिद्येन कोपनः सुखं लभेत ॥ ४ ॥

चित्तस्य कर्कशावस्था द्वेषः, तस्योद्भूतवृत्तिस्तु क्रोधः, यद्वशात् दण्डादिग्रहणं क्रियते। इति अनयोर्भेदेऽपि द्वयोरपि परिहर्तव्यतया अभेदेनैव निर्देशः ॥ ५ ॥

क्रोधदोषाः

एवमिह दृष्टधर्मेऽपि द्वेषदोषानवगम्य तत्परित्यागाय यत्नवता भवितव्यमित्याह—

* एवमादीनि दुःखानि करोतीत्यरिसंज्ञया।
यः क्रोधं हन्ति निर्बन्धात् स सुखीह परत्र च ॥ ६ ॥

[P 171] एवं यथोक्तप्रकारेण दुःखानि जनयति यस्मात्, तस्माद् यः सुकृतात्मा निर्बन्धात्, गाढाभिनिवेशात्। आरब्धवीर्य इत्यर्थः। स सुखी इहलोके परलोके च। ६ ॥

इदानीं द्वेषोपघाताय तत्कारणमुपहन्तुं व्यवस्थां कुर्वन्नाह—

* अनिष्टकरणाज्जातमिष्टस्य च विघातनात्।
दौर्मनस्याशनं प्राप्य द्वेषो दृप्तो[2] निहन्ति माम् ॥ ७ ॥

यह कहा जा सकता है कि संसार में उनके लिए कुछ भी नहीं रह जाता जिसके सहारे वे आराम की जिन्दगी बिता सकें ॥

६. क्रोध-निरूपण—इसी प्रकार यह क्रोध भी वैरी बनकर जिज्ञासु को दुःख देता है। जो हठपूर्वक इस दुर्गुण को अपने चित्त से दूर रखता है वही संसार में सुख पाता है ॥

७. दूसरों के इष्ट का विघात या अनिष्ट करने से उत्पन्न मानसिक असन्तोष

---

२. दुष्टो—पाठा०।

* तस्माद् विघातयिष्यामि तस्याशनमहं रिपोः।

आत्मात्मीयग्रहप्रसूते इष्टानिष्टे। आत्मात्मीययोः सुखसाधनमिष्टम्, तद्विपरीतमनिष्टम्, इति कल्पनाकृतमेवैतत्। न तु परमार्थतः किञ्चिदिष्टमनिष्टं वा सम्भवति। तस्मान्मिथ्याभिनिवेशवासनावशात् **अनिष्टस्य करणात्, इष्टस्य** चोपहननाद् **दौर्मनस्यं** मानसं दुःखमुपजायते, तस्मात् तत्कारिणि तद्विरोधिनि वा द्वेष उत्पद्यते। इति दौर्मनस्यमेव बलवद्भोजनं लब्धसामर्थ्यः सन् द्वेषो निहन्ति माम् इति निश्चित्य तत्पुष्टिकारणं च हनिष्यामि प्रथमतः। तस्मिन् हते सुखमेव। तस्य हननात्, समूलघातं हतस्य पुनरुत्थनायोगाच्च॥

ननु कोऽयमत्यर्थमभिनिवेशो भवतः? इत्याह—

* यस्मान्न मद्वधादन्यत् कृत्यमस्यास्ति वैरिणः॥ ८॥

यस्मात् मम वधं विहाय रात्रिदिवमपरं न किञ्चद् द्वेषस्य [P 172] **वैरिणः** करणीयमस्ति॥ ८॥

दुःखाधिवासनाक्षान्तिः

एवं द्वेषदोषान् विभाव्य सर्वोपायेन तद्विपक्षभूतां क्षान्तिमुत्पादयेत्। तत्र क्षान्तिस्त्रिविधा **धर्मसङ्गीतिसूत्रे**ऽभिहिता। तद्यथा—१. दुःखाधिवासनाक्षान्तिः, २. परापकारमर्षणक्षान्तिः, ३. धर्मनिध्यानक्षान्तिश्च। तत्र तावद् **दुःखाधिवसनाक्षान्ति**मधिकृत्याह—

* अत्यनिष्टागमेनापि न क्षोभ्या मुदिता मया।
दौर्मनस्येऽपि नास्तीष्टं कुशलं त्ववहीयते॥ ९॥

दुःखाधिवासनाक्षान्तिविपक्षः **अनिष्टागम**प्राप्तदुःखभीरुता, इष्टविघातप्राप्तश्च सुखाभिष्वङ्गः। ताभ्यां **दौर्मनस्यम्**। ततो द्वेषो लीनचित्तता वा। अत एवाह **चन्द्रदीपसूत्रे**—"सुखेऽनभिष्वङ्गः, दुःखेऽवैमुख्यम्" इति। **रत्नसूत्रे**ऽप्युक्तम्—य इमे आध्यात्मिकाः शोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाः, तान् क्षमते अधिवासयति" इति।

का आलम्बन पाकर यह दुर्गुण मुझ (जिज्ञासु) को निरन्तर दुःखी करता रहता है॥

८. अतः इस दुर्गुण के उन आलम्बनों को ही मैं नष्ट कर दूँगा, क्योंकि इसके पास मेरे वध (नाश) के अतिरिक्त कोई दूसरा कर्तव्य ही शेष नहीं बचा॥

९. अत्यन्त अनिष्ट के उपस्थित होने पर भी मुझे मुदिता-भावना का त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि चित्त में दुर्भावना रखने से इष्टप्राप्ति तो होती नहीं, प्रत्युत स्वपुण्यहानि का ही डर रहता है॥

[P 173] अतो यदि नाम मम शिरश्छिद्यते, तथापि **न क्षोभ्या न विकोपयितव्या मुदिता मया।** मुदिता हि दौर्मनस्यप्रतिपक्षः। दुःखागमेऽपि प्रमुदितचित्तस्य दौर्मनस्यानवकाशात्। इति दौर्मनस्यनिरासाय मुदिता यत्नेन रक्षितव्या। कुतः? **दौर्मनस्येऽपि कृते** इष्टविघाते सति **नास्तीष्टं** नाभिलषितं सेत्स्यति। अयं तु विशेषः स्यात्--**कुशलं** पुनरुपहन्यते॥

मुदिता च **आर्याक्षयमतिसूत्रे** वर्णिता--"तत्र कतमा मुदिता? या बुद्धधर्माणामनुस्मरणात् प्रीतिः प्रसादः प्रामोद्यं चित्तस्यानवलीनता अनवमृद्यता अपरितर्षणता, सर्वकामरतीनामपकर्षणात् सर्वधर्मरतीनां प्रतिष्ठापनम्, चित्तस्य प्रामोद्यम्, कायस्यौद्बिल्यम्, बुद्धेः सम्प्रहर्षणम्, मनस उत्प्लवः, तथागतकायाभिनन्दनरतिः"। इति विस्तरः॥ ९॥

किं चेदमविचारयतो दौर्मनस्यमुत्पद्यते इत्याह—

* यद्यस्त्येव प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किम्!
अथ नास्ति प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किम्!॥ १०॥

यदि च इष्टविघातनिवर्तनाय अनिष्टोपनिपातप्रतिषेधाय च **प्रतीकारः** उपायान्तरमस्ति, तदा **दौर्मनस्येन तत्र किम्?** तदेव अनुष्ठीयताम्। **अथ** [P 174] **नास्ति,** तदापि **दौर्मनस्येन तत्र किम्?** न किञ्चित् प्रयोजनम्। उपायाभावात् सर्वथा गतमेतत् इति विचार्य दौर्मनस्यनिवर्तनमेव वरम्॥ १०॥

अभ्यासाद् दुःखमबाधकं भवतीति प्रसाधयितुमुपक्रमते--

* दुःखं न्यक्कारपारुष्यमयशश्चेत्यनीप्सितम्।
प्रियाणामात्मनो वापि शत्रोश्चैतद्विपर्ययात्॥ ११॥

दुःखं कायिकं मानसिकं चेति द्विविधम्। तत्र कायिकं दण्डादिघातजम्। मानसिकं न्यक्कारादिनिमित्तम्। तत्र **न्यक्कारो** धिक्कारः। **पारुष्यं** मर्मघट्टनावचनम्। **अयशश्च** अकीर्तिः वैगुण्यप्रकाशनम्। इत्येतत् सर्वमन-

---

१०. यदि अनिष्ट का प्रतीकार सम्भव है तो दूसरों के प्रति दौर्मनस्य रखने से क्या फायदा? यदि प्रतीकार सम्भव नहीं है तो दूसरों के प्रति किया जा रहा वह दौर्मनस्य हमें क्या सहारा देगा!॥

११. दुःख, अपमान, तिरस्कार, अपकीर्त्ति—इन्हें अपने प्रिय (माता-पिता-पुत्र आदि) के लिये कोई नहीं चाहता। हाँ, ये अपने शत्रु को हों तो हमें इष्टापत्ति होती है॥

भिलषितम्। यदि परेषां शिवं ननु ? तदर्थमाह--प्रियाणाम्। आत्मयीत्वेन ये स्वीकृताः, प्रेमस्थानं तेषामात्मनश्च। दुःखादिकारकस्य पुनः शत्रोरेतद्विपर्ययात्। तस्य दुःखादिकमभीष्टमेव ॥ ११ ॥

तत्र दुःखेसहिष्णुतां तावन्निराकर्तुमाह--

* कथञ्चिल्लभ्ते सौख्यं दुःखं स्थितमयत्नतः।
दुःखनैव च निःसारः चेतस्तस्माद् दृढीभव ॥ १२ ॥

प्रयत्नेन कुशलपक्षमुपसेव्य कदाचित् कर्हिचत् सुदुर्लभं संसारे [P 175] सास्रवं सुखं लभ्यते। दुःखं तु सर्वदा सुलभम्, अयत्नसिद्धत्वात्, इति तदभ्यासो न दुष्करः, सर्वदा परिचितत्वात्। किञ्च--संसारनिःसरणोपायोऽपि दुःखमेव। तथापि पाथेयरूपतया तत्परिग्रहो युक्त एव। यत एवम्, तस्मात् हे चित्त, दुःखानुभवनाय दृढीभव, मा कातरतामाश्रयस्व ॥ १२ ॥

अपि च, 'इदं दुःखं महार्थसाधकत्वात् सोढुमुचितम्' इति मनसि कर्तव्यम्, इत्याह—

* दुर्गापुत्रककर्णाटा दाहच्छेदादिवेदनाम्।
वृथा सहन्ते मुक्त्यर्थमहं कस्मात्तु कातरः ॥ १३ ॥

दुर्गापुत्रकाः चण्डीसुनाः। महानवमीसमयादिषु त्रिरात्रमेकाहं वा उपोष्य गात्रदाहच्छेदनभेदनं कुर्वन्तो दुःखां वेदनां निष्फलमेवानुभवन्ति। तथा कर्णाटदेशादिसमुद्भूता दाक्षिणात्या उपरिनामलिखनमात्रा- [P 176] भिमानतः परस्परं स्पर्धमाना अनेकाभिः [1]कारणाभिर्दुःखमनुभवन्तो जीवितमप्युत्सृजन्ति। अहं तु स्वपरात्मनोः परमदुर्लभबुद्धत्वसाधनाय कृतोत्साहः दुखैः कस्मात् कारणात् कातरीभवामि ? ॥ १३ ॥

---

१२. सुख तो जैसे-तैसे बड़ी मुश्किल से मिल पाता है, पर दुःख हमेशा अनायास ही उपस्थित रहता हैं। अतः दुःख से छुटकारा पाने में ही कल्याण है। अतः हे चित्त ! इससे मुक्ति का तू दृढ अभ्यास कर ॥

१३. जब दुर्गा के उपासक कर्णाटकदेशवासी स्वशरीर के दाह और छेद की मर्मान्तक पीड़ाओं को व्यर्थ ही सहन करते रहते हैं तो फिर मैं मुक्ति (निर्वाण) के लिये दुःख सहने में क्यों कमजोरी दिखाऊँ ! ॥

---

१. कारणाभिः = क्रियाभिरित्यर्थः।

स्यादेतत्—अत्यल्पदुःखं कथञ्चित् सोढुं शक्यते। करचरणशिरश्छेदनादिदुःखं नरकादिदुःखं वा मुक्त्यर्थं कथं नु सोढव्यम्? इत्याह—

* न किञ्चदस्ति तद्वस्तु यदभ्यासस्य दुष्करम्।
तस्मान्मृदुव्यथाभ्यासात् सोढव्यापि महाव्यथा॥ १४॥

शास्त्राभ्यासकलादि कौशलादि मृदुमध्यातिमात्रदुःखानुभवनादि वस्तु न तद्विद्यते किञ्चित् यदभ्यासगोचरो न भवति। सर्वमेव अभ्यासाद् आत्मसात्कर्तुं शक्यत इति भावः। यस्मात् तस्मात् अल्यल्पतरादिव्यथाभ्यासान्नरकादिमहाव्यथापि सोढुं शक्यते।

यथोक्तम्—तत्र अल्पदुःखाभ्यासपूर्वकं कष्टकष्टतराभ्यासः सिध्यति। यथा च अभ्यासवशात् सत्त्वानां दुःखसुखसंज्ञा, तथा सर्वदुःखोत्पादेषु सुखसंज्ञाप्रत्युपस्थानाभ्यासात् सुखसंज्ञैव प्रत्युपतिष्ठते। एवं निष्पन्दफलं च सर्वधर्मसुखाक्रान्तं नाम समाधिं प्रतिलभते। उक्तं हि पितापुत्रसमागमे—

[P.177] 'अस्ति, भगवन्, सर्वधर्मसुखाक्रान्तो नाम समाधिः। यस्य समाधेः प्रतिलम्भाद् बोधिसत्त्वः सर्वारम्बणवस्तुषु सुखामेव वेदनां वेदयते न दुःखाम्, नादुःखसुखाम्। तस्य नैरयिकामपि वेदनां कार्यमाणस्य सुखसंज्ञैव प्रत्युपस्थिता भवति। मानुषीमपि कारणां कार्यमाणस्य, हस्तेष्वपि छिद्यमानेषु पादेष्वपि, कर्णेष्वपि, नासास्वपि सुखसंज्ञैव प्रत्युपस्थिता भवति। वेत्रैरपि ताडचमानस्य, अर्धवेत्रैरपि, कशाभिरपि ताडचमानस्य सुखसंज्ञा प्रवर्तते। बन्धनागारेष्वपि प्रक्षिप्तस्य, तैलपाचिकां वा क्रियमाणस्य, इक्षुकुट्टितिकं वा कुटचमानस्य, नडचिप्पितिकं वा चिप्यमानस्य, तैलप्रद्योतिकं वा आदीप्यमानस्य यावत् कार्षापणच्छेदिकां छिद्यमानस्य पिष्टपाचनिकां वा पाच्यमानस्य, हस्तिभिर्वा मर्द्यमानस्य सुखसंज्ञैव प्रवर्तते"। इति विस्तरः॥१४॥

स्यादेवैतद् यदि प्रथमत एव मृदुव्यथाभ्यासः स्यात्, यावता स एव नास्तीति। अत्राह—

* उद्दंशदंशमशकक्षुत्पिपासादिवेदनाम्। [P 178]
महत् कण्ड्वादिदुःखं च किमनर्थं न पश्यसि॥ १५॥

---

१४. संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अभ्यास करने पर भी दुर्लभ हो। अतः साधारण व्यथा सहने का अभ्यास करते-करते बड़ी से बड़ी व्यथा सहन करने की शक्ति आ ही जाती है॥

१५. तुम अपनी दैनिक दिनचर्या में क्यों नहीं देखते कि भूख-प्यास, मशकदंश, खुजली आदि दुःखद पीड़ाएँ अभ्यास करते-करते ही सहन होती हैं॥

उद्दंशादिकृतदुःखमनर्थं किं न पश्यसि ? तदयत्नसिद्धं मृदुव्यथाभ्यास-निमित्तमस्त्येवेति भावः ॥ १५ ॥

पुनरन्यथा स्वचित्तं द्रढयितुमाह—

* शीतोष्णवृष्टिवाताध्वव्याधिबन्धनताडनैः ।
सौकुमार्यं न कर्तव्यमन्यथा वर्धते व्यथा ॥ १६ ॥

सुकुमारतरचित्तस्य हि दुःखमतितरां बाधकं भवति, दुःखेऽपि दृढ-चित्तस्य विपर्ययः ॥ १६ ॥

ननु दृढीकरणेऽपि चित्तस्य दुःखमसह्यमेवेति ? अत्राह—

* केचित् स्वशोणितं दृष्ट्वा विक्रमन्ते विशेषतः ।
परशोणितमप्येके दृष्ट्वा मूर्च्छां व्रजन्ति यत् ॥ १७ ॥

* तच्चित्तस्य दृढत्वेन कातरत्वेन चागतम् ।
दुःखदुर्योधनस्तस्माद् भवेदभिभवेद् व्यथाम् ॥ १८ ॥

न खलु दृढचित्तस्य किञ्चिदशक्यं नाम । तथाहि—केचिद्वीरपुरुषाः संग्रामभूमौ स्वशोणितमपि पश्यन्तोऽधिकतरं शौर्यमाभजन्ते । केचित् पुनः कातरचित्तसन्ततयः पररुधिरदर्शनादपि मरणान्तिकं दुःखमनु- [P 179] भवन्ति । एतदुभयमपि चित्तस्य इतरेतराभ्यासविपर्ययात् इति मत्वा दुःखदुर्योधनो नाधिगम्यो भवेत्, दुःखैरप्यकम्प्यत्वात । ततोऽभिभवेद् व्यथाम्, न पुनस्तयाभिभूयते ॥ १७-१८ ॥

इत्थमप्यभिभवेद् व्यथामित्याह—

* दुःखेऽपि नैव चित्तस्य प्रसादं क्षोभयेद् बुधः ।
संग्रामो हि सह क्लेशैर्युद्धे च सुलभा व्यथा ॥ १९ ॥

---

१६. सर्दी, गर्मी, वर्षा, वायु, मार्गगमन, रोग, बन्धन-ताड़न आदि पीड़ाओं से घबरा कर अपने को सुकुमार न बनाओ, अन्यथा ये पीड़ाएँ बढ़ती ही चली जाँयगीं ॥

१७-१८. इस जगत् में कितने लोग तो अपना खून बहता देख कर द्विगुण उत्साह से पराक्रम दिखाने के लिए आगे बढ़ते हैं, और दूसरे कितने लोग दूसरों की थोड़ी सी खून की बूँदे देखकर ही मूर्च्छित हो जाते हैं। ये दोनों बातें चित्त के क्रमशः दृढ या कमजोर होने से होती हैं। अतः दुःख अत्यन्त असह्य हो जाय, उससे पहले ही उससे छुटकारा पाने का प्रयास करना चाहिये ॥

१९. अतः बुद्धिमान् का कर्तव्य है कि वह संकट में भी अपना चित्त प्रसन्न

प्रसादं पूर्वोक्तं नावसादयेद्विचक्षणः। कुतः ? यस्मात् क्लेशशत्रुभिः सह संग्रामोऽयमारब्धः। संग्रामे च व्यथा नाम न भवेदिति दुर्लभम्, व्यथा तु सुलभैव ॥ १९ ॥

ननु तथापि दुष्करमिदमतीव दृश्यत इति ? अत्राह—

* उरसाऽरातिघातान् ये प्रतीच्छन्तो जयन्त्यरीन्।
ते ते विजयिनः शूराः शेषास्तु मृतमारकाः ॥ २० ॥

अभिमुखमभिभवन्तः शत्रुम्। तत्प्रहारान् वक्षःस्थलेन प्रतीच्छन्तो ये जयन्ति समरे रिपून्, ते ते शूरपुरुषाः पररिपुविजयादिह लब्धविजयाः [P 180] प्रशस्यन्ते। ये पुनरन्ये छलप्रहारादिभिरभिभवन्ति शत्रुम्, ते च अकिञ्चित्करतया मृतमारका जुगुप्सनीया एव शूरैः ॥ २० ॥

इतोऽपि गुणदर्शनाद् दुःखमधिवासयितव्यमित्याह—

* गुणोऽपरश्च दुःखस्य यत्संवेगान्मदच्युतिः।
संसारिषु च कारुण्यं पापाद्भीतिर्जिने स्पृहा ॥ २१ ॥

अयमपरः शुभहेतुर्गुणो दुःखस्यास्य सम्बोधिमार्गानुकूलः, यद्दुःखस्य समावेशे मनसि संवेग उपजायते। तस्माच्च यौवनधनादिकृतस्य मदस्य च्युतिभंङ्गो जायते, संसारिषु च संसारदुःखपीडितेषु करुणाचित्तम्, पापस्य फलमिदमिति मत्वा पापाद् भयमकरणचित्तं च, बुद्धे च भगवति स्पृहा भक्तिः, श्रद्धा, चित्तप्रसादश्च। भगवानेव हि दुःखक्षयगामिनं मार्गमुपदिष्टवानिति ॥

परप्रत्ययोत्पन्नदुःखाधिवासनाय परासृशन्नाह—

* पित्तादिषु न मे कोपो महादुःखकरेष्वपि।
सचेतनेषु किं कोपः तेऽपि प्रत्ययकोपिताः ॥ २२ ॥

रखे, उसमें विकार न आने दे; क्योंकि जब क्लेशों से भयंकर युद्ध छिड़ा है तो कुछ न कुछ पीड़ा तो अवश्य होगी ही, उससे घबराना क्या ! ॥

२०. शत्रु की चोट को कलेजे पर झेलते हुए जो शत्रु को परास्त कर देते हैं वे ही वस्तुतः वीर एवं युद्धविजयी हैं, बाकी तो मरे हुए को ही मारने वाले हैं ॥

२१. दुःख की दूसरी विशेषता यह है कि उसके संवेग से मनुष्य का गर्व विखण्डित हो जाता है, दुःखी जनों पर करुणोद्रेक होता है, पाप से भय खाने लगता है और बुद्ध में श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न होती है ॥

२२. अत्यन्त दुःखकर पित्त आदि (आयुर्वेदोक्त त्रिदोष) पर जब मुझे

पित्तादिदोषत्रयात्मकमेव शरीरम्। ते च तथाविधाहारविहारवैगुण्याद् [P 181] विषमावस्थां प्राप्ता व्याधीन् जनयन्तः सर्वदुःखहेतवो भवन्ति। तथापि न तेषु मम कोपः,अचेतनत्वात्। न ते सञ्चिन्त्य दुःखदायकाः, किं तर्हि? स्वकारणसामग्रीबलेन प्रकोपमुपागताः। यद्येवम्, सचेतनेषु किं कोपः! किं न स्यादिति चेत्, तेऽपि पूर्वकर्मापराधात् स्वकारणसामग्रीप्रकोपिता दुःखदायका भवन्ति। इति पित्तादिवत् तेष्वपि न युज्यते मम क्रोधः॥ २२॥

उभयत्रापि समानं कारणाधीनत्वमित्युपदर्शयन्नाह—

* अनिष्यमाणमप्येतच्छूलमुत्पद्यते यथा।
अनिष्यमाणोऽपि बलात् क्रोध उत्पद्यते तथा॥ २३॥

स्वप्रत्ययोपजनितसामर्थ्येभ्यः पित्तादिभ्योऽनभिप्रेतमपि शूलमवश्यमुत्पद्यते यथा, तथा स्वहेतुमपरिणामाधिगतशक्तिभ्यो दौर्मनस्यादिभ्यः क्रोध उत्पद्यते, इति साधारणमनयोर्हेतुप्रत्ययाधीनत्वम्॥ २३॥

अथ स्यात्—उक्तमत्र सचेतनाः सञ्चिन्त्य तथाविधानिष्टकारिणः, न तु पुनरितरे तथेत्याह—

* कुप्यामीति न सञ्चिन्त्य कुप्यति स्वेच्छया जनः।
उत्पत्स्य इत्यभिप्रेत्य क्रोध उत्पद्यते न च॥ २४॥

तत्प्रत्ययमामग्रीमन्तरेण कुप्यामीत्येवं बुद्धिपूर्वकं सञ्चिन्त्य न जनः स्वैरं प्रकुप्यति। क्रोधोऽपि 'उत्पत्स्ये' इत्यभिसन्धाय स्वातन्त्र्येण नैवोत्पद्यते॥ २४॥

तस्मादिदमेवात्र प्रमाणसिद्धमित्याह—		[P 18?]

* ये केचिदपराधाश्च पापानि विविधानि च।
सर्वं तत्प्रत्ययबलात् स्वतन्त्रं तु न विद्यते॥ २५॥

क्रोध नहीं आता, तो फिर सचेतन प्राणियों पर क्रोध आने की बात ही कहाँ! क्योंकि वे भी पित्त आदि दोषों (की वृद्धि) से ही कुपित होते हैं॥

२३. (क्रोध-उत्पत्तिकारण–) शरीर में जैसे यह (वातजन्य) शूल अनचाहे ही उत्पन्न होता है, वैसे ही प्राणियों में क्रोध भी अनचाहा ही उत्पन्न होता है॥

२४. प्राणी 'क्रोध करूंगा'–यह सोचकर अपनी इच्छा से कभी क्रोध नहीं करता, 'उत्पन्न होऊँगा'–इस अभिप्राय से क्रोध भी उत्पन्न नहीं होता॥

२५. जो कोई अपराध या नाना प्रकार के पाप होते हैं वे सब अपनी प्रत्ययन-सामग्री से ही उत्पन्न होते हैं, स्वतन्त्र नहीं होते॥

इदम्प्रत्ययतामात्रसमुपस्थितस्वभावं सर्वमिदम् । न तु स्वातन्त्र्यप्रवृत्तं किञ्चिदपि विद्यते ।। २५ ।।

* न च प्रत्ययसामग्र्या जनयामीति चेतना ।
न चापि जनितस्यास्ति जनितोऽस्मीति चेतना ।। २६ ।।

प्रत्ययसामग्र्यपि न स्वकार्यं जनयन्ती सञ्चिन्त्य जनयति । सा हि स्वहेतुपरिणामोपनिधिधर्मतया तथाविधं कार्यं जनयति, न तु सञ्चिन्त्य । न चापि जनितस्य कार्यस्यापि अनया सामग्र्या जनितोऽस्मीति चेतना मनसिकारोऽस्ति । तस्मान्निर्व्यापारतया सर्वधर्माणाम्, 'अस्मिन् सति इदं भवति,' 'अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते', इति इदम्प्रत्ययतामात्रमिदं जगत्, नात्र कश्चित् स्वतन्त्रः सम्भवति । हेतुप्रत्ययाधीनत्वात् सर्वधर्माणाम् ।। २६ ।।

[P 183] स्यादेतत्–अस्त्येव स्वतन्त्रम्, यथा सांख्यानां प्रधानम्, आत्मा च; नैयायिकानामाकाशादयः । तत् किमुच्यते– न किञ्चित् स्वतन्त्रमिह विद्यते ? इत्याशङ्क्याह–

* यत् प्रधानं किलाभीष्टं यत्तदात्मेति कल्पितम् ।
तदेव हि भवामीति न सञ्चिन्त्योपजायते ।। २७ ।।

यत्तद्भवताम् 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानम्' इत्यभिमतम्, किलेति प्रमाणासङ्गतमेतदित्यरुचिं प्रकाशयति । यदपि तद्वस्तु किञ्चिदात्मेति कल्पितमध्यवसितं प्रमाणासङ्गतमेव । आह–यस्मात्तदेव स्वयमेव तदपरकारणाभावाद् भवामि समुत्पद्य इति नाभिसन्धाय जायते ।। २७ ।।

कुतः ? यस्मात्–

* अनुत्पन्नं हि तन्नास्ति क इच्छेद् भवितुं तदा ।

---

२६. और इस प्रत्ययसामग्री को 'मैं उत्पन्न कर रही हूँ'–यह चेतना नहीं होती और न उससे उत्पन्न क्रोधादि कार्य को यह चेतना होती है कि 'मैं उत्पन्न किया गया हूँ' ।।

२७. जिन (साङ्ख्यवादी) के मत में प्रधान एक स्वतन्त्र पदार्थ है या जिन्होंने (वेदान्तियों ने) आत्मा की, एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में, कल्पना की है वह ('प्रधान' या 'आत्मा') 'वही मैं उत्पन्न होता हूँ'–यह सोच कर उत्पन्न नहीं होता ।।

२८. यह (आत्मा) अनुत्पन्न तो है ही नहीं, फिर उत्पन्न होने की इच्छा

तत् प्रधानादि प्रागसदेव। असतश्च वन्ध्यासुतादेरिव का भवितुमुत्पत्तुमिच्छा भवेत्? अथ नासदुत्पद्यते किञ्चित्, केवलमव्यक्तावस्थातो व्यक्तावस्थायां परिणाममात्रम्; यद्येवम्, परिणामोऽपि कथमसन्नुत्पद्यते? व्यक्तावस्था वा? परिणामस्य व्यक्तावस्थायाश्च तत्स्वभावत्वे तस्याप्युत्पत्तिप्रसङ्गः। व्यतिरेके सम्बन्धाभावः। सम्बन्धकल्पनायां च अनवस्था। परतो विस्तरेण प्रधानं निराकरिष्यते [बो० च० ९. १२७-१३८]॥

स्यादेतत् – आत्मन्ययमदोष एव। न हि तस्य वयमुत्पाद- [P 184] मिच्छामः। सर्वदा नित्यस्वभावतया अनुत्पन्न एवासौ। भवतु नाम एवम्। तथापि सर्वथा खरविषाणकल्प एवासौ, उत्पादाभावात्। ततो नात्रापि निवर्तते—

'अनुत्पन्नं हि तन्नास्ति क इच्छेद् भवितुं तदा'। इति।

भावेऽपि वा नास्य स्वात्मन्यपि प्रभुत्वमस्ति। प्रकृत्युपनामितमेव हि विषयमपि स भुङ्क्ते। तदा च विषयोपभोगात् प्राक् तद्भोक्तृत्वमस्य नासीत्, पश्चादुत्पन्नं च तत्स्वभावमेव; अन्यथा तस्य भोक्तृत्वायोगात्। तदुत्पादे च तस्याप्युत्पाद इति कथं नात्मन उत्पाद इष्यत इति। तदेवं पुनः अनुत्पन्नं हि तन्नास्ति क इच्छेद्भवितुम्'—इत्यायातम्॥

अपरमपि दूषणमत्राह—

* विषयव्यापृतत्वाच्च निरोद्धुमपि नेहते॥ २८॥

यद्यप्यसौ प्रधानोपहितविषयोपभोगाय प्रवर्तत इतीष्यते, तदा प्रागप्रवृत्तस्य पश्चात् प्रवृत्तिर्न युज्यते। अथ किञ्चित् प्रवर्तते, तदापि **विषये व्यापृतस्य** निवृत्तिर्न स्यात्। एतदेवाह—**निरोद्धुमपि नेहते**। विषयोपभोगान्निवर्तितुमपि नोत्सहते, तदा तस्य तत्स्वभावत्वात्, तस्य च नित्यतया अनिवृत्तेः। निवृत्तौ वा अनित्यत्वप्रसङ्गात्। नैयायिकादीनामात्मनो व्यपदेशो नित्यत्वात्॥ २८॥

विशेषमपि तस्याह—

* नित्यो ह्यचेतनश्चात्मा व्योमवत् स्फुटमक्रियः। [P 185]

अचैतन्यं सांख्यादिह विशेषः। अन्यत्र समानता। तत्र **नित्यः** पूर्वापरकालयोरेकस्वभावः। **अचेतनश्च** अचित्स्वभावः। जड इत्यर्थः। अन्यचैतन्ययोगाच्चेतयते **व्योमवद्** व्यापी। अत एव **स्फुटं** व्यक्त**मक्रियः**। यदाह—

किसे होगी? और यदि वह विषयों में प्रवृत्त हो तो निवृत्त भी क्यों होना चाहेगा?॥

"अन्ये पुनरिहात्मानमिच्छादीनां समाश्रयम् ।
स्वतोऽचिद्रूपमिच्छन्ति नित्यं सर्वगतं तथा ॥
शुभाशुभानां कर्तारं कर्मणां तत्फलस्य च ।
भोक्तारं चेतनायोगाच्चेतनं न स्वरूपतः" ॥

[तत्त्वसंग्रहः, १७१-७२ का०]

तथा च अकिञ्चित्कर एवासौ, क्वचिदपि कार्येऽनुपयोगात् । अथ अपरसहकारिप्रत्ययसन्निधौ निष्क्रयस्यापि तस्य क्रियाभ्युपगम्यते । यदुक्तम्-

ज्ञानयत्नादिसम्बन्धः कर्तृत्वं तस्य भण्यते । इति ।

अत्राह—

* प्रत्ययान्तरसंगेऽपि निर्विकारस्य का क्रिया ॥ २९ ॥

ज्ञानयत्नादिप्रत्ययान्तरसम्पर्केऽपि नित्यत्वान्निर्विकारस्य पूर्वस्वभावादप्रच्युतस्यात्मनः का क्रिया ? नैव क्रिया युज्यते ॥ २९ ॥

* यः पूर्ववत् क्रियाकाले क्रियायास्तेन किं कृतम् ! [P 186]
तस्य क्रियेति सम्बन्धे कतरत् तन्निबन्धनम् । ॥ ३० ॥

यथा पूर्वमक्रियाकाले तथा क्रियाकालेऽपि यः, तेन कारकस्वभावविकलेन क्रियायाः किं कृतम, येन प्रत्ययान्तरसङ्गे तस्य क्रिया व्यवस्थाप्येत ? अपि च उभयसम्बन्धाभावात् तस्य आत्मनः क्रियेयमिति सम्बन्धे कतरत्तदन्यनिमित्तम् ? नैवास्ति किञ्चित् ॥ ३० ॥

विस्तरेण चात्मनो निराकरिष्यमाणत्वात् [बो० च० ९.५८—६०] ईश्वरस्य च [बो० च० ९. ११९-१२६], न स्वतन्त्रः कश्चिदपि सम्भवति । एवमस्वातन्त्र्यं सर्वत्र प्रसाध्योपसंहरन्नाह—

---

२९. वैशेषिक मत में आत्मा नित्य है, अचेतन है, आकाश की तरह स्पष्टतः निष्क्रिय है, तब दूसरे प्रत्ययों के सङ्ग से भी उस निर्विकार में क्रिया कैसे सम्भव है ! ॥

३०. क्रिया के समय भी जो आत्मा पूर्ववत् निष्क्रिय है उस क्रिया से उसे क्या मतलब ? 'उसकी क्रिया'— इस सम्बन्धवाचक प्रयोग में उस का क्रिया से कौन सा सम्बन्ध बनाओगे ? ॥

* एवं परवशं सर्वं यद्वशं सोऽपि चावशः।
निर्माणवदचेष्टेषु[1] भावेष्वेकं क्व कुप्यते ! ।। ३१ ।।

एवमुक्तनयेन परवशं परायत्तं सर्वं बाह्याध्यात्मिकं वस्तुजातम्। तर्हि यद्वशे तदपरायत्तं भविष्यतीति चेत्, न; यद्वशं सोऽपि चावशः स्वहेतुपरतन्त्रः, एवं स हेतुरपि स्वहेतोरित्यनादिसंसारपरम्परायां न स्ववशिता क्वचिदपि सम्भवति। अतो निर्व्यापाराः सर्वधर्मा इति। कः [P 187] कस्मै द्रुह्यति परमार्थतः येनापराधिनि क्वचित् कस्यचिदपराधे तस्य द्वेषो युक्तः। इदमेवाह—[1]निर्माणवत् सर्वव्यापारकल्पनाविगमात्, अचेष्टेषु निरीहेषु सर्वधर्मेषु एवं सत्सु क्व कुप्यताम् ? न युज्यते प्रेक्षावतां क्वचिदपि कोप इति भावः ।। ३१ ।।

स्यादेतत् - एवं हि एकं समर्थयतो द्वितीयं विघटते ? इत्याशङ्क्यन्नाह—

* वारणापि न युक्तैवं कः किं वारयतीति चेत् !

समर्थितन्यायेनैव वारणापि निवर्तनमपि निर्माणवदचेष्टेषु भावेषु न युक्ता। एवमिति। यदा किञ्चदपि स्वतन्त्रं न दृश्यते, सर्वं प्रत्ययसामग्रीं प्रतीत्य जायते, तदा वारणापि न युक्ता। यदि वा—मैवम्, तथापि कथं न युक्ता ? को वारयति, स्वतन्त्रः कर्ता किं निषेध्यं स्वतन्त्रप्रवृत्तं वारयतीति चेत्। अयमभिप्रायः - न हि समानेऽपि न्याये क्वचित् प्रवृत्तिः, क्वचिन्निवृत्तिर्युज्यते। एकत्र निवृत्तौ सर्वत्रैव निवृत्तिर्युक्ता, न तु क्वचिदेव; न्यायस्य सामान्यत्वात्। तस्माद्युक्तमेतत्— वारणा न युक्तेति ।।

यद्येवं मन्यसे, अत्रोत्तरमाह

* युक्ता प्रतीत्यता यस्माद् दुःखस्योपरतिर्मता ।। ३२ ।। [P 188]

---

३१. इस प्रकार (अन्य दार्शनिकों की बात मान ली जाय तो भी) सब कुछ परतन्त्र हैं, परन्तत्रकारक (हेतुप्रत्ययसामग्री) भी परतन्त्र है। अतः निर्मितों के समान चेतना(चेष्टा)हीन भावों पर क्रोध कैसा ? ।।

३२. शङ्का—इस प्रकार यदि निर्मितों के समान सब कुछ 'माया' है तो उसका क्रोध आदि से निवारण करना उचित नहीं, कारण कि निवारण तो वास्तविक पदार्थ का ही बनता है। जब कुछ वस्तुतत्त्व है ही नहीं, तब निवारक व निवार्य कौन होगा ?

---

१. निर्वाणवत्—पाठा०।

युक्ता वारणा, कुतः ? प्रतीत्यता, 'इदं प्रतीत्येदमुत्पद्यते' इति प्रतीत्यसमुत्पन्नता यस्मादस्ति निर्व्यापारेष्वपि भावेषु, अतो वारणा युक्ता, ततो व्याघातः। एतदुक्तं भवति – यद्यपि निर्व्यापाराः सर्वधर्माः, तथापि प्रतीत्यसमुत्पादवशात् पारतन्त्र्यमुपदर्शितम्; 'एवं परवशं सर्वम्' [बो० च० ६ ३१] इत्यादिवचनात्। ततः अविद्यादिप्रत्ययबलादुत्तरोत्तरः कार्यप्रवाहः संस्कारादिरूपः प्रवर्तते, पूर्वपूर्वनिवृत्तौ निवर्तते। एतच्च उत्तरत्र [बो० च० ९. ७५] विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते। तस्माद् दुःखस्य संसारस्य उपरतिर्निवृत्तिरभिमता। अतो द्वेषादिपापप्रवृत्तिवारणा सङ्गच्छते। तां प्रतीत्य तथाविधमभ्युदयनिःश्रेयस्वभावं फलमुत्पद्यते ।। ३२ ।।

साम्प्रतं प्रकृतमेव योजयन्नाह –

* तस्मादमित्रं मित्रं वा दृष्ट्वाऽप्यन्यायकारिणम् ।
ईदृशाः प्रत्यया अस्येत्येवं मत्वा सुखी भवेत् ।। ३३ ।।

यस्मात् प्रतीत्यजं सर्वम्, तस्माद् अमित्रमितरं च अपकारिणं प्रतीत्य सुखमेवालम्बनीयम्, कुतः ? ईदृशा अपकारणशीलहेतवः अस्य अमित्रस्य इतरस्य वा, इति एवं निश्चित्य सुखी भवेत्, दौर्मनस्यं न कुर्वीत ।। ३३ ।।

किञ्च, दुःखोपनिपातेन चित्तक्षोभेऽपि न दुःखस्य निवृत्तिरस्तीत्युपदर्शयन्नाह –

* यदि तु स्वेच्छया सिद्धिः सर्वेषामेव देहिनाम् । [p 189]
न भवेत् कस्यचिद् दुःखं न दुखं कश्चिदिच्छति ।। ३४ ।।

न हि आत्मेच्छामात्रेण अनभिमतं निवर्तते, अभिमतं चोपतिष्ठते हेतुमन्तरेण। तथात्वे सति न भवेत् कस्यचित् सत्त्वस्य दुःखम्। किमिति ? न दुःखमात्मनः कश्चिदिच्छति। स्वसुखाभिलाषिण एव हि सर्वसत्त्वाः ।। ३४ ।।

उत्तर—मायामय पदार्थों में भी हेतुप्रत्ययसामग्री-सम्बन्ध है, अतः दुःख के हेतु और उसके निरोध के उपाय का प्रतिपादन उचित ही है ।।

३३. इसलिये शत्रु-मित्र या जिस किसी अपने प्रति अन्यायकर्ता को देखकर 'इसके ऐसे प्रत्यय हैं'—यह मानकर चित्त में मुदिता भावना ही रखनी चाहिये ।।

३४. यदि स्वेच्छानुसार सभी देहधारियों की मनःकामनाएँ पूर्ण हो जाती तो फिर किसी को दुःख होता ही क्यों ? क्योंकि कोई भी अपने लिये दुःख की इच्छा नहीं करता ।।

परापकारमर्षणक्षान्तिः

२. दुःखाधिवासनाक्षान्तिमभिधाय इदानीं **परापकारमर्षणक्षान्तिमुपदर्शयन्नाह**—

* प्रमादादात्मनात्मानं बाधन्ते कण्टकादिभिः ।
भक्तच्छेदादिभिः कोपाद् दुरापस्त्र्यादिलिप्सया ॥ ३५ ॥

* उद्बन्धनप्रपातैश्च विषापथ्यादिभक्षणैः ।
निघ्नन्ति केचिदात्मानमपुण्याचरणेन च ॥ ३६ ॥

* यदैवं क्लेशवश्यत्वाद् घ्नन्त्यात्मानमपि प्रियम् ।
तदैषां परकायेषु परिहारः कथं भवेत् ! ॥ ३७ ॥

असमीक्षितकारिता **प्रमादः** । स्वयमेव स्वकायं कण्टकखाणुकठल्लपाषाणशर्करादिभिर्दुर्गमार्गेषु कर्मवृत्ताः **कण्टकास्तरणशयनादिभिर्वा बाधन्ते** तथा भोजनपानपरिहारादिभिः । किमिति ? **कोपात्** अगम्यपरदारधनादि लब्धुमिच्छया वा ॥ ३५ ॥ [P 190]

उद्बन्धनमूर्ध्वलम्बनम् । **प्रपातः** प्रपतनं पर्वतादेः । जलाग्निप्रवेशादिभिः, **विषापथ्यादिभक्षणैः**, अत्याहारातिपानादिभिः, **निघ्नन्ति** मारयन्ति **केचिन्मोहपुरुषा आत्मानं** स्वकायम् । परवधादिभिः, **अपुण्याचरणेन च** । परवधाभिप्रायाः संग्रामादिष्वकुशलक्रियया च ॥ ३६ ॥

यदैवमुक्तक्रमेण क्लेशवश्यत्वात् क्लेशपरतन्त्रत्वात् एते सत्त्वा **आत्मानमपि प्रियं** वल्लभं **घ्नन्ति** पीडयन्ति, **तदा एषां परकायेषु** परशरीरेषु अपकारविरतिः **कथं स्यात्** ! ॥ ३७ ॥

इत्थं च कृपापात्रमेवैते, न द्वेषस्थानमित्याह—

---

३५. लोग अपनी ही भूल से काँटों में फँसते रहते हैं, क्रोध या अलभ्य नारी आदि की कामना से भोजन आदि छोड़ बैठते हैं, और अपने लिये दुःखपरम्परा पैदा कर लेते हैं ॥

३६. वे लोग फाँसी लगाकर, पर्वत से गिरकर, विष और अखाद्य आदि खाकर नानाप्रकार के पापाचारों से आत्महत्या कर लेते हैं ॥

३७. जब ये प्राणी क्लेशों के वशीभूत होकर अपने प्रिय शरीर की भी हत्या कर डालते हैं तो दूसरों के शरीर की हत्या करने से इन्हें कौन रोक पायगा ! ॥

* क्लेशोन्मत्तीकृतेष्वेषु प्रवृत्तेष्वात्मघातने ।
न केवलं दया नास्ति क्रोध उत्पद्यते कथम् ॥ ३८ ॥

पिशाचैरिव ग्रस्तेषु एषु अपकारकारिषु उक्तनयेन प्रवृत्तेषु आत्मघातने परापकारद्वारेण वा न केवलं न तावत् कृपा नास्ति, औदासीन्यमपि साधूनां तत्रायुक्तम् । द्वेष उत्पद्यते कथं कृपास्थानेष्विति विपर्ययो महान् ॥ ३८ ॥

एवमपि स्वचित्तं निवारयेदित्याह— [P 191]

* यदि स्वभावो बालानां परोपद्रवकारिता ।
तेषु कोपो न युक्तो मे यथाग्नौ दहनात्मके ॥ ३९ ॥

तथा हि विकल्पद्वयमत्र । बालानां पृथग्जनानां यदि एतादृश एव स्वभावः परोपद्रवकारिता नाम, तदा न खलु स्वभावाः पर्यनुयोगमर्हन्ति, किमिति परापकारं कुर्वन्ति ते ?— इति परिभाव्य तेषु द्वेषो न युक्तो मे । तद्यथा अग्नौ दहनस्वभावे दाहकरणात् । अन्यथा तदभावे तत्स्वभावताहानिप्रसङ्गात् ॥

द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह—

* अथ दोषोऽयमागन्तुः सत्त्वाः प्रकृतिपेशलाः ।
तथाप्ययुक्तस्तत्कोपः कटुधूमे यथाम्बरे ॥ ४० ॥

अथ दोषोऽयमागन्तुः अन्य एव, न तत्स्वभावभूतः । सत्त्वाः पुनः प्रकृतिप्रभास्वरचित्तसन्तानतया पेशला अकुटिलस्वभावाः । दोषा हि दुष्टस्वभावाः, न तत्स्वभावाः सत्त्वाः, तथापि अयुक्तस्तेषु सत्त्वेषु पेशलस्वभावेषु कोपः । कस्मिन्निव ? कटुधूमो यथा इव अम्बरे । न हि कटुता नाम निर्मलस्याकाशस्य स्वभावः, अपि तु धूमस्य । अतश्च तद्दोषेण धूम एव दोषो युज्यते, नाकाशे प्रकृतिपरिशुद्धे । तस्माद्दोषेष्वेव कोपो युज्यते, न सत्त्वेषु ॥ ४० ॥

---

३८. क्लेशों से उत्पन्न होकर आत्मघात में तत्पर इन प्राणियों पर दया न आये—यह नहीं हो पाता, फिर इन पर क्रोध आये—यह तो हो ही कैसे सकता है ! ॥

३९. यदि अज्ञानियों का स्वभाव दूसरों को परेशान करने का ही है तो भी मुझे उन पर क्रोध करना उचित नहीं; क्योंकि दहन स्वभाव वाली अग्नि जहाँ होगी वह तो जलायगी ही ॥

४०. और कोमल स्वभाव वाले सरल प्राणी यदि आगन्तुक दोषों से प्रभावित होकर कोई गलत काम कर बैठते हैं, तब तो उन पर क्रोध करना उचित है ही नहीं; क्योंकि कड़ुआ धूआँ फैलाने में आकाश का क्या हाथ होता है ! ॥

अपि च। यदेव हि प्रधानं दुःखकारणम्, तत्र युक्तो भवेत् कोपो [P 192] नाप्रधाने इत्याह—

* मुख्यं दण्डादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते।
द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु मे वरम् ॥ ४१ ॥

काये हि दण्डप्रहारादभावितचित्तस्य दुःखं समुत्पद्यते। ततो दण्ड एव मुख्यं दुःखकारणमिति तत्रैव कोपो युक्तः। अथ परप्रेरितस्य दण्डस्य को दोषः! तेन प्रेरक एव द्वेष्यो भवति। एवं तर्हि द्वेषेण सोऽपि दण्डप्रेरकः प्रेरित इति द्वेषे द्वेषो मम युक्तो न प्रेरके ॥ ४१ ॥

अपि च, 'नादत्तं किञ्चिदुपभुज्यते सुखं वा दुःखं वा' इति विचिन्त्य परापकारेऽपि न तत्र चित्तं प्रदूषयेदित्याह—

* मयापि पूर्वं सत्त्वानामीदृश्येव व्यथा कृता।
तस्मान्मे युक्तमेवैतत् सत्त्वोपद्रवकारिणः ॥ ४२ ॥

पूर्वं जन्मान्तरे मयापि सत्त्वानामेवंविधैव पीड़ा कृता यस्मात्, ऋणपरिशोधनन्यायेन उचितमेव ममैतत् परापकारकारिणः। तत्कर्मफलपरिपाकादिति भावः ॥ ४२ ॥

'यद्यस्य कारणं तस्मादेतदुत्पद्यते नान्यस्मात्' इति परामृश्य परापकारं मर्षयेदित्युपदर्शयन्नाह—

* तच्छस्त्रं मम कायश्च द्वयं दुःखस्य कारणम्। [P 193]
तेन शस्त्रं मया कायो गृहीतः कुत्र कुप्यते ! ॥ ४३ ॥

---

४१. यदि दुःखदायकों में मुख्य दण्ड आदि की उपेक्षा कर उसके प्रेरक पर क्रोध करता हूँ तो वह भी द्वेषप्रेरित ही कहा जायगा। अतः क्रोध करना ही है तो मेरा द्वेष के प्रति क्रोध करना उचित है, द्वेषी के प्रति कदापि नहीं ॥

४२. (द्वेषत्याग में अन्य हेतु का वर्णन करते हैं—) मैंने भी पहले प्राणियों को इसी तरह सताया होगा, अतः मुझ प्राणियों को सताने वाले के प्रति अब यह व्यवहार उचित ही है। फिर सताने वाले से द्वेष कैसा ? ॥

४३. उस सताने वाले का शस्त्र और मेरा शरीर—दोनों ही दुःख के कारण हैं; उसने शस्त्र पकड़ा है, मैंने अपना शरीर, फिर क्रोध उसी पर क्यो किया जाय ! ॥

अविकलकारणसामग्री हि सर्वकार्यस्य कारणम् – इति प्रमाणपरिनिश्चितम् । सा चात्र तथाविधा विद्यते । तथा हि–तस्यापकारिणः **शस्त्रं** खड्गादि **मम कायश्च**, एतद्द्वयं सामग्रीरूपं **दुःखस्य कारणम्** इति समर्थकारणसद्भावेऽपि कार्यं कथं नोत्पद्येत ? अन्यथा तत्तस्य कारणमेव न स्यात् । ततोऽन्यदपि, तत्सामग्रीतोऽन्यदपि कारणं स्यात्, ततः उत्पादयोगः । तस्माद्यदि कारणोपनायके कुप्यते, तदा स्वात्मन्यपि कोपो युक्तः; यतः स्वयमपि दुःखकारण वहत्युपनयति च भवान् । आत्मन्यकोपे परत्रापि न युक्त इति भावः ॥ ४३ ॥

प्रकारान्तरेणोक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

* गण्डोऽयं प्रतिमाकारो गृहीतो घट्टनासहः ।
तृष्णान्धेन मया तत्र व्यथायां कुत्र कुप्यते ! ॥ ४४ ॥

शरीराकृतिरयं **पक्वगण्डः मया गृहीतः** । सर्वदुःखहेतुत्वात् सर्वोपमर्दसहः, आकोटनताडनादिभिरप्यभेद्यत्वात् । दुःखपरिहाराय सुखप्राप्तये च या **तृष्णा** अभिलाषः, तदन्धेन पिहितप्रज्ञालोचनेन तस्यां **व्यथायां** सत्यां **कुत्र कुप्यते** ? न हि गण्डस्य कुड्यादिसम्पर्कजे दुःखे क्वचिद्विवेकतः कोपो युक्तः ॥

अपि च—'यः कार्येणानर्थी, तेन तत्कारणमेव परिहर्तव्यं भवेत् । अहं [P 194] तु विपर्यस्तमतिः' इति विमर्शमुपदर्शयन्नाह—

* दुःखं नेच्छामि दुःखस्य हेतुमिच्छामि बालिशः ।
स्वापराधागते दुःखे कस्मादन्यत्र कुप्यते ! ॥ ४५ ॥

दुःखं दण्डाद्यभिघातजं **नेच्छामि** । तस्य पुनः कारणं शरीरं प्रत्यपकारिणं **चेच्छामि** । **बालिश** इति बालधर्मो विपर्यासः । तस्मात् कारणात् स्वकाये यद् दुःखं तत् **स्वापराधागतमेव** । इति **कस्मादन्यत्र** तत्सहकारिमात्रे **कुप्यते** ? ॥ ४५ ॥

आत्मवधाय स्वयं संस्कृतशस्त्रस्यैव अन्यत्र मम कोपो न युक्त इत्याह—

---

४४. पीड़ासहिष्णु मैंने बहुत लम्बा चौड़ा फोड़ा (व्रण) पाल रखा है, उसमें पीड़ा होने पर, तृष्णान्ध होकर मैं किस पर क्रोध कर रहा हूँ ! ॥

४५. मुझ अज्ञानी को दुःख तो प्रिय नहीं हैं, पर दुःख के हेतु शरीर आदि प्रिय हैं । परिणामस्वरूप अपनी ही गलती से जब दुःखों का पहाड़ टूट पड़े तो दूसरों पर क्रोध करने से क्या लाभ ! ॥

* असिपत्रवनं यद्वद् यथा नारकपक्षिणः ।
मत्कर्मजनिता एव तथेदं कुत्र कुप्यते ! ॥ ४६ ॥

असिपत्रवनं नरकसमुद्भवम् । असय एव पत्राण्यस्येति कृत्वा । असिग्रहणं प्राधान्यात् । अन्यदपि शस्त्रं नारकदुःखहेतुर्यन्त्रं च । वने तस्मिन्निवासिनो गृध्रोलूकवायसादयः पक्षिणो यथा मत्कर्मजनिता एव दुःखहेतवो भवन्ति । नान्यदत्र दुःखकारणमस्ति । तथा इदमपि परशस्त्रादिकं दुःखहेतुर्मत्कर्मजनितमेव, इति कुत्र कुप्यते ? ॥ ४६ ॥

इत्थमपि विपर्यास एवायमित्युपदर्शयितुमाह— [p 195]

* मत्कर्मचोदिता एव जाता मय्यपकारिणः ।
येन यास्यन्ति नरकान्मयैवामी हता ननु ॥ ४७ ॥

येन मदीयेन कर्मणा चोदिताः प्रेरिता एव मयि पूर्वकृतापकारे अपकारिणो जाताः सन्तो नरकान् यास्यन्ति, तेन मयैवामी अपकारिणो हता ननु । स्वचित्तं सम्बोधयति—न अमीभिरहं हतः । अयमभिप्रायः—यदि नाकरिष्यमहमीदृशं कर्म, तदा एतेऽपि नापकारिणोऽभविष्यन्निति मत्कृतेनैव कर्मणा अपकारिणो भवन्ति ॥ ४७ ॥

उपकारिष्वेव मोहादपकारिबुद्धिर्ममेति कारिकाद्वयेन दर्शयन्नाह—

* एतानाश्रित्य मे पापं क्षीयते क्षमतो बहु ।
मामाश्रित्य तु यान्त्येते नरकान् दीर्घवेदनान् ॥ ४८ ॥

* अहमेवापकार्येषां ममैते चोपकारिणः ।
कस्माद् विपर्ययं कृत्वा खलचेतः प्रकुप्यसि ॥ ४९ ॥

---

४६. जैसे नरकस्थ असिपत्रवन और मेरे शरीर के मांस को नोच-नोच कर खाने वाले नारकीय पक्षी मेरे कार्यों से ही प्रादुर्भूत होते हैं, वैसे ही ये सांसारिक दुःख भी मेरे प्रारब्ध से ही उद्भूत हैं, फिर मैं किस पर क्रोध करूँ ! ॥

४७. मेरे अपकारी भी मेरे कर्मों से ही प्रेरित हैं और इस अपकार के बदले उन्हें भी नरक में जाना पड़ेगा, इस प्रकार मानों मैंने ही उनकी हत्या की है ! ॥

४८. उन्हें क्षमा करने से मेरा बहुत सा पाप, इनके सहारे, कट सकता है, पर मेरे कारण ये फिर नरक में जा रहे हैं ॥

४९. अतः मैं ही इनका अपकारी हूँ, ये मेरे उपकारी हैं । रे दुष्ट चित्त ! अब क्यों तूँ उलटे इन पर गुस्सा हो रहा है ! ॥

एताऽनपकारिण आश्रित्य निमित्तीकृत्य मम पापं पूर्वजन्मकृतपराऽपकारजनितं क्षीयते तद्दुःखानुभवनविपाकेन क्षयं याति। क्षमतः क्षान्तिमालम्बमानस्य। बहु अनेकपर्यायेण कृतम्। मामाश्रित्य मत्कर्मचोदिताः एवमप्यपकारं कृत्वा पुनरेते नरकान् तीव्रवेदनान् दुःसहदुःखानुभवान् [p 196] यान्ति। अत उक्तक्रमेण अहमेव अपकारी एषामित्यादि सुबोधम् ॥ ४८-४९ ॥

ननु यद्यपकारी भवान्, तर्हि भवत एव नरकगमनमुचितम्, न त्वेषाम्? इत्याह—

* भवेन्ममाशयगुणो[1] न यामि नरकान् यदि।
एषामत्र किमायातं यद्यात्मा रक्षितो मया ॥ ५० ॥

या प्रत्यपकारनिवृत्तिनिष्ठा एतन्ममाशयमाहात्म्यं नरकगतिनिवृत्तिहेतुः। नरकान् न यामि तदात्माशयमाहात्म्यबलेन। न तु पुनरेषां दुराशयतया नरकेषु ममापतनमिति भावः। एतदेवाह—एषामित्यादिना। अयमत्र समुदायार्थः—यद्यहमपकारी सन्नपि केनचिदुपायकौशलेन नरकान् न यामि, तदैषामुपकारिणां किमायातम्, किमपक्षीयते? का क्षतिरित्यर्थः। यथा तावदेकेन रक्षिता न भवन्त्वन्ये[2], रक्षित आत्मा च भवेत्। न चैतावता किञ्चिदेषां न्यूनाधिकं गुणदोषेषु स्यात् ॥ ५० ॥

[P 197] ननु यदि नाम एवम्, तथापि भवतोऽपि न युक्तमात्मरक्षणमुपकारिकृतज्ञतया? इत्याशङ्क्याह—

* अथ प्रत्यपकारी स्यां तथाप्येते न रक्षिताः।
हीयते चापि मे चर्या तस्मान्नष्टास्तपस्विनः ॥ ५१ ॥

यदि दण्डादिघातं कुर्वंत्सु प्रत्यपकारी भवेयम्, तथापि एते रक्षिता न भवन्ति। न कश्चिदेषां प्रतीकारो नरकगमनादिषु कृतः स्यात्। प्रत्युत

---

५०. यदि मैं नरकगामी न बना तो यह मेरी अन्तरात्मा का माहात्म्य है। यदि मैंने स्वयं को बचा लिया तो इसमें इन अपकारक प्राणियों का क्या नफा-नुकसान है! ॥

५१. यदि मैं भी उपकार के बजाय अपकार ही करने लगूँ तो ये भी नहीं बचेंगे और मेरी चर्या भी नष्ट हो जायगी। तब इन गरीबों का तो सत्यानाश ही समझो ॥

---

१. ०माश्रयगुणः—पाठा०।
२. भवन्तामान्ये—मु० पा०।

ताडितेनापि मया न प्रतिताडितव्यम्। तथा सर्वसत्त्वेषु न मैत्रचित्तं मया निक्षेप्तव्यम्[1]। अन्तशो न दग्धस्थूणायामपि प्रतिघचित्तमुत्पादयितव्यम्। इत्यादेर्बोधिसत्त्वचर्यायां मम हानिरेव स्यात्। तस्मादेतर्हि प्रतीकारोपायाभावात् तपस्विनो वराका रक्षितुमशक्यत्वान्नष्टा दुर्गतिपतिता एव इत्युपेक्ष्यन्ते तावदिदानीम्। पश्चात्तदुपायमधिगम्य तत्करिष्यामि तथैषां दुःखमणुमात्रकमपि न स्यात्॥ ५१॥

धर्मनिध्यानक्षान्तिः

३. तदेवं परापकारमर्षणक्षान्तिं प्रतिपाद्य अधुना **धर्मनिध्यानक्षान्ति**मुपदर्शयितुमाह—

* मनो हन्तुममूर्तत्वान्न शक्यं केनचित् क्वचित्।
शरीराभिनिवेशात्तु [2]चित्तं दुःखेन बाध्यते॥ ५२॥

द्विविधं दुःखमविचारतो बाधकमुपजायते-कायिकं मानसिकं चेति। [P 198] तत्र मनसि न कश्चिद्दण्डादिकं दातुं शक्तः, अमूर्तत्वान्मनसः। इति तदुद्भवं दुःखं परमार्थतो न सम्भवति। कल्पनाकृतं तु दौर्मनस्यादिकं विद्यते। एतदेव दर्शयति-शरीरेत्यादिना। ममेदं शरीरमिति विकल्पाभ्यासवासनावशात् कायदुःखेन चित्तं विहन्यते॥ ५२॥

तत्रापि प्रनियतमेव दुःखकारणमित्याह—

* न्यक्कारः परुषं वाक्यमयशश्चेत्ययं गणः।
कायं न बाधते तेन चेतः कस्मात् प्रकुप्यसि॥ ५३॥

न्यक्कारादिगुणः समूहः कायस्य दुःखहेतुर्न भवति। न हि कायस्यायं कञ्चिदुपघातं करोतीति येन, तेन चेतः कस्माद्धेतोः प्रकुप्यसि ?॥ ५३॥

अथापि स्यात्—यदि नाम न्यक्कारादयः कायस्य बाधका न भवन्ति, तथापि तच्छ्रुत्वा मयि लोकानामप्रसन्नं चित्तमुत्पद्यते, इति मया नेष्यते ? इत्याशङ्क्याह—

---

५२. कहीं कोई मन को नहीं मार सकता; क्योंकि वह अमूर्त है। पर शरीर में आसक्त होने कारण शरीर-दुःख से उसे भी दुःख का अनुभव होता है॥

५३. अपमान, कटु वचन, निन्दा—इन दुर्गुणों के समूह से शरीर को कोई पीड़ा नहीं होती, फिर हे चित्त ! तुम क्यों दूसरों पर क्रोध करते फिरते हो !॥

---

१. निश्चितव्यम्–इतिमूल पु० (१) पाठः।
२. कायदुःखेन---पाठा०।

* मय्यप्रसादो योऽन्येषां स मां किं भक्षयिष्यति !
इह जन्मान्तरे वापि येनासौ मेऽनभीप्सितः ॥ ५४ ॥

[P 199] भवतु नाम एवम्, तथापि विचारणीयमेव। मयि न्यक्कारादिश्रवणाद् योऽयमप्रसादो जनानाम्, स किं मां भक्षयिष्यति इह लोके परलोके वा, येनासौ लोकप्रसादो ममाप्रियः, इति विचार्य न कर्तव्योऽत्राभिनिवेशः ॥ ५४ ॥

अस्ति वा अत्राभिनिवेशकारणं लाभविघातो नामेत्याह—

* लाभान्तरायकारित्वाद् यद्यसौ मेऽनभीप्सितः ।
नङ्क्ष्यतीहैव मे लाभः पापं तु स्थास्यति ध्रुवम् ॥ ५५ ॥

तथाहि न्यक्कारादिश्रवणादप्रसादो लोकानाम्, तस्माच्च लाभोपनामनवैमुख्यम्। ततोऽसौ न्यक्कारादिगणो ममानिष्ट इति चेत् ? तदयुक्तम्; नङ्क्ष्यति विनश्वरधर्मतया अपगमिष्यति। इहैव प्रतिनियतैरेव दिनैर्मम लाभः। न तु परलोकानुबन्धी भविष्यति। तन्निमित्तं न्यक्कारादिकर्तृषु क्रुध्यतो यत् पापं तदेव परं स्थास्यति परलोकानुबन्धि भविष्यति। ध्रुवमिति अपरिमुक्ते तत्फले तस्याविनाशात् ॥ ५५ ॥

इदमपि चात्रालोचनीयम्—

* वरमद्यैव मे मृत्युर्न मिथ्याजीवितं चिरम् ।
यस्माच्चिरमपि स्थित्वा मृत्युदुःखं तदेव मे ॥ ५६ ॥

इदमेव वरं श्रेष्ठं यल्लाभाभावादस्मिन्नेवाहनि मरणमस्तु, न तु पुनः परापकारद्वारेण लाभप्रतिलम्भान्मिथ्याजीवितं चिरं दीर्घकालम्। कुतः ? यस्माद् बहुतरकालमपि जीवित्वा 'मरणान्तं हि जीवितम्' इत्यवश्यम्भाविनो

---

५४. मेरे प्रति दूसरों का द्वेष, जो यद्यपि मुझे कभी अभीष्ट नहीं, क्या मुझे इस या दूसरे जन्म में खा जायगा (कि मैं उससे इतना डरूँ) ! ॥

५५. वह द्वेष, लाभ में विघ्नकारक होने के कारण, यदि मुझे अभीष्ट नहीं तो मेरे लाभों को तो यहीं नष्ट हो जाना है; जब कि पाप को (भोगपर्यन्त) निश्चित रूप से मेरे साथ ही रहना है ॥

५६. चिरकाल तक मिथ्या जीवन मुझे इष्ट नहीं, उससे तो अच्छा है कि मेरी आज ही मृत्यु हो जाय; क्योंकि चिरकाल तक यहाँ ठहर कर तो मरणान्तक दुःख ही भोगना है ॥

मृत्योर्दुःखं तदेव मम। यत्पश्चाद्वर्षशतात्यये भविष्यति, तदेवेदानीं [P 200] मम म्रियमाणस्य इति चिरजीवितेष्वविशेषः ।। ५६ ।।

इतोऽप्यविशेष एवेति श्लोकद्वयेन दर्शयन्नाह—

* स्वप्ने वर्षशतं सौख्यं भुक्त्वा यश्च विबुध्यते ।
मुहूर्तमपरो यश्च सुखी भूत्वा विबुध्यते ।। ५७ ।।
* ननु[1] निवर्तते[1] सौख्यं द्वयोरपि विबुद्धयोः ।
सैवोपमा मृत्युकाले चिरजीव्यल्पजीविनोः ।। ५८ ।।

यथा कश्चित स्वप्नोपलब्धं वर्षशतं सुखमुपभज्य विबुध्यते, अन्यः पुनः क्षणमात्रम । स तावन्मात्रेण सुखिनमात्मानं मन्यते । अनयोर्द्वयोरपि स्वप्नोलब्धोपभुक्तसुखयोः प्रतिविबुद्धयोः सतोः तदुपलब्धं विनष्टं सुखं न निवर्तते, जाग्रदवस्थायां नानुवर्तते; स्मरणमात्रावशेषत्वात । सैवोपमा स्वप्नोपलब्धसुखयोरिव पुरुषयोर्मृत्युकाले मरणसमये चिरजीविनोऽल्पजीविनश्च । ननु निवर्तते सौख्यमिति स्वार्थेऽप्यण् । इत्यलं मिथ्याजीवितेन ।।

अस्मादपि लाभालाभयोर्न कश्चिद्विशेष इत्युपदर्शयन्नाह—

* लब्ध्वापि च बहूँल्लाभान् चिरं भुक्त्वा सुखान्यपि । [P 201]
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा ।। ५९ ।।

प्रचुरतरलाभान् लब्ध्वापि समासाद्य, चिरकालमुपभुज्य सुखान्यपि, पुनर्मृत्युमधिगम्य रिक्तहस्तश्च तुच्छहस्तः । न तस्माल्लाभादीषदपि पाथेयं गृहीतम् । नापि सुखात् किञ्चित् परिशिष्टमवस्थितम् । कटिसूत्रकमात्रमपि न परिशेषितमिति नग्नश्च चौरैः परिमुषित इव अस्माल्लोकात् परं लोकं यास्यामि ।। ५९ ।।

५७–५८. कोई स्वप्न में सौ वर्ष का सुख भोगकर जगे, या दूसरा क्षणभर का सुख भोगकर जगे—दोनों का वह सुख समान रूप से (जगते ही) निवृत्त हो जाता है । मृत्यु के समय चिरजीवी और अल्पजीवी पुरुषों की भी यही स्थिति है । (अर्थात् मृत्युदुःख दोनों के लिये समान ही है) ।।

५९. नानाविध लाभ पाकर भी चिरकाल तक सुख भोगकर मुझे अन्त में लुटे हुए की तरह खाली हाथ और नंगा ही जाना पड़ेगा ! ।।

१-१. न तन्निवर्तते—पाठा० ।

स्यादेतत्—अस्त्येव विशेषो लाभस्य चीवरादीनामनुपघातादायुःसंस्कराणामुपस्तम्भाच्चिरतरकालं जीवितं स्यात्। ततश्च पूर्वकृतपापस्य विदूषणासमुदाचारादिना परिक्षयं शिक्षासंवरपरिरक्षणेन बोधिचित्तसेवनादिना च कुशलपक्षस्य च वृद्धिं कुर्याम्। यदुक्तम्—

'यावच्चिरं जीवति धर्मचारी तावत्प्रसूते कुशलप्रवाहम्' ॥ इति ॥

अतो लाभान्तरायकारिणि युक्त एव प्रद्वेष इत्याशङ्क्यन्नाह—

* पापक्षयं च पुण्यं च लाभाज्जीवन् करोमि चेत्!

लाभादुक्तक्रमेण जीवन् ध्रियमाणः पापक्षयं च पुण्यं करोमीत्यादि मन्यसे। ननु एतदितः समधिकं दोषमपश्यता अभिधीयते? इत्याह—

* पुण्यक्षयश्च पापं च लाभार्थं क्रुध्यतो ननु ॥ ६० ॥ [P 202]

लाभार्थं लाभनिमित्तं तदन्तरायकारिणि द्वेषं कुर्वतः सुकृतक्षय एवोपजायते। यदुक्तम्–"सर्वमेतत्सुचरितम्" [बो० च० ६. १] इत्यादिना। अयं तु विशेषः– अक्षान्तिसमुद्भवस्य पापस्य राशिरभिवर्धते ॥ ६० ॥

अथापि स्यात्–यथाकथञ्चित् तावच्चिरकालं लाभाज्जीवितं स्यात्। तावतैव नः प्रयोजनमित्याह—

* यदर्थमेव जीवामि तदेव यदि नश्यति।
किं तेन जीवितेनापि केवलाशुभकारिणा ॥ ६१ ॥

न खलु बोधिसत्त्वस्य इतरसत्त्ववज्जीवितं निष्प्रयोजनमेवाभिलषितम्, किं तर्हि? सम्भाराभिसंवर्धनार्थं पापक्षयार्थं च। तद् यदि सुकृतक्षयनिमित्तमेव तत् स्यात्, तदा किं तेन तादृशेन जीवितेनापि केवलाशुभकर्मकरणशीलेन? निन्दितमेव तदिति भावः ॥ ६१ ॥

स्यादेतत्–न लाभान्तरायकारितया ममावर्णवादिनि प्रतिघचित्तमुत्पद्यते, किन्तु गुणप्रच्छादनादिकर्मणा; दुःखहेतुत्वादित्याह—

---

६०. यदि मैं 'लाभ से जीते हुए पापक्षय और पुण्यार्जन ही करता हूँ'—यह सोचूँ तो भी ठीक नहीं; क्योंकि लाभ के लिये क्रोध करता हुआ मैं तो वस्तुतः पुण्यक्षय और पाप ही बटोर रहा हूँ ॥

६१. जिस पुण्य के लोभ से मैं जी रहा हूँ यदि कहीं वही क्षीण हो जाय तो केवल अपुण्य कमाने वाले इस जीवन से क्या लाभ! ॥

* अवर्णवादिनि द्वेषः[1] सत्त्वान्नाशयतीति चेत् ?
परायशस्करेऽप्येवं कोपस्ते किं न जायते ! ॥६२॥ [P203]

अयशोभिधायिनि योऽयं भवतो विद्वेषः. सोऽवर्णवादी दोषाविष्करणाद् व्रणप्रच्छादनाच्च त्वां नाशयति । इति मत्वा चेद् यदि तन्निमित्तकः । अथवा सत्त्वान् लोकान्नाशयति । अवर्णवादेन मयि निग्राहयति । स्वयमप्रसन्नचित्तस्तेषामपि चित्तमप्रसादयतीत्यर्थः । इति अवर्णवादिनि द्वेषश्चेत्, उच्यते । तदा योऽपि परेषामन्यसत्त्वानामयशः प्रकाशयति, तत्रापि कोपस्ते किं न जायते ? सोऽपि च अवर्णवादी सत्त्वान्नाशयति । तदस्मिन्नपि युक्तरूप एव कोपः ॥ ६२ ॥

अत्रोत्तरमाशङ्कयन्नाह--

* परायत्ताप्रसादत्वादप्रसादिषु ते क्षमा ।

परेषु अन्येषु सत्त्वेषु आयत्त आश्रितोऽप्रसादोऽस्य । अन्यसत्त्वान् विषयीकृत्य समुत्पन्न इति । तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । पराश्रिताप्रसादत्वादप्रसादिषु अप्रसन्नचित्तेषु अवर्णवादिषु तव क्षमा क्षान्तिरुत्पद्यते । आत्मचित्तमेव पृच्छति ।

अन्नाह—

* क्लेशोत्पादपरायत्ते क्षमा नावर्णवादिनि ॥ ६३ ॥

यदि यः परायत्ताप्रसादः तत्र क्षमा भवतो भवति, तदा स्वस्मिन्नवर्णवादिनि किं न क्षमा ! किंरूपे ? क्लेशोत्पादपरायत्ते क्लेशानामुत्पादपरतन्त्रे । परायत्ताप्रसादत्वं क्षमाहेतुः तुल्यमुभयत्रापि इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

प्रतिमाद्युपघातकारिषु श्रद्धावशादपि प्रतिघचित्तं नोत्पादयितव्यमित्याह— [P 204]

---

६२. [क्रोध-निवारण का अन्य उपाय—] रे चित्त ! यदि अपने निन्दक के प्रति तुम्हारा इसलिये द्वेष है कि वह परसत्त्वापकारी या तुम्हारा अपकारी है तो परनिन्दक के प्रति तुझे क्रोध क्यों नहीं आता ? ॥

६३. उन निन्दकों के प्रति तो तेरा क्षमाभाव है, पर स्वनिन्दक के प्रति नहीं; यद्यपि उसके द्वारा निन्दाजन्य क्लेश भी हेतुप्रत्ययसामग्री पर ही अवलम्बित है ! ॥

---

१. स त्वां-इत्यपि पाठों भवितुं शक्नोति ।

* प्रतिमास्तूपसद्धर्मनाशकाक्रोशकेषु च ।
न युज्यते मम द्वेषो बुद्धादीनां न हि व्यथा ।। ६४ ।।

नाशका विकोपयितारः । **आक्रोशका** दोषबुद्धया वैरूप्याभिधायिनः । **तेषु न युक्तो मम द्वेषः** । कुतः ? यस्माद्बुद्धादीनां बोधिसत्त्वार्यश्रावकप्रत्येकबुद्धानां वितथाभिनिवेशप्रसूतात्मग्राहनिवृत्तेरभिष्वङ्गाभावान्न **व्यथा** चित्तपीडालक्षणं दौर्मनस्यं नास्ति इति भावः। अतः प्रतिमाविनाशकेषु द्वेषचित्तं नोत्पादयितव्यम् । तथा विरुद्धधर्मकारिषु करुणैव तु युज्यते तेषु साधूनाम् । अन्यथा तत्र विशेषाभावात् पापमेव केवलमुपजायते । यदि पुनर्धर्मतो निवारयितुं शक्यते, तदा न दोषः ।। ६४ ।।

यदपि च धर्मकामतया गुरुमातापित्राद्युपघातकारिषु द्वेषचित्तमुत्पद्यते, तदपि विनिवार्यमेवेत्याह—

* गुरुसालोहितादीनां प्रियाणां चापकारिषु ।
पूर्ववत् प्रत्ययोत्पादं दृष्ट्वा कोपं निवारयेत् ।। ६५ ।।

[P 205] **गुरवो** धर्ममार्गोपदेष्टारोऽकुशलपक्षनिवर्तयितारः **सालोहिताः** सोदराः । अन्येऽपि ज्ञातिसगोत्रबान्धवादयः । **तेषामपकारिषु** । तथा **प्रियाणां** प्रेमस्थानानां **चापकारिषु कोपं निवारयेदि**ति सम्बन्धः । कथम् ? **पूर्ववत् प्रत्ययोत्पादं दृष्ट्वा** । यदुक्तम्—"ये केचिदपराधाश्च" [बोधि० ६. २५] इत्यादिना । अतः सर्वेऽप्यमी पूर्वकर्मोपजनितमेव फलमुपभुञ्जते । नात्र कश्चित् प्रतीकारहेतुरस्ति । तदनेन यथा अपरसमये देवगुरुद्विजातिमातापितृप्रभृतीनामर्थे पापं कुर्वतोऽपि न दोष इति मतम्, न तथा इहाभिमतमित्युक्तं भवति ।। ६५ ।।

* चेतनाचेतनकृता देहिनां नियता व्यथा ।
सा व्यथा चेतने दृष्टा क्षमस्वैनां व्यथामतः ।। ६६ ।।

---

६४. बुद्ध-प्रतिमा, स्तूप और सद्धर्मनिन्दकों के प्रति भी क्रोध करना उचित नहीं; क्योंकि जब उस निन्दा से बुद्ध आदि को कोई पीड़ा नहीं होती तो फिर निन्दक के प्रति निष्प्रयोजन क्रोध क्यों किया जाय ! ।।

६५. अतः गुरुजनों, स्वजनों और कल्याणमित्रों के अपकारियों पर भी यह सोचकर ही क्रोध नहीं करना चाहिये कि यह सब हेतुप्रत्ययसामग्री के कारण ही हो रहा है ।।

६६. प्राणियों को चेतन-अचेतन से पीड़ा होते रहना एक प्रकार से नियत

समस्तकार्यस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जनकत्वेनावधारितं सामग्रीलक्षणं कारणम्। सा च सामग्री वस्तुधर्मतया काचित् क्वचित् समर्थस्वभावा। तत्र चेतनेन कृता हस्तपादादिप्रहारेण। अचेतनेन दण्डशस्त्ररोगादिना। तत्रापि चेतनावद्व्यापारोऽस्त्येव। साक्षात् पारम्पर्यकृतस्तु विशेषः स्वमेव यदृच्छया वा लोष्ठकुड्याद्यभिघातजनिता वा देहिनां शरीरिणां नियता व्यथा नियमेन समुत्पद्यते। नान्यदितो व्यथाकारणमस्ति। सा चैवं द्विविधकारणसामग्रीप्रसूतापि चेतने सविज्ञानके काये दृष्टाः प्रमाणपरिनिश्चिताः। अतस्तदेव तदुत्पत्तिस्थानं नान्यात्। अचेतने वेदनायोगात्। ततो यद् यस्यो- [P 206] त्पत्तिस्थानं तत् तत्रैव भवति नान्यत्र, यथा पङ्के पङ्कजं न स्थले। अतः अस्मान्न्यायात् क्षमस्व सहस्व एनामनन्तरकथितोभयरूपां व्यथाम्॥ ६६॥

तदानीमुभयोरपि साधारणदूषणतया क्वचिदपि कोपो न युक्त इति कथयितुमाह—

* मोहादेकेऽपराध्यन्ति कुप्यन्त्यन्ये[1] विमोहिताः।
ब्रूमः क मेषु निर्दोषं कं वा ब्रूमोऽपराधिनम्॥ ६७॥

आत्मात्मीयग्राहाभिनिवेशविपर्यासादेके केचिदपराध्यन्ति दण्डादिना। समाक्रोशादि वा वदन्तः सदोषमात्मानं कुर्वन्ति। अन्ये पुनस्तदपराधेन कुप्यन्ति। विमोहिता मोहादेव स्वकृतकर्मफलसम्बन्धमननुसरन्तोऽविद्यावरणात्, प्रतिताडनाक्रोशादिकमारभन्ते। इत्थं ब्रूमः—कम् एषु क्लेशराक्षसावेशवशीकृतेषु निर्दोषम् कं वा ब्रूमोऽपराधिनम्? उभयेषामपि साधारणदोषत्वात्॥६७॥

इदमपि च आत्मगतमेव चिन्तयता प्रतिघचित्तं निवर्तयितव्यमित्याह—

* कस्मादेव कृतं पूर्वं येनैवं बाध्यसे परैः।
सर्वे कर्मपरायत्ताः कोऽहमत्रान्यथाकृतौ॥ ६८॥

है। पर वह व्यथा चेतन में ही होती दिखायी देती है। अतः ऐसी व्यथा को सहन करने का स्वभाव बनाना चाहिये॥

६७. कुछ लोग मोहवशात् अपराध करते हैं, कुछ मोह के कारण क्रोध करते हैं, मैं किसे निर्दोष कहूँ किसे अपराधी!॥

६८. तुमने पहले ऐसे कर्म किये ही क्यों, कि जिनके कारण अब तुम सताये जा रहे हो। सब कुछ कर्म के अधीन है। उसे उलटने वाला मैं कौन होता हूँ!॥

---

१. अन्येऽपि मोहिताः—पाठा०।

[P207] कस्मात् कारणात् किमित्येवम् एतत्फलं हेतुकर्म कृतम् । येनेति लोकोक्तिरेषा यदित्यस्यार्थे । यदेवम् । यदि वा येन कर्मसामर्थ्येन हेतुना । आक्रोशबन्धनताडनादिभिः बाध्यसे पीडयसे परैरन्यैः । ननु यदि नाम एवम्, तथापि प्रतिकारो युक्त इत्याह—सर्वं इत्यादि । सर्वे दुःखहेतवः कर्मप्रत्ययोपजनितप्रवृत्तयः इति कोऽहमत्र अन्यथाकृतौ तत्फलनिवर्तनाय ? न कश्चित्; फलदानोन्मुखस्य कर्मणः केनचिन्निवर्तयितुमशक्यत्वात् ।। ६८ ।।

इदं पुनरत्र युक्तरूपमित्याह—

* एवं बुद्ध्वा तु पुण्येषु तथा यत्नं करोम्यहम् ।
येन सर्वे भविष्यन्ति मैत्रचित्ताः परस्परम् ।। ६९ ।।

एते सत्त्वाः कर्मक्लेशपरायत्ताः परस्परमसमञ्जसकर्मकारिणो निवर्तयितुमशक्या इति एवं बुद्ध्वा ज्ञात्वा पुनः पुण्येषु कुशलेषु कर्मसु तथा यत्नं करोम्यहम्, तेन प्रकारेण वीर्यं समारभे, येन तथाविधं सामर्थ्यं प्रतिलभ्य सन्मार्गे प्रवर्तिताः सन्तः सर्वे मैत्रचित्ता हितसुखविधानतत्पराः परस्परमन्योन्यं भविष्यन्ति ।। ६९ ।।

द्रोहचित्तं विनिवर्त्य प्रियवस्तूपघातकारिणि लौकिकोदाहरणेन द्वेषं निवर्तयेदिति श्लोकद्वयमुपदर्शयन्नाह—

* दह्यमाने गृहे यद्वदग्निर्गत्वा गृहान्तरम् ।
तृणादौ यत्र सज्येत तदाकृष्यापनीयते ।। ७० ।। [P 208]

* एवं चित्तं यदासङ्गाद् दह्यते द्वेषवह्निना ।
तत्क्षणं तत्परित्याज्यं पुण्यात्मोद्दाहशङ्कया ।। ७१ ।।

एकस्मिन् गृहेऽग्निना दह्यमाने यथा तस्माद् गृहादन्यद् गृहं गृहान्तरं गत्वा । अग्निर्यत्र तृणकाण्ठादौ सज्जते लगति, तदन्तर्गतमन्यदपि वस्तु मा धाक्षीदिति शङ्कया तदाकृष्यापनीयते, पृथक् कृत्वा निर्धार्यते, इति दृष्टक्रमं प्रकृतेऽपि योजयन्नाह ।। ७० ।।

---

६९. ऐसा समझकर मुझे वह यत्न करना चाहिये कि सब परस्पर मैत्रीभावना से मुदित रहें ।।

७०–७१. जैसे घर में आग लगने पर, दूसरे घर के सामान को, जहाँ आग लगने की सम्भावना हो, खींच कर अलग कर दिया जाता है; वैसे ही जिसके साथ रहने से द्वेषाग्नि से जलने लगे उसे उसी क्षण स्वपुण्य-शरीर के जलने की सम्भावना से छोड़ देना चाहिये ।।

एवमुक्तोदाहरणन्यायेन चित्तं मनो यस्य वस्तुन आसङ्गादासक्तो दह्यते परितप्यते द्वेषवह्निना प्रतिघानलेन तदासङ्गस्थानं वस्तु तत्क्षणं न कालान्तरपरिलम्बेन परित्याज्यं तत्राभिनिवेशः परिहर्तव्यः । किं कारणम् ? पुण्यस्यात्मा शरीरम् । पुण्यस्कन्ध इति यावत् । तस्य उक्तक्रमेण उद्दाहः परिक्षयो मा भूत् । अन्यथा गृहान्तर्गतपदार्थवत् प्रद्वेषवह्निः तमपि दहेत् ॥ ७१ ॥

अपि च – लाभ एवायं लब्धः, यन्मनुष्यदुःखैर्नरकफलं कर्म विपच्यते इति प्रतिपादयन्नाह –

* मारणीयः करं छित्त्वा मुक्तश्चेत्किमभद्रकम् ।
मनुष्यदुःखैर्नरकान्मुक्तश्चेत्किमभद्रकम् ॥ ७२ ॥

यो हि मारणमर्हति, स यदि हस्तमात्रं छित्त्वा मुच्यते, तदा [P : 09] न काचित् क्षतिरस्य । प्रत्युत लब्धलाभमात्मानं मन्यते अत्यल्पमिदं मरणदुःखात् करच्छेदनदुःखमिति । तथा योऽपि मनुष्यदुःखं ताडनबन्धनतिरस्कारादिकृतमनुभूय नरकदुःखाद्विमुक्तो भवति, तस्यापि न किञ्चिदपचीयते । न किञ्चिदिदं दुःखं नरकदुःखात्, सुखमेव तत् । ततो यदि विचक्षणः स्यात्, तदा सौमनस्यमेवात्र युक्तमस्य ॥ ७२ ॥

अथापि स्यात् – न मया स्वल्पमात्रेऽपि दुःखे क्षमा कर्तुं शक्यत इति ? अत्राह –

* यद्येतन्मात्रमेवाद्य दुःखं सोढुं न पार्यते ।
तन्नारकव्यथाहेतुः क्रोधः कस्मान्न वार्यते ॥ ७३ ॥

खटचपेटलोष्टादिप्रहारकृतमीषन्मात्रमपि दुःखमिदानीं सोढुं मर्षितुं न पार्यते न शक्यते । तदत्र भवन्तं पृच्छामः – यदि एवमेव, तदयं नारकदुःखसंवर्तनीयः क्रोधः कोपः कस्मात् कारणान्न वार्यते ? अयमेव हि अतितरां नरकेषु दुःखदायक इति दुःखभीरूणामेव क्रोधं निवर्तयितुं युक्तं स्यात् ॥ ७३ ॥

किञ्च, यद्यपि सोढुं न शक्यते, तथापि तद्धेतुककर्मसम्भवादनिच्छ-

---

७२. जैसे यदि किसी वधयोग्य व्यक्ति का केवल हाथ काटकर छोड़ दिया जाय तो उसमें उसका नुक्सान क्या हुआ ? उसी प्रकार लोगों के हाथों दुःख पाकर यदि (उससे बड़ी) नरक से मुक्ति मिल जाय हमें नुक्सान क्या हुआ ! ॥

७३. यदि आज हम इतना थोड़ा सा दुःख भी सहन नहीं कर सकते तो नरक के दुःखों के मूल कारण क्रोध का परित्याग क्यों नहीं कर देते ! ॥

तोऽपि दुःखमापतिष्यति भवतः । न च किञ्चित् फलमुत्पत्स्यते । मर्षणात् [P 210] पुनस्तस्य महार्थलाभो भविष्यतीति वृत्तद्वयेन शिक्षयितुमाह—

* कोपार्थमेवमेवाहं नरकेषु सहस्रशः ।
कारितोऽस्मि न चात्मार्थः परार्थो वा कृतो मया ॥ ७४ ॥

* न चेदं तादृशं दुःखं महार्थं च करिष्यति ।
जगद्दुःखहरे दुःखे प्रीतिरेवात्र युज्यते ॥ ७५ ॥

कोपनिमित्तमेव । एवमेव निष्फलमेव । **नरकेषु** सञ्जीवादिषु । **सहस्रशः** अनेकवारम् । **अहं** **कारितः** छेदनभेदनपाटनादिकारणाभिः पीडितः । एवं दुःखमनुभवतापि मया **न च** नैव **आत्मार्थः** दृष्टादृष्टफलसाधनः **कृतो** निष्पादितः **परस्य** अन्यस्य **वा** **अर्थः** सुखविधानलक्षणः । इति निष्प्रयोजनमेव नारकदुःखसहस्रशः परिभवो जातः ॥ ७४ ॥

तदद्यापि न तथैव ममासहिष्णुता युक्तेत्याह—**इदं** **दुःखं** **नैव** **तादृशं** यादृशं नरकसमुद्भवम् । अथ च **महार्थं** सर्वसत्त्वहितसुखविधानभूतं बुद्धत्वं साधयिष्यति । अतो **जगतो** **दुःखहरे** त्रिजगत्पर्यापन्नसर्वसत्त्वदुःखप्रशमनकरे **दुःखे प्रीतिरेवात्र युज्यते** । नारुचिरिति भावः ॥ ७५ ॥

परगुणश्रवणेर्ष्यामलप्रक्षालनायाह—

* यदि प्रीतिसुखं प्राप्तमन्यैः स्तुत्वा गुणोर्जितम् । [P 211]
मनस्त्वमपि तं स्तुत्वा कस्मादेवं न हृष्यसि ॥ ७६ ॥

गुणाधिकं स्तुत्वा **यदि** **प्रीतिसुखं** कैश्चित् प्राप्तम्, तदा हे मनः, **त्वमपि** तद्गुणसम्वर्णनेन किमिति हर्षसुखं नानुभवसि ? किमकाण्डमेव तदीर्ष्यानलज्वालायामात्मसन्तानमिन्धनीकरोषि ! ॥ ७६ ॥

---

७४. क्रोध के कारण ही हम हजारों-लाखों वार नरकों में पड़े रहे । पर हमने न अपना ही स्वार्थ साधा, न दूसरों का ! ॥

७५. यह क्षान्तिपारमिता के अभ्यास का दुःख तो उन नरक-दुःखों के सामने नगण्य है । और यह हमारा महान् अर्थसाधक (=बोधिप्रापक) है । अतः ऐसे दुःख को तो गले से लगाना ही अच्छा है, जिससे अपना और संसार का दुःख दूर हो ॥

७६. यदि और लोग दूसरों से स्तुति सुन कर ही प्रसन्न हैं तो तूं भी उसकी स्तुति में शामिल क्यों नहीं हो जाता ! (तूं क्यों उसकी व्यर्थ निन्दा कर पाप का भागी बनता है) ॥

ननु सर्वसुखमासङ्गात्मतया निषिद्धमेव सेवितुम्। ततः अहं सर्वसुख-वैमुख्यादिदमपि नोपाददे। वक्ष्यति हि—

"यत्र यत्र रतिं याति मनः सुखविमोहितम्।
तस्मात् सहस्रगुणितं दुःखं भूत्वोपतिष्ठते" ॥ इति ?
(बो० च० ८. १८)

आह--

* इदं च ते दृष्टिसुखं निरवद्यं सुखोदयम्।
न वारितं च गुणिभिः परावर्जनमुत्तमम् ॥ ७७ ॥

न हि सर्वं दृष्टिसुखमपाकृतम्, अपि तु यत् सावद्यमकुशलहेतुः। इदं च परगुणाश्रयं दृष्टिसुखं निरवद्यं तव, न च अकुशलहेतुः। अतः सुखोदयं सुखस्योदयोऽस्मादिति कृत्वा। अतएव न वारितं च गुणिभिर्भगवच्छा-[P212] सनविधिज्ञैः। अयमपरोऽस्य गुणः, यत् परावर्जनमुत्तमम् परगुणेषु प्रीत्या। गुणेषु एवमयं मत्सरीति मन्यमाना अन्येऽपि सत्त्वा आवर्जिता भवन्ति, अतो युक्तमेवात्र प्रीतिसुखमुपादातुम् ॥ ७७ ॥

स्यादेतत्—न परगुणेषु अक्षमा काचिन्मम। किं तर्हि ? तावत्तस्यैव सुखमेतदिति मया सोढुमशक्यमिति। अत्राह—

* तस्यैव सुखमित्येवं तदेवं यदि न प्रियम्।
भृतिदानादिविरतेर्दृष्टादृष्टं हतं भवेत् ॥ ७८ ॥

तस्यैव स्तुतिकर्तुः सुखमिति एवमनेनाभिप्रायेण भवतो यदि इदं परगुण-स्तुतिप्रतिसमुद्भवं सुखं न प्रियम्, तदा अतिसङ्कटे पतितोऽसि। कथम् ? भृतिदानादिविरतेः। यदपि च भवतः स्वात्मसुखनिमित्तं स्वभृत्यादिषु भृतिदानं कर्ममूल्यदानम्, तथा उपकारकारिणि प्रत्युपकारकरणम्। इत्यादेर्विरतेर्वै-मुख्यात्, तदपि न कर्तव्यमेव स्यात् परसुखाविद्वेषिणा; यतस्तेनापि तस्य

---

७७. यह हर्षसुख (क्षान्तिपारमिता) तेरे लिये सुखदायी है, प्रशंसनीय है। बुद्धिमानों ने इसका निषेध नहीं किया। यह तो वह उत्तम साधन है कि जिसके सहारे दूसरे भी नम्र हो जाते हैं॥

७८. 'दूसरे को ही सुख है, तुझे नहीं', इसलिये तुझे उसका सुख अच्छा नहीं लगता तो 'उसका ही सुख होगा'—यह मानकर तू दूसरों को दान देगा, न वेतन; तब तेरा दृष्ट, अदृष्ट कैसे सुधरेगा, वह तो बिगड़ ही जायगा ! ॥

सुखमेव सम्पतस्यते । ततो दृष्टमैहिकं फलम्, अदृष्टं पारलौकिकम् । उभयमपि हतं भवेत् परसुखसम्पदमर्षिणा ।। ७८ ।।

किञ्च, मिथ्योत्तरमेवेदं भवत इति प्रतिपादयन्नाह—

* स्वगुणे कीर्त्यमाने च परसौख्यमपीच्छसि ।
कीर्त्यमाने परगुणे स्वसौख्यमपि नेच्छसि ।। ७९ ।।

[P 213] यदि कश्चिद्भवतो गुणमुदीरयति, तदा तस्य परस्यानिष्टमपि **सौख्यमिच्छसि** । अथ परगुणाननुवर्णयति, तदा पुनरीर्ष्याशल्यवितुद्यमानमानसः **स्वसौख्यमपि नेच्छसि** । आस्तां तावत् परसौख्यमित्यपिशब्दः । तस्मात् परसुखसम्पदीर्ष्यैव भवतः, न स्तावकसुखासहिष्णुता ।। ७९ ।।

यदुक्तम्—

'तस्यैव सुखमित्येवं तवेदं यदि न प्रियम्' ।। इति ।

(बो० च० ६.७८)

तत्र विशेषेण दूषणमाह—

* बोधिचित्तं समुत्पाद्य सर्वसत्त्वसुखेच्छया ।
स्वयं लब्धसुखेष्वद्य कस्मात् सत्त्वेषु कुप्यसि ।। ८० ।।

इदमतिगर्हितमेव विशेषेण समुत्पादितबोधिचित्तस्य, यत् परसुखसम्पदसहिष्णुता नाम । यतः 'सर्वसत्त्वाः त्रैधातुकान्तश्चराः समस्तसुखसम्पत्तिसन्तर्पिता बुद्धत्वमधिगम्य मया कर्तव्याः' इति मनसिकारेण बोधिचित्तमुत्पाद्यते । तदुत्पाद्य **कस्मात् सत्त्वेषु कुप्यते ? अद्य** इदानीम् । किंभूतेषु ? स्वचित्तमभिप्रसाद्य स्वयमात्मनैव प्राप्तसुखेषु । इति अकरणीयमेव तत् परसुखवैमुख्यचित्तं बोधिसत्त्वस्येति भावः ।। ८० ।।

[P 214] यः पुनरुत्पादितबोधिचित्तोऽपि परस्य लाभसत्कारसम्पत्तिमभिसमीक्ष्य तदीर्ष्याकषायितहृदयः तेनैव शोकेन दह्यते तस्य परिभाषणार्थमाह—

---

७९. अपनी बड़ाई सुनाकर तुम चाहते हो कि दूसरे लोग प्रसन्न हों, पर दूसरों का गुणानुवाद सुनकर स्वयं प्रसन्न होना नहीं चाहते ।।

८०. समग्र प्राणियों के लिये सुखोत्पाद की इच्छा से बोधिचित्त उत्पन्न कर अब स्वयं सुखी हुए प्राणियों पर क्यों क्रुद्ध हो रहे हो ? ।।

* त्रैलोक्यपूज्यं बुद्धत्वं सत्त्वानां किल वाञ्छसि ।
सत्कारमित्वरं दृष्ट्वा तेषां किं [1]परिदह्यसे ॥ ८१ ॥

अथवा स्यादेतत्—न खलु मया तत्सुखमेव न मृष्यते, किं तर्हि ? तदुद्भावितान्यगुणश्रवणाभिप्रसन्नमानसैः तेषामुपनामित लाभसत्कारमित्यत्राह—त्रैलोक्येत्यादि । त्रयो लोका एव कामरूपारूप्यधातुलक्षणाः लोकप्रसिद्धया वा स्वर्गादिस्वभावाः त्रैलोक्यम्, तत्समुदायो वा । तस्य पूजामर्हतीति पूज्यमभ्यर्चनीयम् । अनेन सर्वातिशायित्वं प्रतिपादितम् । तथाभूतं बुद्धत्वं सत्त्वानां किल वाञ्छसि । किलेत्येनेन विपर्ययं दृष्ट्वा अरुचिं प्रकाशयति । सत्कारमित्युपलक्षणम् । लाभमपि । शेषं सुबोधम् ॥ ८१ ॥

लाभमभिसन्धायाह—

* पुष्णाति यस्त्वया पोष्यं तुभ्यमेव ददाति सः ।
कुटुम्बजीविनं लब्ध्वा न हृष्यसि प्रकुप्यसि ॥ ८२ ॥

त्वया पोषणीयं प्रियपुत्रकादिकं त्वदीयं यः पुष्णाति, स तुभ्यमेव [P 215] ददाति । तवैव तेनोपचयः कृतो भवेत् । अतः त्वत्कुटुम्बजीविनं त्वदीयं कुटुम्बं जीवयति यः, त तथाविधं पुरुषं लब्ध्वा प्राप्य प्रहृष्यसि न ? काक्वा पृच्छति—प्रकुप्यसि, न प्रहृष्यसे चेत्यर्थः । तथा प्रकृतेऽपि येन सर्वसत्त्वा आत्मीयत्वेन गृहीताः, तस्य तत्सुखैः सुखमेवोचित्तमिति ॥ ८२ ॥

स्यादेतत्—बुद्धत्वमेव त्वया तेषां प्रतिज्ञातम्, न तु पुनरन्यसुखम् ? इत्याशङ्क्याह—

* स किं नेच्छसि सत्त्वानां यस्तेषां बोधिमिच्छति ।

ननु एतदपि न सम्यक् । यस्मात्—

'जगदद्य निमन्त्रितं मया सुतगत्वेन सुखेन चान्तरा' ॥
(बो० च० ३. ३३)

---

८१. प्राणियों के सतत सुख के लिये तीनों लोकों में महनीय बुद्धत्व की तो इच्छा करते हो, पर उनके विनाशशील लाभ-सत्कार को देखकर ईर्ष्या करते हो ! ॥

८२. तुम्हारे पालने योग्य को जो पाल रहा है, वह तुम्हारा ही तो भला कर रहा है । ऐसा परिवारपोषक पाकर भी खुश न होकर नाराज हो रहे हो ! ॥

८३. जो बोधि की कामना लिये हुए है वह प्राणियों के लिये क्या नहीं

---

१. परिवृज्यसे—पाठा० ।

इति प्रतिज्ञातम् । भवतु नाम एवम्, तथापि यः समुत्पादितबोधिचित्तः तेषां सत्त्वानां बोधिं बुद्धत्वमिच्छति, स किमन्यलौकिकलोकोत्तरमर्थजातं नेच्छति ? अथ नैवमिष्यते, तदा बोधिचित्तमपि हीयते इत्याह—

* बोधिचित्तं कुतस्तस्य योऽन्यसम्पदि कुप्यति ।। ८३ ।।

बोधिचित्तं कुतस्तस्य ? मिथ्यैव बोधिचित्तप्रतिज्ञस्य । कस्य ? **योऽन्यसम्पदि कुप्यति** । इतरविभूतौ लाभसत्कारप्रसूतायाम्, इति मर्मचोदना बोधिसत्त्वस्य कुशलकर्मनिवृत्तिहेतुः ।। [P 216]

अपि च—अपरस्य लाभसत्कारसम्पदभावेऽपि न भवतस्तद्भावसम्भवः । तत्किमकारणमेव तद्विद्वेषिणा आत्मघाताय यत्नः क्रियते इति प्रतिपादयन्नाह—

* यदि तेन न तल्लब्धं स्थितं दानपतेर्गृहे ।
सर्वथापि न तत्तेऽस्ति दत्तादत्तेन तेन किम् ।। ८४ ।।

यदि नाम तेन तव अक्षमाविषयेण सत्त्वेन तद्दीयमानं वस्तु **न लब्धम्**, तथापि **स्थितं दानपतेर्गृहे** । भवतस्तु किं तस्माज्जातम् ? **सर्वथापि तेन** लब्धेन गृहावस्थितेन वा न तद्वस्तु **तवास्ति** । इति **दत्तादत्तेन ते किम्** ? न किञ्चित् प्रयोजनं भवतः । अतस्तत्र उपेक्षैव युक्ता विदुषः ।। ८४ ।।

किञ्च, इदमपि तावत् परिभाव्यतामित्युपदर्शयन्नाह—

* किं वारयतु पुण्यानि प्रसन्नान् स्वगुणानथ ।
लभमानो न गृह्णातु वद केन न कुप्यसि ।। ८५ ।।

योऽसौ अतिप्रसन्नैर्दायकदानपतिभिर्लाभसत्कारैः पूज्यते, स **किं वारयतु पुण्यानि** पूर्वजन्मकृतानि विपाकोन्मुखानि, यद्वशात्तस्य लाभसत्काराः ।

चाहता ! जिसे दूसरों की सम्पत्ति या सुख से जलन हो उसे बोधिचित्त कैसे सुलभ होगा ? ।।

८४. यदि दूसरे को वह धन न मिला तो वह दानदाता के घर में रह जायगा, तुम्हें तो वह मिलना नहीं । फिर उसके देने या न देने से तुम्हें क्या हानि-लाभ है (तुम क्यों ईर्ष्या करते हो ?) ।।

८५. रे मन ! क्या तुम अपने पुण्यों का निवारण करना चाहते हो या अपने सुविशुद्ध गुणों का निवारण करोगे, या जो लाभ तुम्हें मिल रहा है उसे न लोगे ? क्या करने से तुम्हें क्रोध न आयेगा ? ।।

उत प्रसन्नान् दायकदानपतीन् वारयतु, अथ स्वगुणान् वारयतु, [P 217] यानाश्रित्य एषां प्रसादो जातः। मा प्रसादमप्येषां जनयिष्यथेति। अथवा। लभमानोऽपि तेभ्यो न स्वीकरोतु। ब्रूहि केन प्रकारेण अत्र न भवतोऽपरितोषः स्यात्। तत्र पुण्यादीनां बारयितुमशक्यत्वात् लभ्यमानाग्रहणेऽपि सर्वथापि न तत्तेऽस्तीत्यादिना बाधकस्योक्तत्वादिति न किञ्चित् परितोषकारणमस्ति ॥ ८५ ॥

अथापि स्यात्—परस्यैव लाभसत्कारसम्पत्तिरस्ति, न मम। अथ मम नास्ति, तदा परस्यापि मा भूत्, इत्येतन्ममासन्तुष्टिनिबन्धनम् ? इत्याशङ्क्याह—

* न केवलं त्वमात्मानं कृतपापं न शोचसि।
कृतपुण्यैः सह स्पर्धामपरैः[1] कर्तुमिच्छसि ॥ ८६ ॥

सुबोधम्। "यत् किञ्चिद् दुःखं तत्सर्वं पापसमुद्भूतम्। अभिलाषविघातोऽपि दुःखम्। यदपि पर्येषमाणो न लभते, तदपि दुःखम्" ( ) इति वचनात्। यद्वक्ष्यति—

'अभिलाषविघाताश्च जायन्ते पापकारिणाम्'। इति।
(बो० च० ७. ४१)

यत् किञ्चित् सुखं तत् सर्वं पुण्यप्रसूतम्। इति सुखभिलाषिणा शुभे कर्मणि उदयोगः करणीयः। यद्वक्ष्यति—

"पुण्यकारिसुखेच्छा तु"··· (बोधि० ७. ४२-४३) इत्यादि।

इति कथं कृतपुण्यैः सह स्पर्धा युज्यते ? सुकृतक्रियायामेव तत्सुखा- [P 218] भिलाषिणां स्पर्धा युक्तेत्यर्थः ॥ ८६ ॥

अपि च। इदमपि प्रष्टव्योऽसि—

* जातं चेदप्रियं शत्रोस्त्वत्तुष्टया किं पुनर्भवेत्।

तव शत्रोर्द्वेषविषयस्य त्वदभिलाषमात्रेण अप्रियमनिष्टं जातमुत्पन्नं चेद् यदि, एतावता भवतः किं पुनर्भवेत् ? भवतु तावत् तस्यानिष्टम्, अन्यस्य

---

८६. तू अपने पापी पेट के लिये किये गये पापों का तो प्रायश्चित करता नहीं, उलटे दूसरे पुण्यात्माओं के शुभ कर्मों से स्पर्धा (= ईर्ष्या) कर रहा है ! ॥

८७. यदि तेरे शत्रु का कुछ अनिष्ट हो ही गया तो तुझे उससे क्या सन्तोष

---

१. अपरा—पाठा०।

तु भवतु, मा वा। मम किञ्चिदेव तावन्मात्रेण प्रयोजनमिति पराभिप्राय-माशङ्कयाह—

* त्वदाशंसनमात्रेण न चाहेतुर्भविष्यति ॥ ८७ ॥

तवाशंसनम् इच्छा। अभिलाष इति यावत्। तावन्मात्रेण न चाहेतुः, न विद्यते हेतुरस्य, इत्यहेतुरर्थो भविष्यति ॥

अप्रियस्य भवतु नाम एवमित्यभ्युपगम्योच्यते—

* अथ[1] त्वदिच्छया सिद्धं तद्दुःखे किं सुखं तव।

यदि नाम तवेच्छया सिद्धं निष्पन्नमप्रियं शत्रोः, तथापि तस्य दुःखे समुत्पन्ने किं सुखं तव? न किञ्चित्। निष्प्रयोजनमिदमभिप्रेतमिति यावत्। ननु इदमेव प्रयोजनं यत् तद्दुःखे मम सन्तुष्टिरित्यत आह—

* अथाप्यर्थो भवेदेवमनर्थः को न्वतः परः ॥ ८८ ॥ [ꟹ 215]

एवमपि परदुःखपरितोषे यदि अर्थः प्रयोजनं भवेत्, तदा अतः परः अनर्थः को नु? नुरित्यतिशये। अयमेवानर्थो महानित्यर्थः ॥

कथं पुनरयमनर्थः? इत्याह—

* एतद्धि बडिशं घोरं क्लेशबाडिशिकार्पितम्।
यतो नरकपालास्त्वां क्रीत्वा[2] पक्ष्यन्ति कुम्भिषु ॥ ८९ ॥

यस्मादेतदिदमेवंविधं परानर्थचित्तं बडिशं घोरं महाभयङ्करम्। किंभूतम्? क्लेशबाडिशिकार्पितम्। क्लेशा एव बडिशेन चरन्तीति बाडिशिकाः तैरर्पितमादत्तम्। यतः क्लेशबाडिशिकात्। बाडिशिकादिव मत्स्यम्।

मिलेगा? तेरे चाहने भर से किसी का अकारण अनिष्ट हो जाय—यह तो होगा नहीं ॥

८८. और यदि तेरे चाहने से तेरे शत्रु का अनिष्ट हो ही गया तो उसके दुःखी होने से तुझे क्या सुख मिलेगा! यदि तेरी इतनी ही कामना थी तो तेरा अनिष्ट ही हुआ; क्योंकि इससे बड़ा और अनर्थ तेरा होगा भी क्या? ॥

८९. यह भयंकर बडिश (= मछली फंसाने की कटिया) क्लेशरूपी मछुएँ की लगायी हुई है। तुम्हें उससे खरीदकर नरकपाल कुम्भीपाक नरकों में पकायेंगे ॥

---

१. अतः—पाठा०। २. नीत्वा—पाठा०।

नरकपाला यमपुरुषाः त्वां क्रीत्वा पक्ष्यन्ति पक्ष्यन्ते । क्वचिन्नीत्वेति पाठः । कुम्भिषु नरकविशेषेषु । तस्मादत्राभिलाषं मा कार्षीरिति भावः ॥

यदपि स्तुत्यादिविघाते, तदपि अविवेचयत एवेत्युपदेशयन्नाह—

* स्तुतिर्यशोऽथ सत्कारो न पुण्याय न चायुषे ।
न बलार्थं न चारोग्ये न च कायसुखाय मे ॥ ९० ॥

* एतावाँश्च भवेत् स्वार्थो धीमतः स्वार्थवेदिनः । [P 220]

पञ्चप्रकार एवार्थः पुरुषार्थत्वेनाभिमतो विदुषाम् । तद्यथा—पुण्यम्, आयुर्वृद्धिः, बलवृद्धिः, आरोग्यलाभः. कायसुखं चेति । न चैतेषु क्वचिदुपयुज्यन्ते स्तुत्यादयः । इयानेव हि स्वार्थो भवतो भवेत् प्रज्ञावतः स्वार्थवेदिनः । अन्यस्य पुनरन्यथापि भवेत्, इति आत्मनि परामृशति । जानन्तु यद्यपि स्वार्थम्, तथापि स्वार्थवेदिनः अनुपायत्वात् पृथगुपदर्शितः । धीमत इत्यनेन तदसङ्गतया तदपि कथितम् ।

ननु मानसमपि सुखमस्ति, तेन अवधारणमयुक्तमित्यत्राह—

* मद्यद्यूतादि सेव्यं स्यान्मानसं सुखमिच्छता ।' ९१ ॥

मानसं सौमनस्यम् । तदिच्छता मद्यं द्यूतं गणिका पारदारिकं सेवनीयं स्यात् । यत्पुनः सद्धर्मश्रवणात् सौमनस्यम्, तत् पुण्यग्रहणेन संगृहीतमित्यदोषः । तस्मात् सौमनस्यहेतुर्भवतोऽपि स्तुत्यादयो बालजनानन्दकारिणोऽनुपादेया एव ॥ ९१ ॥

इत्थमपि बालजनोल्लापकारिणः स्तुत्यादय इत्याह—

* यशोऽर्थं हारयन्त्यर्थमात्मानं मारयन्त्यपि ।

केचिन्मोहपुरुषाः तादृशगुणात् स्वयमतिसुदूरे वर्तमाना अपि शक्रादिगुणैः स्तूयमाना बन्दिजनैरन्यैश्च प्रोत्फुल्लनयनवदना यशोऽर्थिनो [P ²2।]

---

९०. ये तेरें स्तुति, यश और सत्कार न तो तेरे पुण्य के लिये हैं, न तेरी आयुवृद्धि के लिये, न बलवर्धन के लिये, न आरोग्य के लिये, और न तेरे शरीर-सुख के लिये हैं ॥

९१ बुद्धिमान् और स्वार्थ को समझने वाले प्राणी का अधिक से अधिक इतना ही स्वार्थ हो सकता है । इससे अधिक कपोलकल्पित सुख चाहने वाले को जूआ, शराब आदि दुर्गुणों का भी सेवन करना पड़ सकता है ॥

९२. अविवेकी लोग अपने यश के लिये धन लुटाते हैं, झूठी मान-मर्यादा के

हस्त्यश्वादिधनं तृणवत् तेभ्यः प्रयच्छन्ति। तथा तैरेव गुणैः सम्भाविता-त्मनामपि शक्रवत् शत्रुविजयसमुद्भूतं यशो मम जगति विपुलतां गमिष्यति, इत्यभिनिवेशाद् दुःसहसंग्रामारोहणान्मारयन्ति॥

न चात्र परामर्थतः किञ्चित् प्रयोजनम्, अन्यत्र मिथ्याविकल्पादिति प्रतिपादयन्नाह—

* किमक्षराणि भक्ष्याणि मृते कस्य च तत् सुखम्!॥ ९२॥

स्तुत्याद्यभिधायकानि अक्षराणि वर्णाः किं भक्ष्याणि चर्वितव्यानि? यशोऽर्थं मृते सति कस्य च तत् सुखं यशःश्रवणसमुत्थम्?॥ ९२॥

तस्माद् बालक्रीडासमानमेतदित्युपदर्शयन्नाह—

* यथा पांशुगृहे भिन्ने रोदित्यार्तरवं शिशुः।

यथा कश्चिद् बालो धूलिमयगृहे परमपरितोषेण परिक्रीडमानः केनचित् तस्मिन् भग्ने महद्दुखेन परिगृहीतः परमार्तिपीडित इव 'मद्गृहं भग्नम्' इति करुणस्वरं क्रन्दति, सैवोपमा अत्रापि इत्याह—

* तथा स्तुतियशोहानौ स्वचित्तं प्रतिभाति मे॥ ९३॥

तथैव स्तुतियशोहानौ विघाते स्वचित्तं दुःखमाविशत् प्रतिभासते विचारयतो मम। अत्रापि न वस्तुसता केनचिद् विप्रलम्भ इति परामर्ष्टव्यम्। [P 222] पुनरन्यथा विचारेण बालधर्म एवायमिति चतुर्भिः श्लोकैः परा-मृशयन्नाह—

* शब्दस्तावदचित्तत्वात् [1]स मां स्तौतीत्यसम्भवः[1]।

शब्दो वर्णात्मको बाह्यार्थतया अचित्तः अचेनः। तस्य भावः तस्मात्। स शब्दो मां स्तौति मदीयं वर्णमुदीरयति। असम्भवः न सम्भवत्येतत्। तत् कथं सौमनस्यं जायते? इत्याह—

लिये प्राणत्याग तक करते हैं। क्या स्तुति में लिखे गये अक्षरों से पेट भरेगा? मरने के बाद यह सुख कहाँ रह जायगा!॥

९३. मिट्टी का बनाया घरोंदा टूटने से जैसे बच्चे फूट-फूट कर रोते हैं, मेरे यश और सत्कार की हानि से दुःखी मेरा चित्त भी मुझे वैसा ही लगता है॥

९४. शब्द के अचेतन होने के कारण उसके माध्यम से मेरी स्तुति हो नहीं

१-१. मां स्तौति न सम्भवः—पाठा०।

* परः किल मयि प्रीत [1]इत्येतत् प्रीतिकारणम् ॥ ९४ ॥

अन्यः पुरुषश्चेतनात्मकः । किलेति निरर्थकमेतदपीत्यरुचिप्रतिपादकम् । मयि प्रीतः अभिप्रसन्नः इत्येतदभिसन्धानं कारणम् ।

तत्राप्येवमसम्बन्धात् केवलं शिशुचेष्टितम् ।

(बो० च० ६. ९७)

इति सम्बन्धः ॥

असम्बन्धमेव कल्पयन्नाह—

* अन्यत्र मयि वा प्रीत्या किं हि मे परकीयया ।
तस्यैव तत् प्रीतिसुखं भागो नाल्पोऽपि मे ततः ॥ ९५ ॥

यस्मादन्यस्मिन् मयि वा प्रीत्या परसन्तानवर्तिन्या किमायातं मम ? [P 223] न किञ्चित् । कुतः ? तस्यैव ततो य एव प्रीतः स्तुतिकर्ता, तत् प्रीतिसुखं नान्यस्य । अतो भागो नाल्पोऽपि ईषदपि मम ततः परसन्तानवर्तिनः प्रीतिसुखात् ॥ ९५ ॥

स्यादेतत्—परसुखेनैव सुखित्वं बोधिसत्त्वानाम्, तत् किमिति ततो भागो नास्ति ? अत्राह—

* तत्सुखेन सुखित्वं चेत सर्वत्रैव ममास्तु तत् ।
कस्मादन्यप्रसादेन सुखितेषु न मे सुखम ॥ ९६ ॥

यदि परसुखेन सुखित्वम्, तदा तस्मिन्नन्यत्र प्रसादेन सुखितेऽपि ममास्तु तत्सुखित्वम । किमात्मन्यभिप्रसादेन प्रीते परस्मिन् प्रीतिः ? न तत्रन्यस्मिन प्रसादेन सुखितेषु मम सुखम् ॥ ९६ ॥

तस्माद्वचनमात्रमेवैतत्, न परमार्थ इति दर्शयितुमाह—

सकती । वास्तविकता यह है कि कोई दूसरा चेतन मुझसे स्नेह करता है—यही प्रीति-वचनों का मूल हेतु है ॥

९५. मुझमें या दूसरे में होने वाले पराये स्नेह से मेरा क्या हानि-लाभ है ! उसमें मेरा थोड़ा सा भी हिस्सा नहीं ॥

९६. यदि उस दूसरे के सुख से मुझे सुख मिलता है तो हर जगह वह सुख मेरा होना चाहिये । फिर क्यों दूसरे की प्रसन्नता से सुखी लोगों में मुझे सुख नहीं मिल पाता ! ।

---

१. इत्ययं मे मतिभ्रमः—पाठा० ।

* तस्मादहं स्तुतोऽस्मीति प्रीतिरात्मनि जायते ।
तत्राप्येवमसम्बन्धात् केवलं शिशुचेष्टितम् ॥ ९७ ॥

[P 224] तदन्यनिमित्ताभावात् अहं स्तुत इत्येवं विकल्पनात् प्रीतिरात्मनि जायते, न पुनः परसुखेन सुखित्वात् । तत्रापि न केवलमन्यप्रसादेन सुखिते सति । आत्मन्यपि एवमुक्तक्रमेण असम्बन्धादप्रत्यासत्तेः कारणात् केवलं बालविलसितमेतत् ॥ ९७ ॥

अपि च । स्तुत्यादयो मम अपचयमेव दधतीत्युपदर्शयन्नाह—

* स्तुत्यादयश्च[1] मे क्षेमं संवेगं नाशयन्त्यमी ।
गुणवत्सु च मात्सर्यं सम्पत्कोपं च कुर्वते ॥ ९८ ॥

अमी स्तुत्यादयः मम क्षेमं कल्याणम् । अथ क्षेमं कुशलपक्षपरिपालनम् । तथा संवेगं संसारदुःखनिर्वेदनम् । नाशयन्ति घ्नन्ति । न तावन्मात्रमेव[2], किंतु गुणवत्सु च मात्सर्यम् । आत्मनि गुणाधिकमानेन परगुणप्रच्छादनात् । तद्गुणासहनतया वा सम्पदि लाभसत्कारादिस्वभावायां कोपं च अमर्षं कुर्वते तेष्वेव । अहमेव गुणाधिकः, 'ममैव सर्वा सम्पत्तिरुचिता नान्येषाम्' इति मत्वा ॥ ९८ ॥

यत एते दोषाः स्तुत्यादिषु सम्भविनः,

* तस्मात् स्तुत्यादिघाताय मम ये प्रत्युपस्थिताः ।
अपायपातरक्षार्थं प्रवृत्ता ननु ते मम ॥ ९९ ॥

[P 225] तस्मात् कारणात् । स्तुत्यादिघाताय विरोधाय ये सत्त्वा मम प्रत्युपस्थिता उद्यताः । अपायपातो नरकादिपतनम् । ततो रक्षार्थं त्राणार्थं रक्षणनिमित्तं प्रवृत्ता उद्युक्ता ननु ते मम । अतः कल्याणमित्राणि ते, नापकारिण इति ॥ ९९ ॥

---

९७. 'मेरी स्तुति की गयी है'—इस बात से स्वयं को जो सन्तोष होता है उसका भी स्व से सम्बन्ध नहीं है, वह तो केवल बाल-चेष्टा मात्र है ॥

९८. मेरे लिये कथित प्रशंसावचन मेरे कल्याण और संवेग का नाश ही करते हैं । वे गुणवानों में मेरे मात्सर्य (= उद्धतता) और परसमृद्धि में द्वेष का ही कारण बनते हैं ॥

९९. इसलिये जो मेरी स्तुति का विघात करने में लगे हुए हैं वे मानों मुझे नरकपात से बचाने में लगे हुए हैं ॥

---

१. स्तुत्यादयो न मे क्षेमं—पाठा० । २. एतावन्मात्रमेव—पाठा० ।

लाभादिविरोधिनि सर्वथा प्रतिघचित्तमयुक्तं मम इत्युपदर्शयितुमाह—

* मुक्त्यर्थिनश्चायुक्तं मे लाभसत्कारबन्धनम् ।
विमोचयन्ति[1] मां बन्धाद् द्वेषस्तेषु कथं मम ।। १०० ।।

विमुक्तिकामस्य **लाभसत्कारो बन्धनमिव**, सङ्गस्थानत्वात्, **अयुक्तं** नोचितं मुमुक्षोर्बन्धनम् । कल्याणमित्रकृत्यकारिणः शत्रुत्वेनाभिमता **विमोचयन्ति** वियोजयन्ति **मां बन्धात्** संसारदुःखलक्षणात् लाभादिस्वभावाद्वा । **द्वेषस्तेषु** परमोपकारिषु प्रीतिस्थानेषु **कथं मम** ? न युक्त इत्यभिप्रायः ।।१००।।

कथं न युक्तम् ? इत्याह—

* दुःखं प्रवेष्टुकामस्य ये कपाटत्वमागताः ।
बुद्धाधिष्ठानत इव द्वेषस्तेषु कथं मम ।। १०१ ।।

लाभसत्काराभिष्वङ्गप्रसङ्गात् संसारदुःखैर्विमोक्तुकामस्य ये सत्पुरुषविशेषाः **कपाटत्वमपद्वारत्वमागताः** । कुतः ? बुद्धानामधिष्ठानतोऽनुभावादिव । **द्वेषस्तेषु कथं मम** ! ।। १०१ ।।

कुशलापघातकारिण्यपि द्वेषं निवारयन्नाह— [P 226]

* पुण्यविघ्नः कृतोऽनेनेत्यत्र कोपो न युज्यते ।
क्षान्त्या समं तपो नास्ति नन्वेतत् तदुपस्थितम् ।। १०२ ।।

कुशलविघातः **कृतोऽनेन** इत्येवं मनसि निधाय **अत्र** पुण्यविघातकारिणि **द्वेषो न युज्यते** । कस्मात् ? यतः **क्षान्त्या** तितिक्षया **समं** तुल्यं **तपः** सुकृतं **नास्ति**; सर्वशुभकर्महेतुत्वात् । "न च क्षान्तिसमं तपः" (बोधि० ६.२) इति वचनात् । **ननु तदेवेदमयत्नत एव उपस्थितमुपनतम्**; पुण्यविघ्नकारिच्छलेन पुण्यहेतुसन्निधेः ।। १०२ ।।

---

१००. मुझ तत्त्वजिज्ञासु के लिये लाभ-सत्कार का बन्धन उचित नहीं । जो मुझे उस बन्धन से छुड़ाते हैं, उनसे द्वेष क्यों कर हो सकता है ! ।।

१०१. दुःख के घर में प्रवेश चाहने वाले के लिये, बुद्धों की कृपा से, जो मानों अर्गला बन कर खड़े हैं उनसे मेरा द्वेष कैसा ? ।।

१०२. 'इसने मेरे पुण्य-कृत्य में विघ्न डाला है'—इसलिये भी इस पर क्रोध करना उचित नहीं; क्योंकि क्षमा के सदृश अन्य कोई तप नहीं । अतः इस क्षमा-व्रत को धारण करने का यही समय है ।।

---

१. ये मोचयन्ति—पाठा० ।

तत्र प्रद्वेषे तु आत्मनैव पुण्यविघातः कृतो भवेदित्याह—

* अथाहमात्मदोषेण न करोमि क्षमामिह ।
मयैवात्र कृतो विघ्नः पुण्यहेतावुपस्थिते ।। १०३ ।।

अथ यदि **आत्मन** एव **दोषेण** असहिष्णुतात्मकेन **न करोमि क्षमां** क्षान्तिमिह विघ्नकारिणि, तदा **मयैव** न पुनरन्येन, **अत्र** पुण्ये **कृतो विघ्नः**। कुतः ? **पुण्यहेतौ** पुण्यविघातकारित्वेनाभिमते **उपस्थिते** सन्निहितीभूते। अत्रेत्यस्मिन् पुण्यहेताविति वा सम्भाव्यते ।। १०३ ।।

यदि पुण्यविघातकारी, कथमसौ पुण्यहेतुः ? यावत् स एव विघ्न इत्याह—

* यो हि येन विना नास्ति यस्मिंश्च सति विद्यते । [P 227]
स एव कारणं तस्य स कथं विघ्न उच्यते ।। १०४ ।।

यो भावः कार्याभिमत **येन** कारणाभिमतेन **विना नास्ति**, तद्व्यतिरेके न भवति, **स एव यद्भावेन** भवति, नान्यः **कारणं** जनकः **तस्य** कार्याभिमतस्य, तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् । एवं प्रकृतेऽपि **स** जनक **एव कथं** तस्य जन्यस्य **विघ्न उच्यते** विघातहेतुरभिधीयते ? तथाविधेऽपि तथा व्यवहारं कुर्वतो नास्ति विप्रतिपत्तिः ।। १०४ ।।

उक्तमेवार्थं दृष्टान्तोपदर्शनेन व्यक्तं कुर्वन्नाह—

* न हि कालोपपन्नेन दानविघ्नः कृतोऽर्थिना ।
न च प्रव्राजके प्राप्ते प्रव्रज्याविघ्न उच्यते ।। १०५ ।।

न यस्मात् कस्यचिद्दानपतेर्दित्साकाले एव सम्प्राप्तेनार्थिना याचकेन **दानविघ्नः कृतः** इत्युच्यते, यतः स कारणमेव दानस्य । तथा कस्यचित् प्रव्रजितुकामस्य **प्रव्राजक**समवधानं **प्रव्रज्या** संवरादिग्रहणस्वभावा, **न च** तस्या **विघ्न उच्यते**, अपि तु कारणमेव स तस्याः; तमन्तरेण तस्या असम्भवात् । एवं प्रकृतेऽपि द्रष्टव्यम् ।। १०५ ।।

---

१०३. यदि मैं अपनी ईर्ष्या के कारण उसे क्षमा न कर पाऊँ तो मुझे यह समझना चाहिये कि मैंने अपने पुण्य-कृत्यों में स्वयं ही विघ्न डाल लिया है ।।

१०४. जो जिसके बिना न हो पावे और जिसके होने से ही जो होता हो वह उसका कारण है । उसे विघ्न कैसे कहा जाय ! ।।

१०५. समय पर आया याचक दान में विघ्न डालने वाला नहीं कहलाता । संसार से दूर हटानेवाले कारण के उपस्थित होने पर उसे विघ्न कैसे माना जाय ! ।।

अपि च। क्षान्तिहेतुरतिदुर्लभ इति तत्समागमे प्रीतिरेव युज्यते [P 228] इत्युपदर्शयन्नाह—

* सुलभा याचका लोके दुर्लभास्त्वपकारिणः।

अतिप्रचुरप्राप्तिका याचनका लोके सर्वत्र सर्वेषां दीयमानग्रहणावैमुख्यात्, न तु पुनरपकारिणः। अतस्ते दुर्लभाः शतसहस्रेषु, यदि कथञ्चित् स्याद्वा न वेति।

कुतः पुनरेतदेवम् ? इत्याह—

* यतो मेऽनपराधस्य न कश्चिदपराध्यति ॥ १०६ ॥

यस्मादनपराधस्य निवृत्तपरापकारस्य मम निर्निमित्तं न कश्चिदेकोऽपि अपराध्यति, नापकरोति। कर्मणि षष्ठी ॥ १०६॥

एवमतिदुर्लभतया परमोपकारित्वाच्च अभिनन्दनीय एव अपकारीत्याह—

* अश्रमोपार्जितस्तस्माद् गृहे निधिरिवोत्थितः।
बोधिचर्यासहायत्वात् स्पृहणीयो रिपुर्मम ॥ १०७ ॥

यस्मात् कथञ्चित् प्राप्यन्ते अपकारिणः, तस्माद् गृहे प्रादुर्भूतो निधिरिव श्रममन्तरेणैवाधिगतो रिपुरभिलषणीय एव मया स्यात्, बोधिचर्यायां बुद्धत्वसम्भारोपार्जने सहकारित्वाच्च ॥ १०७ ॥ [P 229]

एवंविधे परमपुरुषार्थे साहाय्यं भजमानस्य प्रत्युपकारकरणमेव कृतज्ञतया मम युक्तमित्युपदर्शयन्नाह—

* मया चानेन चोपात्तं तस्मादेतत् क्षमाफलम्।
एतस्मै प्रथमं देयमेतत्पूर्वा क्षमा यतः ॥ १०८ ॥

---

१०६. संसार में याचक तो बहुत सुलभ हैं, परन्तु उपकारी का मिलना कठिन है ॥

क्योंकि मुझ निपराध का कोई अपकार नहीं करता ॥

१०७. अतः अनायास ही प्राप्त, घर में खजाने की तरह आये, बोधिचर्या में सहायभूत ऐसे शत्रु की तो मुझे चाह होनी चाहिये ॥

१०८. यह क्षमाकाल तो मेरी और मेरे अपकारी की सम्मिलित कमाई है। बल्कि क्षमा का पहला हेतु तो वही (अपकारी) है, अतः पहले उसे ही उसका फल मिलना चाहिये ॥

यस्मादसौ तत्र साहाय्यं कुर्वन् कारणमेव, न विघ्नः। तस्मान्मया क्षमामभ्यस्यता, अनेन चापकारं कुर्वता, इति द्वाभ्यामेवोपार्जितम्। एतदिति यस्य साधनाय साहाय्यं भजते क्षमाफलं धर्माधिगमलक्षणम्। एतस्मै धर्मसहायाय प्रथममग्रतो दातव्यं मया इति प्रणिधातव्यम्। यथा मैत्रीबलेन बोधिसत्त्वेन प्रणिहितं पञ्चकानुद्दिश्य। तत्र कारणमाह— यस्मादेतत्पूर्वा। एष एव पूर्वं कारणं यस्याः सा तथोक्ता। न हि अपकारिणमन्तरेण अन्यत् क्षान्तिकारणमस्ति ॥ १०८ ॥

युक्तमेवैतद् यदि तेनैवाभिप्रायेण असौ प्रवर्तते, केवलमपकाराशय एवायमित्याशङ्क्यन्नाह—

* क्षमासिद्ध्याशयो नास्य तेन पूज्यो न चेदरिः।
सिद्धिहेतुरचित्तोऽपि सद्धर्मः पूज्यते कथम् ॥ १०९ ॥

क्षमा अस्य बोधिसत्त्वस्य निष्पद्यताम्, इत्याशयो नास्य अपकारोद्यतस्य। तेन कारणेन कुशलहेतुरपि यदि शत्रुः पूजनीयो न भवति, एवं तर्हि [P 230] कुशलनिष्पत्तिहेतुः निरभिप्रायोऽपि सद्धर्मः प्रवचनलक्षणः कथं पूज्यते ? सोऽपि तदाशयशून्यत्वात् पूजनीयो न स्यात्, इति भावः ॥१०९॥

अथ सद्धर्मस्य निरभिप्रायतया अपकाराशयोऽपि नास्ति, अस्य पुनस्तद्विपर्ययो दृश्यते, इत्याह—

* अपकाराशयोऽस्येति शत्रुर्यदि न पूज्यते।
अन्यथा मे कथं क्षान्तिर्भिषजीव हितोद्यते ॥ ११० ॥

अपकारः आशयः अस्य शत्रोः, इत्येवमभिसन्धाय शत्रुर्यदि न पूज्यते दानमानैर्न सत्क्रियते। अन्यथेति अपकारिणि द्वेषचित्तमनिवारयतः कथं मम क्षान्तिः ? तदपकारमसहमानस्य प्रत्यपकारं वा कुर्वतो नैव युक्तेत्यर्थः। अन्यत्रापि कथं क्षान्तिः ? भिषजीव हितोद्यते, सुवैद्यवद् हितसुखविधायके यत्र प्रेमगौरवमेव सदा, द्वेषनिबन्धनस्य गन्धोऽपि न विद्यते ॥ ११० ॥

---

१०९. यदि 'इसके मन में क्षमासाधना नहीं है'—यह मानकर शत्रु का पूजन न करें तो सिद्धिकारणभूत चित्तहीन सद्धर्म की पूजा की भी क्या जरूरत है ? ॥

११०. यदि उसके मन में मेरे प्रति बुराई है अतः उसकी पूजा न करूँ तो बिना ऐसा किये मुझमें क्षमापारमिता कैसे आयगी ! द्वेषी के प्रति द्वेष न करने से ही क्षमागुण आता है। हित में लगे चिकित्सक पर कौन नाराज होगा ! ॥

द्वेषचित्तनिवर्तनाच्च क्षान्तिरुच्यते। तस्मादपकारिण्येव प्रतिघचित्तं निवर्तयतः क्षान्तिरिति। एतदेव दर्शयन्नाह—

* तद्दुष्टाशयमेवातः प्रतीत्योत्पद्यते क्षमा।
स एवातः क्षमाहेतुः पूज्यः सद्धर्मवन्मया॥ १११॥

यतो भिषजीव हितोद्यते क्षान्तिर्न युक्ता, अत अस्माद्धेतोः तस्य दुष्टाशयमेव प्रतीत्य निमित्तीकृत्य समुपजायते क्षमा। न पुनः [P 231] कस्यचिच्छुभाशयम्। अतः अस्मात् स एव यस्याशयं प्रतीत्योत्पद्यते क्षमा क्षमाहेतुः, न तु पुनर्यो वैद्यवददुष्टाशयः। इति पूज्यः क्षमासिद्ध्याशयरहितोऽपि सद्धर्मवदसौ मया। एतदुक्तं भवति—किं ममानेन आशयविचारेण प्रयोजनम्? अभिमतसाध्यसिद्धौ चेदुपयुज्यते, तावतैव ममोपादेयः स्यात्। विगुणाशयफलं तु तस्यैव, यस्यासौ विगुणाशयः; मम तु शुभोदयहेतुरेवायम्, इति कथमिव पूजनीयो न भवेदिति। तस्मात् सम्भारोपयोगिनि हेतौ किं स्वरूपनिरूपणेन!॥ १११॥

एतदेव सम्भारहेतुत्वमस्य आगमतः प्रसाधयन्नाह—

* सत्त्वक्षेत्रं जिनक्षेत्रमित्यतो मुनिनोदितम्।
एतानाराध्य बहवः सम्पत्पारं यतो गताः[1]॥ ११२॥

सम्भारप्रसूतिप्रवृत्तिहेतुत्वात् सत्त्वा क्षेत्रम्। बुद्धा भगवन्तस्तथैव क्षेत्रम् इति एवम्। अतो बुद्धत्वकारणहेतुत्वात् अनेकप्रकारं भगवता वर्णितम्। कुतः? यतो यस्मात् एतान् सत्त्वान् जिनाँश्च आराध्य आनुकूल्यानुष्ठानेन बहवो बुद्धत्वमधिगम्य सर्वलौकिकलोकोत्तरसर्वसम्पत्तिपर्यन्तं प्राप्ताः॥११२॥

स्यादेतत्—यदि नाम सत्त्वा अपि सर्वसम्पत्तिहेतवः, तथापि तथागतैः सह साधारणता न युक्तेति? अत्राह—

---

१११. दुष्टाशय व्यक्ति के निमित्त बनने पर ही क्षमा उत्पन्न होती है। अतः वही क्षमा का हेतु है। उसकी तो मुझे सद्धर्म की तरह पूजा करनी चाहिये॥

११२. अत एव भगवान् ने भी कहा है—प्राणी और बुद्ध ही चर्या (=गुणों की प्राप्ति का अभ्यास) के क्षेत्र हैं; क्योंकि इनके आराधन से ही जगत् में बहुत लोगों को सम्पत्ति (धन या सद्गुण) प्राप्त हुई!॥

---

१. धर्मसङ्गीतिसूत्रे इयं गाथा पठिता।

* सत्त्वेभ्यश्च जिनेभ्यश्च बुद्धधर्मागमे समे । [P 232]
जिनेषु गौरवं यद्वन्न सत्त्वेष्विति कः क्रमः ॥ ११३ ॥

उभयेभ्योऽपि बुद्धधर्माणां बलवैशारद्यादीनामागमे प्रतिलम्भे तुल्ये अवशिष्टे। उभयमपि तत् प्रति हेतुत्वमविशिष्टमिति भावः । अतः साधारणेऽपि हेतुभावे जिनेषु गौरवं यद्वत्, तद्वन्न सत्त्वेषु । इत्येवं कः क्रमः परिपाटिः प्रेक्षावताम् ? नैव युक्तेत्यर्थः ॥ ११३ ॥

ननु च सत्त्वानां रागादिमलैर्हीनाशयत्वात् कारणत्वेऽपि कथं भगवत्समानता युज्यते ? इत्याशङ्क्याह—

* आशयस्य च माहात्म्यं न स्वतः किं तु कार्यतः ।
समं च तेन माहात्म्यं सत्त्वानां तेन ते समाः ॥ ११४ ॥

यद्यपि भगवतामपरिमितपुण्यज्ञानोपजनितमनुत्तरमिह माहात्म्यम्, तथापि उपयुक्तोपयोगित्वेन हेतुभावस्य तुल्यत्वात् समं माहात्म्यमुच्यते। तेन हेतुना ते सत्त्वाः समाः जिनैस्तुल्या उच्यन्ते इति नात्र विशेषः क्रियते ॥ ११४ ॥

यत्र पुनः प्रतिनियतात्मगतो विशेषः, तमुपदर्शयितुमाह—

* मैत्र्याशयश्च[1] यत्पूज्यः सत्त्वमाहात्म्यमेव तत् । [P 233]
बुद्धप्रसादाद् यत् पुण्यं बुद्धमाहात्म्यमेव तत् ॥ ११५ ॥

सत्त्वेषु मैत्रचित्तविहारी पुनर्यत् पूज्यते जनैः, तत्तस्यैव मैत्र्याशयस्य प्रत्यात्मगतं माहात्म्यं नान्यस्य । तथागतमाहात्म्यमालम्ब्य स्वचित्तं प्रसादयतो

११३. प्राणियों और बुद्धों की आराधना से बुद्धगुणों की प्राप्ति समान रूप से होती है। फिर बुद्धों के प्रति जैसा सम्मान करते हैं वैसा प्राणियों के प्रति न करें—भला यह कौन सी बात हुई ! ॥

११४. चित्त का माहात्म्य कार्य से होता है, अपने आप नहीं; क्योंकि बुद्धों की सेवा से जो फल मिलते हैं वही सत्वों का हित करने पर मिल सकते हैं । अतः सत्त्वमहिमा बुद्धमहिमा के ही समकक्ष है ॥

११५. प्राणियों के प्रति मैत्रीभावना वाले पुरुष का जो सम्मान होता है, वह प्राणियों की ही देन है। बुद्ध के प्रति श्रद्धालु होने पर जो पुण्य होता है वह बुद्ध की देन है ॥

१. मैत्राशयश्च—पाठा० ।

यत् पुण्यमुत्पद्यते, तद्भगवत एव माहात्म्यमसाधारणम्, अन्यस्य तथाविध-गुणाभावात् ।। ११५ ।।

इत्यसाधारणं गुणमभिधाय प्रकृतमुपदर्शयन्नाह—

* बुद्धधर्मागमांशेन तस्मात् सत्त्वा जिनैः समाः ।
न तु बुद्धैः समाः केचिदनन्तांशैर्गुणार्णवैः ।। ११६ ।।

इदमत्र बीजं समतोपादाने इत्यर्थः। परमार्थतस्तु न बुद्धैर्भगवद्भिः समाः केचित् सत्त्वाः सन्ति। यदि भवेयुस्तथाविधाः, तदा तेऽपि बुद्धा एव स्युः। किंभूतैः ? गुणार्णवैः। गुणानामर्णवा गुणरत्नाकराः, अगाधापारत्वात्, तैः। पुनरपि तेषामपरमेव विशेषणमाह–अनन्तांशैः। अनन्तः अपर्यन्तः अंशः एकदेशोऽपि येषां गुणार्णवानाम्, ते तथा, तैः ।। ११६ ।।

उक्तमेवार्थं व्यक्तीकुर्वन्नाह— [P 234]

* गुणसारैकराशीनां गुणोऽणुरपि चेत् क्वचित् ।
दृश्यते, तस्य पूजार्थं त्रैलोक्यमपि न क्षमम् ।। ११७ ।।

गुणेषु प्रधानानामेकराशयो ये भगवन्तः, तेषां गुणः अणुरपि परमाणु-मात्रोऽपि। गुणकणिकापीति यावत्। यदि क्वचित् सत्त्वविशेषे दृश्यते प्रतीयते, तस्य तद्गुणाधारस्य पूजानिमित्तं त्रैलोक्यमपि न क्षमम्। त्रैलोक्यजातानि रत्नादीनि न प्रतिरूपाणीति यावत् ।। ११७ ।।

यद्येवम्, कथं तर्हि सत्त्वाराधनमुक्तम् ? इत्याह—

* बुद्धधर्मोदयांशस्तु श्रेष्ठः सत्त्वेषु[1] विद्यते ।
एतदंशानुरूप्येण[2] सत्त्वपूजा कृता भवेत् ।। ११८ ।।

---

११६. अतः जहाँ तक बुद्धगुणों की प्राप्ति का प्रश्न है, उसमें प्राणी और बुद्ध दोनों समकक्ष ही ठहरते हैं। हाँ, बुद्धों के वे गुण-समुद्र, जिनके एक अंश का पार पाना भी कठिन है उनसे तुलना करने पर तो संसार में कोई भी बुद्ध के समान नहीं ।।

११७. अतः, यदि गुणसर्वस्वता के निधिभूत बुद्धों के गुणों का यत्किञ्चिद् अंश भी कहीं दिखायी पड़े तो उसकी पूजा के निमित्त त्रैलोक्य की भेंट भी तुच्छ ही होगी ।।

११८. प्राणियों में बुद्धों का वह श्रेष्ठ अंश मौजूद है, जिससे बुद्धगुण उद्भूत

---

१. सत्त्वस्य –पाठा०। २. ०नुरूपेण–पाठा०।

व्याख्यातमेतत् पूर्वम् ॥ ११८ ॥

इतोऽपि सत्त्वाराधनमुचितमित्याह--

* किं च निश्छद्मबन्धूनामप्रमेयोपकारिणाम् ।
सत्त्वाराधनमुत्सृज्य निष्कृतिः का परा भवेत् ॥ ११९ ॥

निश्छद्मबन्धूनामकृत्रिमसुहृदां बुद्धानां बोधिसत्त्वानां च। अपर्यन्तो-[P 235]पकारिणां निष्कृतिः तत्कृतापकारस्य निष्क्रयणं परिशोधनमिति यावत्। किमपरं भवेत् सत्त्वाराधनमन्तरेण। एतदेव परं निष्क्रयण-मित्यर्थः ॥ ११९ ॥

प्रभुचित्तानुकूलवर्तिन एव भृत्यस्य वाञ्छितं सिध्यतीत्यवगम्य सत्त्वाराधनमेवोपादेयमिति प्रतिपादयन्नाह--

* भिन्दन्ति देहं प्रविशन्त्यवीचिं येषां कृते तत्र कृते कृतं स्यात् ।
महापकारिष्वपि तेन सर्वं कल्याणमेवाचरणीयमेषु ॥ १२० ॥

करचरणशिरोनयनस्वमांसानि छित्त्वा छित्त्वा प्रदत्तानि येषां हितसुखविधानाय, तथा अवीचीमपि परदुःखदुःखिनो येषां कृते प्रविशन्ति तत्समुद्धरणाय। प्रकृतत्वाद् बुद्धा बोधिसत्त्वाः। तत्र तेषु सत्त्वेषु कृते कृतं स्यात्। अन्यथा तु कृतमपि न कृतं भवेत्। कृतशब्दोऽयमिह प्रकृताधिकारात् साधुकरणे वर्तते। येनैवम्, तेन परमापकारिष्वपि न चित्तं दूषयितव्यम्। किन्तु सर्वमनेकप्रकारं कायवाङ्मनोभिर्वा कल्याणमेव हितसुखमेव विधात-व्यमेतेषु ॥ १२० ॥

होने की क्षमता रखते हैं। इस अंश के निमित्त ही प्राणियों का सम्मान होना चाहिये ॥

११९. सत्त्वाराधन (=जनसेवा) से बढ़ कर निश्छल बन्धुभूत अपरिमित उपकारी बुद्धऔर बोधिसत्त्वों के प्रति किये अपराधों की मार्जना (=क्षमापन) और क्या होगी ! ॥

१२०. जिन प्राणियों के लिये बुद्ध-बोधिसत्त्व अपने शरीर का अङ्ग-अङ्ग भेंट दे सकते हैं, जिनके उद्धार हेतु वे अवीचिनरक तक में प्रवेश करते हैं, उनका हित करने में ही अपना हित है। अतः इन महापकारी प्राणियों के प्रति भी सर्वविध कल्याण का ही आचरण करना चाहिये ॥

उक्तमेव प्रसाधयन्नाह— [P 236]

* स्वयं मम स्वामिन एव तावद् यदर्थमात्मन्यपि निर्व्यपेक्षाः ।
अहं कथं स्वामिषु तेषु तेषु करोमि मानं न तु दासभावम् ॥१२१॥

मम स्वामिन एव बुद्धादयः **स्वयमेव** आत्मनैव । **तावदिति** परामर्शे । **यदर्थं** येषां निमित्तम् । **आत्मन्यपि** स्वकायजीवितेऽपि । उक्तक्रमेण **निरपेक्षा** निरभिष्वङ्गाः तृणवत् परित्यजन्ति, तदहं पुनः तेषां भृत्यः तेषु सत्त्वेषु प्रभुपुत्रेष्वत्यन्तप्रियेषु **कथं करोमि मानम्**, किमिति जानन्नेव तान् प्रतिकूलयामि ? **न तु दासभावम्** न पुनर्दासीभूयाराधयामि ? ॥ १२१ ॥

इतोऽपि च सत्त्वापकारं परित्यज्य तदाराधनमेव कर्तव्यमित्याह—

* येषां सुखे यान्ति मुदं मुनीन्द्राः येषां व्यथायां प्रविशन्ति मन्युम् ।
तत्तोषणात् सर्वमुनीन्द्रतुष्टिस्तत्रापकारेऽपकृतं मुनीनाम् ॥ १२२ ॥

येषां सत्त्वानां प्रियपुत्राणामिव पितरो **मुनीन्द्रा** बुद्धा भगवन्तः **सुखे** कायमनोजन्मनि **मुदं** हर्षं **यान्ति**, येषां च दुःखे **मन्युं प्रविशन्ति** [P 237] अपरितोषमासादयन्ति । एतच्च अनभिमतत्वाद् भगवतामित्थमभिधीयते, न तु वासीचन्दनकल्पवत् तच्छ्रावकाणामपि प्रतिघानुनयासम्भवः । अन्यत् सुबोधम् ॥ १२२ ॥

कथं पुनस्तत्रापकारे मुनीनामपकृतं स्यादिति ? अत्राह—

* आदीप्तकायस्य यथा समन्तान्न सर्वकामैरपि सौमनस्यम् ।
सत्त्वव्यथायामपि तद्वदेव न प्रीत्युपायोऽस्ति [1]दयामयानाम् ॥१२३॥

---

१२१. जब स्वयं मेरे मालिक (बुद्ध) को ही जिनके हितसम्पादनार्थ अपने शरीर की भी परवाह नहीं, उन मालिकों के प्यारों के प्रति मैं गुमान करूँ, उनके प्रति मैं नम्र न बनूँ—ऐसा क्यों ? ॥

१२२. भगवान् जिनके सुख में सुखी होते हैं, जिनकी पीड़ा से पीड़ित होते हैं, उनको सन्तुष्ट करना तो भगवान् को सन्तुष्ट करना है और उनका अपकार करना भगवान् को नाराज करना है ॥

१२३. जैसे शरीर में सब तरफ आग लगने पर किसी भी कामभोग से सुख नहीं मिलता, वैसे ही प्राणियों के दुःखी होने पर दयामय बुद्ध को किसी प्रकार से सुख नहीं मिलता ! ॥

---

१. महाकृपाणाम्—पाठा० ।

समन्तात् सर्वावयवानभिव्याप्य वह्निना प्रज्वलितशरीरस्य यथा पञ्चकामगुणैर्न सौमनस्यम्, कायिकमपि सुखं नास्ति, तस्य प्रज्वलितत्वादेव दुःखेनाक्रान्तत्वात्, तद्वत् तथैव सत्त्वानां व्यथायां दुःखवेदनायां न प्रीतेः सौमनस्यस्य उपायो हेतुरस्ति कृपात्मकानां भगवताम् ॥ १२३ ॥

तस्मादपरिज्ञानेन क्लेशग्रहावेशवशेन वा सत्त्वापकारकर्मणा यदकुशलमुपचितम्, तदपि इदानीमुपसंहारद्वारेण वान्तीकुर्वन्नाह—

* तस्मान्मया यज्जनदुःखदेन दुःखं कृतं सर्वमहाकृपाणाम्[1] । [P 238]
तदद्य पापं प्रतिदेशयामि यत्खेदितास्तन्मुनयः[2] क्षमन्ताम् ॥ १२४ ॥

यस्मादेवं सत्त्वापकारे मुनीनामपकृतं स्यात्, तस्मात् पापम् अद्य इदानीं प्रतिदेशयामि, संवेगबहुलस्तेषामेव महाकृपाणामग्रतः प्रकाशयामि । पुनरेवं सम्प्रजानन्न करिष्यामि, इति आयत्यां संवरमापद्ये । यदि प्रतिरूपमाचरितं तत्र मे क्षान्तिं कुर्वन्तु अनुकम्पामुपादाय ॥ १२४ ॥

क्षमयित्वा साम्प्रतमाराधनायेत्यादिना तदेकपरायणतामात्मनो दर्शयति–

* आराधनायाद्य तथागतानां सर्वात्मना दास्यमुपैमि लोके ।
कुर्वन्तु[3] मे मूर्ध्नि पदं जनौघा विघ्नन्तु वा तुष्यतु लोकनाथः ॥१२५॥

तथागतामभिप्रेतसम्पादनाय लोके लोकविषये सर्वात्मना कायेन, [P 239] वाचा, मनसा वा दासीभावं स्वीकरोमि । तेऽपि मे प्रसादं कुर्वन्तो मस्तके पादं निदधतु । तेषां पादं प्रमुदितचित्तः शिरसा धारयामि । अनेन मयि पूर्वापराधमपास्य जगतां पतिर्भगवान् सन्तुष्टमानसो भवतु ॥ १२५ ॥

भगवत्सु च गौरवकारिभिः सत्त्वेष्वनादरो न कर्तव्य इति प्रसाधयन्नाह—

---

१२४. अतः मैंने प्राणियों को दुःखी कर वस्तुतः महाकृपालु बुद्ध को ही दुःखी किया है । उस पाप की आज मैं देशना (=प्रायश्चित्त) करता हूँ कि हे मुनिजन ! मैंने जो प्राणियों को सता कर आपको दुःखी किया है, उसके लिये मुझे क्षमा करें ॥

१२५. आज मैं, तथागतों की आराधना के लिये, सर्वात्मभाव से प्राणियों का दासत्व स्वीकार करता हूँ । अब लोग चाहे मेरे सिर पर लात मारें, या चाहे जैसा कष्ट दें । बस ! मेरे भगवान् मुझपर प्रसन्न रहें ॥

---

१. सर्वमहादयानाम्—पाठः० । २. ते मुनयः—पाठा० । ३. कुर्वन्ति—पाठा० ।

* आत्मीकृतं सर्वमिदं जगत् तैः कृपात्मभिर्नैव हि संशयोऽस्ति[1] ।
दृश्यन्त[2] एते ननु सत्त्वरूपास्त एव नाथाः किमनादरोऽत्र ॥१२६॥

सर्वत्रगधर्मधातुप्रतिवेधात् सर्वसत्त्वसमतापादनपरात्मपरिवर्तनादिना वा आत्मीकृतं स्वीकृतं सर्वमिदं जगत्, न कियदेव । तैर्बुद्धैर्भगवद्भिः करुणामयचित्तसन्तानैः । सुनिश्चितमेवैतत्; अन्यथा बुद्धत्वायोगात् । तस्मात् सत्त्वरूपेण बुद्धा भगवन्त एवैते सत्त्वा दृश्यन्ते । तेन किमनादरोऽत्र मूढचेतसाम् ? नैव युक्त इति भावः ॥ १२६ ॥

अनेकार्थत्वादपि सत्त्वाराधनस्य तत्रैव यतितव्यमित्याह—

* तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव । [P 240]
लोकस्य दुःखापहमेतदेव तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव ॥ १२७ ॥

स्वार्थस्य बुद्धत्वसम्भारलक्षणस्यैव । लोकस्य दुःखापहं तद्धेतुत्वात् । एतदेवेति । सर्वत्र सत्त्वाराधनमिति योज्यम् ॥ १२७ ॥

आगामिभयदर्शनादपि च परापकारवैमुख्यमेव अभ्यसनीयमित्युदाहरणेनोपदर्शयन्नाह—

* यथैको राजपुरुषः प्रमथ्नाति महाजनम् ।
विकर्तुं नैव शक्नोति दीर्घदर्शी महाजनः ॥ १२८ ॥

यस्य राज्ञो देशनिवासिनं तस्यासौ राजपुरुषः महाजनं नगर-निगम-ग्राम-कर्वटादिवास्तव्यम् । प्रमथ्नाति विमर्दयति । स च आगामिराजदण्डभयदर्शितया महाजनो वचनमात्रेणापि यावद्विकारमुपगन्तुमसमर्थः । तेन ताडितोऽपि संकुचितवृत्तिरेवास्ति ॥ १२८ ॥

---

१२६. यह समग्र जगत् उन दयालुओं का आत्मस्वरूप है—इसमें कोई सन्देह नहीं । प्राणियों के रूप में सर्वत्र वे ही दिखायी पड़ते हैं, फिर इनके प्रति अनादर कैसा ? ॥

१२७. प्राणिमात्र की सेवा करना ही तथागत की आराधना है, यही स्वार्थ की वास्तविक साधन है, यही लोकदुःख की अपहन्त्री है । अतः यह सेवाकर्म ही मेरा व्रत हो ॥

१२८. जैसे एक सिपाही बहुतों को संयत रखता है, पर समझदार लोग दूर की बात सोचकर उस (सिपाही) पर बिगड़ते नहीं । कारण, वे जानते हैं कि वह अकेला नहीं है, अपितु उसके पीछे पूरी राजशक्ति है ॥

---

१. संशयोऽत्र—पाठा० ।   २. दृश्यन्तु एतेन तु—पाठा० ।

कस्मात् ?

* यस्मान्नैव स एकाकी तस्य राजबलं बलम् ।

[P 241] **नैव स** राजपुरुषोऽसहाय एव द्रष्टव्यः । कथं पुनरयमसहायो न भवति ? इत्याह—**तस्येति** । **राज्ञो बलमेव तस्य बलम्**, तत्पक्षग्रहणात् ।

* तथा न दुर्बलं कञ्चिदपराद्धं विमानयेत् ॥ १२९ ॥

तस्मात् कृशशक्तिमपि कृतापराधं नापकुर्यात् । सोऽपि न यस्मादेकाकी ॥

* यस्मान्नरकपालाश्च कृपावन्तश्च तद्बलम् ।
तस्मादाराधयेत् सत्त्वान् भृत्यश्चण्डनृपं यथा ॥ १३० ॥

तस्मादाराधयेत् सत्त्वान् । कुतः ? **यस्मान्नरकपालाश्च** तदपकारमिव प्रत्यपकारिणोऽन्वाचरन्तः **कृपावन्तश्च** जिनादयः तत्पक्षपातिनो **बलम्** । कथमिवाराधयेत् ? अधृष्यं राजानं सर्वानुवृत्तिकरणानुजीविनो यथा, तथा ॥

किञ्च, लोकप्रसिद्धित इदमेवमिहोक्तम्, न तु पुनः सत्त्वाप्रसक्तिफलस्य राजापराधफलेन समानता समस्तीत्याह—

* कुपितः किं नृपः कुर्याद् येन स्यान्नरकव्यथा ।
यत् सत्त्वदौर्मनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते ॥ १३१ ॥

[P 242] **किमिति** काक्वा पृच्छति । किं तद्दुःखजातमुत्पादयितुं नृपतिः समर्थो भवेत् ? नैवेति भावः । किम्भूतम् ? येन दुःखजातेन नारकी वेदना **अनुभूयते** ।

* तुष्टः किं नृपतिर्दद्याद् यद् बुद्धत्वसमं भवेत् ।
यत् सत्त्वसौमनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते[1] ॥ १३२ ॥

---

१२९. वैसे ही कोई दुर्बल प्राणी भी अपराध कर बैठे तो उसकी अवमानना नहीं करनी चाहिये ॥

१३०. क्योंकि करुणामय बुद्ध और नरकपाल उसके बल हैं। अतः प्राणियों की आराधना (सेवा या अनुगमन) इस प्रकार करनी चाहिये, जिस प्रकार वह सेवक उस राजा की करता है ॥

१३१. क्रुद्ध होकर क्या राजा यह भी कर सकता है, जिससे उसे वह नरकदुःख भोगना पड़े जो प्राणियों को दुःख देने से भोगना पड़ सकता है ॥

१३२. और सन्तुष्ट होकर क्या राजा वह कुछ दे सकता है, जिसकी तुलना बुद्धत्व के साथ की जा सके ॥

---

१. एषां तिसृणां (१३२ तः १३४ पर्यन्त) गाथानां व्याख्यानं नोपलभ्यते ।

* आस्तां भविष्यद्बुद्धत्वं सत्त्वाराधनसम्भवम् ।
इहैव सौभाग्ययशःसौस्थित्यं किं न पश्यसि ।१३३॥

* प्रासादिकत्वमारोग्यं प्रामोद्यं चिरजीवितम् ।
चक्रवर्तिसुखं स्फीतं क्षमी प्राप्नोति संसरन् ॥ १३४॥

इति प्रज्ञाकरमतिविरचितायां बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां

क्षान्तिपारमिता नाम षष्ठः परिच्छेदः ॥



---

१३३. भावी बुद्ध होने की वात छोड़ो। यहीं सत्त्वाराधन के फलस्वरूप होने वाले सौभाग्यवान्, यशस्वी और सुखी जीवन की ओर क्यों नहीं ध्यान देते ! ॥

१३४. संसार में आवागमन करते हुए क्षमाशील प्राणी रूप, आरोग्य, आनन्द, दीर्घायु, और चक्रवर्ती की तरह समृद्धि-सुख का उपभोग करता है ॥



७. वीर्यपारमिता

(सप्तमः परिच्छेदः)

[P 243] तदेवं विपक्षप्रतिषेधेन त्रिधा क्षान्तिं प्रतिपाद्य, वीर्यं प्रतिपादयितुमाह—

* एवं [1]क्षमो भजेद् वीर्यं वीर्ये बोधिर्यतः स्थिता ।
नहि वीर्यं विना पुण्यं यथा वायुं विनागतिः[2] ॥ १ ॥

एवमुक्तक्रमेण क्षमायुक्तः क्षमः[3] स्वयमभ्यस्तक्षान्तिः भजेद्वीर्यं वीर्यमारभेत । अन्यथा दुःखासहिष्णुतया वीर्यस्य प्रस्रब्धिर्न स्यात् । कस्मात् पुनर्वीर्यमुपादीयते ? इत्याह—वीर्यमित्यादि । यस्माद्वीर्ये बुद्धत्वमवस्थितम् तद्धेतुकतया तदायत्तत्वाद् बुद्धत्वस्य । एतदपि कुतः ? यस्मान्न वीर्यमन्तरेण पुण्यं पुण्यसम्भारोऽस्ति । उपलक्षणमेतत् । ज्ञानमपि द्रष्टव्यम्, वीर्यस्योभयहेतुत्वात् । तदनेन वीर्यात् पुण्यज्ञानसम्भारौ, ताभ्यां च बुद्धत्वमित्युक्तं भवति ॥ १ ॥

वीर्यस्वरूपम्

वीर्यस्वरूपापरिज्ञानात् पृच्छति—

* किं वीर्यम् ? कुशलोत्साहः, तद्विपक्षः क उच्यते ? [P 244]
आलस्यं कुत्सितासक्तिर्विषादात्मावमन्यना ॥ २ ॥

किमेतद्वीर्यं नाम ? अत्राह—कुशलोत्साहः । योऽयं कुशलकर्मणि दानादौ श्रुतादौ च समुद्यमः, तद्वीर्यमभिधीयते । अकुशले तु कौसीद्यमेव । विपक्षेणो-

---

[तीन प्रकार से क्षमापारमिता का वर्णन करने के बाद, अब महात्मा शान्तिदेव बोधिचर्या में अत्यावश्यक वीर्यपारमिता का वर्णन प्रारम्भ कर रहे हैं—]

१. इस प्रकार जिज्ञासु को क्षमापारमिता का सतत अभ्यास कर उसे आत्मसात् करके वीर्यपारमिता (=कुशलमार्गों में उत्साह) का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि बोधिपारमिता वीर्यपारमिता पर ही आश्रित है । जैसे वायु के विना पत्रादिक में कम्पन नहीं हो पाता, उसी तरह वीर्य विना कुशलकर्म नहीं हो पाते ॥

२. वीर्य किसे कहते हैं ? कुशल कर्म (=पुण्य) में उत्साह को ही 'वीर्य' कहते हैं ! वीर्य का विरोधी दुर्गुणसमूह क्या है ? आलस्य (शुभ कर्म में मन न लगना), दुर्विषयों में आसक्ति, विषाद (= हिम्मत हारना) और अपने प्रति हीनभावना ॥

---

१. क्षमी —पाठा० । २. विना गतिः—पाठा० ।
३. समस्तिक्षन्तिः —पाठा० ।

पहतं वीर्यमनङ्गमेवाभिमतसिद्धये इति तद्विपक्षमपनयनाय दर्शयितुमाह— तद्विपक्ष इत्यादि । तस्य वीर्यस्य विरुद्धो विनाशाय पक्षो विपक्षः क उच्यते ? उत्तरमाह –आलस्यमित्यादि । आलस्यं कौशीद्यम्, कायमनसोरकर्मण्यता । कुत्सिते जुगुप्सनीये हास्यलास्यादौ आसङ्गः । विषादो विषण्णता, दुष्करे कर्मणि चित्तस्य विनिवृत्तिः । अनध्यवसानमित्यर्थः । तेन आत्मनोऽवमन्यना अवज्ञा । अयं तद्विपक्षः ॥ २ ॥

तदालस्यनिषेधाय तत्कारणं तावदुपदर्शयितुमाह—

* अव्यापारसुखास्वादनिद्रापाश्रयतृष्णया ।
संसारदुःखानुद्वेगाद् आलस्यमुपजायते ॥ ३ ॥

संसारदुःखानुद्वेगादसंवेगात्, योऽयमव्यापारो निर्व्यापारता, तत्र तेन [P 245] वा सुखास्वादः सुखाभिरामः, स च निद्रा च मिद्धाक्रमणम्, ताभ्यां मिद्धाक्रमणमपाश्रय तृष्णा अवष्टम्भनाभिलाषः, तया । आलस्यमुपजायते इति योजनीयम् । यदि वा । संसारदुःखानुद्वेगादव्यापारः क्वचिदपि कुशलकर्मणि न प्रवृत्तिः, तस्मात् सुखास्वादः, ततो निद्रा, तस्याश्च अपाश्रयतृष्णा तया ॥ ३ ॥

अतः संसारदुःखानुद्वेगनिवर्तनार्थमियमत्र संवेगभावना आमुखीकर्तव्येत्याह—

* क्लेशवागुरिकाघ्रातः[1] प्रविष्टो जन्मवागुराम् ।
किमद्यापि न जानासि मृत्योर्वदनमागतः ॥ ४ ॥

वागुरिका मत्स्यादिवधिका जालिका उच्यन्ते कैवर्तादिभिः । क्लेशा एव वागुरिका, तैराघ्रात आयत्तीकृतः । कथमिति चेत् ? प्रविष्टो जन्मवागुराम्, निकायसभागतोत्पत्तिरेव वागुरिकाजालम्, तत्प्रविष्ट इत्यर्थः । इदमिह

---

३. संसार के जंजाल से वैराग्य न होने के कारण, व्यर्थ पड़े रहने में ही आनन्दानुभूति मानना और हर समय सोये रहने की इच्छा ही आलस्य के महान् आलम्बन हैं ॥

४. क्लेशरूपी मछुआरों के वशीभूत हो, जगज्जञ्जाल में फँसकर तूँ (जिज्ञासु) मौत के गाल में पहुँच गया, क्या अब भी नहीं चेतेगा ?

---

१. आघातः—पाठा० ।

तदात्मसात्करणे कारणम् । अद्यापि एतां दशां प्राप्तोऽपि मृत्योर्मुखं प्रविष्टः सन् किमिति न वेत्सि ! जातश्चेन्मरणमवश्यम्भावीत्यर्थः ।। ४ ।।

इदमपरं संवेगकारणमाह—

* स्वयूथ्यान्मार्यमाणाँस्त्वं क्रमेणैव न पश्यसि । [P 246]
तथापि निद्रां यास्येव चण्डालमहिषो यथा ।। ५ ।।

यूथं वर्गः, तत्र भवा यूथ्याः, यैः सह बाल्याद्यवस्थायां क्रीडित-हसितादिना विचरितम् । तान् स्ववर्ग्यान् । चण्डालानामवश्यम्मारणीयमहिषवत् । न पश्यसि ममापि इयमवस्थितिः स्यादिति ।। ५ ।।

अवश्यमिह कियत्कालं परिलम्ब्य मृत्युरागमिष्यति, तेन तावत्कालं सुखानुभवनमेव मम युक्तमित्यत्राह—यदि नामैवम्, तथापि नावश्यम्भाविनि मरणे विश्वासो युक्तः ।

* भयेनोद्वीक्ष्यमाणस्य बद्धमार्गस्य सर्वतः ।
कथं ते रोचते भोक्तुं कथं निद्रा कथं रतिः ! ।। ६ ।।

इति वध्यपुरुषस्येव सर्वतो वध्यघातकैरधिष्ठितस्य वध्यभूमिं नीयमानस्य निःसरणमपश्यतः सुखासिकावलम्बनमनुचितमेव भवतः । तस्मात् संवेगतो भावनया अनया हेतुनिवर्तनादालस्यमपास्य कुशलपक्षोत्साहवर्धनमनुष्ठेयम् ।। ६ ।।

अथापि स्यात्—यदि नाम अवश्यम्भाविता मृत्योः, तथापि तत्सन्निधानमवगम्य आलस्यमपहास्यामि ? इत्याशङ्क्याह—

* यावत्सम्भृतसम्भारं मरणं शीघ्रमेष्यति । [P 247]
सन्त्यज्यापि तदालस्यमकाले किं करिष्यसि ।। ७ ।।

सम्भृतः सज्जीकृतः सम्भारः सामग्री वधाय व्याधिजरालक्षणो येन ।

---

५. तूँ अपने साथियों को भी मौत के मुँह में जाते नहीं देख रहा है क्या ? (यदि देख रहा है तो) फिर भी कसाई के यहाँ वध के लिये लाये गये भैंसे की तरह तन्द्राभिभूत क्यों है ? ।।

६. सब ओर के रास्ते बन्द कर मौत तेरी निगरानी कर रही है, फिर भी तुझे भोजन, शयन आदि और मौज-मस्ती कैसे अच्छी लग रही है ! ।।

७. सब तरह सज-धज कर मौत तुझे आ घेरेगी, तब असमय में (बेमौके) तूँ आलस्य छोड़कर (उत्साहसम्पन्न होकर) भी क्या कर पायगा ! ।।

यावदिति लोकोक्तम् । शीघ्रं त्वरितमनभिसन्धानात् । तदा मृत्युमुखान्तर्गतः असमये आलस्यं त्यक्त्वापि किं करिष्यसि ! न तदा किञ्चित् प्रयोजनमिति भावः ॥ ७ ॥

अकालतामेवास्य समर्थयितुं वृत्तत्रयेणाह—

* इदं न प्राप्तमारब्धमिदमर्धकृतं स्थितम् ।
अकस्मान्मृत्युरायातो हा हतोऽस्मीति चिन्तयन् ॥ ८ ॥

* शोकवेगसमुच्छूनसाश्रुरक्तेक्षणाननान् ।
बन्धून्निराशान् सम्पश्यन् यमदूतमुखानि च ॥ ९ ॥

* स्वपापस्मृतिसन्तप्तः शृण्वन्नादांश्च नारकान् ।
त्रासोच्चारविलिप्ताङ्गो विह्वलः किं करिष्यसि ! ॥ १० ॥

इदं यदनागते कर्तव्यता मनसिकृतं तन्न प्राप्तम् । इदमारब्धं यत्कार्यमादित एव कर्तुमिष्टम् । इदमर्धकृतं स्थितम् । यत् कियन्निष्पन्नं कियदनिष्पन्नम् । इति कार्यपर्यन्तमगतस्यैव अकस्मान्मृत्युरागतो मम । अहो बत अतिकष्टम्, हतोऽस्मीति विचिन्तयन् विह्वलः किं करिष्यसीत्यनागतेन सम्बन्धः ॥ ८ ॥

शोकः प्रियविप्रयोगकृतश्चित्तपरितापः । तस्य वेगोऽनिवार्यप्रवृत्तिः । तेन समुच्छूनानि समुन्नतानि साश्रूणि सबाष्पाणि रक्तानि ताम्र- [P 248] वर्णानि लोचनानि येषु आननेषु तानि तथा । तथाभूतानि आननानि मुखानि येषां बन्धूनां ते तथा । तान् सम्पश्यन् विलोकयन् । तत्राकर्मकाधिकारात् परस्मैपदं दृशः । किंभूतान् ? निराशान् । क्व ? प्रत्युज्जीवनं प्रति त्यक्ताशान्, तत्सानाथ्यविकलान् वा । मरणसमयोपस्थितकृतान्तानुचरमुखानि च सरोषपरुषभृकुटीनि सम्पश्यन् ॥ ९ ॥

---

८. 'यह नहीं मिला', 'यह काम शुरू तो किया पर अधूरा ही रह गया', 'अकस्मात् मौत ने आ घेरा', 'मैं तो बर्बाद हो गया'—यों शोक में डूबा हुआ ॥

९. तूँ तन्निमित्तिक रुदन के कारण सूजी हुई और आँसू भरी लाल-लाल आँखों से, यमदूतों से घिरा, बन्धु-बान्धवों को निराशा (कुछ न कर पाने की स्थिति) से देखता हुआ ॥

१०. अपने पापों को याद करेगा और सामने सन्तप्त नरकवासियों का भीषण क्रन्दन सुनकर, 'मेरा भी यही हाल होगा'—इस भय के कारण जब तेरे अंग मल-मूत्र से लथ-पथ हो जाँयगें और सब तरफ से परेशानी महसूस करेगा, तब तेरा क्या होगा ? ॥

विह्वलः किं करिष्यसि ? स्वयंकृतपापकर्मस्मरणेन मरणसमये किमित्येवं मया कृतमिति पश्चात्तापेन तापितः। नैतावन्मात्रमेव, किन्तु शृण्वन्नादांश्च नारकान् तीव्रकारणानुभवनदुःखनिर्मुक्तान् विक्रोशितशब्दान् नरकसमुद्भूतान् अर्थान्तरकोपाणामेव। तच्छ्रुत्वा 'ममाप्येवमेवावस्था' इति सन्त्रासेन यः पुरीषोत्सर्गो विट्प्रवृत्तिः, तेनो विलिप्तगात्रः। विह्वलः अनायत्तकायवाक्-चित्तप्रचारः। किं करिष्यसि सर्वक्रियासु निवृत्तव्यापारः॥ १०॥

इति मत्वा स्वस्थावस्थायामेव यतितव्यम् इति शिक्षयितुमाह—

* जीवमत्स्य इवास्मीति युक्तं भयमिहैव ते[1]। [P 249]
किं पुनः कृतपापस्य तीव्रान्नरकदुःखतः॥ ११॥

जीवन्त एव मत्स्याः क्रमेण भक्षणार्थं प्रायः प्राग्दिङ्निवासिभिरेव जनै रक्ष्यन्ते। जीवनोपलक्षिता मत्स्या जीवमत्स्या इति तेषामेव समयः। शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः। 'तद्वदहमपि अद्य श्वो वा नियतमेव मरिष्यामि' इति मनसि कृत्वा युक्तं भयमिहैव ते। इहैव सम्प्रजानदवस्थामेव तवासम्प्राप्तमरणस्य मरणतः, किं पुनः कृतपापस्य भवतो भयं युक्तं न भवति, इत्यपि आहार्यम्। अतिदुःसहनरकदुःखतः॥ ११॥

निर्व्यापारसुखास्वादाभिरतमधिकृत्याह—

* स्पृष्ट उष्णोदकेनापि सुकुमार प्रतप्यसे।
कृत्वा च नारकं कर्म किमेवं स्वस्थमास्यते॥ १२॥

तप्तवारिणापि संस्पृष्टः। सुकुमारेति सम्बोधनम्। अतिमृदुशरीरतया सोढुमशक्तोऽसि। यद्येवम्, तदा कृत्वा चेत्यदि सुबोधम्॥ १२॥

---

११. ['ऐसा विवेक कर अभी स्वस्थावस्था में ही तूँ कुशल कर्मों में प्रवृत्त हो जा'—यह चेतावनी देते हुए श्री शान्तिदेव कहते हैं—] 'पूर्वदेश (बंगाल) आदि प्रदेशवासियों द्वारा अपने भोजन के लिये जिलायी गयी मछलियों की तरह मेरी भी दो-चार दिन में मौत निश्चित है'—यह मानकर ही मुझे दुष्कर्मों के आचरण से और आलस्यादि दुर्गुणों से भय खाना चाहिये, फिर पाप-कर्म करके निश्चित प्राप्तव्य नरक-दुःखों से भय की तो बात ही क्या ? (उनसे तो डरना ही चाहिये)।

१२. यहाँ मामूली गरम पानी छू जाने से भी तुझे तकलीफ महसूस होती है, तब फिर नरक में जाने योग्य कर्म करके भी (जहाँ भयंकर आग में तुझे चिरकाल तक जलते जाना है) तूँ चुपचाप निश्चिन्त हो आलस्याभिभूत होकर क्यों बैठा है ?॥

---

१. मे—पाठा०।

अपरमपि तं प्रत्याह—

* निरुद्यम फलाकांक्षिन् सुकुमार बहुव्यथ !
मृत्युग्रस्तोऽमराकार हा दुःखित विहन्यसे ॥ १३ ॥

सुखहेतूत्पादनाय व्यापारशून्योऽसि। अथ च तस्य फलं [P 250] सुखमभिलषसि। दुःखासहिष्णुरसि, अथ च बहुव्यथोऽसि सर्वदुःखाकरत्वात्। मृत्युना च वशीकृतोऽसि, अथ च अमरणधर्माणमात्मानं मन्यसे। एवं च विपर्यस्तं चरितमस्य विपश्यन् करुणायमानः सखेदमेनमाह—हा दुःखित विहन्यसे। सम्मोहबहुलतया कष्टां दशां प्रविष्टोऽसि। आत्मगतमेव वा विमृशति। एवमन्यत्रापि यथासम्भवं द्रष्टव्यम्। निरुद्यमादीनि चामन्त्रितपदानि ॥ १३ ॥

निद्रापरतन्त्रं प्रत्याह—

* मानुष्यं नावमासाद्य तर दुःखमहानदीम्।
मूढ, कालो न निद्राया इयं नौर्दुर्लभा पुनः ॥ १४ ॥

अष्टाक्षणविनिर्मुक्तं मनुष्यभावप्रतिलम्भं नावमिव अभ्युदयादिपारगमनाय प्राप्य तर प्लवस्व दुःखमयीं महानदीम्। सर्वदुःखानि पृष्ठीकुरुष्व। वीर्यावलम्बनेनेति यावत्। हे मोहपरवश, नायं कालो निद्रायाः, यावदियं नौः सन्निहिता। यदि नेदानीमेव यत्नः क्रियते, तदा पुनरियं दुर्गतिगतस्य नौर्दुर्लभा भविष्यति। यदुक्तम्—

'पुनरप्येष समागमः कुतः। इति' ॥ १४ ॥

(बो० च० १. ४)

एवमालस्यं निवार्य कुत्सितासक्तिं निवारयन्नाह—

* मुक्त्वा धर्मरतिं श्रेष्ठामनन्तरतिसन्ततिम्। [P 251]
रतिरौद्धत्यहास्यादौ दुःखहेतौ कथं तव ॥ १५ ॥

---

१३. विना ही श्रम के फल चाहने वाले ! सुकुमार ! (श्रमसाध्य कार्य करने में असमर्थ !), नाना प्रकार के दुःखों को भोगने वाले ! तूँ अपने को अमर समझता हुआ वस्तुतः मौत के गाल के समाता हुआ नष्ट हो रहा है ॥

१४. अरे ! मनुष्य जन्म की यह नाव पाकर अब तो तूँ इस महादुःखनदी के पार चला जा ! मूर्ख ! यह सोने का समय नहीं है। फिर यह नाव भी तो बार-बार नहीं मिलेगी ? ॥

१५. अनन्त प्रेम की धारा बहाने वाली इस धर्म की प्रेम-धारा को छोड़ कर

शुभकर्मणां रतिं श्रेष्ठामुत्तमाम्। किंभूताम्? अनन्तरतिसन्ततिम्। सुगतिपरम्परासञ्जननादनन्ता अपर्यवसाना रतिसन्ततिः सुखप्रवाहो यस्याः सा तथा। अत एव उत्तमेत्युक्तम्। तामपहाय रतिरभिरामः, औद्धत्यमुन्नतता। कायचित्तयोः क्रीडनशीलतेति यावत्। हासो वागौद्धत्यम्। सरभसस्य वाग्विकार इति यावत्। आदिशब्दाद् गीतादिपरिग्रहः। तत्र कथं रतिस्तव! न युक्तेत्यभिप्रायः। किंभूते? दुःखहेतौ। नरकादिदुर्गत्युपनयनाद् दुःखस्य हेतुर्भवति ॥ १५ ॥

एवं कुत्सितासक्तिमपि निराकृत्य विषादात्मावमन्यनां वीर्यविपक्षं निराकर्तुम्, अपरमपि च तद्विपक्षनिरसनाय प्रतिपादयन्नाह—

* अविषादबलव्यूहतात्पर्यात्मविधेयता।
परात्मसमता चैव परात्मपरिवर्तनम् ॥ १६ ॥

विषादविपरीतोऽविषादः। बलानां व्यूहः समूहो वक्ष्यमाणलक्षणः। तात्पर्यं निपुणता। आत्मविधेयता आत्मवशवर्तिता। एताः सर्वाः कृतद्वन्द्व-[P 252] समासाः। यदि वा। एभिः सहिता आत्मविधेयता। परात्मसमता—परात्मपरिवर्तने ध्यानपरिच्छेदे [बो० च०८] वक्ष्यमाणे। इदमपि समस्तं कौसीद्यप्रहाणाय वीर्यसमृद्धये प्रभवतीत्युद्देशः ॥ १६ ॥

उद्दिष्टमेवार्थं क्रमेण निर्दिशन्नाह—

* नैवावसादः कर्तव्यः कुतो मे बोधिरित्यतः।

कुतो मे बोधिरिति। कथमहं वराकः सम्यक्सम्बोधिभाजनम्? बुद्धत्वं हि तीक्ष्णेन्द्रियस्य आरब्धवीर्यस्य अपरिमितपुण्यज्ञानसम्भारैः अतिदुष्करकर्मानुष्ठानैः अनेकैश्च कल्पासंख्येयैः कस्यचित् पुरुषविशेषस्य साध्यं भवति, अहं तु न तादृश इति कथं मद्विधानां तथाविधं बुद्धत्वं सम्भाव्येत—इत्येवमाकारमनसिकारादवसादो विषादो न कर्तव्यः; महार्थभ्रंशस्य हेतुत्वात्। यथोक्तम्—"अवसादोऽप्यनर्थः" इति [शि० स० ३४] ॥

दुःखों की मूलभूत इस सांसारिक उछल-कूद और मौज-मस्ती में तेरा मन क्यों लगा हुआ है ॥

१६. हीनभावना का न होना, बलों का समूह, निपुणता, आत्मवशवर्तिता, दूसरे की आत्मा (के क्लेश) को अपना समझना—ये सभी गुण आलस्य का नाशकर वीर्य (उत्साह) उत्पादन में सहायक हैं ॥

१७. 'यदि मैं हतोत्साह होऊँगा तो मुझे बोधि (ज्ञान) कैसे मिलेगी'—

कस्मात् ?

* यस्मात् तथागतः सत्यं सत्यवादीदमुक्तवान् ॥ १७ ॥

यस्मात् तथागतः इदं वक्ष्यमाणं सत्यमवितथमुक्तवान् कथितवान्। कथं ज्ञायते ? इत्याह्–सत्यवादीति। ज्ञानक्रियासम्भवादविपरीतवादी। अतः सत्याभिधानहेतुपदमेतत् ॥ १७ ॥

किं तत् सत्यमुक्तवान् ?

* "तेऽप्यासन् दंशमशका मक्षिकाः कृमयस्तथा।
यैरुत्साहवशात् प्राप्ता दुरापा बोधिरुत्तमा" ॥ १८ ॥

इत्याह। तेऽपि बुद्धा भगवन्तः पूर्वं शाक्यमुनि-रत्नशिखि-दीपङ्कर-प्रभृतयः संसारसागरावर्तान्तर्गताः पृथग्जनावस्थायां परिभ्रमन्त [P 253] एवम्भूता एवासन् बभुवुः, यैरुत्साहबलात् वीर्योत्कर्षसामर्थ्यात् सम्भारान् सम्भृत्य प्राप्ता अधिगता दुरापा दुर्लभप्रतिलम्भा बोधिरुत्तमा अनुत्तरा। आरब्धवीर्यस्य न किञ्चिद् दुष्करमिति भावः। इदं तत् सत्यम् ॥ १८ ॥

अतो मम पुनरतितरां न दुर्लभा बोधिरित्याह–

* किमुताहं नरो जात्या शक्तो ज्ञातुं हिताहितम्।
सर्वज्ञनीत्यनुत्सर्गाद् बोधिं किं नाप्नुयामहम् ॥ १९ ॥

किं पुनरहं मनुष्यभूतो जन्मना। शक्तो ज्ञातुं हिताहितमिति। इदं हितमिदमहितम्, शुभमशुभं च कर्मेत्युपदिष्टम्, ज्ञातुमवबोद्धुं समर्थोऽस्मि, इति विचिन्त्य सर्वज्ञस्य सर्ववस्तुतत्त्ववेदिनः नीतिर्नयः उपादेयतत्त्वप्रतिपादनम्। तस्य अनुत्सर्गादपरित्यागात्। तस्य आदानोपादानसेवनादित्यर्थः। बुद्धत्वं नाप्नुयामहम्। काक्वा पठनाद् आप्नुयामेवेति। एतद्भगवता रत्नमेघे दर्शितम्।

यथोक्तम्–"इह बोधिसत्त्वो नैवं चित्तमुत्पादयति–दुष्प्राप्या बोधिर्मनुष्यभूतेन सता। इदं च मे वीर्यं परीत्तं च हीनं च। कुसीदोऽहम्।

यह सोचकर तूँ निरुत्साह न हो; क्योंकि सत्यवादी बुद्ध ने ठीक ही कहा है कि–॥

१८. "जिन्होंने उत्साहसम्पन्न होकर यह दुष्कर बोधि प्राप्त की है वे भी अपने पूर्व जन्मों में मक्खी-मच्छर और कीड़े-मकौड़ों की योनियों में रह चुके हैं" ॥

१९. फिर मैं तो मनुष्य योनि में हूँ, अपना हित-अहित समझने में समर्थ हूँ। तथागत के सत्य वचनों का अनुसरण करते हुए मैं बोधि क्यों नहीं प्राप्त कर सकूँगा ! ॥

बोधिश्च आदीप्तशिरश्चैलोपमेन बहून् कल्पान् बहूनि कल्पशतानि बहूनि [P 254] कल्पसहस्राणि समुदाचरता समुदानेतव्या । तन्नाहमुत्सहे ईदृशं भारमुद्वोढुम् । किं तर्हि ? बोधिसत्त्वेनैवं चित्तमुत्पादयितव्यम्— येऽपि तेऽभिसम्बुद्धास्तथागता अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धाः, येऽपि वा अभिसम्भोत्स्यन्ते, तेऽपि ईदृशेनैव नयेन, ईदृश्या प्रतिपदा, ईदृशेनैव वीर्येणाभिसम्बुद्धाः, यावन्न च ते तथागतभूता एवाभिसम्बुद्धाः । अहमपि तथा तथा घटिष्ये, तथा तथा व्यायंस्ये सर्वसत्त्वसाधारणेन वीर्येण सर्वसत्त्वारम्बणेन वीर्येण, यथाहमप्यनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्भोत्स्ये" इति ॥ १९ ॥

युक्तमेवैतत्, केवलमतिदुष्करकर्मश्रवणादनध्यवसायो विनिवर्तयितुमशक्य इति विकल्पयन्नाह—

* अथापि हस्तपादादि दातव्यमिति मे भयम् ।

करचरणशिरःप्रभृतिदानमन्तरेण बुद्धत्वं न प्राप्यते— इति अतिदुष्करकर्मसु प्रवृत्तिभयादुत्साहो निवर्तत एव, इति चेन्मन्यसे । स्वचित्तमेवाह—

* गुरुलाघवमूढत्वं तन्मे स्यादविचारतः ॥ २० ॥

तदेतद् गुरुलाघवमूढत्वमेव मे । अल्पे बहुतरं बहुतरे चाल्पतरमिति मोहवशेन अविचारतोऽविवेकान्मम स्यात, न तु परमार्थविचारतः ॥ २० ॥

परमार्थविचारेण गुरुलाधवविपर्यास एवायमित्युपदर्शयन्नाह—

* छेत्तव्यश्चास्मि भेत्तव्यो दाह्यः पाट्योऽप्यनेकशः । [P 255]
कल्पकोटीरसंख्येया न च बोधिर्भविष्यति ॥ २१ ॥

संसारचारके निवसँस्तथाविधकर्मवशाच्छेत्तव्यश्चास्मि करचरणाद्यङ्गप्रत्यङ्गच्छेदनान्नरकादिषु । तथा भेत्तव्योऽस्मि शक्तिकुन्तादिभिः । दाह्यो नरकदहनादिना । पाट्यो ज्वलितक्रकचादिना । अनेकशः अनेकवारान् । नरकादिषु कारणामनुभवन् अपर्यन्तपथि संसारे । कल्पानां कोटीरसंख्येयाः संख्यातुमशक्या इति । अकामस्यापि दुःखमपर्यन्तमनेकप्रकारमापतिष्यति, न च बुद्धत्वसम्भाराय तत् सम्पत्स्यते ॥ २१ ॥

---

२०. यदि मुझे डर हो कि बोधि की प्राप्ति के लिये अपने हाथ-पैरों की वलि देनी पड़ेगी तो यह भी गलत ही सोचना है । इस फायदे में भी कम-वेशी की सचाई न समझता हुआ मैं भूल ही कर रहा हूँ ॥

२१· असंख्य कल्प-कोटि जन्म लेकर मैं इस संसार की जेल में अनेक वार काटा जाऊँगा, छेदा जाऊँगा, जलाया जाऊँगा, पर वोधि मुझे फिर भी न मिलेगी ॥

इदं संसारापर्यन्ततया दुःखं बहुतरं निष्फलं च । बुद्धत्वप्रसाधकं पुनरल्पतरं सफलं चेत्युपदर्शयन्नाह—

* इदं तु मे परिमितं दुःखं सम्बोधिसाधनम् ।
नष्टशल्यव्यथापोहे तदुत्पादनदुःखवत् ॥ २२ ॥

यद् बुद्धत्वप्रसाधकं तदिदं दुःखं परिमितं मम प्रतिनियतकालभावितया, दुःखप्रशमनहेतुश्च । तत्तथाभूतं शल्यं तेन व्यथा, तस्या अपोहो निवृत्तिः । तन्निमित्तं तद्व्युदासाय । यावज्जीवं तत्कृतदुःखप्रहाणायेत्यर्थः । तस्य नष्टशल्यस्योत्पाटनं शरीरादुद्धरणम् । अपकर्षणमिति यावत् । तेन यद् दुःखं प्रतिनियतकालमल्पतरम् । दीर्घकालिकदुःखोपशमनिमित्तम् तद्वत् [P 256] सोढुमुचितमिदमपि दुःखम् ॥ २२ ॥

अतोऽपि समुचितमित्याह—

* सर्वेऽपि वैद्याः कुर्वन्ति क्रियादुःखैररोगताम् ।
तस्माद् बहूनि दुःखानि हन्तुं सोढव्यमल्पकम् ॥ २३ ॥

सर्वेऽपि न केचिदेव । लङ्घनपाचनादिकृतैर्यथेष्टाहारविहारप्रतिषेधजनितैश्च क्रियादुःखैः रोगपीडितानामारोग्यं विदधति । अन्यथा तत्कर्तुमशक्यम् । यत एवम्, तस्मादतिशयेन अल्पमल्पकं दुःखं सोढव्यम् । किमर्थम् ? बहूनि दुःखानि हन्तुम् । सर्वसत्त्वानामात्मनश्च दीर्घकालिकसर्वदुःखप्रशमनायेत्यर्थः । एवं तावत् स्वीकर्तु युक्तं धीमतः ॥ २३ ॥

न चेदं युक्तमपि दुष्करं कर्म आदिकर्मिकस्य प्रथममनुज्ञातं भगवतेति दर्शयन्नाह—

* क्रियामिमामप्युचितां वरवैद्यो न दत्तवान् ।

क्रियामिमां समनन्तरप्रतिपादितां दुःखोत्पादनीम् । उचितामपि सेवनी-

---

२२. तो इसके बदले में (इसकी तुलना में) यह मेरा बोधिसाधना का कष्ट उतना ही सीमित (कम) है जितना पैर में चुभे कांटे को निकालते समय सहन की जाने वाली पीड़ा ॥

२३. साधारण वैद्य जिन क्रियाओं से रोगी को स्वस्थ करते हैं, उन सब में भी दुःख होता है । अतः अधिक दुःख को दूरने के लिये अल्प दुःख तो सहना ही पड़ता है ॥

२४. श्रेष्ठ वैद्य तो वह क्रिया भी नहीं करता जिसमें रोगी थोड़ा सा भी

[P 257] यामपि । वरवैद्यो भगवान् सर्वथा सर्वव्याधिचिकित्सकः। प्रथमं दत्तवान्, न कर्तव्यतया प्रतिपादितवानादिकर्मिकस्य ।

कथं तर्हि रागादिव्याधीनपनयति ? आह--

* मधुरेणोपचारेण चिकित्सति महातुरान् ॥ २४ ॥

सुकुमारतरेणोपचारेण उाक्रमेण । यथाक्षमं चिकित्साप्रणयनेनेत्यर्थः। चिकित्सति रोगमुक्तान् करोति । महातुरान् दीर्घरोगिणो रागादिमहाव्याधिग्रस्तान् ॥ २४ ॥

कः पुनरयं मधुरोपचारः ? इत्याह—

* आदौ शाकादिदानेऽपि नियोजयति नायकः ।
तत्करोति क्रमात् पश्चाद्यत् स्वमांसान्यपि त्यजेत् ॥ २५ ॥

मात्सर्यमलापनयनार्थं सुखसुखेन सम्भारसंवर्धनार्थं च शक्यपरित्यागे शाकसक्तुपिण्डकादिदानेन प्रथमतरं प्रवर्तयति नायको भगवान् । पुनस्तथोपायविशेषेण नियोजनं करोति । तदिति लोकोक्तौ वा । यद् यथा दाता मृदुदानाभ्यासक्रमेण अधिमात्राधिमात्रदानाभ्यासप्रकर्षमासादयन् पश्चादुत्तरकालमकृच्छ्रेणैव स्वमांसरुधिरादिकमपि प्रसन्न एवं प्रयच्छेत् ॥ २५ ॥

कथं पुनरेतदेवम् ? इत्याशङ्क्याह—

* यदा शाकेष्विव प्रज्ञा स्वमांसेऽप्युपजायते ।
मांसास्थि त्यजतस्तस्य तदा किं नाम दुष्करम् ॥ २६ ॥

[P 258] यस्मिन् काले दानाभ्यासात् परमप्रकर्षगमनात् सर्वथापगतमात्सर्यतया शाकेष्विव स्वमांसेऽपि निरासङ्गबुद्धिरुपजायते, तदा स्वमांसादिदानेऽपि नाशक्यानुष्ठानबुद्धिरिति तस्मिन् काले किं नाम दुष्करम् ? नैव किञ्चदित्यर्थः ॥ २६ ॥

कष्ट अनुभव करे । वह तो मीठे (सहन करने योग्य) उपचार से ही वड़े से बड़े रोगों को नष्ट कर देता है ।।

२५. बोधि-प्राप्ति के अभ्यास के लिये तथागत उपासक को सर्वप्रथम शाकादि-दान में नियोजित करते हैं । फिर शनैः शनैः ऐसी कठिन अभ्यास की स्थिति में पहुँचा देते हैं कि वह स्वशरीर के मांस-आदि का भी दान हँसते-हँसते कर सके ।।

२६. जब स्वशरीर के मांस में भी उसकी शाक की तरह सामान्य बुद्धि (ममत्वनाश) हो जाती है तब उस (जिज्ञासु) को स्वशरीर के मांस का दान करना भी कठिन नहीं लगता ।।

अथापि स्यात्–अतिदीर्घकालं परार्थे संसरता तद्दुःखं कथमिव परिहर्तुं शक्यम् ? इत्यत्राह—

* न दुःखी त्यक्तपापत्वात् पण्डितत्वान्न दुर्मनाः ।
मिथ्याकल्पनया चित्ते पापात् काये यतो व्यथा ॥ २७ ॥

द्विविधमेव हि दुखं बाधकमुपजायते—कायिकम्, मानसिकं चेति । तदेतद् द्वयमपि बोधिसत्त्वस्य न सम्भवति । कायवचनमनोभिः सर्वावद्यविरतेः कायिकं दुःखमस्य न जायते । युक्त्यागमाभ्यामुभयनैरात्म्यस्य च निश्चयनान्मानसमपि कुतः ? यतो मिथ्याकल्पनया असद्विकल्पेन आत्मात्मीयग्रहप्रवृत्तेन भावाद्यभिनिवेशकृतेन वा चित्ते दुःखम्, पापात् प्राणातिपातादेः काये । एवं तावद् दुःखहेतुपरिहाराद् दुःखमस्य न जायते इति प्रतिपादितम् ॥ २७ ॥

इदानीं सुखमेव केवलमस्यास्तीति प्रतिपादयन्नाह—

* पुण्येन कायः सुखितः पाण्डित्येन मनः सुखि । [P 259]
तिष्ठन् परार्थं संसारे कृपालुः केन खिद्यते ! ॥ २८ ॥

सुखं जातमस्य कायस्येति सुखितः । सुखं विद्यतेऽस्य मनस इति सुखि । एवमुभयसुखसमन्वागतत्वात् कृपावान् **परार्थं संसारे** संसरन् **केन** दुःखेन खिद्यते, खेदं मन्यते ? यदि वा । केन खिद्यते ? खेदहेतोरभावान्न केनचिदिति भावः । तत् किमिदमकारणभीरुतया वैमुख्यमुपादीयते ? ॥ २८ ॥

स्यादेतत्–दीर्घकालमासेवितभावितबहुलीकृतेन महता पुण्यसम्भारेण सम्यक्सम्बोधिरधिगम्यते । तद्वरं मुमुक्षूणां शीघ्रकालतया श्रावकयानमेवाश्रयणीयं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

* क्षपयन् पूर्वपापानि प्रतीच्छन् पुण्यसागरान् ।
बोधिचित्तबलादेव श्रावकेभ्योऽपि शीघ्रगः ॥ २९ ॥

---

२७. वह पापरहित होने के कारण शरीर से दुःखी नहीं होता, और ज्ञानी (विवेकशील) होने के कारण मन में किसी प्रकार का दुःख नहीं मानता ; क्योंकि शरीर में पाप से, और मन में मिथ्या कल्पना (अविवेक) से ही पीड़ा होती है ॥

२८. पुण्य करने से शरीर सुखी रहता है, पाण्डित्य (ज्ञान) से मन सुख मानता है । संसार में करुणाशील को परोपकार करते हुए कैसे खेद हो सकता है !॥

२९. बोधिसत्त्व पूर्व जन्म के पापों को क्षीण करता हुआ, और पुण्यसमुद्रों का संग्रह करता हुआ, बोधिचित्त के ही सहारे श्रावकों (हीनयानमताव-

पूर्वकृतानि यानि पापानि तानि बोधिचित्तबलादेव क्षयीणि कुर्वन्। यथोक्तं प्राक्—

युगान्तकालानलवन्महान्ति पापानि यन्निर्दहति क्षणेन। इति।
(बो० च० १. १४)

तथा बोधिचित्तबलादेव प्रतीच्छन् आददानः पुण्यसागरान्।

यदुक्तम् —

अविच्छिन्नाः पुण्यधाराः प्रवर्तन्ते नभःसमाः। इति।

[P 260] (बो० च० १.१९)

एवंविधोपायबलजवेन महायानमारूढो बोधिसत्त्वः श्रावकेभ्योऽपि शीघ्रगः त्वरितगामी ॥ २९ ॥

* एवं सुखात् सुखं गच्छन् को विषीदेत् सचेतनः।
बोधिचित्तरथं प्राप्य सर्वखेदश्रमापहम् ॥ ३० ॥

प्रतिपादितमेवार्थं पिण्डीकृत्य दर्शयति। एवमुक्तक्रमेण सर्वावद्यविरतेः पुराकृतपापक्षयाच्च स्वप्नेऽपि दुर्गतिगमनाभावात् तीव्राभिप्रायेण अनेकसुखेन अहर्निशमाकाशधातुव्यापिनः पुण्यसागरस्याभिवर्धनाच्च सुगतिपरम्परासन्मार्गावतरणबोधचित्तं रथमिव आसाद्य। आरुह्येति यावत्। सर्वखेदैः परिक्लेशैः श्रम आयासः, तमपहन्तीति प्रतिपादितनयेन, सर्वखेदश्रमं वा अपहन्तीति तम्। सुखादेकस्मादपरमुत्तरोत्तरमधिकाधिकं सुखं देवमनुष्यसम्पत्तिलक्षणं गच्छन् अनुप्राप्नुवन् को नाम प्रेक्षावान् विषादमापद्येत! ॥ ३० ॥

तदेवमनेकविधविषादनिमित्तप्रतिषेधेन अविषादं प्रतिपाद्य बलव्यूहं प्रतिपादयितुमाह—

* छन्दस्थामरतिमुक्तिबलं सत्त्वार्थसिद्धये।
छन्दं दुःखभयात् कुर्यादनुशंसांश्च भावयन् ॥ ३१ ॥

लम्बियों) की अपेक्षा शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥

३०. इस तरह सभी प्रकार के खेद और श्रम को दूर करने वाले बोधिचित्त-रूप रथ के सहारे एक सुख के बाद नये-नये सुख पाने वाला कौन विवेकी विषण्ण होना चाहेगा ! ॥

३१. सर्व प्राणियों के हितार्थ--छन्द (=पुण्येच्छा), स्थाम (=अविचलित

इदमप्युद्देशवाक्यमेव। छन्द इह कुशलाभिलाषः। स्थाम= [P 261] आरब्धदृढता। रतिः=सत्कर्मासक्तिः। मुक्तिः=असामर्थ्ये तावत्कालमुत्सर्गः। एतच्चतुरङ्गबलम्, अनेकावयवसमुदायात्मकत्वात्, हस्त्यादिबलवत्। सत्त्वार्थसिद्धये वीर्यहेतुत्वात्, अस्य वीर्यस्य च सर्वाभिमतसाधनत्वादिति भावः। तत्र छन्दबलस्य बहुकरत्वात्, छन्दमित्यादिना अस्योत्पत्तिनिमित्तमाह—दुःखभयादिति। अशुभकर्मणो दुःखं जायत इति त्रासाच्छन्दं कुर्यात्। अनुशंसांश्च भावयन्। अनुशंसाः फलद्वारेण गुणविशेषाः। ते च अर्थात् कुशलकर्मण एव। तान् भावयन्। शुभकर्मणोऽनेकप्रकारेण मधुरफलोत्पत्तिं पुनः पुनः सञ्चिन्तयन्नित्यर्थः॥ ३१॥

साम्प्रतं बलस्य व्यापारमुपदर्शयितुमाह—

* एवं विपक्षमुन्मूल्य यतेतोत्साहवृद्धये।
छन्दमानरतित्यागतात्पर्यवशिताबलैः॥ ३२॥

एवमुक्तप्रबन्धेनेत्यादि। विपक्षमालस्यादि। उन्मूल्य प्रतिपक्षभावनाविधिना अपसार्य। वीर्यप्रवर्धनाय यत्नं कुर्यात्। केनोपायेन? इत्याह—मानश्चित्तस्योन्नतिः। अयं स्थामबलस्योपबृंहणम्, स्थामबलमेव वा। तेषां बलैः सामर्थ्यैः। सामर्थ्यपर्यायोऽत्र बलशब्दः।

१ छन्दबलम्

तत्र तावच्छन्दोत्पादनाय प्रथममाह—

* अप्रमेया मया दोषा हन्तव्याः स्वपरात्मनोः। [P 262]
एकैकस्यापि दोषस्य यत्र कल्पार्णवैः क्षयः॥ ३३॥

भाव), रति (=सत्कर्मपरायणता) और मुक्ति—इन चार अङ्गों का सहारा चाहिये। इनमें दुःख-भय से पुण्यमाहात्म्य की भावना करना 'छन्द' कहलाता है॥

३२. इस विधि से आलस्य आदि बोधिविरोधी दुर्गुणों का नाश कर उत्साह (वीर्य) में वृद्धि करते रहना चाहिये। इस उत्साहवृद्धि के साधन ये हैं—१. छन्द (शक्ति) बल, २. मानबल, ३. रतिबल, ४. त्यागबल, ५. तत्पारमिताबल, और ६. वशिताबल॥

[अब क्रमशः इन्हीं बलों का वर्णन करते हैं—]

३३. [छन्दबल—] अपने या दूसरों के अनगिनत दोषों का मुझे नाश करना है। इन एक एक दोषों के नाश करने में मानवके अनन्त कल्प व्यतीत हो जाते हैं॥

* तत्र दोषक्षयारम्भे लेशोऽपि मम नेक्ष्यते।
अप्रमेयव्यथाभाज्ये नोरः स्फुटति मे कथम् ! ॥ ३४ ॥

* गुणा मयाऽर्जनीयाश्च बहवः स्वपरात्मनोः।
तत्रैकैकगुणाभ्यासो भवेत् कल्पार्णवैर्न वा ॥ ३५ ॥

* गुणलेशेऽपि नाभ्यासो मम जातः कदाचन।

सर्वसत्त्वानामुपकरणतया आत्मनश्च समस्तक्लेशप्रहाणाय निःशेषगुणोत्पादनाय च मया बोधिचित्तमुत्पादितम्। तच्च न शिथिलव्यापारसाध्यमित्यवगम्यापि यदि अनारब्धवीर्यतया मन्दसमारम्भ एव तिष्ठामि, तदा दुर्गतिविनिपातमन्तरेण नान्या गतिरस्ति ममेति विचिन्त्य संवेगमामुखीकुर्वन् छन्दमुत्पादयेदिति समुदायार्थः ॥

अवयवार्थस्तु उच्यते—**अप्रमेयाः** प्रमातुमशक्याः। **दोषाः** कायवाक्चित्तसमाश्रिताः। **हन्तव्याः** प्रहन्तव्याः। **स्वपरात्मनोः** स्वात्मनः परात्मनश्च। **एकैकस्यापीति**। आस्तां तावद् बहूनाम्। **यत्र** येषु। मन्दवीर्येण **कल्पार्णवैः** अनेकैः कल्पशतसहस्रैः **क्षयः** प्रहाणं क्रियते ॥ ३३ ॥

तत्र तेषु **दोषक्षयारम्भे** दोषप्रहाणोत्साहे। **लेशोऽपि** स्वल्पमात्रमपि **मम**
[P 263] **नेक्ष्यते** न दृश्यते। अतः **अप्रमेयव्यथाभाज्ये** अपरिमितदुःखभाजनस्य **मम नोरः स्फुटति** हृदयं विदीर्यते। **कथं** केन प्रकारेण ॥ ३४ ॥

गुणा मयेत्यादि सुबोधम् ॥ ३५ ॥

इति विचिन्त्य संवेगमुपदर्शयति—

* वृथा नीतं मया जन्म कथञ्चिल्लब्धमद्भुतम् ॥ ३६ ॥

वृथा विफलमेव **मया जन्म** अक्षणविनिर्मुक्तं **नीतं** प्रेरितम्। वृथीकृत-

---

३४. उन दोषों का नाश करने के लिये तो मुझमें जरा भी उत्साह नहीं दिखायी पड़ता। बदले में (इन दोषों के कारण) अपार दुःख सहते-सहते मेरा कलेजा टूक-टूक क्यों नहीं हो जाता ! ॥

३५. अपने या दूसरों के लिये मुझे अपार गुण अर्जित करने हैं। और एक-एक गुण का अभ्यास इतना कठिन है कि वह अनन्त कल्पों में पूरा हो पाये या न हो पाये (—कोई कह नहीं सकता !)

३६. मैंने गुणों का किञ्चिद् अंश भी अभ्यास द्वारा आत्मसात् नहीं किया। बड़ी मुश्किल से प्राप्त मेरा यह अद्भुत जन्म भी व्यर्थ ही चला गया ॥

मिति यावत्। कथञ्चिल्लब्धं महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणवत् सुचिरेण प्राप्तम्, अत एव आश्चर्यस्थानत्वाद् अद्भुतम् ॥ ३६ ॥

इतोऽपि विफलमित्याह—

* न प्राप्तं भगवत्पूजामहोत्सवसुखं मया।
न कृता शासने कारा दरिद्राशा न पूरिता ॥ ३७ ॥

* भीतेभ्यो नाभयं दत्तमार्त्ता न सुखिनः कृताः।
दुःखाय केवलं मातुर्गतोऽस्मि गर्भशल्यताम् ॥ ३८ ॥

तथागतानां सत्क्रियाभिर्महोत्सवमतिशयवदभिनन्दनम्। तेन सुखं सौमनस्यं न प्राप्तं नाधिगतं मया। नापि शासने प्रतिमा-स्तूप-सद्धर्मादिसत्कारैः विहारारामशयनादिवस्तुप्रदानैश्च कारा पूजा कृता। नापि दरिद्राणां धनहीनानामाशा अभिलाषः सर्वोपकरणसम्पत्तिसम्पादनेन पूरिता ॥ ३७ ॥

नापि भीतेभ्यः सपत्नादिभयसमाकुलितेभ्यो मा भैषीरित्यभयं [P 264] दत्तम्। नापि कायमनोदुःखैरार्ताः पीडिताः तदपनीय सुखिनः कृताः। इति सर्वैः सत्पुरुषधर्मैर्विरहितत्वादाह—दुःखायेत्यादि। सुबोधम् ॥ ३८ ॥

कथं पुनरेतां कर्मदशां प्राप्तो भवान्? इत्याह—

* धर्मच्छन्दवियोगेन पौर्विकेण ममाधुना।
विपत्तिरीदृशी जाता को धर्मे छन्दमुत्सृजेत् ॥ ३९ ॥

धर्माभिलाषस्याभावेन प्राक्तनजन्मोपचितेन मम अधुना अस्मिन् जन्मनि विपत्तिरीदृशी जाता सर्वसामर्थ्यवैकल्यस्वभावा समनन्तरकथिता समुत्पन्ना। एवं ज्ञात्वा को धर्मे छन्दमुत्सृजेत् परित्यजेत्? को नाम नोपाददीत विचक्षण इति भावः ॥ ३९ ॥

---

३७. मैं न तो भगवान् की पूजा द्वारा लभ्य आनन्द को ही पा सका, और न भगवान् के द्वारा उपदिष्ट धर्म का ही आचरण द्वारा सम्मान कर सका और न मैंने किसी दरिद्र की ही मनःकामना पूर्ण की ॥

३८. न मैं डरे हुए व्यक्तियों को अभय दान कर सका, न दुःखियों को सुखसम्पन्न कर सका। केवल अपनी माँ को दुःख देने के लिये गर्भावस्था में मानों उसके पेट में काँटे की तरह चुभकर मैंने उसे पीड़ा ही दी ॥

३९. पहले जन्मों में धर्म-आचरण की मुझे इच्छा नहीं हुई, इसीलिये आज यह विपत्ति (सङ्कट) मुझ पर आ पड़ी। अब पुनः ऐसा सुयोग (दुर्लभ मानवजन्म) पाकर भी आज इस धर्माभ्यास को क्यों छोड़ूँ ! ॥

किं पुनः कुशलार्थिनां छन्दोत्पादने यत्नः ? इत्याशङ्क्य यच्चोक्तम्—"छन्दं दुःखभयात् कुर्यात्" [बो० च० ७.३१] इत्यादि, तद्व्यक्तीकर्तुं चाह—

* कुशलानां च सर्वेषां छन्दं मूलं मुनिर्जगौ।
तस्यापि मूलं सततं विपाकफलभावना ॥ ४० ॥

न केवलं विपत्तिपरिहारार्थम्, शुक्लधर्मोपचयार्थमपि च्छन्दोत्पादने यतितव्यमिति चकारार्थः। **सर्वेषामिति** न केषाञ्चिदेव। **छन्दं मूलं** कारणं भगवानुक्तवान्। न तु स्वयमुत्प्रेक्ष्य उच्यते इत्यर्थः। **तस्यापि** च्छन्दस्यापि **मूलं सततं** सर्वकालं **विपाकफलभावना**। शुभाशुभकर्मणो विपाकफलं परलोके इष्टानिष्टप्राप्तिलक्षणम्, तस्य भावना पुनःपुनरामुखीकरणम् ॥ ४० ॥

[P 265] तत्र अशुभकर्मणो विपाकफलमुपदर्शयन्नाह—

* दुःखानि दौर्मनस्यानि भयानि विविधानि च।
अभिलाषविघाताश्च जायन्ते पापकारिणाम् ॥ ४१ ॥

यावन्ति कायिकमानसिकानि नरकादिगतौ **दुःखानि विविधानि** नानाप्रकाराणि **जायन्ते** भवन्ति सर्वाणि **पापकारिणामेव**। **भयानि** वधबन्धनताडनादिभ्यः। पर्येषमाणस्य लाभविघातेन **अभिलाषविघाताश्च** ॥ ४१ ॥

सुकृतकर्मणो विपाकफलमाह—

* मनोरथः शुभकृतां यत्र यत्रैव गच्छति।
तत्र तत्रैव तत्पुण्यैः फलार्घेणाभिपूज्यते ॥ ४२ ॥

इष्टाशंसनविकल्पो **मनोरथः**, यस्य लोके मनोराज्यमिति प्रसिद्धिः **शुभकृतां** पुण्यकारिणाम्। **यत्र यत्रैवेति** वीप्सायां न क्वचिदेव। **गच्छति** प्रसरति। **फलार्घेणेति**। अभिवाञ्छितफलोपनामनमेव अर्घ इवार्थः = पूजा ॥ ४२ ॥

---

४०. तथागत ने छन्द (=धर्माचरणेच्छा) को सब पुण्यों का मूल कहा है। और निरन्तर कर्मविपाकफलभावना को उस छन्द का मूल भी बताया है ॥

४१. पापाचारियों को नाना प्रकार के कायिक मानसिक दुःख, भय और इच्छाओं के नाश सताते रहते हैं ॥

४२. और पुण्यवान् जहाँ जाता है, उसके पुण्य के कारण, उसका मनोरथ सफल होता हुआ उसे समाज में अपने आप पूजा-स्थान पर बैठा देता है ॥

तेन पुनरशुभस्य फलमाह—

* पापकारिसुखेच्छा तु यत्र यत्रैव गच्छति ।
तत्र तत्रैव तत्पादैर्दुःखशस्त्रैर्विहन्यते ॥ ४३ ॥

सुखेच्छा सुखाभिलाषः । **तत्पादैरिति** कर्तरि तृतीया । **दुःखशस्त्रैरिति** करणैः । दुःखान्येव शस्त्राणीव तदिच्छाविच्छेदहेतुत्वात् ॥ ४३ ॥

पृथग्जनासाधारणशुभकर्मविपाकफलमसाधारणमाह— [P 266]

* विपुलसुगन्धिशीतलसरोरुहगर्भगता
मधुरजिनस्वराशनकृतोपचितद्युतयः ।
मुनिकरबोधिताम्बुजविनिर्गतसद्वपुषः
सुगतसुता भवन्ति सुगतस्य पुरः कुशलैः ॥ ४४ ॥

प्रतिलब्धमुदितादिभूमयो हि बोधिसत्त्वा अनिच्छन्तो मातृकुक्षौ नोत्पद्यन्ते, किं तर्हि ? सुखावत्यां विश्वदलकमलकोशेषु जायन्ते । तेषां सुखविभूतिमनेन कथयति—**विपुलानि** विस्तीर्णानि **सुगन्धीनि** मनोज्ञगन्धानि **शीतलानि** शीतसुखस्पर्शानि तानि च **सरोरुहाणि** पङ्कजानि चेति, तेषां **गर्भाणि** । सरोरुहगर्भाणां वा विशेषणान्येतानि । तेषु **गताः** संस्थिताः प्रज्ञोपायमहाकरुणानिर्यातपुण्यज्ञानकलशसम्वलितसम्बोधिचित्ताः सुगतसुता भवन्ति कुशलैरिति सम्बन्धः । कथं पुनः पद्मगर्भेषु पुष्टिं लभन्ते ? इत्याह—**मधुरेत्यादि** । मधुरैः सर्वस्वराङ्गोपेततया परमसौमनस्यकारिभिः [P 267] सम्बद्धधर्मघोषाशनैराहारैः कृता उपचिता द्युतयो वपूंषि येषां ते तथा । कथं च ततो निर्यान्ति ? इत्यत आह—**मुनिकरेत्यादि** । मुनिकरैः परिपाककालमवगम्य तथागतरश्मिभिर्बोधितानि विकासितानि च तान्यम्बुजानि चेति । ततो विनिर्गतानि निर्यातानि सन्ति लक्षणव्यञ्जनालंकृततया शोभनानि वपूंषि येषां ते तथा । तथाभूताः सन्तः **सुगतसुता बोधिसत्त्वा भवन्ति**

---

४३. और पापी जहाँ जाता है, उसके पापों के कारण, उसके सुखों की कामना दुःखरूपी शस्त्रों से स्वयं ही छिन्न-भिन्न होती रहती है ॥

४४. मुदितादि भूमियों को प्राप्त बोधिसत्त्व यदि चाहें तो माता के गर्भ में न आवें । वे तो पुष्पों से अत्यन्त सुगन्धित कमलों के बीच पहुँचे, बुद्ध-वचन रूपी आहार के कारण बढ़ी हुई कान्ति से युक्त कमल की तरह शोभायमान शरीर से युक्त होकर सुखावती व्यूह में भगवान् अमिताभ के सम्मुख उनके पुत्र बनकर निवास करते हैं ॥

जायन्ते। सुगतस्य पुरः सुखावत्याममिताभस्य भगवतोऽग्रतः। कुशलैरेकान्तशुक्लैः कर्मभिः। तदनेन मातृकुक्षौ समुत्पद्यमानानामेतद्विशेषणविपर्ययेण दुःखं वेदितव्यमित्युपदर्शितं भवति। तथा हि तत्र सङ्कटे दुर्गन्धिनि जठरानलसन्तप्ते च उत्पन्नस्य मातापित्रशुचिसम्भूतस्य मातुः पीताशितैर्वान्तकल्पैः सम्वर्धमानस्य गर्भमलपङ्कनिमग्नस्य परिपाककाले कथञ्चित् कण्ठगतप्राणस्य यन्त्रनिष्पीडितस्येव ततो निर्गमनमिति प्रायेण मनुष्यभूतस्य व्यतिमिश्रकर्मविपाकफलमुक्तम् ॥ ४४ ॥

एकान्तकृष्णस्य तु विपाकफलमाह—

* यमपुरुषापनीतसकलच्छविरार्तरवो
हुतवहतापविद्रुतकताम्रनिषिक्ततनुः।
ज्वलदसिशक्तिघातशतशातितमांसदलः
पतति सुतप्तलोहधरणीष्वशुभैर्बहुशः॥ ४५ ॥

यमपुरुषैः कालदूतैरपनीता विश्लेषिता ज्वलितमुद्गरादिप्रहारैः सकला [P 268] समस्ता छविश्चर्म प्रभावो वा यस्य स तथा। अतिशयेनार्तः सन् पतति सुतप्तलोहधरणीषु। पुनरपि किंभूतः? तीव्रानलतापेन द्रवीभूतं यत्ताम्रं तेन निषिक्ता स्नापिता तनुः कायो यस्य। अतोऽप्यपनीतसकलच्छविः। ज्वलन्तः असयः शक्तयश्च शस्त्रविशेषाः, तेषां घातशतैरनेकैः प्रहारैः शातितानि विच्छेदितानि मांसदलानि शकलानि यस्य स तथाभूतः सन् पतति। सुष्ठु तप्तासु लोहमयभूमिषु। अशुभैरकुशलैः कर्मभिः। बहुश इति बहून् वारान्। दीर्घकालेन तत्फलस्य परिक्षयात् ॥ ४५ ॥

तदेवं शुभाशुभकर्मणोर्विपाकफलं प्रतिपाद्य च्छन्दबलमुपसंहरन्नाह—

* तस्मात् कार्यः शुभच्छन्दो भावयित्वैवमादरात्।

यत एवं शुभाशुभकर्मणोर्मधुरकटुकफलविपाकः, तस्मादेवं परिभाव्य शुभच्छन्द एव आदरेणाशुभकर्म विहाय कार्यः।

स्थामबलम्

साम्प्रतं स्थामबलं प्रतिपादयितुमाह—

---

४५. उधर पापों के कारण यमदूतों द्वारा कृत छविविहीन शरीर वाला असह्य दुःखों के कारण चिल्लाता हुआ, अपने शरीर पर पिघले हुए ताँबे की फुहार बर्दाश्त करता हुआ, आग में तपायी गयी बरछियों और तलवारों के सतत प्रहार से मांस के हजारों टुकड़ों से युक्त शरीर वाला प्राणी नरकाग्नि से तप्त भूमि पर तड़फड़ाता रहता है ॥

* वज्रध्वजस्थविधिना मानं त्वारभ्य भावयेत् ॥ ४६ ॥

वज्रध्वजसूत्रप्रतिपादितविधानेन मानं पुनः साध्यं कर्मारभ्य भावयेत् । अथवा--आरभ्य भावयेदिति गाढसमारम्भेण भावयेत्, चेतसि स्थिरं कुर्यात्, न शिथिलोपक्रमेणेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

आरम्भमेव शिक्षयितुमाह-- [P 269]

* पूर्वं निरूप्य सामग्रीमारभेन्नारभेत वा ।

पूर्वं प्रथमत एव अभिमतकार्यनिष्पादनाय सामग्रीं कारणसाकल्यं निरूप्य, तस्या बलाबलं विचार्य, आरभेत सति बले, नारभेत वा असति बले ।

किमेवंविचारेण प्रयोजनमिति चेद् ? आह--

* अनारम्भो वरं नाम न त्वारभ्य निवर्तनम् ॥ ४७ ॥

अनारम्भो वरं नाम एव, न त्वारभ्य निवर्तनमशक्तत्वे सति ॥ ४७ ॥

ननु किमत्र दूषणं येनैवं नेष्यते ? इत्याह--

* जन्मान्तरेऽपि सोऽभ्यासः पापाद् दुःखं च वर्धते ।
अन्यच्च कार्यकालं च हीनं तच्च न साधितम् ॥ ४८ ॥

तथा क्रियमाणः अन्यस्मिन्नपि जन्मनि सोऽभ्यास इत्यारभ्य निवर्तनं नाम । प्रतिज्ञातमकुर्वतश्च पापम्, ततो दुःखं वर्धते । अन्यच्च हीनं नष्टं यत्परित्यज्य तदारब्धम्, कार्यकालं च हीनम् । आरब्धपरित्यक्तकार्यस्य कालोऽस्य कार्यस्येति । तस्मिन् काले यदन्यत् कार्यं कर्तव्यं तदित्यर्थः ।

---

४६. अतः आदरपूर्वक उक्त भावना की साधना करते हुए शुभ कर्मों की आकांक्षा करनी चाहिये ॥ वज्रध्वजसूत्रोक्त विधि के अनुसार शुभ कर्मों के आरम्भ का अभ्यास करना चाहिये ॥

४७. कार्य के आरम्भ करने या न करने में उसकी साधनसामग्री पर पहले विचार कर लेना चाहिये । क्योंकि कार्य को प्रारम्भ कर बीच में छोड़ देने से उसे प्रारम्भ न करना ही अच्छा होता है ! ॥

४८. कार्य प्रारम्भ कर उसे पूर्ण न करने में पाँच दोष हैं; जैसे—१. अनागत जन्म में भी इसी तरह काम को बीच में छोड़ने की आदत बन जायगी, २. इस पाप से दुःख ही बढ़ेगा, ३. दूसरा कार्य भी पूरा न होगा, ४. उतना समय व्यर्थ नष्ट होगा; और ५. वह कार्य भी नहीं हो पायगा जिसके लिये वर्तमान कार्य बीच में छोड़ा गया था ॥

तच्च यदारभ्य परित्यक्तम्, तदपि **न साधितं** न निष्पादितम् । इति पञ्च-प्रकारमत्र दूषणम् । तेन नेष्यत इत्यभिप्रायः ।। ४८ ।।

[P 270] अथ किमयं मानः सर्वत्र न कर्तव्यः ? नेत्याह—

* त्रिषु मानो विधातव्यः कर्मोपक्लेशशक्तिषु ।

केषु त्रिषु ? तदाह—**कर्मसु उपक्लेशेषु शक्तौ** च । तत्र उपक्लेशाः क्षुद्रवस्तुकसंज्ञिताः क्रोधोपनाह-म्रक्ष-प्रदाशादयः सप्त । पञ्चाशत् क्लेशा एव वा रागादय उपक्लेशा उच्यन्ते । तत्र कर्ममानं व्याख्यातुमाह—

* मयैवैकेन कर्तव्यमित्येषा कर्ममानिता ।। ४९ ।।

यत्किञ्चिदनवद्यं कर्म आपतितं भवति सत्त्वानाम्, तत् सर्वं **मयैवैकेन कर्तव्यम्** । नान्यस्यावकाशो दातव्य इत्यर्थः ।। ४९ ।।

एतदेव दर्शयन्नाह—

* क्लेशस्वतन्त्रो लोकोऽयं न क्षमः स्वार्थसाधने ।
तस्मान्मयैषां कर्तव्यं नाशक्तोऽहं यथा जनः ।। ५० ।।

क्लेशैः परायत्तीकृतः सर्वोऽयं जनकायः क्वचिदपि **स्वार्थसाधने समर्थो न** [P 271] भवति, इति एषां सर्वसुखोत्पादनया **मया** बोधिचित्तमुत्पादितम् । यत एवम्, तस्मान्नाशक्तोऽहमीदृशं भारमुद्वोढुं **यथा अयं जनः** । अतो मयैवैषां सर्वं कर्तव्यम् ।। ५० ।।

दीनेऽपि कर्मणि वैमुख्यं नोत्पादयितव्यमित्याह—

* नीचं कर्मंकरोत्यन्यः कथं मय्यपि तिष्ठति ।

नीचमतिगर्हितं लोके भारोद्वहनादिकम् । **मय्यपि** सर्वसत्त्वानां दास-भूतेऽपि **तिष्ठति** विद्यमानेऽपि । मत्करणीयं कथमन्यः करोति ? मयैव कर्तुं-

---

४९. कर्म के प्रारम्भ करने की पूर्व उसमें आगे आने वाली तीन बातों पर अवश्य ध्यान कर लेना चाहिये—१. यह कार्य कैसा है, शुभ है या अशुभ ? २. उसके पूरा करने में कितने कष्ट (दिक्कतें) झेलने पड़ेंगे ? या ३. इसको पूरा करने की मुझ में सामर्थ्य है भी, या नहीं ? 'मैं अकेला ही इस कार्य को पूरा कर सकता हूँ'—इस हिम्मत (साहस) को ही 'कर्ममान' कहते हैं ।।

५०. यह समग्र जगत् क्लेशों के अधीन हैं, अतः ये अपना स्वार्थ साधने के पूरी हिम्मत नहीं रखते ! इसलिये मुझे इनकी मनःकामना पूरी करनी है । इन लोगों कीतरह मैं शक्तिविहीन नहीं हूँ ।।

मिति भावः। अथाप्रतिरूपम्, ममैव तत् कर्मेति चित्तस्योन्नतिं निवारयितुमाह—

मानाच्चेन्न करोम्येतन्मानो नश्यतु मे वरम् ॥ ५१ ॥

कोऽमुष्य पुत्रः, इदं कर्म अतिनिहीनम्, यदयुक्तं मम कर्तुमिति **मानाद्यदि न करोमि, तदा मानो नश्यतु मे वरम्**। किमनेन महार्थभ्रंशकारिणा मम, न तु नीचकर्मप्रवृत्तिः ॥

इति कर्मसु मानमभिधाय उपक्लेशेषु मानमुपदर्शयितुमाह—

* मृतं दुण्डुभमासाद्य काकोऽपि गरुडायते।
आपदाबाधतेऽल्पापि मनो मे यदि दुर्बलम् ॥ ५२ ॥

यदि उपक्लेशेषु निहतमानतया दुर्बलवृत्ति मम चित्तं स्यात्, तदा **आपदापत्तिः आबाधते** आक्रामति, यथा सापत्तिकं स्यादित्यर्थः। **अल्पापि** मृदुप्रचारोपक्लेशजनितापि। कथ मिव ? इत्याह—**मृतमपगतप्राणं** [P 272] **दुण्डुभं** प्राप्य यथा **काकोऽपि गरुडवदाचरति** ॥ ५२ ॥

कुतः पुनरेवम् ? इत्याह—

* विषादकृतनिश्चेष्टे आपदः सुकरा ननु।
व्युत्थितश्चेष्टमानस्तु महतामपि दुर्जयः ॥ ५३ ॥

चित्तोन्नतिविरहिते विषणतया मन्दकायचित्तप्रवृत्तौ आलस्योपहते मुषितस्मृतौ **आपदः सुकराः** सुलभाः। उत्पद्यन्त एव स्वल्पापदापि गम्यत्वात्। **व्युत्थितः** समुन्नतचित्ततया पुनरुत्साहसम्पन्नः **चेष्टमानः** स्मृतिसम्प्रजन्याभ्यामुपक्लेशानामनवकाशं ददानः **महतामपि दुर्जयः** अजय्यः स्यात् ॥ ५३ ॥

---

५१. मेरे रहते दूसरा मनुष्य कड़ी मेहनत कर रहा है। यदि मैं 'यह छोटा काम है, मैं इसे क्यों करूँ ?'—इस मान के कारण उसकी मदद नहीं करना चाहता हूं तो मेरे उस अभिमान का नष्ट हो जाना ही अच्छा है।

५२. जल में रहने वाले साँप को पकड़ कर कौआ भी गरुड़ बन जाता है। अपना मन कमजोर होने पर छोटी-छोटी बाधाएँ भी आ घेरती हैं ॥

५३. अनुत्साही होकर सिर पर हाथ रखकर बैठ जाने वाले पुरुष को आपत्तियाँ ज्यादा घेरती हैं। इसके विपरीत, साहसी और परिश्रमी व्यक्ति को बड़ी से बड़ी आपत्ति भी पीछे नहीं ढकेल पाती ॥

* तस्माद् दृढेन चित्तेन करोम्यापदमापदः ।
त्रैलोक्यविजिगीषुत्वं हास्यमापज्जितस्य[1] मे ।। ५४ ।।

स्थामबलावलम्बनं निगमयन् दर्शयति—यत एवं **तस्मात् दृढेन चित्तेन** मानसन्नाहः **आपद** एव **आपदमनर्थं करोमि** सर्वथा तदनुप्रवेशं [P 273] निवारयन्नुन्मूलितसंतानं करोमि । अन्यथा त्रिजगद्विजयारम्भो मम **हास्यमुप**-हसनीयम्, **आपदा** आपदायत्ततया वराकिकया **जितस्य** गमिष्यति ।। ५४ ।।

कीदृशमेतत्? इत्याह—

* मया हि सर्वं जेतव्यमहं जेयो न केनचित् ।
मयैष मानो वोढव्यो जिनसिंहसुतो ह्यहम् ।। ५५ ।।

कुतः ? यस्माज्जिना एव भगवन्तः **सिंहाः** सर्वमारमृगैरनभिगम्यत्वात् । तेषां **सुतः अहमपि** कथमन्यैः पराजितो नाम नामधेयं लप्स्ये––इति मनसि निधाय **मयैष मानो वोढव्यः** । यथा हि सिंहकिशोरः प्रतिलब्धवैशारद्यः सर्वान्यमृगैरनभिभूत एव वने विचरति तथा मया दृढेन भवितव्य-मित्यर्थः ।। ५५ ।।

स्यादेतत्––यदि एवम्, तदा येऽपि सपत्नादिविजयाय मानमुद्वहन्ति, तेऽपि मानिनः प्रशस्याः कथं न भवेयुः ? इत्यत्राह—

* ये सत्त्वा मानविजिता वराकास्ते न मानिनः ।
मानी शत्रुवशं नैति मानशत्रुवशाश्च ते ।। ५६ ।।

---

५४. अतः दृढ चित्त द्वारा मैं कठोर से कठोर आपत्तियाँ झेलता रहूँगा । इन छोटी-मोटी आपत्तियों से मैं घबरा गया तो मेरी त्रैलोक्य-विजय की इच्छा लोगों का मजाक बनकर रह जायगी ! ।।

५५. 'मुझे सब पर विजय पाना है', 'मुझे कोई नहीं जीत सकता'—यह सदभिमान (सत्साहस) ही मुझे रखना है । 'मैं तो तथागत-सिंह का पुत्र हूं' । (शेर के बच्चे छोटी-मोटी बातों से नहीं घबराया करते !) ।।

५६. जो व्यक्ति हिम्मत हार बैठते हैं, वे हिम्मती नहीं, कमजोर हैं । हिम्मती आदमी दुश्मनों के वश में नहीं आ पाता, क्योंकि वे (दुश्मन) तो खुद ही दुरभिमानरूपी शत्रु के शिकंजे में कसे हुए हैं ।।

---

१. आवर्जितस्य—पाठा० ।

मानविजिताः मानेन अभिभूताः वराकास्तपस्विनः ते मानिनो भवन्त्येव। कुतः ? मानी शत्रुवशं नैति न गच्छति। नासौ वैरिजनानुवृत्तिं करोतीत्यर्थः। ये भवताभिमता मानिनः, ते मानशत्रुवशाः तदायत्तप्रवृत्तयः ।।५६।। [P 274]

एतदेव श्लोकद्वयेन समर्थयितुमाह—

* मानेन दुर्गन्ति नीता मानुष्येऽपि हतोत्सवाः।
परपिण्डाशिनो दासा मूर्खा दुर्दर्शनाः कृशाः ।। ५७ ।।

* सर्वतः परिभूताश्च मानस्तब्धास्तपस्विनः।
तेऽपि चेन्मानिनां मध्ये दीनास्तु वद कीदृशाः ।। ५८ ।।

सप्तविधमानेषु अन्यतमेन मानेन दुर्गतिं नीता नरकादिषु पातिताः। अथ कथञ्चिन्मनुष्यप्रतिलम्भो भवति तेषाम्, तदा तत्रापि तन्निन्दाफलेन हतोत्सवा निरानन्दा भवन्ति। हीनदीनमनस इत्यर्थः। परपिण्डाशिनः आहार-वैकल्यात् परदत्तभिक्षाहारभुजः। दासाः परतन्त्रवृत्तयो भृत्याः। मूर्खाः सर्वविवेकशून्याः। दुर्दर्शनाः विरूपात्मभावा अप्रीतिजनकाश्च। कृशाः दुर्बल-शरीराः सामर्थ्यरहिताश्च ।। ५७ ।।

सर्वतः सर्वेभ्योऽकृतापराधा अपि कायवचःपरिभवलाभिनो भवन्ति। के पुनरेवम् ? मानस्तब्धास्तपस्विनः मानेन स्तब्धाः अनम्राः। तपस्विनो वराकाः। तेऽपि चेत्, एवम्भूता अपि यदि मानिनां मध्ये गण्यन्ते, तर्हि दीनाः कृपणाः कृपापात्रमित्यर्थः, पुनरन्ये दीनाः कीदृशा भवन्तीति वद ब्रूहि इति चोदकमामन्त्रयते ।। ५८ ।।

यदि एवंविधा मानिनो नोच्यन्ते, कीदृशास्तर्हि ते भवन्ति ? इत्याह— [P 275]

* ते मानिनो विजयिनश्च त एव शूरा
ये मानशत्रुविजयाय वहन्ति मानम्।

५७–५८. इस दुरभिमान से बहुत से प्राणी दुर्गति को प्राप्त हो चुके, बहुत से मानव जन्म पाकर भी सुख-चैन से कोसों दूर हैं, कुछ लोग दूसरों के दिये भोजन पर जी रहे हैं, उनके गुलाम बने हुए हैं। सदसद्विवेकहीन हो चुके हैं। कितने ही दीखने में डरावने, दुर्बलकाय, सभी से तिरस्कृत जीवन बिता रहे हैं, फिर भी उन दया के पात्रों में दुरभिमान की अकड़ मौजूद है। उन्हें भी यदि स्वाभिमानी मानें तो फिर दया का पात्र (=दीन) किसे कहा जायगा ! ।।

ये तं स्फुरन्तमपि मानरिपुं निहत्य
कामं जने जयफलं प्रतिपादयन्ति ।। ५९ ।।

त एव मानिन उच्यन्ते ये बोधिसत्त्वाः तं स्फुरन्तमपि प्रभवन्तमपि मानवैरिणं निहत्य विधूय । कामं यथेष्टम् । उद्दाममिति यावत् । जने लोके सदेवकादिके जयफलं प्रकाशयन्ति बुद्धत्वावस्थायाम् । एतादृशं तन्मानशत्रु-विजयफलं यादृशमस्मासु दृश्यते इत्यभिप्रायः । त एव विजयिनश्च लब्ध-विजयाः । त एव शूरास्तेजस्विन इति पदद्वयं यथासम्भवं योज्यम् ।। ५९ ।।

उपक्लेशेषु मानं प्रतिपाद्य शक्तौ मानमाह—

* संक्लेशपक्षमध्यस्थो भवेद् दृप्तः सहस्रशः ।

संक्लेशानां पक्षो वर्गः, मध्ये तस्य तिष्ठन् सहस्रगुणेन दृप्ततरो भवेत्, अतिशयवच्छौर्यबलमवलम्बेत । किंभूतः सन् ? इत्याह—

* दुर्योधनः क्लेशगणैः सिंहो मृगगणैरिव ।। ६० ।।

[P 276] दुःखेन योध्यत इति दुर्योधनः । कथंचिदपि न पराजीयते इत्यर्थः । कथमिव ? यथा हि सिंहो मृगराजः मृगकुलमध्ये महातेजोबलसमन्वागतो विहरन् वने सर्वमृगानभिभवति, न च तैरभिभूयत इति, एवं बोधिसत्त्वो दुर्योधनो भवेत् ।। ६० ।।

इदमपरमपि निमित्तमुद्ग्रहीतव्यमित्याह—

* महत्स्वपि हि कृच्छ्रेषु न रसं चक्षुरीक्षते ।
एवं कृच्छ्रमपि[1] प्राप्य न क्लेशवशगो भवेत् ।। ६१ ।।

---

५९. जिन सत्त्वों में इस मान-शत्रु को पराजित करने का साहस है, जो उसको पूर्णतः नष्ट कर उस विजय का समुचित फल जगत् को समर्पित कर देते हैं, वे ही वस्तुतः स्वाभिमानी हैं, विजयशील हैं ।।

६०. आपत्तियों से घिरने पर तो और भी दुगुनी हिम्मत से काम लेना चाहिये । क्लेशों के बीच घिर जाने पर मृग-समूह में सिंह की भाँति अपने हारने की कल्पना का दूर से परित्याग कर देना चाहिये ।।

६१. बड़ी से बड़ी विपत्ति आने पर आँखें रस नहीं ग्रहण कर पातीं (वे तो

---

१. कष्टमपि—पाठा० ।

अतिप्रकर्षवत्सु अपि कृच्छ्रेषु दुःखेषु सत्सु रसं मधुरादिकं जिह्वेन्द्रियग्राह्यं न चक्षुरीक्षते न प्रतिपद्यते। न विषयीकरोतीत्यर्थः। तस्याविषयत्वात्। नाविषये प्रवर्तत इति भावः एवमुक्तरसचक्षुर्न्यायेन कष्टमपि प्राप्य न क्लेशवशं गच्छेत्॥ ६१॥

रतिबलम्

इत्युक्तेन प्रबन्धेन स्थामबलं विधाय रतिबलमावेदयितुमाह—

* यदेवापद्यते कर्म तत्कर्मव्यसनी भवेत्।
तत्कर्मशौण्डोऽतृप्तात्मा क्रीडाफलसुखेप्सुवत्॥ ६२॥

कर्म सम्भारनिबन्धनं ध्यानाध्ययनादिलक्षणं यदेवापद्यते, क्रमकरणयोगेनापतितं भवेत्, तस्मिन्नेव कर्मणि व्यसनी भवेत् तत्क्रियारसनिमग्नचित्तः। तत्कर्मशौण्डः तत्प्रवृत्तिलम्पटः। अतृप्तात्मः पुनःपुनरभिलाषयुक्तः। क इव? क्रीडाफलसुखेप्सुवत् द्यूतादिक्रीडाया यत्फलं सुखं तदाप्तुमिच्छुरिव॥ ६२॥

इतोऽपि विचारयता कर्मणि रतिरुत्पादयितव्येत्युपदर्शयन्नाह–[P 277]

* सुखार्थं क्रियते कर्म तथापि स्यान्न वा सुखम्।
कर्मैव तु सुखं यस्य निष्कर्मा स सुखी कथम्!॥ ६३॥

सर्वैरेव कर्मफलसुखलिप्सया कर्म क्रियते। अन्यथा तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात् तथापि एवं चेतसा प्रवृत्तावपि कस्यचित् कर्मणोऽभिवाञ्छितफलं स्यात्, कस्यचित् पुनर्न स्यात्; निष्फलारम्भास्यापि सम्भवात्। तथापि कर्मारम्भात् पुनः फलसम्भवानया नैव निवर्तते जनः। यस्य पुनः कर्मैव सुखम्, न तदुत्तरमपरसुखाभिलाषः, स निष्कर्मा कर्मविरहितः कथं सुखी स्यात्? न कथञ्चिदित्यर्थः॥ ६३॥

रूप ही देख पाती है), इसी तरह कठिन से कठिन समय आने पर हिम्मत नहीं हारनी चाहिये॥

६२. जो काम सामने आ जाय, उसमें उसी तन्मयता से सुखपूर्वक लग जाना चाहिये, जैसे —जुआरी जूए में आनन्द मानता हुआ उसी में रमा रहता है। उससे ऊबना नहीं चाहिये॥

६३. सुख प्राप्त हो या न हो, पर कर्म प्रारम्भ किया तो जाता है सुखप्राप्ति के लिये ही। कर्म करना ही जिसके लिये सुख है, वह निठल्ला रहकर हाथ पर हाथ धरकर बैठने में कैसे सुख मान सकता है!॥

इदमपि भावयता कर्मण्यभिनिवेष्टव्यमित्याह--

* कामैर्न तृप्तिः संसारे क्षुरधारामधूपमैः ।
पुण्यामृतैः कथं तृप्तिर्विपाकमधुरैः शिवैः ॥ ६४ ॥

रूपादिविषयैः । **संसार** इति संसरति पुनः पुनः । अभूतैरतृप्तिः अनाप्यायनम् । किंभूतैः ? **क्षुरधारामधूपमैः** क्षुरधारायां यन्मधु मधुरसं यदास्वाद्य तृष्णावशाज्जिह्वोच्छेदनोत्तरकालं दुःखमुपजायते, तेनोपमा उपमानं यादृशं येषां ते । आपातमात्रमाधुर्येऽपि परिणतिदुःखेन कटुकरसत्वा- [P 278] त्तेषामित्यभिप्रायः ।

पुण्यान्येव अमृतानीव, तैः कथं **तृप्तिरस्तु** ? किंविशिष्टैः ? **विपाकमधुरैरभ्युदयफलसुखहेतुतया** परिणामेन मधुररसत्वात् । परसुखजनकैः **शिवैः** कल्याणकारिभिर्निःश्रेयसावाहकतया । अजरामरफलदानपरत्वात् सर्वदुःखनिर्वर्तकैरित्यर्थः । अत एव पुण्यामृतैरित्यत्र हेतुपदमेतत् ॥ ६४ ॥

तस्मादित्युपसंहारेण पुनः कर्माभिरामं द्रढयन्नाह---

* तस्मात् कर्मावसानेऽपि निमज्जेत् तत्र कर्मणि ।
यथा मध्याह्नसन्तप्त आदौ प्राप्तसराः करी ॥ ६५ ॥

तस्य आरब्धस्य **कर्मणः अवसानेऽपि निमज्जेत्** तदभिनिवेशरसनिमग्न एव विमुञ्चेत् । कथमिव ? **यथा** ग्रीष्मसमये मध्यन्दिनवर्तिनि सूर्ये सर्वतो जलमलभमानश्च आतापतापितो हस्ती परमाभिनिवेशसंयुक्तः अतिशय-

---

६४. संसार में यद्यपि विषयसुख-भोगों से कोई तृप्त नहीं हो पाता; क्योंकि ये विषयसुख दुधारी खाण्डे को धार पर रखे शहद को चाटने के समान हैं (वह शहद चाटने पर जीभ कटने का डर रहता है, और न चाटे तो इच्छा पूर्ण नहीं होती, उसी प्रकार सभी विषय सुख-दुःखमिश्रित हैं) ।

परन्तु परिणाम में अमृतोपम, मङ्गलमय सुखकारक पुण्यकर्मरूपी अमृत से किसकी तृप्ति नहीं होगी ! ॥

६५. (शुभ) कर्म के समाप्त होने पर भी उसी कर्म के आनन्द में लीन रहना चाहिये, जैसे---मध्याह्न की चिलचिलाती धूप से तपा हाथी, शुरू में तालाब दिखायी देने पर उसमें डुबकी लगाता है, फिर उसी में आनन्दमग्न हो लेटा रहता है ॥

वदाह्लादकारिशीतलजलपरिपूरितं ह्रदमासाद्य प्रथमतो निमज्जति तथा इति समुदायार्थः। प्राप्तं सरो येन स तथा। पश्चात्कर्मधारयः। आदावित्यस्य निमज्जतीत्यनेन सम्बन्धः ॥ ६५ ॥

मुक्तिबलम्

इदानीं रतिबलं व्याख्याय मुक्तिबलं व्याख्यातुमाह

* बलनाशानुबन्धे तु पुनः कर्तुं परित्यजेत्।
सुसमाप्तं च तन्मुञ्चेदुत्तरोत्तरतृष्णया ॥ ६६ ॥

आरब्धकर्मनिष्पादने सामर्थ्यक्षयमात्मनोऽवगम्य 'सामर्थ्यप्रतिलम्भे [P 279] सति पुनः करिष्यामि' इत्यभिप्रायेण तावत्कालं **परित्यजेत् मुञ्चेत्**। न तावतास्य विक्षेपः स्यात्। अन्यथा तथापि तदपरित्यागेऽनर्थसमावेश एव स्यात्। यदापि सुनिष्पन्नं तदारब्धं कर्म भवेत्, तदापि मोक्तव्यम्। अन्यथा स्वरसवाहितयापि तस्मिन् प्रवृत्ते पुनर्व्यापाराद् विक्षेप एव स्यात्। तस्मादपरापरविशेषाकाङ्क्षया **तन्मुञ्चेत्** परित्यजेत्। यदुक्तं प्राक्—"**पूर्वं समीक्ष्य सामग्रीम्**" [बो० च० ७. ४७] इत्यादि, तस्योत्सर्गस्यायमपवाद उक्तः ॥ ६६ ॥

तात्पर्यबलम्

तदेवमवान्तरविशेषोपदर्शनेन बलव्यूहं सर्वथाभिधाय प्रथमोद्देशप्रतिपादितमपि पुनश्छन्दादिगणे [बो० च० ७. १६] कथितं तात्पर्यं व्याचक्षाण आह—

* क्लेशप्रहारान् संरक्षेत् क्लेशांश्च प्रहरेद् दृढम्।
खड्गयुद्धमिवापन्नः शिक्षितेनारिणा सह ॥ ६७ ॥

क्लेशानां प्रहारान् उपघातान् **संरक्षेत्** निवारयेत्। यथा तेषां प्रहारो न प्रभवतीत्यर्थः। **क्लेशान् पुनः प्रहरेत्** निहन्यात् **दृढं** गाढप्रहारेण। यथा पुनरव-

---

६६. वह शुभ कर्म शक्ति की कमी के कारण, कुछ देर के लिये रोकना भी पड़े तो कोई बात नहीं; पुनः प्रारम्भ करने के विचार से कुछ देर आराम कर लेना चाहिये। परन्तु उस कर्म के प्रति उत्तरोत्तर लगाव रखते हुए उसे पूरा करके ही दम लेना चाहिये ॥

६७. शस्त्र-शिक्षाप्राप्त शत्रु से खड्गयुद्ध करते समय जैसे अपने को चोटों से बचाने में अधिक सावधान रहकर युद्ध किया जाता है, वैसे ही जिज्ञासु को क्लेशों की चोटों से अपने को बचाते रहकर क्लेशों पर बार-बार चोट (=हमला, आक्रमण) करते रहना चाहिये ॥

काशं न लभेरन् । अत्र निदर्शनमाह—यथा शिक्षितेन शस्त्रविद्याकौशलसमन्वागतेन शत्रुणा सह निपुणतरः खड्गेन संग्रामयन् तमभिभवति, न च तेनाभिभूत इति ॥ ६७ ॥ [P 280]

तथा तत्रेत्यादिना पुनस्तात्पर्यं शिक्षयितुमाह—

* तत्र खड्गं यथा भ्रष्टं गृह्णीयात् सभयस्त्वरन् ।
स्मृतिखड्गं तथा भ्रष्टं गृह्णीयान्नरकान् स्मरन् ॥ ६८ ॥

तत्र तस्मिन् खड्गयुद्धे यथा खड्गं हस्तात् कथञ्चित् विचलितं पुनः संवृत्य गृह्णीयात् सभयः--मा मामयं छलमनुप्रविश्य शत्रुर्वधीत् । त्वरन्निति शीघ्रमेव । कालप्रतिलम्वेनेति यावत् । तथा तद्वदेव स्मृतिप्रमोषे । स्मृतिरेव खड्ग इव क्लेशशत्रुविजयाय । तं भ्रष्टमपगतं गृह्णीयात् आमुखीकुर्यात् नरकान् रौरवादीन् स्मरन् । स्खलिते सति तद्दुःखभागितां मनसिकुर्वन् ॥ ६८ ॥

ननु सूक्ष्मक्लेशसमुदाचारेऽपि का क्षतिः, येन तत्र उपेक्षा न क्रियते ? इत्यत्राह—

* विषं रुधिरमासाद्य प्रसर्पति यथा तनौ ।
तथैव च्छिद्रमासाद्य दोषश्चित्ते प्रसर्पति ॥ ६९ ॥

अणुमात्रस्यापि दोषस्य अवकाशो न दातव्यः । अन्यथा तन्मात्रस्याप्यनुप्रवेशे चित्ते तत्प्रसरावरोधस्य कर्तुमशक्यत्वात् । यथा हि स्वल्पव्रणेऽपि रुधिरसम्पर्कवतो विषस्य शरीरे । तस्मादणुमात्रक्लेशप्रहारनिवारणेऽपि तात्पर्यं कुर्यात् ॥ ६९ ॥

पुनरन्यथा तात्पर्यं दृढीकुर्वन्नाह—

* तैलपात्रधरो यद्वदसिहस्तैरधिष्ठितः । [P 281]
स्खलिते मरणत्रासात् तत्परः स्यात्तथा व्रती ॥ ७० ॥

---

६८. उस युद्ध में हाथ से छूटी तलवार जैसे झटपट वापस उठायी जाती है, वैसे ही नरकों की दुःखाग्नि का स्मरण करते हुए भूली हुई स्मृति (सुने हुये गुरूपदेशों का स्मरण) पुनः उपस्थित करनी चाहिये ॥

६९. जैसे छिद्र (= रक्तस्राव) का सहारा पाकर शरीर में जहर फैल जाता है वैसे ही स्मृति का अभाव पाकर कोई भी दोष चित्त में फैलता जाता है ॥

७०. जैसे (राजा के द्वारा दण्डित) तैलपात्रधारी व्यक्ति खड्गधारियों के

यथा कश्चित् पुरुषश्चण्डनृपाज्ञया तैलपरिपूर्णपात्रमादाय पिच्छलसंक्रमेण असिहस्तै राजपुरुषैः बिन्दुमात्रतैलभ्रंशेऽपि 'अद्यैव त्वां प्राणैर्वियोजयिष्यामः' इति ब्रुवाणैरधिष्ठितो गच्छन् 'यदि ममात्र कथञ्चित् स्खलितं स्यात्, तदा नूनममी मां व्यापादयेयुः' इति मरणभयात् तत्परो भवति, तथा व्रती गृहीतसंवरः प्रकृतस्खलिते नरकादिदुःखत्रासात् तदनवकाशाय तत्परः स्यात् यत्नवान् भवेत् '। ७० ॥

उक्तमुपसंहृत्य दर्शयन्नाह--

* तस्मादुत्सङ्गगे सर्पे यथोत्तिष्ठति सत्वरम् ।
निद्रालस्यागमे तद्वत् प्रतिकुर्वीत सत्वरम् ॥ ७१ ॥

यत एवम्, तस्मादुत्सङ्गगे क्रोडगते सर्पे आशीविषे यथा त्वरितमेवोत्तिष्ठति–मा मामयमहिर्दक्षीत्, तथैव निद्रालस्यागमे मिद्धस्त्यानप्रादुर्भावे प्रतिकुर्वीत तत्प्रतिपक्षानित्यतादिभावनया प्रतीकारं कुर्यात् ॥ ७१ ॥

अस्य चैवं यत्नवतोऽपि कथञ्चित् किञ्चित् स्खलितं शूरस्खलितन्यायेन स्यात्, तदा प्रतीकारं कृत्वा पुनर्यत्नवान् भवेत् । इत्युपदर्शयन्नाह—

* एकैकस्मिश्छले सुष्ठु परितप्य विचिन्तयेत् ।   [P 282]
कथं करोमि येनेदं पुनर्मे न भवेदिति ॥ ७२ ॥

स्मृतिप्रमोषे सति एकैकस्मिन् प्रत्येकं छले स्खलिते कथञ्चित् क्लेशानामनुप्रवेशे सति परितप्य अध्याशयेन मनस्तापं कृत्वा विचिन्तयेत्–"अहो बत जानन्नेव स्खलितोऽस्मि, तत्केन प्रकारेणात्र प्रतिविधानं करोमि येन पुनरिदं छलं न स्यात्" इति एवं दृढसमारम्भं समादाय विहरेत् । न तु पुनः शिथिलः स्यादिति भावः ॥ ७२ ॥

अत एव विवेककामानां प्रतिषिद्धमप्यनुजानन्नाह—

बीच, 'पात्र फूट न जाय अन्यथा मैं मारा जाऊँगा'–इस भय से अधिक सावधान रहता है, उसी प्रकार बोधिचर्या-व्रती को संसार के दोषों से सावधान रहना चाहिये ॥

७१. और जैसे कभी गोद में सांप के आ गिरने पर मनुष्य झटपट (हड़बड़ा कर) उठ कर उसे दूर फैंकने का प्रयास करता है, वैसे ही नींद, आलस्य आदि दुर्गुणों के उपस्थित होने पर उनका तत्काल प्रतीकार करना चाहिये ॥

७२. एक-एक प्रमाद (= गलती, भूल) पर खूब पश्चात्ताप करते हुए सोचना चाहिये कि अब क्या करूं कि मुझसे यह भूल दुबारा न होने पाये ! ॥

* संसर्गं कर्म वा प्राप्तमिच्छेदेतेन हेतुना ।

आचार्योपाध्यायतदन्यसब्रह्मचारिप्रभृतिभिः बहुश्रुतैः त्रिपिटकवेदिभिः कौकृत्यविनोदकुशलैः सह संसर्गं समवधानमिच्छेदाशंसेत् । तन्निश्रित एव तिष्ठेदित्यभिप्रायः । कर्म वा प्राप्तं तदववादानुशासनीलक्षणम्, आपत्तिसमुद्धरणम्, तैर्दण्डकर्मप्रणयनं वा समुत्पन्नम् इच्छेत् । एतेन हेतुना तेषामवतारसंरक्षणाभिप्रायेण । एतदेवाह—

कथं नामास्ववस्थासु स्मृत्यभ्यासो भवेदिति ।। ७३ ।।

[p 283] केन विधिना नाम आसु अवस्थासु क्लेशावतारदशासु स्मृत्यभ्यासो भवेत्, अयत्नत एवालम्बनात् सम्प्रमोषो न स्यात्, इत्यनेन अभिप्रायेण । अयं समुदायार्थः–कल्याणमित्रसन्निधानात् तदववादानुशासनीतः तदाचारसंदर्शनाच्च सदा स्मृतिसम्प्रजन्यविहारिणः क्लेशा नावतारं लभन्ते । ततोऽस्य अविरोधत एव उत्साहो वर्धत इति युक्तम् ।

"सदा कल्याणमित्रं च जीवितार्थेऽपि न त्यजेत्" ।। इति ।।

(बो० च० ५.१०२)

तथा

"उपाध्यायानुशासन्या भीत्याप्यादरकारिणाम् ।
धन्यानां गुरुसंवासात् सुकरं जायते स्मृतिः" ।। इति ।।

(बो० च० ५.३०)

आत्मविधेयताबलम्

अधुना तात्पर्यमुपदर्श्य आत्मविधेयतामुपदर्शयितुमाह—

* लघुं कुर्यात् तथात्मानमप्रमादकथां स्मरन् ।
कर्मागमाद् यथा पूर्वं सज्जः सर्वत्र वर्तते ।। ७४ ।।

सर्वकर्मण्यमात्मानं कायवाक्चित्तलक्षणं यथा कुर्यात्, उत्साहाभ्यासादायत्तिं नयेदित्यर्थः । यथा कर्मागमात् कर्मारम्भात् पूर्वं प्रागेव सज्जः आयत्तीकृतः सुदान्ताश्ववत् तन्मार्गनिरीक्षणासीन इव कर्मणि प्रवर्तते ।। ७४ ।।

---

७३. दोषसंसर्गावस्था में भी सद्धर्मस्मृति निरन्तर बनी रहे—इसके लिये सत्सङ्ग की या प्रायश्चित्तस्वरूप दण्ड की कामना करनी चाहिये ।।

७४. गुरूक्त अप्रमाद-कथा का स्मरण करते हुए अपने आप को इस तरह सन्नद्ध (तैयार) रखे जिस तरह अन्यत्र कार्यारम्भ के समय तैयार रहता है ।।

उक्तमेवार्थमुदाहरणेन व्यक्तीकुर्वन्नाह—

* यथैव तूलकं वायोर्गमनागमने वशम्। [P 284]
तथोत्साहवशं यायाद् ऋद्धिश्चैवं समृध्यति ॥ ७५ ॥

तूलकं कर्पासादिसमुद्भूतं यथा वायोर्गमने च आगमने च वशमायत्तम्, तथा उत्साहवशं यायात् वीर्यवशवर्ती भवेत्। एवमभ्यासपरायणस्य ऋद्धिश्च आकाशगमनादिलक्षणा समृध्यति सम्पद्यते ॥

परात्मसमता-परात्मपरिवर्तने पुनः उभयत्रापि उपयुक्ते इति ध्यान- [बो० च० ८] परिच्छेदे व्याख्येये ॥ ७५ ॥

इति प्रज्ञाकरमतिविरचितायां बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां

वीर्यपारमिता नाम सप्तमः परिच्छेदः ॥

●

---

७५. जैसे रूई इधर-उधर उड़ने में हवा के अधीन होती है, वैसे ही मनुष्य को (सद्धर्म के आचरण में) उत्साह के अधीन रहना चाहिये। ऐसा करने पर (उत्साहसम्पन्न रहने पर) ही जिज्ञासु की सत्कर्मों में 'आकाश में उडना' आदि ऋद्धियाँ बढ़ती हैं ॥

●

८. ध्यानपरमिता

(अष्टमः परिच्छेदः)

[P 285] तदेवं क्षान्तेनन्तरं वीर्यमभिधाय यदुक्तम्—

"... ... ...संश्रयेत वनं ततः ।
समाधानाय युज्येत भावयेच्चाशुभादिकम्" ।। इति ।।
(शि० स०, का० २०)

तद् वर्धयित्वैवमित्यादिना प्रतिपादयितुमुपक्रमते—

* वर्धयित्वैवमुत्साहं समाधौ स्थापयेन्मनः ।

एवमुक्तप्रतिपक्षस्य आसेवनादिना विपक्षमुन्मूल्य वीर्यं वर्धयित्वा अनाभोगवाहितया स्थिरीकृत्य समाधौ समाधाने चित्तैकाग्रतायां स्थापयेन्मनः, तत्र निवेशयेत् । आरोपदयेदिति यावत् ।

किमर्थम् ? इत्याह—

* विक्षिप्तचित्तस्तु नरः क्लेशदंष्ट्रान्तरे स्थितः ।। १ ।।

तुरिति हेतौ । यस्मात् समाधानमन्तरेण विक्षिप्तचित्तः असमाहित-चित्तसमुदाचारः वीर्यवानपि नरः पुरुषः क्लेशानां राक्षसानामिव दृष्टान्तरे मध्ये स्थितः, कवलीकृत एव तैरास्ते । तस्मात् ।। १ ।।

समाधिविपक्षनिराकरणाय पीठिकाबन्धः

तत्र तावत् समाधिविपक्षं निराकर्तुं पीठकाबन्धं रचयन्नाह— [P 286]

* कायचित्तविवेकेन विक्षेपस्य न सम्भवः ।
तस्माल्लोकं परित्यज्य वितर्कान् परिवर्जयेत् ।। २ ।।

---

१. [इस तरह आर्य शान्तिदेव क्षान्तिपारमिता के बाद वीर्यपारमिता का निरूपण कर, जिज्ञासु को एकान्त में रहकर ध्यानपारमिता के अभ्यासहेतु उत्साहित कर रहे हैं —]

इस तरह जिज्ञासु पूर्वोक्त विधि से वीर्य (= उत्साह) का अभ्यास पूर्ण कर समाधि (= चित्तैकाग्रता) के अभ्यास में अपना मन लगावे ; क्योंकि विक्षिप्तचित्त मनुष्य तो दुःखों (विपत्तियों) के गाल में ही फँसा रहता है ।।

२. कायविवेक (= जनसम्पर्क से दूर रहना) और चित्तविवेक (= काम-

कायविवेको जनसम्पर्कविवर्जनता। **चित्तविवेकः** कामादिवितर्कविवर्जनता। इति कायचित्तयोर्विवेके निरासङ्गतया **विक्षेपस्य** तयोरुन्नततायाः। आलम्बनाप्रतिष्ठानस्येति यावत्। **न सम्भवः** न प्रादुर्भावः। यत एवम्, **तस्माल्लोकं** स्वजनबान्धवादिलक्षणं **परित्यज्य** विहाय पूर्वं **वितर्कान्** चित्तविक्षेपहेतून् **परिवर्जयेत्** परित्यजेत्॥ २॥

तत्र लोकापरित्यागहेतुं तावन्निराकर्तुमुपदर्शयन्नाह—

* स्नेहान्न त्यज्यते लोको लाभादिषु च तृष्णया।
तस्मादेतत्परित्यागे विद्वानेवं विभावयेत्॥ ३॥

आत्मात्मीयग्रहप्रवर्तितोऽभिष्वङ्गः **स्नेहः**। **तस्मान्न त्यज्यते लोकः। लाभादिषु च तृष्णया**। आदिशब्दात् सत्कारयशःश्लोकादयः परिगृह्यन्ते। तेषु [P 287] तृष्णया प्रलोभेन। चकारान्न त्यज्यते लोक इति समुच्चीयते। यत एतत्कारणमपरित्यागस्य, **तस्मादेतस्य** स्नेहस्य लोभादीनां वा। यदि वा लोकस्य **परित्याग**निमित्तं **विद्वान्** विचक्षणः। एवमिति वक्ष्यमाणं **विभावयेत्**॥

तदेवाह—

* शमथेन विपश्यनासुयुक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाऽभिरत्या॥४॥

शमथः चित्तैकाग्रतालक्षणः समाधिः। तेन **सुयुक्त** इति अपोद्धृत्य इहापि योजनीयम्। यदि वा हेत्वर्थे तृतीया। शमथेन हेतुना **विपश्यनासुयुक्तः**। सहार्थे वा, शमथेन सार्धं विपश्यनासुयुक्त इति। विपश्यना = यथाभूततत्त्वपरिज्ञानस्वभावा प्रज्ञा, तया सुयुक्तः। युगनद्धवाहिमार्गयोगेन **कुरुते क्लेशानां**

क्रोधादि सङ्कल्पों से दूर) के द्वारा मन में विक्षेप (= दोलायमान स्थिति) नहीं होता। इसलिये दुनिया के चक्कर को छोड़ते हुए सङ्कल्प-विकल्प के त्याग की ओर ध्यान दे॥

३. दुनियाँ में लगाव और दैनिक लाभ-सत्कार आदि में तृष्णा (=वासना) के कारण अपने परिवार आदि से ममत्व नहीं छूट पाता, अतः इस ममत्व और वासना के परित्याग के लिये बुद्धिमान् को यों चिन्तन करना चाहिये—॥

४. 'समाधि के द्वारा प्रज्ञाभावना में संलग्न पुरुष ही क्लेशों का नाश कर पाता है'—ऐसा सोचते हुए उसे पहले शमथ (= समाधि) का अभ्यास करना चाहिये, फिर विपश्यना (= प्रज्ञा) का॥

विनाशं प्रहाणमित्येवमवेत्य ज्ञात्वा क्लेशविमुमुक्षुणा **शमथः प्रथममादौ गवेषणीयः** उत्पाद्य इत्यर्थः । तदनन्तरं विपश्यना ।

"समाहितो यथाभूतं प्रजानातीत्यवदन्मुनिः ।
शमाच्च न चलेच्चित्तं वाह्यचेष्टानिवर्तनात्" ।। इति ।।
(शि० स०, का० ९)

स च शमथः लोके लोकविषये **निरपेक्षया अभिरत्या** । अभिरतिं [P 286] परिहरत एव उत्पद्यते, नान्यथा ।। ४ ।।

तामेव अभिरतिनिरपेक्षतामुत्तरप्रबन्धेन दर्शयितुमाह—

* कस्यानित्येष्वनित्यस्य स्नेहो भवितुमर्हति ।
येन जन्मसहस्राणि द्रष्टव्यो न पुनः प्रियः ।। ५ ।।

कस्य सचेतनस्य स्वयमेव **अनित्यस्य अनित्येषु** पुत्रदारादिषु **स्नेहो भवितुमर्हति** युज्यते । केन हेतुना ? **येन** कारणेन **जन्मनां सहस्राणि** अनेकानि जन्मानि अपर्यन्तसंसारे संसरता कदाचिदपि **द्रष्टव्यो न पुनः प्रियः** । प्रीणातीति प्रिय उच्यते ।। ५ ।।

तदपि च अस्मिन्नास्ति इत्याह—

* अपश्यन्नरतिं याति समाधौ न च तिष्ठति ।
न च तृप्यति दृष्ट्वापि पूर्ववद् बाध्यते तृषा ।। ६ ।।

यदा तावन्न पश्यति तम्, तदा अयमरतिमधृतिं **याति** । तेनैव असौमनस्येन समाकुलितचित्तत्वात् **समाधौ न च तिष्ठति**, नैव स्थितो भवति । तमवलम्बितुमशक्त इत्यर्थः । अथ यदापि प्रियदर्शनमस्य जायते, तदापि **न च तृप्यति । दृष्ट्वापि** पुनरधिकतरं **बाध्यते तृषा** । तद्दर्शनाभिलाषेण पूर्ववददर्शनकाल इव पीड्यते ।। ६ ।।

---

५. किसी सचेतन प्राणी का, जो स्वयं अनित्य (= विनाशी) है, पुत्र-दारादि अनित्य पदार्थों में क्या स्नेह हो सकता है ! क्योंकि वे सब, हजारों योनियों का चक्कर काटने पर भी, उसे फिर कभी नहीं मिल पाते ।।

६. उन प्रियजनों को विना देखे उसका किसी शुभ कर्म में मन नहीं लगता, अतः उसके चित्त की एकाग्रता असम्भव है । यदि कदाचित् वे प्रियजन उसे मिल भी जाँय तो उन्हें बार-बार पाने की इच्छा से उसी दुःख में मग्न रहता है ।।

प्रियसङ्गम एव सर्वानर्थ निदानम्

अपि च । सर्वानर्थनिदानं प्रियसङ्गतिकरणमित्युपदर्शयन्नाह—

* न पश्यति यथाभूतं संवेगादवहीयते ।　　[P 289]
दह्यते तेन शोकेन प्रियसङ्गमकाङ्क्षया ॥ ७ ॥

यथाभूतमविपरीतं दोषगुणान्न **पश्यति** न जानाति । प्रियसङ्गमकाङ्क्षया तेनैव मोहेन **संवेगादवहीयते** भ्रष्टो भवति । तथा तेनैव अभिष्वङ्गेण दह्यते तेन शोकेन मुहूर्तमपि विच्छेदे । तथा **तेन शोकेन दह्यते** परितप्यते तेनैव मनस्तापेन । **प्रियसङ्गमकाङ्क्षया** प्रियस्य सङ्गमः सम्प्रयोगः, तस्मिन्नाकाङ्क्षा तृष्णा, तया हेतुभूतया, पुनरुत्तरोत्तरमधिकाधिकप्रार्थनया ॥ ७ ॥

इतोऽप्यनर्थहेतुरेव तत्सङ्गतिरित्याह—

* तच्चिन्तया मुधा याति ह्रस्वमायुर्मुहुर्मुहुः ।

तस्य प्रियस्य, तत्सङ्गमस्य वा, **चिन्तया** तन्दुणानां सदा परिभावनया । कथं नाम ममास्य प्रियसङ्गमस्य विच्छित्तिर्मा भूदिति तल्लीनचित्ततया वा । निष्फलमेव आयुःसंस्काराः प्रतिक्षणं क्षीयन्ते । न च क्वचिदपि कुशलकर्मणि समुपयुज्यन्ते इति भावः ।

न च यदर्थमायुःक्षयमुपनीयते तन्मित्रं स्थिरमित्यत आह—

* अशाश्वतेन मित्रेण[1] धर्मो भ्रश्यति शाश्वतः ॥ ८ ॥ [P 290]

अवश्यं भङ्गुरतया अनवस्थानादस्थावरेण **मित्रेण** हेतुना **धर्मो भ्रश्यति** परिहीयते; **शाश्वतो** दीर्घकालावस्थायी सम्भारान्तर्गमात्, फलमहत्त्वाच्च ॥

स्यादेतत्— अवश्यं हि किञ्चित्तत्सङ्गमाद्धितसुखनिबन्धनं प्राप्यते, तत्किमिति सर्वथा तन्निषिध्यते ? इत्याह—

---

७. प्रियमिलन की इस वासना से मनुष्य बुद्धत्व-प्राप्ति के संवेग से हीन हो जाता है । और वह प्रिय-वियोग की उस मिथ्याशोकाग्नि में ही प्रियसमागम के लिये जलता रहता है ॥

८. और यह प्रियसमागम इसलिये भी अनर्थ का हेतु है कि उस प्रियवियोग के शोक में ही डूबे रहने के कारण उसकी आयु भी धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है । इस तरह इस विनाशी हेतु (प्रियसमागम) के कारण उसका अविनाशी और महाफलदायक धर्म ही नष्ट होता है ॥

---

१. धर्मेण—इति मुद्रितः पाठः ।

* बालैः सभागचरितो नियतं याति दुर्गतिम् ।
नेष्यते विषभागश्च किं प्राप्तं बालसङ्गमात् ।। ९ ।।

नापि तत्सङ्गमादनर्थमन्तरेण किञ्चिदपरमिह लभ्यते । तथा हि **बालैः** पृथग्जनैः सह **सभागचरितः** समानशीलः **नियतम**वश्यं **याति दुर्गतिम्** तत्कर्मसदृशसमाचरणात् आर्यधर्मबहिर्भावाच्च । अथ आर्यधर्मानुवर्तनात् ततोऽसदृशकर्मकारी स्यात्, तदा **नेष्यते** द्विष्यते **विसभागश्चे**ति असमानचरितः बालैरिति सम्बन्धः । अत्र कर्तरि तृतीया । इति उभयलोकबाधनात् **किं प्राप्तम**धिगतं **बालसङ्गमात्** ? नैव किञ्चिदित्यर्थः ।। ९ ।।

न च अनुकूलचरितैरपि आत्मसात्कर्तुं शक्या इत्याह—

* क्षणाद् भवन्ति सुहृदो भवन्ति रिपवः क्षणात । [P 291]
तोषस्थाने प्रकुप्यन्ति दुराराधाः पृथग्जनाः ।। १० ।।

क्षणमात्रेण **सुहृदो** मित्राणि **भवन्ति** किञ्चित् स्वप्रयोजनमुद्दिश्य, **क्षणा**देव च विषमाभिप्रायत्वात् किञ्चिन्निमित्तमालम्ब्य त एव **रिपवः** शत्रवो भवन्ति । न च निमित्तमप्येषां नियतम्, यत् कदाचित् **तोषस्थाने** प्रीतिविषये विपर्यासवशात् **प्रकुप्यन्ति** । इति **दुराराधा** दुःखेनाराधयितुं शक्याः **पृथग्जनाः** अनार्याः ।। १० ।।

अपरमपि बालधर्मं तद्विवर्जनार्थमुपदर्शयन्नाह—

* हितमुक्ताः प्रकुप्यन्ति वारयन्ति च मां हितात् ।
अथ न श्रूयते तेषां कुपिता यान्ति दुर्गतिम् ।। ११ ।।

---

९. बाल (= पृथग्जन, दुष्कर्मी लोग) की संगति मनुष्य को दुर्गति की ओर ही ले जाती है । यदि उनके साथ रहते कोई शुभ कर्म करना भी चाहे तो वह उन्हें अच्छा नहीं लगता, तब सोचिये उन दुष्टों की संगति से हमें क्या मिला ! ।।

१०. वे दुष्ट लोग कुछ क्षण मित्र बने रहेंगे तो कुछ देर में ही किसी कारण दुश्मनी साधने लगेंगे । प्रीति के प्रसङ्गों में भी गुस्सा दिखाना उनका स्वभाव है, ऐसी हालत में उन्हें हर समय मनाये रखना बहुत मुश्किल काम है ।।

११. यदि उनके भले की बात भी उन्हें कही जाय तो भी वे नाराज हो जाते हैं और उलटे रोकने लगते हैं कि उन्हें वैसी (हितकर) बातें न कहीं जाँय । अगर तब उनकी बात न मानो तो वे क्रुद्ध होते हैं और उस क्रोध के वशीभूत हो वे दुर्गति को प्राप्त होते हैं ।।

'इदं करणीयम्, इदमकरणीयम्—इत्युक्ताः अभिहिताः प्रकुप्यन्ति विद्विषन्ति, न पुनस्तदुक्तं हितमिति गृह्णन्ति। प्रत्युत वारयन्ति च मां हितात्, किं तव अनेन प्रयासफलानुष्ठानेति तत्र प्रवृत्तं मां निषेधयन्ति ततः। अथ न श्रूयते तेषां बालानाम्। वचनमिति शेषः। यदि तद्वचनमवगम्य हिते प्रवृत्तिः क्रियते तदा कुपिताः 'अस्मद्वचनान्नायं निवर्तते' इति तस्मिन् हित-कर्मकारिणि कोपं कृत्वा तत्कर्मप्रेरिता दुर्गतिं प्रयान्ति ॥ ११ ॥

इमं च बालधर्ममपरं तद्विवेकाय भावयेदित्युपदर्शयन्नाह—

* ईर्ष्योत्कृष्टात् समाद् द्वन्द्वो हीनान्मानः स्तुतेर्मदः। [P 292]
अवर्णात् प्रतिघश्चेति कदा बालाद्धितं भवेत् ॥ १२ ॥

आत्मनो विद्याकुलधनादिभिरुत्कृष्टादुत्तमादीर्ष्या परसम्पत्त्यसहनता जायते अर्थात्तेष्वेव। आत्मना समात् तुल्याद् द्वन्द्वो विवादः। आत्मनो हीनादधमान्मानः, 'अहमितः श्रेष्ठः' इत्यभिमननात्। स्तुतेर्मदः सदसतां तद्गुणानामाख्यानादहं महीयानित्यारोपादवलेपः अवर्णादात्मनो दोषकीर्तन-श्रवणाद् द्वेषश्च। अर्थादवर्णवादिनि। इत्येवं कदा कस्मिन् काले बालाद्धितं भवेत्। न कदाचिदित्यर्थः ॥ १२ ॥

इतोऽपि बालान् परिहृत्य विहरेदिति प्रतिपादयितुमाह—

* आत्मोत्कर्षः परावर्णः संसाररतिसङ्कथा।
इत्याद्यवश्यमशुभं किञ्चद् बालस्य बालतः ॥ १३ ॥

एकस्य बालस्य अपरस्माद् बालात् इत्येवमादि किञ्चिदशुभमकुशल-मवश्यं नियमेन जायते। किं तत्? आत्मन उत्कर्षः प्रकर्षः श्रुतज्ञानादि-प्रशंसया। परेषामवर्णो दोषप्रकाशनं श्रुतादिप्रच्छादनम्। या संसारे रतिः अभिरामः तस्याः सङ्कथा सम्वर्णनम्, कामगुणानां सम्प्रमोदनात्। इत्यादि एवम्प्रकारम् ॥ १३ ॥

---

१२. वे पृथग्जन अपने से बड़ों से ईर्ष्या करते हैं, बराबर वालों से कलह करते हैं, छोटों से गर्व करते हैं। स्तुति से घमण्ड करने लगते हैं और निन्दा से द्वेष! यों इनसे भलाई की क्या और कब आशा रखी जाय! ॥

१३. और फिर इन पृथग्जनों की सङ्गति के कारण, अपने से भी कोई न कोई अशुभ कर्म, जैसे आत्मस्तुति, परनिन्दा या सांसारिक रति-चर्चा आदि होता ही रहेगा ॥

* एवं तस्यापि तत्सङ्गात् तेनानर्थसमागमः ।

[P 293] अपरस्यापि तत्सङ्गात् द्वितीयस्य सङ्गात् किञ्चित् शुभमवश्यं स्यात् । येन एवम्, तेन कारणेन **अनर्थस्य** अकल्याणस्य **समागः** सम्प्राप्तिरेव अयं बालसमागमः । अत आर्यधर्मानुशिक्षणार्थम्—

* एकाकी विहरिष्यामि सुखमक्लिष्टमानसः ।। १४ ।।

बालजनसङ्गमवियुक्तः अद्वितीयः **विहरिष्यामि** । तद्विवेकात् **सुखम्** । क्रियाविशेषणमेतत् । कथम् ? **अक्लिष्टमानस** इति तत्सम्पर्कविवर्जनात् तत्कृतसंक्लेशाभावात् । पूर्वस्मिन् हेतुपदमेतत् । यदि वा । **सुखं** कायिकम् । **अक्लिष्टमानस** इति मानसम् ।। १४ ।।

तस्माद् बालजनसम्पर्कजदुःखपरिजिहीर्षुणा तत्सङ्गतिर्न कार्येति कथयितुमाह—

* बालाद् दूरं पलायेत प्राप्तमाराधयेत् प्रियैः ।
न संस्तवानुबन्धेन किं तूदासीनसाधुवत् ।। १५ ।।

बालात् सर्वतो **दूर**मारात् **पलायेत** अपसरेत्, तथा तैः सह काचिदपि सङ्गतिर्न स्यात् । अथ कथञ्चिद्दैवयोगाद् भवेत्, तदा **प्राप्तं** मिलितम**ाराधयेत्** आरोगयेत् । **प्रियैः** प्रीतिकरैरुपचारैः । आराधयन्नपि **न संस्तवानुबन्धेन** परिचयासत्तिकरणाभिप्रायेण । यदि वा, न संस्तवानुनयेन, **किं** तर्हि ? प्रतिघानुनयवर्जनाद**ुदासीनसाधुवत्** सदाचारमध्यस्थजनवत् ।। १५ ।।

साधुजनसमाचारशिक्षा

[P 294] इदमपरं साधुजनसमाचारं शिक्षयितुमाह—

* धर्मार्थमात्रमादाय भृङ्गवत् कुसुमान्मधु ।
अपूर्व इव सर्वत्र विहरिष्याम्यसंस्तुतः ।। १६ ।।

---

१४. इस तरह एक-दूसरे का सम्पर्क करते-करते यह दुष्कर्म-परम्परा बढ़ती ही जायगी—यह सोचते हुए जिज्ञासु को मन में निश्चय करना चाहिये कि इन सब से हमेशा के लिये छुटकारा पाने के वास्ते अकेला रहूँगा, ताकि सुखपूर्वक निश्चिन्त जीवन बिता सकूँ ।।

१५. इन दुष्कर्मियों से दूर ही रहना चाहिये । यदि कदाचित् मिल ही जाँय तो जो उपस्थित हो उससे उनका सत्कार कर दे, बस इससे ज्यादा उनमें न उलझे, अपितु उदासीनता का ही व्यवहार रखे ।।

१६. [अब साधुजनसमादृत उस उदासीनता का ही वर्णन कर रहे हैं—]

धर्मायेदं **धर्मार्थम्**, तदेव केवलं **तन्मात्रम्**। तदादाय गृहीत्वा। सारादानं कृत्वेत्यर्थः। भृङ्गवत् चञ्चरीकवत्। मधु मकरन्दम्। यदि वा। धर्म एव अर्थः प्रयोजनमस्य चीवरपिण्डपातादेरिति विग्रहः। बालसम्पर्कविमुखः **अपूर्व इव** नवचन्द्रोपमः **सर्वत्र** देशे स्थाने वा **विहरिष्यामि**। **असंस्तुतः** अपरिचितः। तन्निवासिजनैः प्रत्यासत्तिरहित इत्यर्थः॥ १६॥

लाभादितृष्णा परिहर्त्तव्या

तदेवं प्रियसङ्गतिकारणं स्नेहमपाकृत्य साम्प्रतं लाभादितृष्णा लोकापरित्यागकारणं परिहर्तव्येत्युपदर्शयन्नाह—

* लाभी च सत्कृतश्चाहमिच्छन्ति बहवश्च माम्।
इति मर्त्यस्य सम्प्राप्तान्मरणाज्जायते भयम्॥ १७॥

लाभो विद्यतेऽस्येति चीवरपिण्डतादिलाभयोगाल्लाभी **च अहम्**। **सत्कृतश्च** पूजितो जनैः। **इच्छन्ति** अभिलषन्ति **बहवश्च** अनेके **माम्**। बहुजनसम्मतोऽहमित्यर्थः। **इत्येवं** चिन्तयतः एवं **मर्त्यस्य** मनुष्यस्य **मरणाज्जायते भयम्**। किंभूतात्? **सम्प्राप्तात्** अचिन्तितोपस्थितात्॥ १७॥

* यत्र यत्र रतिं याति मनः सुखविमोहितम्[1]।
तत्तत्सहस्रगुणितं दुखं भूत्वोपतिष्ठति॥ १८॥

* तस्मात्प्राज्ञो न तामिच्छेदिच्छातो जायते भयम्।
स्वयमेव च यात्येतद् धैर्यं कृत्वा प्रतीक्षताम्॥ १९॥

अब मैं धर्म में काम आने वाली सारभूत बातों को लेकर, मधुमक्खी जैसे फूल-फूल से रस लेकर उन्हें छोड़ देती है उसी तरह, अपरिचित के समान इस जगत् में विचरण करूंगा॥

१७. 'इस संसार में मुझे सब कुछ मिला हुआ है, मेरा ही सबसे अधिक सम्मान है, मुझे बहुत लोग चाहते हैं'— ऐसा सोचने वाले मनुष्य को मौत सामने आने पर बहुत डर लगने लगता है॥

१८. सुख पाने की लालसा से मनुष्य जहाँ-जहाँ रति (= व्यामोह) करता है, वह व्यामोह ही अन्त समय में हजार गुणा अधिक होकर दुःख रूप में उपस्थित होता है॥

१९. इसलिये बुद्धिमान् को वह लालसा नहीं रखनी चाहिये ; क्योंकि

---

१. इत आरभ्य चतसृणां कारिकाणां पञ्जिका नोपलब्धा।

* बहवो लाभिनोऽभूवन् बहवश्च यशस्विनः ।
सह लाभयशोभिस्ते न ज्ञाताः क्व गता इति ॥ २० ॥

* मामेवान्ये जुगुप्सन्ति किं प्रहृष्याम्यहं स्तुतः ।
मामेवान्ये प्रशंसन्ति किं विषीदामि निन्दितः ॥ २१ ॥

* नानाधिमुक्तिकाः सत्त्वा जिनैरपि न तोषिताः ।
किं पुनर्मादृशैरज्ञैस्तस्मात् किं लोकचिन्तया ! ॥ २२ ॥

..................इति सर्वदा अवश्यम्भाविमरणमनसिकारात् [P 295] **किं लोकस्य** बालजनस्य **चिन्तया** चरितपरिभावनया ? न किञ्चित् प्रयोजनम्, अनुपादेयत्वादिति भावः ॥ २२ ॥

बालानां सङ्गतिर्दुःखहेतुः

इत्थमपि बालजनसङ्गतिर्दुःखहेतुरेवेत्याह—

* निन्दन्त्यलाभिनं सत्त्वमवध्यायन्ति लाभिनम् ।
प्रकृत्या दुःखसंवासैः कथं तैर्जायते रतिः ! ॥ २३ ॥

लालसा से अन्त में भय उत्पन्न होता है । 'यह भय अपने आप आता-जाता रहता है'–यह सोचकर बुद्धिमान् को धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिये ॥

२०. यह भी सोचना चाहिये कि मेरे से बढ़ कर और लोग भी इस दुनियाँ में लाभ-सत्कार या कीर्ति से सम्पन्न हो चुके हैं, उन लाभ-सत्कारों के साथ ही उनका आज पता भी नहीं कि वे कहाँ गये ! ॥

२१. मेरी कहीं दूसरे लोग निन्दा भी कर रहे हैं अतः मेरी इस स्तुति से मुझे क्या लाभ ! इसी तरह दूसरे लोग मेरी प्रशंसा भी कर रहे हैं तो इनके निन्दा करने से मेरी क्या हानि हो सकती हैं ॥

२२. नाना प्रकार से श्रद्धा-विश्वास रखने वाले पृथग्जनों को भगवान् भी प्रसन्न नहीं कर पाये, फिर मेरे जैसे साधारण आदमियों की तो बात ही क्या ! अतः 'दुनियाँ क्या कहेगी'–इसकी चिन्ता बुद्धिमान् को नहीं करना चाहिये ॥

२३. [इन पृथग्जनों की सङ्गति दुःखद ही होती है—इसे अन्यथा रूप से भी वर्णन कर रहे हैं—] संसार में जिसे लाभ-सत्कार नहीं मिल पाता, उसकी तो दुनियाँ निन्दा करती ही है, और जो लाभ-सत्कार पा जाता है—उसकी भी लोग निन्दा करते हैं । अतः जिनका सहवास ही दुःख का हेतु हो, उनकी संगति कैसे, सुखद हो सकती है ! ॥

निन्दन्ति कुत्सयन्ति अलाभिनं लाभविरहितं सत्त्वम्। अकृतपुण्योऽयं वराकः, येन अयं पिण्डतादिमात्रकमपि नैव अपरिक्लेशेन प्राप्नोतीति। लाभिनं पुनरवध्यायन्ति प्रसन्नैर्दायकदानपतिभिश्चीवरादिप्रदानैः पूजितम्। कुहनादिभिरपि दायकदानपतीन् प्रसाद्य चीवरादिलाभमासादयति। अन्यथा किमन्यस्य तथाविधा गुणा न सन्ति, येन अयमेव वरं लभते [P 296] नापरः, इति अस्मिश्चित्तमप्रसादयन्ति, वचनं चैवमुद्गिरन्ति। इति उभयथापि तेभ्यो न चेतसि शान्तिरस्ति। तदेवं प्रकृत्या स्वभावेन दुःखहेतुत्वात् दुःखं संवासो येषां बालानां ते तथा। तैस्तथाविधैः सह संवसतः कथं जायते रतिः ? नेत्यर्थः ॥ २३ ॥

न च बालो दृढसुहृद्भवति। तस्मान्न बाल इत्याह।

* 'न बालः कस्यचिन्मित्रम्' इति चोक्तं तथागतैः।
न स्वार्थेन विना प्रीतिर्यस्माद् बालस्य जायते ॥ २४ ॥

* स्वार्थद्वारेण या प्रीतिरात्मार्थं प्रीतिरेव सा।
द्रव्यनाशे यथोद्वेगः सुखहानिकृतो हि सः ॥ २५ ॥

मित्रमिति सुहृत्। उक्तं तथागतेनेत्यागमेषु उक्तम्। कस्मात् ? यस्मात् स्वप्रयोजनेन विना बालस्य न कर्हिचिदपि प्रीतिर्जायते। तस्मात् तदभावे विपर्ययः। तदपि बालसंवासे सत्यपि न निर्दिष्टम्। तत्र मैत्रीकृतेनापि पृथग्जनस्य प्रीतिरशक्या ॥ २४-२५ ॥

अरण्यनिषेवणानुशंसा

एवं सति तत्संवासद्भूतदोषपरिहारार्थं सुखेन सौमनस्येन च विहाराय विवेककामेन मया अरण्यनिषेवणाय यतितव्यमिति तदनुशंसां दर्शयन्नाह—

---

२४. भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में यथाप्रसङ्ग कई जगह कहा है कि इन मूर्खों की सङ्गति अच्छी नहीं होती; क्योंकि ये लोग बिना स्वार्थ के मैत्री (स्नेह) नहीं करते ॥

२५. स्वप्रयोजनसिद्धि के लिये जो दोस्ती की जाती है वह स्वार्थसिद्धि के बाद समाप्त हो जाती हैं। इसकी समाप्ति पर मनुष्य को वैसे ही तकलीफ होती है जैसे द्रव्य नष्ट होने पर मनुष्य उद्विग्न हो जाता है ॥

* नावध्यायन्ति तरवो न चाराध्याः प्रयत्नतः ।
कदा तैः सुखसंवासैः सह वासो भवेन्मम ! ॥ २६ ॥

[P 297] **तरवो** वृक्षाः **नावध्यायन्ति, न च आराध्याः** आराधयितव्याः **प्रयत्नत** इति तदनुकूलसमाचरणेन अरण्यादिषु वसता विषमाभिप्रायरहितत्वात् । इति **कदा** तैस्तरुभिः **सह वासो भवेन्मम** ! किंभूतैः ? सुखसंवासैरित्याशंसति । सुखहेतुत्वात् सुखमिति पूर्ववत् ॥ २६ ॥

पुनरेकाकिताविहारेऽभिरतिमाह—

* शून्यदेवकुले स्थित्वा वृक्षमूले गुहासु वा ।
कदानपेक्षो यास्यामि पृष्ठतोऽनवलोकयन् ॥ २७ ॥

शून्यदेवकुले जनसङ्कीर्णतारहिते **स्थित्वा** निवस्य रात्रिमेकामुषित्वा द्वे वा, यथाभिलाषं **वृक्षमूले** वृक्षस्याधस्तात् । पर्वतादिषु गुह्यप्रदेशा गुहाः, तत्र वा **अनपेक्षः कदा यास्यामि** ? आसङ्गस्थानस्य कस्यचिदभावात् । अत एव **पृष्ठतोऽनवलोकयन्** पश्चादनिर्वृतेरभावात् ॥ २७ ॥

पुनरन्यथा प्राह—

* अममेषु प्रदेशेषु विस्तीर्णेषु स्वभावतः ।
स्वच्छन्दचार्यनिलयो विहरिष्याम्यहं कदा ॥ २८ ॥

केनचिद्विरोधकारिणा पूर्वमस्वीकृतेषु । विस्तीर्णेषु विपुलेषु सौमनस्यकारिषु । **स्वभावतः** स्वयमेव तथाविधेषु, न कृत्रिमतया । **विहरिष्याम्यहं कदा** [P 298] इत्याशास्ते । एवं विहरतो यत्सुखं तदुपदर्शयन्नाह—**स्वच्छन्दचारी** न परतन्त्रवृत्तिः । **अनिलयः** न विद्यते निलयः आलयः निरासङ्गतया यस्येति अनिलयः; क्वचिदपि स्वीकाराभावात् । तथाभूतः प्रतिबद्धो न कस्यचित् । शेषः सुबोधः ॥ २८ ॥

---

२६. [एकान्तवास की प्रशंसा—] इसके विपरीत, वन में एकान्तवास करने वाले पर वृक्ष न तो नाराज होते हैं, न उसे उनकी खुशामद ही करनी पड़ती है । अतः उन सुखद पेड़-पौधों से मेरा कब साथ बनेगा ! ॥

२७. सूने देवालय में, वृक्षों के नीचे या गुफाओं के बीच रहकर कब मैं संसार की परवाह न करता हुआ और अपने पिछले जीवन पर कुछ भी न सोचता हुआ ॥

२८. दूर-दूर तक फैले स्वभावतः सुखद, मेरे लिये ममत्वहीन, सुन्दर स्थानों में निरावास होकर स्वच्छन्द चारिका से कब विहरण करूंगा ! ॥

अल्पेच्छतया आशंसा

पुनरेवमल्पेच्छतया आशंसनीयमित्यादर्शयन्नाह—

* मृत्पात्रमात्रविभवश्चौरासम्भोगचीवरः ।
निर्भयो विहरिष्यामि कदा कायमगोपयन् ॥ २९ ॥

मृत्पात्रं मृण्मयं भिक्षाभाजनम्, तदेव तन्मात्रं **विभवो** धनं यस्येति। तथा **चौराणामसम्भोग्यं** पांसुकूलाम्बरकृतत्वादपरिभोग्यम्। अनुपयुक्तमिति यावत्। तादृशं **चीवरं** वासो यस्य स तथा। एतद् द्वयमपि चौरहार्यम्। अत एव **निर्भयः** कायजीवितनिरपेक्षतया च। तदेव दर्शयति—**कायमगोपयन्निति**। बाह्याध्यात्मिकस्य परिग्रहस्याभावात् असंरक्षयन् ॥ २९ ॥

इयमनित्यता च आसङ्गपरित्यागस्य कारणं सर्वदा सेवितव्येति वृत्तत्रितयेनोपदर्शयन्नाह—

* कायभूमिं निजां गत्वा कङ्कालैरपरैः सह।
स्वकायं तुलयिष्यामि कदा शतनधर्मिणम् ॥ ३० ॥

* अयमेव हि कायो मे एवं पूतिर्भविष्यति।
शृगाला अपि यद्गन्धान्नोपसर्पेयुरन्तिकम् ॥३१॥ [P 299]

* अस्यैकस्यापि कायस्य सहजा अस्थिखण्डकाः।
पृथक् पृथग्गमिष्यन्ति किमुतान्यः प्रियो जनः ॥ ३२ ॥

कायभूमिं निजामिति श्मशानभूमिम्। चिरमपि स्थित्वा तत्पर्यवसानत्वाच्छरीरस्य। **कङ्कालैरपरैरिति** पूर्वमृतानामस्थिभिः पञ्जरैः। **शतनं** पूतिभावः, **तद्धर्मिणं** तत्स्वभावम् ॥ ३० ॥

---

२९. [अल्पेच्छता—] मिट्टी के भिक्षापात्र, चोरों के द्वारा न छीनने लायक चीवर (वस्त्र) ही मेरा धन होगा। ऐसा मैं निर्भय, शरीर-रक्षा में बेपरवाह होता हुआ कब विहार करूँगा ॥

३०. शरीर के अपने अन्तिम स्थान (श्मशान-भूमि) पर जाकर वहाँ पड़े दूसरे-दूसरे कङ्कालों के साथ अपने शरीर की तुलना कब कर पाऊँगा ॥

३१. कि मेरे इस शरीर को भी एक दिन इसी तरह सड़-गल नष्ट हो जाना है। और इसकी दुर्गन्ध से गीदड़ भी दूर भागना चाहेंगे ॥

३२. जब एक दिन इस अखण्ड शरीर का भी अस्थिपञ्जर टुकड़े-टुकड़े हो जायगा, तो क्या मेरे ये मित्रजन मुझ से न बिछुड़ जायेंगे ! ॥

तामेव तुलनां कथयति—**अयमेव** **हीत्यादिना**। एवमिति अपरकङ्काल-गलितशरीरसादृश्यमुच्यते। **पूतिः** कुत्सितो **भविष्यति**। कीदृशः ? इत्याह—**शृगाला** **इत्यादि**। अतिदुर्गन्धतया तदाहारपरायणानां गोमायूनामपि दुःसह इति ॥ ३१ ॥

इत्थमपि प्रियस्य सङ्गतिरनित्येत्याह—**अस्यैकस्यापीत्यादि**। **अस्य** उपात्तस्यैकस्य एकत्वेन कल्पितस्यापि **कायस्य**। **सहजाः** कायेन सहजाताः **अस्थिखण्डकाः पृथक् पृथग् भविष्यन्ति**। विसंयुक्ता भविष्यन्तीत्यर्थः। **किमुतान्यः प्रियो जनः** पृथग् न भविष्यति, यः सर्वदा विसंयुक्त एवास्ते ॥ ३२ ॥

परिवारेऽनासक्तिः

स्यादेतत्—सुखदुःखसहायाः सदा ममैते पुत्रदारादयः, तदेषु युक्त एवानुनयः कर्तुम् ? इत्याह—

* एक उत्पद्यते जन्तुर्म्रियते चैक एव हि।
नान्यस्य तद्व्यथाभागः किं प्रियैर्विघ्नकारकैः ॥ ३३ ॥

[P 300] जन्ममरणयोर्न कश्चित् कस्यचिद् दुःखसम्भागी स्यात्। अन्तराले स्वकर्मोपहितमेव सुखदुःखमुपभुञ्जते सर्वे। अतोऽभिमानमात्र-मेवैतत्। यतो **नान्यस्य** तदात्मनो व्यतिरिक्तस्य **तद्व्यथाभागः**। तस्या-नुनयकारिणो व्यथा, तस्या भागः प्रत्यंशो जायते, तस्य सा, तेनैव तस्याः संवेद्यमानत्वात्। अतो न किञ्चित् प्रयोजनं **प्रियैः** कुशलपक्षविघातकारिभिः॥

परमार्थतो न कस्यचित् केनचित् सङ्गतिरस्तीत्युपदर्शयन्नाह—

* अध्वानं प्रतिपन्नस्य यथावासपरिग्रहः।
तथा भवाध्वगस्यापि जन्मावासपरिग्रहः ॥ ३४ ॥

मार्गप्रस्थितस्य काञ्चिद्दिशं गन्तुमुद्यतस्य यथा अपरैरध्वगैः सह एकस्मिन्नावासे क्वचिन्मण्डपादौ वा आवासपरिग्रहो भवति, तथा संसारेऽपि

---

३३. सचाई तो यह है कि प्राणी इस संसार में अकेला ही आता है, और उसे अकेले ही जाना पड़ता है, उसका दुःख दूसरा कोई नहीं बाँट पाता। तो फिर शुभ कर्मों में विघ्नकारक इन प्रियजनों से मुझे क्या प्रयोजन !॥

३४. जैसे राहगीर कुछ देर धर्मशाला में ठहर कर अपनी थकान मिटा लेता है, पर उस धर्मशाला में ममत्व नहीं करता; उसी प्रकार मुझ भव-यात्री को भी इस जन्म या घर-द्वार से क्या मतलब !॥

कर्मायत्तगतेः संसरतो ज्ञातिसगोत्रसालोहितादिभिरेकस्मिन् जन्मनि आवास-परिग्रहो जायते। पुनरपि तत्परित्यज्य क्वचिदेकाकितया याति। न च तत्र केचित्सहायास्तमनुगच्छन्ति। अतो न केनचित् कस्यचिद्वास्तवी सङ्गतिः सम्भवति। तस्मान्नानर्थसहस्रोपनेत्रीं स्वयमुपकल्प्य केनचित् सङ्गतिं कुर्यात्॥

एकाकितायाः गुणाः

तदेवमभिधाय सङ्गतिदोषम्, एकाकितायाः पुनरिमे गुणा [P 301] इति वृत्तत्रितयेनोपदर्शयन्नाह—

* चतुर्भिः पुरुषैर्यावत् स न निर्धार्यते ततः।
आशोच्यमानो लोकेन तावदेव वनं व्रजेत्॥ ३५॥

* असंस्तवाविरोधाभ्यामेक एव शरीरकः।
पूर्वमेव मृतो लोके म्रियमाणो न शोचति॥ ३६॥

* न चान्तिकचराः केचिच्छोचन्तः कुर्वते व्यथाम्।
बुद्धाद्यनुस्मृतिं चास्य विक्षिपन्ति न केचन॥ ३७॥

अवश्यमनिच्छन्नपि इदानीं जीवदवस्थायां मरणमुपगतो बलात् त्याजयितव्यो गृहावासः। तस्मादेवं स्वयं जीवन्नेव त्यक्तुमर्हति। तत इति गृहात् **आशोच्यमानः** हा वत्सेत्यादिविलापवचनैः परिदेव्यमानः **लोकेन** बन्धु-प्रभृतिना **तावदेव** ततः पूर्वमेव **वनं व्रजेत्**॥ ३५॥

कः पुनरत्र गुणविशेष इत्याह—**असंस्तवेत्यादि**। अनुनयप्रतिघाभावात् म्रियमाणो न शोचति, शोकोपजनितदुःखभागी न भवति। [P 302] कुतः? **पूर्वमेव मृतो लोके** यदैव गृहान्निष्क्रान्तः, तदैव स्वजनबान्धवादौ लोक-विषये॥ ३६॥

---

३५. [एकाकिता के लाभ—] रोते-कलपते जब तक चार आदमी मिल कर मेरे इस शरीर को श्मशान-भूमि में न डाल आवें उससे पहले ही मुझे एकान्त (अरण्य) वास की तैयारी कर लेनी चाहिये॥

३६. निन्दा-स्तुति से दूर, अत एव लोगों के लिये पहले से ही मृतवत् शरीरधारी, एकाकी होकर विचरण करे। वह अपनी मौत की भी परवाह न करे॥

३७. एकान्त में रहते हुए उसे उसके नौकर-चाकर भी कोई तकलीफ नहीं दे पायेंगे। और उसके बुद्ध और धर्म के ध्यान में भी कोई बाधा नहीं पहुँचा पायेंगे॥

अयमपरो गुणस्तस्येत्याह—**न चान्तिकचरा** इत्यादि । अन्तिकचराः समीपवर्तिनो ज्ञातिसगोत्रादयस्तद्वियोगातुराः **शोचन्तः** शोकमुपजनयन्तः **न च नैव कुर्वते व्यथाम्**, आत्मनः कायमनसोः पीडाम् । यदि वा । तेषां शोकं पश्यतो म्रियमाणस्य मनस्तापम् । न केवलमयमेव गुणः, अपि तु **बुद्धाद्यनुस्मृतिम्** । आदिशब्दाद्धर्माद्यनुस्मृतिम्, तत्त्वालम्बनमनस्कारं वा । **अस्येति** जनसम्पर्कविवेकचारिणो मरणसमये ।। ३७ ।।

तस्मादित्यादिना उपसंहरति—

* तस्मादेकाकिता रम्या निरायासा शिवोदया ।
सर्वविक्षेपशमनी सेवितव्या मया सदा ।। ३८ ।।

एकाकिता अनासङ्गविहारिता । **रम्या** सुखहेतुत्वात् । **निरायासा** दुःखविपक्षत्वात् । **शिवोदया** निःश्रेयसावाहकत्वात् । **सर्वविक्षेपशमनी** सर्वविक्षेपस्य कायवाङ्मानसिकस्य दुराचारस्य शमनी=निवर्तनी, समाधानहेतुत्वात् । **सेवितव्या मया सदेति** । अत्रैव अभिनिवेशेन आसङ्गः कार्य इत्यर्थः ।। ३८ ।।

चित्तविवेकः

तदेवं जनसम्पर्कविवर्जनात् कायविवेकं प्रतिपाद्य चित्तविवेकं प्रतिपादयितुमाह—

* सर्वान्यचिन्तानिर्मुक्तः स्वचित्तैकाग्रमानसः । [P 203]
समाधानाय चित्तस्य प्रयतिष्ये दमाय च ।। ३९ ।।

सर्वा या अन्यचिन्ता असद्वितर्कस्वभावाः, ताभिर्**निर्मुक्तः**, तद्विरहितः । **स्वचित्तैकाग्रमानसः** स्वचित्तमेव एकमग्रं प्रधानं यस्मिन् मानसे मनसिकारे तत् तथोक्तम्, तादृशं मानसं यस्य स तथा । स्वचित्तं वा एकाग्रमेकायत्तं तत्प्रचारव्यवलोकनतत्परं नियतालम्बनप्रतिबद्धं वा मानसं यस्येति समासः । तथाभूतः **समाधानाय चित्तस्य** शमथाय **प्रयतिष्ये**, तत्परायणो भविष्यामि ।

---

३८. इसीलिये एकान्तवास (एकाकिता=अकेले रहना) बहुत ही अच्छा, बिना मेहनत का, कल्याणप्रद और सभी प्रकार के चित्तविक्षेपों को दूर हटाने वाला माना गया है । इसका मुझे सदैव उपयोग करना चाहिये ।।

३९. [यों कायविवेक का निरूपण कर चित्तविवेक का निरूपण करते हैं—] सभी प्रकार की अन्य चिन्ताओं से मुक्त, अपने चित्त की निरोध-भावना के साथ उसे समाधि की ओर ले जाने का प्रयास करूंगा ।।

तदेकाग्रतायां नियोजयिष्यामीत्यर्थः। **दमाय** चेति पुनः पुनस्तत्रैवालम्बने नियोजनाय, बहिर्विक्षेपनिवारणाय वा ॥ ३९ ॥

तत्र चित्तसमाधानस्य विपक्षत्वात् कामवितर्कं निवारयितुमाह—

* कामा ह्यनर्थजनका इह लोके परत्र च।
इह बन्धवधोच्छेदैर्नरकादौ परत्र च ॥ ४० ॥

अप्रहीणभवसंयोजनैः कमनीयतया अध्यवसितत्वात् **कामा** रूपादयो विषमा उच्यन्ते। हिशब्दो यस्मादर्थे। "तस्माद्‌द्विज्य कामेभ्यः" [बो० च० ८.८५] इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। ते च सेव्यमाना **अनर्थजनका** अ[1] .... ॥ ४० ॥ [P 304]

* यदर्थं दूतदूतीनां कृताञ्जलिरनेकधा।
न च पापमकीर्तिर्वा यदर्थं गणिता पुरा ॥ ४१ ॥

* प्रक्षिप्तश्च भयेऽप्यात्मा द्रविणं च व्ययीकृतम्।
यान्येव च परिष्वज्य बभूवोत्तमनिर्वृतिः ॥ ४२ ॥

* तान्येवास्थीनि नान्यानि स्वाधीनान्यममानि च।
प्रकामं सम्परिष्वज्य किं न गच्छसि निर्वृतिम् ॥ ४३ ॥

* उन्नाम्यमानं यत्नाद् यन्नीयमानमधो ह्रिया।
पुरा दृष्टमदृष्टं वा मुखं जालिकयावृतम् ॥ ४४ ॥

---

४०. इस लोक और अन्य लोकों में काम (विषयवासना) भी अनर्थजनक हैं। प्राणी इस लोक में इन्हीं के कारण तरह-तरह के बन्धन, हिंसा, मार-काट आदि में फँसता है, और दूसरे लोकों में नरक की यातना सहता है ॥

४१–४३. जिन हड्डियों के आस्वाद के लिये अनेक बार दूत-दूतियों के सामने हाथ जोड़े, न पाप की निन्दा (अपयश) की परवाह की, समय बेसमय अपने आप को भयापादक स्थिति में डाला, बेशुमार पैसा लुटाया, जिन्हें आलिङ्गनबद्ध करने में अत्यन्त सुख अनुभूत हुआ, वही ये हड्डियाँ आज भी दूसरी नहीं हो गयीं; वही हैं; अपने वश में हैं, दूसरा कोई इन्हें 'मेरी' कहने वाला नहीं है। अब इन से लिपट कर क्यों सुख नहीं मानते ? ॥

४४–४५. जवानी में जो मुख काफी कोशिश करने पर उठाये जाने के बाद

---

१. इतोऽग्रे सार्धषट्चत्वारिंशत्कारिकां यावत् पञ्जिकापाठः परिभ्रष्टः।

* तन्मुखं त्वत्परिक्लेशमसहद्भिरिवाधुना ।
गृध्रैर्व्यक्तीकृतं पश्य किमिदानीं पलायसे ॥ ४५ ॥

* परचक्षुर्निपातेभ्योऽप्यासीद्यत् परिरक्षितम् ।
तदद्य भक्षितं यावत् किमीर्ष्यालो न रक्षसि ॥ ४६ ॥

* मांसोच्छ्रयमिमं दृष्ट्वा गृध्रैरन्यैश्च भक्षितम् ।
आहारः पूज्यतेऽन्येषां स्रक्चन्दनविभूषणैः ॥ ४७ ॥

...रूपः । पूज्यते त्वया स्रगादिभिः । तैर्गृध्रैरन्यैश्च गोमायुप्रभृतिभिर्मांसोच्छ्रयं मांसपुञ्जमिमं भक्षितं बीभत्सं दृष्ट्वा किमीर्ष्यालो न रक्षसीति योजयितव्यम् । किमिदानीं पलायसे इति वा व्यवहितेन सम्बन्धः ॥ ४७ ॥

ननु इदमपि प्रष्टव्यो भवानित्याह—

* निश्चलादपि ते त्रासः कङ्कालादेवमीक्षितात् ।

[P 305] निश्चलादपि काष्ठलोष्ठसमानात् तव त्रासो जायते इति काक्वा पृच्छति । कङ्कालात् अस्थिपञ्जरात् । एवमपि बीभत्सरूपात् ईक्षितात् दृष्टात् यदि वा एवं त्रासः । यद् दूरादपि दूरतरं पलायसे इति योजनीयम् । यदेवं चलतः कथं न त्रासः ? इत्याह—

* वेतालेनेव केनापि चाल्यमानाद् भयं न किम् ॥ ४८ ॥

शर्म-संकोच से फिर नीचे झुक जाता था, अतः इतने पर भी कभी दिखायी देता था, कभी दिखायी नहीं देता था, जो परदे में ही छिपा रहता था; उसी मुख को आज, तुम्हारे परेशान होने न होने की परवाह किये विना, गीध और कौओं द्वारा उधेडे जाते हुए देखकर डर के मारे क्यों भाग रहे हो ! ॥

४६. दूसरे की चलती निगाह भी न पड़ जाय, इसलिये जिस शरीर को हर तरह सुरक्षित (=वस्त्रावृत) रखा जाता था, वह आज गीदड़ और कौओं द्वारा फाड़-फाड़ कर खाया जा रहा है, अरे ईर्ष्यालु ! अब उसे वचाने का प्रयास क्यों नहीं करता ? ॥

४७. आज इसे मांस का लोथड़ा समझ, अपने भोजन के रूप में गिद्धों और दूसरे मांसाद प्राणियों ने खा डाला, जिसे कभी माला या सोने-चाँदी के गहनों से सजाया जाता था ॥

४८. पत्थर की तरह निश्चल पड़े इस कङ्काल (=अस्थिपञ्जर) को देखकर डरता हुआ जब तूँ दूर भाग रहा है तो भूताविष्ट की तरह चलते-फिरते इस जीवित शरीर से तूं भय क्यों नहीं खाता ! ॥

भूतग्रहेण चाल्यमानात् जीवतश्चलतः किं न भयं भवति ? तस्मादतिशयेन भयं युक्तमित्यर्थः ।। ४८ ।।

एवं तावज्जुगुप्सनीयतां प्रतिपाद्य पुनरन्यथा प्रतिपादयितुमाह—

* एकस्मादशनादेषां लालामेध्यं च जायते ।
तत्रामेध्यमनिष्टं ते लालापानं कथं प्रियम् ।। ४९ ।।

यो हि नाम मोहावृतविवेको रागविषमूर्च्छितचैतन्यः, तस्य अतिकमनीयतया कामिनीवदनमधुपानबुद्ध्या तन्मुखविगलल्लालापानाभिलाषिणः । पर्यनुयोगमाह–एकमेव कारणं द्वयोरप्याहारपानस्वभावात् । तत्र तयोर्मध्ये अमेध्यं पुरीषमप्रियं भवतः । लालायाः श्लेष्मणः पानं कथं प्रियम् केन प्रकारेण तत्राभिरतिर्नान्यत्र ? द्वयोरपि युक्तेति भावः ।। ४९ ।।

अथापि स्यात्--यद्यपि द्वयोरपि कारणमभिन्नम्, तथापि [P 306] तस्मिन्नतिदुर्गन्धतया वैमुख्यम्, इतरस्मिंस्तु तदभावात् प्रीतिरिति । तदेतदपि न सम्यगभिधानमित्युपपादयन्नाह—

* तूलगर्भैर्मृदुस्पर्शै रमन्ते नोपधानकैः ।
दुर्गन्धं न स्रवन्तीति कामिनोऽमेध्यमोहिताः ।। ५० ।।

कार्पासादितूलपरिपूरितैर्मसूरकादिभिरुपधानैः सुकुमारस्पर्शैः कामिनो न रमन्ते, न धृतिमधिवासयन्ति । कुतः ? दौर्गन्ध्यमशुचिनिष्यन्दं न मुञ्चन्तीति कृत्वा अशुचिपरिपूरिते स्त्रीकलेवरे एव रमन्ते । एतदपि कुतः ? कामिनः कामसुखाभिलाषिणः अमेध्यमोहिता यतः । हेतुपदमेतत् । अमेध्यविषये वा मोहिताः । अशुचौ शुचिविपर्यासात् तत्रैव अतिशयवतीमभिरतिमनुभवन्ति ।।

स्त्रीकलेवरेऽनभिष्वङ्गः

स्यादेतत्—यदि नाम अशुचित्वममेध्ये स्त्रीकलेवरे च साधारणम्,

---

४९. [दूसरे प्रकार से भी आचार्य इस शरीर की, अमेध्यता के सहारे, जुगुप्सा कर रहे हैं—] जब तुम उस स्त्री-शरीर से निकले मूत्र-पुरीषादिक से घृणा करते हो तो तुम उसके मुखचुम्बन के समय उसकी गन्दी लाला (लार) को मधुपान की तरह क्यों चाटते रहते हो ! ।।

५०. पलंग पर बिछे मुलायम गद्दों और तकियों से इन कामियों का मन नहीं भरता; अपितु ये उस गन्दे और अपवित्र स्त्री-शरीर को चूमने-चाटने में ही अपना आनन्द अनुभव करते हैं ।।

तथापि तदेकत्र विवृतमन्यत्र प्रच्छादितम् । अतस्तदन्यपरिहारेण अस्मिन्न भिष्वङ्गः ? इत्यत्राह—

* यत्र च्छन्नेऽप्ययं रागस्तदच्छन्नं किमप्रियम् !
न चेत् प्रयोजनं तेन कस्माच्छन्नं विमृद्यते ॥ ५१ ॥

यस्मिन्नमेध्यस्वभावे प्रच्छादितरूपे । अदृष्टेऽपीति यावत् । एतादृशो-ऽभिष्वङ्गः, तदच्छन्नं दृश्यतां गतमतिशयेन प्रीतिकरमुपजायते इत्युचितम् । [P ९0] तत् किमिति तथाभूतमप्रियं भवतः ? अथ तथाभूते सर्वथा वैमुख्यमेव ते, नाच्छन्नेन किञ्चित् प्रयोजनं तवास्ति । यद्येवम्, तर्हि कस्माद्धेतोः छन्नं विशेषेण मृद्यते, तदन्यपरिहारेण तस्यैव घटनाय यत्नः क्रियते ? ॥ ५१ ॥

अपि च । इदमपि प्रष्टव्यस्त्वम्--किं भवानशुचिविरागो न वेति ? अत्र प्रथमं विकल्पमधिकृत्याह—

* यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिङ्गसेऽपरम् ।

यदि भवतः अशुचौ न रागः न सर्वथा आसङ्गेऽस्ति, तर्हि कस्मादा-लिङ्गसे अपरमन्यम् ? किं तदित्याह—

* मांसकर्दमसंलिप्तं स्नायुबद्धास्थिपञ्जरम् ॥ ५२ ॥

मांसमेव कर्दम इव लेपनसाधर्म्यात्, तेन लिप्तमुपदिग्धम् । किमेवंभू-तमिति चेत् ? स्नायुबद्धास्थिपञ्जरम्, स्नाय्वाबद्धं सङ्गीकृतम्, आयत्तीकृतम् अस्थिपञ्जरम् अस्थिसङ्कुलम् । अन्यथा खण्डशो विशकलितं स्यात्, इति विरागविषयतामस्य दर्शयति ।

अथवा अन्यथाक्तार्यंते– यदुक्तं परेण–छन्ने चर्मादिना रागो भवति नाच्छन्ने । तत्राह–यदीत्यादि । यदि तेन हेतुना चर्मादिना पिहितत्वादिति [P 308] कृत्वा अशुचौ रागो भवति भवतः, तदा कस्मादालिङ्गसे परम-न्यदीयं पञ्जरम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥ ५२ ॥

---

५१. अरे ! ढके हुए इस (गन्दे मलमूत्र, रक्त-मांस) से इतना लगाव ! और जो सामने है उससे द्वेष ! यदि वह मांसादि से ढका हुआ तुझे प्यारा नहीं लगता है तो उससे ऐसी रगड़-पट्टी (घर्षण-आलिङ्गन आदि) क्यों ? ॥

५२. यदि तेरा गन्दगी (अशुचि) से राग नहीं है तो तूँ उस स्त्री-शरीर को क्यों गले लगाता है ? वह तो वस्तुतः गन्दी खून की नाड़ियों से बन्धा, मांस के लोथड़ों से लिपा-पुता हड्डियों का एक ढाँचामात्र ही तो है ! ॥

किं तर्हि समुचितमत्र ? इत्याह—

* स्वमेव बह्वमेध्यं ते तेनैव धृतिमाचर।
अमेध्यभस्त्रामपरां गूथघस्मर विस्मर ।। ५३ ।।

अथ शुचौ राग इति द्वितीयो विकल्पः स्वीक्रियते, तत्राह—**स्वमेवे**त्यादि । **स्वमेव** आत्मनैव बहुतरमशुचिलालासिङ्घाणमस्तलुङ्गमूत्रपुरीषादि तवास्ति, तेनैवाशुचिना संतोषं कुरुष्व । ततोऽप्य**मेध्यभस्त्रां** पुरीषप्रसेविकाम् **अपरा**मन्यां स्त्रीशरीरस्वभावाम् । **गूथघस्मर** पुरीषभक्षणशील ! **विस्मर,** तत्र मनसिकारं मा कार्षीः ।। ५३ ।।

मांसप्रियोऽहमित्यादिना पुनरन्यथा परिहारमाह—

* मांसप्रियोऽहमस्येति द्रष्टुं स्प्रष्टुं च वाञ्छसि ।
अचेतनं स्वभावेन मांसं त्वं कथमिच्छसि ।। ५४ ।।

मांसं प्रियं यस्य । एषोऽहं **मांसप्रियः । अस्य** अस्थिपञ्जरस्य । यदि वा। मांसस्य प्रियो मांसप्रियोऽहमस्येति पूर्ववत् । मांसप्रियोऽहमस्य [P 309] प्रिय इति यावत् । सापेक्षत्वेऽपि समासो गमकत्वात् । इत्येवं तत्प्रलोभात् प्रत्युपकारधिया वा **द्रष्टुं स्प्रष्टुं च वाञ्छसि,** दर्शनं स्पर्शनं च अभिलषसि । अत्राह–**अचेतनं** चैतन्यशून्यं मृत्पिण्डप्रायम् । **स्वभावेन** प्रकृत्या । न तु पुनर्यथापरे वर्णयन्ति–चैतन्ययोगादचेतनमपि चेतनमभिधीयते । तादृशं **मांसं त्व**मचेतनस्वभावं कामुकः सन् **कथमिच्छसि** ? तद् दृष्टौ च मृत्पिण्डेऽपि स्यात् । तथा च सति भवानपि न चेतनः स्यात् ।। ५४ ।।

अस्ति तत्र चित्स्वभावं चित्तम्, तेन तदिच्छामीति चेदाह—

* यदिच्छसि न तच्चित्तं द्रष्टुं स्प्रष्टुं च शक्यते ।
यच्च शक्यं न तद्वेत्ति किं तदालिङ्गसे मुधा ।। ५५ ।।

---

५३. तेरे पास अपने शरीर का ही अमेध्य (=मूत्र-पुरीषादि) बहुत काफी है, उसी से सन्तुष्ट रह ! रे मलभोजिन् ! अब तूं इस मैले से भरे स्त्री-शरीर को भूल जा ! ।।

५४. 'मुझे इसके मांस से लगाव (राग) है'–यह सोचकर तूं इस स्त्री-शरीर का दर्शन-स्पर्शन करना चाह रहा है तो स्वभावतः चेतनारहित मांस की चाह तूँ क्यों कर रहा है ? ।।

५५. जिस चेतन को तूँ चाह रहा है, वह अरूपि होने के कारण देखा-सुना नहीं जा सकता, और जिस का तूँ दर्शन-स्पर्शन कर रहा है, वह (स्त्री-शरीर का

यच्चित्तं चित्स्वभावमिच्छसि तदरूपित्वात् द्रष्टुं न शक्यते । यच्च मांसादिस्वभावं कलेवरं द्रष्टुं स्प्रष्टुं च शक्यते, न तद्वेत्ति न जानाति, अचेतनत्वात् । अतः किमिति तदचेतनमालिङ्गसे आश्लिष्यसि ! मुधेति निष्फलम् । नैव आलिङ्गितुमुचितमिति भावः । अन्यथा लोष्ठाद्यालिङ्गनप्रसङ्गः ॥५५॥

[P 310] किञ्च—इदमप्यतिगर्हितमित्यादर्शयन्नाह—

* नामेध्यमयमन्यस्य कायं वेत्सीत्यनद्भुतम् ।
स्वामेध्यमयमेव त्वं तं नावैषीति विस्मयः ॥ ५६ ॥

अन्यस्य कायं यदमेध्यमयं न वेत्सि, तन्न किञ्चिदाश्चर्यम्, युक्तमेव तदवेदनम्, परसन्तानस्यात्मना व्यवहितत्वात् । इदं पुनरतिशयेनाश्चर्यस्थानम्, यत् स्वस्यात्मनोऽमेध्यमयं त्वं तं कायं नावैषि नावगच्छसि ॥ ५६ ॥

इदानीं शास्त्रकारस्तं संवेजयन्नाह—

* विघनार्कांशुविकचं मुक्त्वा तरुणपङ्कजम् ।
अमेध्यशौण्डचित्तस्य का रतिर्गूथपञ्जरे ॥ ५७ ॥

विघनार्कांशुभिर्विकचं विकसितम् । तादृशं तरुणपङ्कजम् । अभिनवसरोरुहं हित्वा अमेध्याभिनिविष्टचित्तस्य का रतिर्गूथपञ्जरे । न युक्तेति भावः ॥

पुनरन्यथा प्राह—

* मृदाद्यमेध्यलिप्तत्वाद्यदि न स्प्रष्टुमिच्छसि ।
यतस्तन्निर्गतं कायात्तं स्प्रष्टुं कथमिच्छसि ॥ ५८ ॥

मांस-पिण्ड) अचेतन है, वह (तुम्हारे रागद्वेष को) कुछ समझता नहीं, तो फिर उसका आलिङ्गन करने से क्या लाभ ! ॥

५६. 'दूसरे का यह शरीर गन्दगी से भरा पड़ा है–' यह तूँ नहीं समझता इसमें तो कोई आश्चर्य नहीं; पर तेरा खुद का शरीर भी मैले से भरा पड़ा है--यह भी तूँ नहीं समझ पाता, यही आश्चर्य की बात है ॥

५७. [ऐसी स्थिति में शास्त्रकार उसे सद्धर्म-श्रवण की ओर अनुरक्त करते हैं—] अरे मूर्ख ! खुले आकाश में चमकते सूर्य की किरणों से खिले नूतन कमल (सद्धर्मकथा) की ओर जरा भी ध्यान न देकर गन्दगी से भरे इस मलिन स्त्रीशरीर में तेरा मन क्यों अटका हुआ है ? ॥

५८. मल-मूत्र से भरे गन्दे स्थानों को जब तूँ छूना भी नहीं चाहता, तो वह गन्दा मलमूत्र जिस शरीर में भरा पड़ा है, उससे तेरा इतना लगाव क्यों ? ॥

आदिशब्दाद्वस्त्रादि । अशुचिम्रक्षितत्वात् । यदि स्प्रष्टुं न वाञ्छसि । [P 311] यतः कायात्तदमेध्यं निर्गतं निर्यातम्, तं कायं कथमिच्छसि स्प्रष्टुम् ? ॥ ५८ ॥

अथापि स्यात्–नायमुपालम्भो मम युक्तरूपः, यतो न मे कश्चिदभिनिवेशोऽमेध्ये ? इत्यत्राह—

* यदि त नाशुचौ रागः कस्मादालिङ्गसे परम् ।
अमेध्यक्षेत्रसम्भूतं तद्बीजं तेन वर्धितम् ॥ ५९ ॥

अमेध्यक्षेत्रं मातुर्जठरम्, अनेकाशुचिस्थानत्वात्, तत्र सम्भूतं समुत्पन्नं तद्बीजम्, तदेव अमेध्यं मातापितृशुक्रशोणितस्वभावं बीजं यस्य तत्तथोक्तम् । तेन वर्धितमिति तेन अमेध्येन मातृपीताशितस्य वान्तकल्पस्य रसेन वर्धितं गर्भस्थितमुपबृंहितम् । बहिर्निर्गतमपि स्वयमशितपीतपरिपाकाशुचिरसेन । कस्मादालिङ्गसे परमिति सम्बन्धः । परं स्त्रीकलेवरम् । इत्युपालम्भोऽस्त्येव भवतः ॥ ५९ ॥

अथ अशुचिरागोऽहमिति पक्षस्वीकारः, तथापि उपालम्भस्तदवस्थ एव ? इत्याह—

* अमेध्यभवमल्पत्वान्न वाञ्छस्यशुचिं कृमिम् ।
बह्वमेध्यमयं कायममेध्यजमपीच्छसि ॥ ६० ॥

पुरीषाद्यशुचिसम्भूतं कृमिं प्राणकजातं न वाञ्छसि कायं पुनर्मातृ- [P 312] ग्रामस्य बहुतराशुचिस्वभावमशुचिसम्भूतमपि पूर्वक्रमेण इच्छसि ॥ ६०॥

अथापि स्यात् - किमत्रोत्तरं वक्तव्यम् ? यतोऽहमपि यादृशः, तादृशं तस्याः शरीरम्, तेन अशुचेर्नाशुचिसम्पर्को दोषः, यादृशो यक्षस्तादृशो बलिरपि ? इत्याह —

* न केवलममेध्यत्वमात्मीयं न जुगुप्ससि ।
अमेध्यभाण्डानपरान् गूथघस्मर वाञ्छसि ॥ ६१ ॥

---

५९. यदि तू सभी अमेध्य (गन्दी) वस्तुओं से घृणा करता है तो माता के पेट में अशुचि (गन्दी) चीजों (रज-वीर्य) से वृद्धिप्राप्त इस स्त्री-शरीर के प्रति तेरा यह अनुराग क्यों है ? ॥

६०. हमें आश्चर्य है कि गन्दगी में पैदा हुए कीड़ों को तो तूं देखना नहीं चाहता, पर अपेक्षाकृत उससे भी गन्दे इस स्त्री-शरीर पर तेरा हद से ज्यादा लगाव है ! ॥

६१. रे मलभक्षिन् ! तुझे अपने मैले (मल-मूत्रादि) से तो घृणा है और

अयमिह महामोहस्य प्रभावः, यदात्मगतमेव तावदशुचिस्वभावं न विगर्हसि। प्रत्युत अपरानशुचिकुम्भानभिलषसि, इति धिक् परामर्शविकलता। गूथघस्मरेति तिरस्कारवचनेन यस्यैव सम्बोधनम् ॥ ६१ ॥

इदानीं साक्षात्कृत्य अशुचिस्वभावतां प्रतिपादयन्नाह—

* कर्पूरादिषु हृद्येषु शाल्यन्नव्यञ्जनेषु वा।
मुखक्षिप्तविसृष्टेषु भूमिरप्यशुचिर्मता ॥ ६२ ॥

[P 313] एवं शुचिपवित्रवस्तुन्यपि यदेकदेशनिष्यन्दसम्पर्कादपवित्रस्वभावतां व्रजन्ति। आसतां तावत्तानि वस्तूनि, तत्संसर्गाद्भूमिरपि शुचिस्वभावा अशुचित्वं याति ॥ ६२ ॥

* यदि प्रत्यक्षमप्येतदमेध्यं नाधिमुच्यसे ।
श्मशाने पतितान् घोरान् कायान् पश्यापरानपि ॥ ६३ ॥

एवं तावदध्यक्षसिद्धोऽयं व्यवहारः, तथापि यदि नाधिमुच्यसे, न सम्प्रत्येषि। दृष्ट्वापि न श्रद्दधासि इत्यर्थः । तदा श्मशाने पूतिनिवासे कायान् पश्य। किंभूतान् ? घोरानिति। विखादितकविनीलकविपूयकादिस्वभावतया बीभत्सान् भयङ्करान् वा अपरानिति अतोऽधिकान् ॥ ६३ ॥

किञ्च । प्रकृत्या विकृत एवायं कायो नाभिरतिस्थानं युज्यते इत्युपदर्शयन्नाह—

* चर्मण्युत्पाटिते यस्माद् भयमुत्पद्यते महत्।
कथं ज्ञात्वापि तत्रैव पुनरुत्पद्यते रतिः ॥ ६४ ॥

तूं दूसरों के मलभाण्ड (स्त्रीशरीर) को इतने अनुराग के साथ अपनी बगल में लिये घूम रहा है ॥

६२. जब मन को अच्छा लगने वाले कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यों से सम्पृक्त गेहूँ-चावल से बने व्यञ्जन खाने के बाद मुँह से जिस जगह वापस उगल दिये जाते हैं, उस जगह से ही घृणा होने लगती है और वह अशुद्ध मानी जाती है ॥

६३. और यदि विश्वास न हो तो गन्दगी का दूसरा उदाहरण भी देख लो ! श्मशान-भूमि इसीलिये अमेध्य मानी जाती है; क्योंकि वहाँ गन्दे और डरावने अस्थि-कङ्काल खून और मांस के लोथड़ों से लिपटे पडे रहते हैं ॥

६४. जिस शरीर की चमड़ी उधेड़ दिये जाने पर, जिस को देखने में ही डर लगता है—उस (स्त्री-शरीर) की यह सचाई जान लेने पर भी तूँ उसके प्रति इतना आसक्त है ? ॥

उत्पादिते वियोजिते । यस्मादिति कायात् । त्रासो जायते महान्-किमेतदिति । एवं तत्स्वभावं विदित्वापि कथं तस्मिन्नेव स्थाने भयस्थानत्वेन एकदा प्रतिपन्ने पुनरन्यदा जायते रतिरभिष्वङ्गः ।। ६४ ।।

स्यादेतत्-यदि नाम अशुचिस्वभावता कायस्य अध्यक्षसिद्धा, [P 314] तथापि चन्दनादिसुरभिवस्तूपलिप्तोऽसौ कमनीयो भवति ? इत्यत्राह—

* काये न्यस्तोऽप्यसौ गन्धश्चन्दनादेव नान्यतः ।
अन्यदीयेन गन्धेन कस्मादन्यत्र रज्यसे ।। ६५ ।।

शरीरे निवेशितोऽप्यसौ गन्धः चन्दनादिप्रसूतः, एद्वशात् काये कमनीयबुद्धिरुपजायते । चन्दनादेव केवलात् । नान्यत इति । कायात् । अतः कस्मात् परकीयेन गन्धेन चन्दनसमुद्भूतेन अन्यत्र यस्यासौ गन्धो न भवति, अत्र अभिरतिः क्रियते ? ।। ६५ ।।

अपि च । चन्दनादिसंस्कारोऽपि केवलात्मोपघाताय वर्तते, न हितायेति प्रतिपादयन्नाह—

* यदि स्वभावदौर्गन्ध्याद् रागो नात्र शिवं ननु ।
किमनर्थरुचिर्लोकस्तं गन्धेनानुलिम्पति ।। ६६ ।।

स्वभावदौर्गन्ध्यात्, सहजातपूतिगन्धवहत्वात् । अत्रेति । काये । यदि रागो नोत्पद्यते, तदा शिवं ननु कल्याणमेव स्यात् । एवं गुणसम्भवेऽपि किं कारणमनर्थप्रियो लोकः तं कायं गन्धेनानुलिम्पति ? सर्वथा न युक्तमेतदित्यर्थः ।।६६।।

न चास्य संस्कारसहस्रत्वेऽपि स्वभावान्यथात्वमस्तीत्याह—

* कायस्यात्र किमायातं सुगन्धि यदि चन्दनम् । [P 315]

कायस्य स्वभावदुर्गन्धस्य किमायातम्, किम्भूतम् ? न किंचित् सुगन्धि यदि चन्दनम् । शोभनो गन्धोऽस्येति बहुव्रीहिसमासान्तादिन् । तथापि तस्य न स्वभावप्रच्युतिरस्तीति भावः । अथ तद्वशात् तस्मिन् कमनीयतामुपादाय अभिरतिरुत्पद्यते ? इत्यत्राह—

---

६५. उस शरीर पर लगी यह सुगन्धि चन्दन की है, शरीर की नहीं—यह तूं अच्छी तरह जानता है, फिर भी तूं इस के प्रति इतना आसक्त है ! ।।

६६. स्वभावतः दुर्गन्धमय इस शरीर में प्राणियों का राग न होता तो उनका कस्याण ही होता । पता नहीं, क्यों ये उस शरीर पर गन्धमय चन्दनादि का लेप करते हैं, इससे तो उनका अनर्थ ही होना है ।।

* अन्यदीयेन गन्धेन कस्मादन्यत्र रज्यते ।। ६७ ।।

एवं च न विचक्षणता स्यादित्यर्थः ।। ६७ ।।

केशादिसंस्कारद्वारेणापि अनर्थहेतुरेवायं कायः' इति श्लोकद्वयेनोपदर्शयन्नाह—

* यदि केशनखैर्दीर्घैर्दन्तैः समलपाण्डुरैः ।
मलपङ्कधरो नग्नः कायः प्रकृतिभीषणः ।। ६८ ।।

* स किं संस्क्रियते यत्नादात्मघाताय शस्त्रवत् ।
आत्मव्यामोहनोद्युक्तैरुन्मत्तैराकुला मही ।। ६९ ।।

दीर्घैः सहजावस्थितैः । अच्छिन्नैरित्यर्थः । दन्तैर्दशनैः । समलपाण्डुरैः दन्तधावनक्रमुकादिभिरसंस्कृतैः । मलपङ्कधरः मल एव पङ्कः कर्दमः, तं धारयतीति तथा, स्नानाभ्यञ्जनादिविरहात् । नग्न इति । वस्त्रविविक्तत्वात् यथाजात इवावस्थितः । तथाभूतः सन् । यदि कायः प्रकृत्या भीषणः प्रेताना- [P 316] मिव स्वभावेन भयङ्करः ।। ६८ ।।

स एवंभूतः किमिति संस्क्रियते ? यत्नादिति केशनखादिरचनाविशेषैः, दन्तधावनताम्बूलादिभिः, स्नानाभ्यञ्जनानुलेपनादिभिः, वस्त्रादिभिर्वा । किमिव ? आत्मघाताय शस्त्रवत् । आत्मनो वधार्थं खड्गादिर्यथा संस्क्रियते तद्वत् । इत्येषां मोहवशीकृतं विचेष्टितं परिदेवयन्नाह—आत्मेत्यादि । आत्मनैव सञ्चिन्त्य आत्मनो व्यामोहमुत्पादयितुं यत्नवद्भिः उन्मत्तैरस्वस्थचित्तैः । एवं च विपरीतकर्मानुष्ठानान्नैते वराकाः सचेतस इति खेदं करोति शास्त्रकारः । न चात्र कश्चिदात्मज्ञो दृश्यत इति उन्मत्तैराकुला समाकीर्णा मही पृथिवीति ।। ६९ ।।

---

६७. यदि चन्दन सुगन्धमय है तो इसमें शरीर का क्या लेना-देना ! दूसरे की गन्ध के सहारे दूसरी जगह आसक्त होने से क्या फायदा ? ।।

६८. ६९. लम्बे-लम्बे बालों और नखों व मैले-पीले दाँतों से युक्त, मल-मूत्र से लिपटा, स्वभाव से डरावना, यह नंगा शरीर बड़ी-बड़ी कोशिश करके वैसे ही सजाया जाता है जैसे कोई अपनी ही हत्या के लिये किसी शस्त्र को तीखा करने के लिये उस पर धार चढ़ा रहा हो ! मानों इस संसार में अपने को ही धोखा देने के लिये तत्पर पागलों की कोई कमी नहीं है ।।

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतमनुबन्धन्नाह—

* कङ्कालान् कतिचिद् दृष्ट्वा श्मशाने किल ते घृणा ।
ग्रामश्मशाने रमसे चलत्कङ्कालसंकुले ॥ ७० ॥

शवानामस्थिपञ्जरान् कतिचित् प्रतिनियतान् । एतदुक्तं भवति— 'चर्मण्युत्पाटिते' [बो० च० ८. ६४] इत्यादिकमुक्त्वा यदुक्तं 'कथं ज्ञात्वापि' इत्यादि, तत्र परस्योत्तरम् न श्मशानगतकलेवरसादृश्यमस्य, [P 317] येन तस्मिन्नेव अत्रापि रतिर्न स्यात्, किं तर्हि ? श्मशाने तस्य घृणास्थानत्वात् । नात्रेति अत्र अभिधेयकङ्कालानित्यादि । ग्रामश्मशाने इति । नैवात्र कश्चिद् वशेषोऽस्ति । तदेव शरीरं श्मशाने घृणास्थानग्रामे वा अभिरतिस्थानमिति काक्वा ब्रूते । नैतद्विचक्षणधियां समायुक्तमिति भावः । चलत्कङ्कालसंकुले इत्यनेन एतद्दर्शयति । एतावांस्तु विशेषः—नच अनेन विशेषणाशुचिस्वभावता घृणाहेतुर्निवर्तते, येन प्रवृत्तिरियं स्यादिति । संकुल इति समाकीर्णे ॥७०॥

धनार्जनमपि दुःखप्रसूतिः

भवतु नाम ईदृशमशुचिस्वभावमपि सूकराणामिव अभिरतिस्थानम् । तथा च एवंविधमपि द्रविणविकलस्य नैतत् सुलभमित्युपदर्शयन्नाह—

* एवं चामेध्यमप्येतद्विना मूल्यं न लभ्यते ।
तदर्थमर्जनायासो नरकादिषु च व्यथा ॥ ७१ ॥

विना मूल्यं द्रव्यान्तरेण न लभन्ते प्राप्यते । अतस्तदर्थिना प्रथमतो धनमेव अर्जनीयम् । तदर्जनेन आयासात् कृषिवाणिज्यसेवादिसमाश्रयेण परिश्रमादिहैव दुःखमुपजायते, अधर्मेण चोपार्जनान्नरकादिषु, इति [P 318] उभयलोकेऽनर्थहेतुरेव तदर्जनम् । नापि तत्सुखप्राप्तिरस्ति ॥ ७१ ॥

---

७०. श्मशान में कङ्कालों को देखकर उनसे तो तुझको इतनी घृणा है, पर गाँव-गाँव, घर-घर में जो चलते-फिरते कङ्काल (स्त्री-शरीर) हैं उनसे तू इतना अनुराग दिखाता है । है न वेवकूफी की हद ! ॥

७१. [इस तरह आचार्य इस अमेध्य शरीर के प्रति आसक्ति की बुराइयाँ बताकर अब धन की अनर्थहेतुता का वर्णन कर रहें हैं—] इस प्रकार यह अमेध्य स्त्री-शरीर भी बिना धन के नहीं मिल पाता । उस धन को कमाने के लिये जिस कठोर परिश्रम और पापमय उपायों का सहारा लिया जाता है उसके परिणामस्वरूप रकदुःख ही भोगना पड़ेगा ॥

दुःखमेव तु केवलं तदर्जने इति प्रतिपादयन्नाह—

* शिशोर्नार्जनसामर्थ्यं केनासौ यौवने सुखी ।
यात्यर्जनेन तारुण्यं वृद्धः कामैः करोति किम् ! ॥ ७२ ॥

बालावस्थावस्थितस्य न धनार्जनशक्तिरस्ति, बालत्वादेव । केन धनेन प्रकारेण वा असौ बालो यौवने युवावस्थायां सुखी स्यात् ? धनविकलत्वान्न क्वचिदित्यर्थः । यदपि कस्यचित् पितृपितामहोपार्जितधनेन यौवने सुखित्वं दृश्यते, तदपि प्रतिनियतस्यैव न सर्वस्य । न चापि पूर्वोक्तदुःखद्वयाद्विमुच्यतेऽसौ । अतो धनार्जनमुपादेयम् आदौ सुखसाधनोपायत्वात् । तदर्जयत एव गलितवयसो न कश्चिदुपयोगो विषयैरिति ॥ ७२ ॥

अथापि स्यात्—तदर्जयतापि कामसुखमनुभूयत इव ? इत्यत्राह—

* केचिद्दिनान्तव्यापारैः परिश्रान्ताः कुकामिनः ।
गृहमागत्य सायाह्ने शेरते स्म मृता इव ॥ ७३ ॥

ये केचित् कुत्सितकामाक्षिप्तचेतसः काष्ठतृणपत्राद्याहरणभृतिकर्मक्रियालक्षणैर्दिनपर्यन्तव्यापारैः परिरिखन्नकायमनसो निरुत्सुकाः, अस्तं गते सवितरि स्वगृहमागत्य गाढमिद्धाक्रान्तत्वात् मृतकल्पाः शेरते स्म स्वपन्ति । प्रभाते पुनरुत्थाय तत्रैव नीचकर्मणि युज्यन्ते । स्मशब्दोऽत्र वाक्यालंकारे; [P 319] अतीतार्थाविषयत्वात् । एवमायुःसंस्कारान् केचित् कुकामिनः क्षपयन्ति, न च कामसुखास्वादमुपलभन्ते ॥ ७३ ॥

परसेवकानधिकृत्याह—

* दण्डयात्राभिरपरे प्रवासक्लेशदुःखिताः ।
वत्सरैरपि नेक्षन्ते पुत्रदारांस्तदर्थिनः ॥ ७४ ॥

---

७२. वाल्यावस्था में धनार्जन की शक्ति नहीं होती तो वह जवानी में धन के बिना क्या सुख पायगा ! और जवानी में कठोर परिश्रम के सहारे धन कमा भी लिया तो इतने में बुढ़ापा आ जायगा । बुढ़ापे को विषय-सुखों से क्या प्रयोजन ! ॥

७३. [यदि कहो कि धन कमाते-कमाते भी विषयसुख भोगा जा सकता है, तो यह बात भी गलत है; क्योंकि] लोग धन के लिये कठोर परिश्रम करते-करते सायंकाल होने पर थक कर घर आते ही खाट पर मुर्दे की तरह पड़ जाते हैं और गाढ़ी नींद मैं सो जाते हैं ॥

७४. कुछ लोग धन कमाने के लालच में राजा की फौज में भर्ती हो जाते हैं, वह फौज शत्रु पर विजय के लिये दूर दूसरे देश भेज दी जाती है । वहाँ रहते

अपरे पूर्वकामिकेभ्योऽन्ये कुकामिनः सेवका इत्यर्थः। ते दण्डयात्रादिभिः, दण्डः परचक्रविजयाय यात्रा प्रयाणम्, परराष्ट्रद्रव्यग्रहणाय वा यात्रा, तदादिर्येषां देशान्तरप्रेषणादीनाम्, तैः प्रवासो देशान्तरगमनम्, तेन क्लेशः परिश्रमः, तेन दुःखिताः पीडिताः। सर्वदा तथाभूताः। वत्सरैरपि अनेकवर्षात्ययेऽपि पुत्रान् दारांश्च नेक्षन्ते न पश्यन्ति। तदर्थिन इति। तैः पुत्रदारादिभिरर्थिनः तदभिलाषुकाः तदर्थमेव परसेवादिस्वीकारादित्यर्थः ॥७४॥

अहो बत अमीषां निष्फलमनुष्ठानमिति शोचयन्नाह—

* यदर्थमेव विक्रीत आत्मा कामविमोहितैः।
तन्न प्राप्तं मुधैवायुर्नीतं तु परकर्मणा ॥ ७५ ॥

यदर्थं सुखप्रतिलम्भनिमित्तं विक्रीतः परदासीकृतः आत्मा कामविडम्बितैः तन्न प्राप्तम्, तदिति सुखं न प्राप्तं न प्रतिलब्धम्। [P 320] आयुःसंस्कारा एव हि केवलमनर्थकं परकर्मानुष्ठानेन क्षयमुपनीताः। न साधुकर्मणि क्वचिदपि योजिता इति भावः ॥ ७५ ॥

सुखलिप्सया प्रवृत्तानां प्रत्युत दुःखमेवापतितमेषामित्युपदर्शयन्नाह—

* विक्रीतस्वात्मभावानां सदा प्रेषणकारिणाम्।
प्रसूयन्ते स्त्रियोऽन्येषामटवीविटपादिषु ॥ ७६ ॥

सुखबुभुक्षया विक्रीतः परायत्तीकृतः स्वात्मभावः स्वकायो यैस्ते तथा, तेषाम्। अन्येषां सेवकानामित्यर्थः। अत एव। सदा प्रेषणकरणशीलानाम्। अन्येषामपरेषां प्रभुप्रयोजनेन गच्छताम्। मार्ग एव प्रसूयन्ते स्त्रियः। अटवीविटपादिषु। आदिशब्दात् पर्वतनितम्बनदीकूलादिषु कष्टस्थानेषु ॥ ७६ ॥

अयमपरो विपर्यासस्तेषामिति प्रतिपादयन्नाह—

हुए वे अपने बाल-बच्चों और स्त्री का, माता-पिता का, बन्धु-बान्धवों का, हित-मित्रों का मुँह भी नहीं देख पाते; विषयसुख-भोग की बात तो बहुत दूर है ॥

७५. इस तरह कामासक्त पुरुषों ने जिसके लिये अपने-आपको बेचा, दूसरों का गुलाम बनाया, उसे ही न पा सके, अपनी आयु व्यर्थ ही गँवा दी दूसरों की गुलामी करते-करते ! ॥

७६. अपने को बेच कर दूसरों (प्रभुओं) की आज्ञा से परिवारसहित हमेशा इधर से उधर घूमने वालों की स्त्रियाँ कभी-कभी जंगलों में वृक्षों के नीचे पुत्र-प्रसव के लिये मजबूर हो जाती हैं (तो यह कैसा विषयसुख-भोग हुआ !) ॥

* रणं जीवितसन्देहं विशन्ति किल जीवितुम् ।
मानार्थं दासतां यान्ति मूढाः कामविडम्बिताः ॥ ७७ ॥

विक्रीतस्वात्मभावाः **संग्रामं** चतुर्दन्तसङ्कट्टं प्रविशन्ति । किंभूतं **जीवितसन्देहम्** ? तत्र प्रविष्टस्य जीवितं स्याद्वा न वेति जीवितस्य सन्देहोऽस्मिन्निति कृत्वा । **जीवितुमिति** जीवनार्थम् । अत्र प्रतिलब्धैर्लाभैर्जीविकां कल्पयिष्याम इति मत्वेत्यर्थः । **मानार्थं दासतां यान्ति**, बलवता केनचिदभिभूताः स्वमानोद्धरणार्थम् । अंगुलीच्छेदवेलाग्रहणस्वीकारात् । **मूढा** मोहान्धीकृतविवेकचक्षुषः । के ते ? **कामविडम्बिताः** कामाय कामेन वा विडम्बितास्तिरस्कृताः ॥

इहैव जन्मनि कामासक्तचेतसां यद् दुःखं दृश्यते तत्कथयन्नाह—

* छिद्यन्ते कामिनः केचिदन्ये शूलसमर्पिताः ।
दृश्यन्ते दह्यमानाश्च हन्यमानाश्च शक्तिभिः ॥ ७८ ॥

परदारधनापहरणादेः ॥ शेषः सुबोधः ॥ ७८ ॥

किञ्च । अयं सुखसाधनत्वेन उपादीयमानोऽपि च अनर्थपरम्पराप्रसूतिहेतुरेवार्थः इति कथयन्नाह—

* अर्जनरक्षणनाशविषादैरर्थमनर्थमनन्तमवेहि ।
व्यग्रतया धनसक्तमतीनां नावसरो भवदुःखविमुक्तेः ॥ ७९ ॥

अर्जनमनुत्पन्नस्योत्पादनं दुःखम् । उपार्जितस्यापि जलानलादिभ्यः [P 322] पञ्चप्रत्यवायेभ्यः परिपालनं कष्टतरम् । तथा रक्षितस्यापि

---

७७. अधिक विषयसुख की प्राप्ति हेतु कुछ लोग धनार्जन के लिये भयंकर से भयंकर युद्ध में कूद पड़ते हैं, जहाँ से जीवित लौटने की सम्भावना भी कम ही होती है । यों वे पदोन्नति का झूठा अभिमान पूरा करने के लिये राजाओं की गुलामी स्वीकार कर लेते हैं (ऐसे गुलामों को विषयसुख कहाँ !) ॥

७८. कुछ लोग अधिक धन कमाने के लोभ में परधन या परदारा के अपहरणादि के अपराध में फाँसी पर चढ़ा दिये जाते हैं, जला दिये जाते हैं या तीखे शस्त्रों से मार गिराये जाते हैं ॥

७९. इस तरह इस धन के कमाने में, इसकी रक्षा में, या इसके नाश होने पर जो मानसिक, शारीरिक क्लेश होता है उसे और उस समय होनेवाली नाना प्रकार की तकलीफों को तूँ अच्छी तरह समझ ले । उन्हीं में लिपटे हुए पुरुषों को भवदुःख से विमुक्ति का मौका ही कहाँ मिलेगा ! ॥

कथञ्चित् तस्करादिभिर्नाशाद्विषादो दौर्मनस्यं परितापहेतुरनर्थः। तदेवमनर्थपरम्परानिदानत्वात् कारणे कार्योपचारादर्थ एवानर्थ उक्तः। इत्येवमर्जनादिभिः सर्वदा व्याकुलत्वात् धनासक्तचेतसां क्षणमपि समाधानानवकाशत्वात् नावसरः; संसाराश्रितजात्यादिदुःखनिर्मोक्षाय सदा तद्गतमनसिकारैरेव आयुःप्रकाराणां क्षपणात् ॥ ७९ ॥

कामासक्तिपरित्यागाय प्रोत्साहनम्

सर्वमेतदुपसंहृत्य कामासङ्गपरित्यागाय संवेगकथया प्रोत्साहयति—

* एवमादीनवो भूयानल्पास्वादस्तु कामिनाम्।
शकटं वहतो यद्वत् पशोर्घासलवग्रहः ॥ ८० ॥

एवमित्युक्तप्रकारपरामर्शे। आदीनवोऽनर्थः। भूयाननेकप्रकारः। न चात्र सुखोत्पादवार्ताप्यस्ति। यदपि विपर्यासात् कथञ्चित् सुखमिति प्रतिभासते, तदपि न किञ्चित्। गुरुतरभाराक्रमणपरिक्लान्तवपुषः पशोरिव घासलवग्रासग्रहणम् ॥ ८० ॥

* तस्यास्वादलवस्यार्थे यः पशोरप्यदुर्लभः।
हता दैवहतेनेयं क्षणसम्पत् सुदुर्लभा ॥ ८१ ॥

तस्यैवम्भूतस्य अतितुच्छस्य सुखास्वादलेशस्य पशोरपि [P 320] साधारणस्यार्थे तस्य निमित्तम् इयं क्षणसम्पत् अष्टाक्षणविनिर्मुक्ता हता विनाशिता। वृथा कृतेत्यर्थः। किंविशिष्टा? सुदुर्लभा व्याख्याता। केन? दैवहतेन। दैवं पुरातनं कर्म, तेन हता। हिताहितपरिज्ञाने विपर्यस्तमतिः कृतः। विमोहित इत्यर्थः। वस्तुतस्तु तिरस्कारवचनमेतत्। भागविहीन एवमुच्यते ॥ ८१ ॥

अवश्यं गन्तुरित्यादिना श्लोकद्वयेन विपर्यासरूपतामेव प्रतिपादयति—

---

८०. [यों स्त्री-राग, और धन-तृष्णा का निषेध कर अब ग्रन्थकार जिज्ञासु को विषयभोगों में अनासक्ति का उपदेश कर रहे हैं—] यों विषयभोगों में अनर्थ ही ज्यादा है। जो थोड़ा बहुत सुख दिखायी पड़ता है वह भी परिणाम में दुःखदायी ही है॥

८१. इसलिये इस थोड़े से तुच्छ सुख के लिये, जिसे पशु भी भोगते रहते हैं, तुमने यह अमूल्य मानवजीवन दैवदुर्विपाक के वश होकर व्यर्थ ही खो डाला !॥

* अवश्यं गन्तुरल्पस्य नरकादिप्रपातिनः ।
कायस्यार्थे कृतो योऽयं सर्वकालं परिश्रमः ॥ ८२ ॥

अवश्यं गन्तुरिति अनित्यतया अस्थिरस्वभावस्य । **अल्पस्य** लोकोत्तरकायमपेक्ष्य अतिदूरं निष्कृष्टस्य । **नरकादिप्रपातिन** इति अपरमितदुःखभागिनः । स्वसुखोत्पादनेऽप्यसमर्थस्येत्यर्थः । **कायस्य** आत्मशरीरस्यार्थे सुखोत्पादनाय **योऽयं** नरकादिदुःखमविगणय्य **कृतः सर्वकालं** संसारस्य पूर्वस्यां कोटौ **परिश्रमः** प्रयासः ॥ ८२ ॥

* ततः कोटिशतेनापि श्रमभागेन बुद्धता । [P 324]

ततस्तस्मात् परिश्रमात् **कोटिशतेनापि** परि**श्रमभागेन** अंशेन **बुद्धत्वं** स्यात्, तदपेक्षया अत्यल्पीयसा आयासबलेन बुद्धत्वं स्यात् । तथापि तदर्थं मन्दबुद्धयो नोत्सहन्त इत्यर्थः । अथ बोधिचर्यायामपि चरतः अनेकदुष्करशतसमारम्भादतिशयवद् दुःखसहस्रमुत्पद्यत एवेत्याह—

* चर्यादुःखान्महद् दुःखं सा च बोधिर्न कामिनाम् ॥ ८३ ॥

चर्यादुःखमपेक्ष्य इदमेव **महद् दुःखं** यत्कामार्थे चरतां संसारे तेषामावीच्यादिनरकपतनात्, पारतन्त्र्येण दीर्घकालमनुभवनाच्च । न तु बोधिसत्त्वानां प्रतिनियतकालं स्वेच्छया तदनुभवताम् । तदेवं दुःखमनुभवतामपि कामार्थे कामिनां **सा च बोधिर्न** भवति, या बोधिसत्त्वानां परार्थे दुःखमनुभवतामित्यर्थः ॥ ८३ ॥

पुनर्विशेषेण कामनिदानदुःखं प्रतिपादयन्नाह—

* न शस्त्रं न विषं नाग्निर्न प्रपातो न वैरिणः ।
कामानामुपमां यान्ति नरकादिव्यथास्मृतेः ॥ ८४ ॥

८२–८३. यह जो तुमने दिनरात मेहनत की, उसे शरीर के क्षणिक सुख के लिये, जो कि अन्त में अवश्य ही नरक में ले जायगा, व्यर्थ ही कर दिया । इससे करोड़ों गुण कम परिश्रम में बुद्धता (बोधि) प्राप्त की जा सकती थी । इस बोधि की प्राप्ति में किये जाने वाले श्रम की अपेक्षा कामियों को अपने विषयभोगों की प्राप्ति में अधिक श्रम करना पड़ता है, फिर भी उन्हें बोधिसुख नहीं मिल पाता ॥

८४. उन विषयभोगों के परिणाम में पाये जाने वाले नरकादि दुःखों को याद कर शस्त्र, विषपान, अग्नि, वैरियों से घिर जाना आदि से होने वाली पीड़ा फिर भी कम ही मालूम पड़ती हैं ॥

अमी शस्त्रादयो दुःखजनकत्वेन प्रसिद्धा न सादृश्यं भजन्ते प्रति कामानाम्। कस्मात्? नरकादिदुर्गतिदुःखस्य आगमात् प्रतिपन्नस्य [P 325] स्मरणात् स्मरणेनामुखीकरणात्। शस्त्रादयो हि नियतकालं मरणमात्र-दुःखदायकाः, कामास्तु दीर्घकालिकतीव्रनरकादिदुःखहेतव इति कीदृशी तैरुपमा भवेत्! ॥ ८४ ॥

विवेकविहारिणः प्रशंसनम्

तदेवं कायविवेकानन्तरं चित्तविवेकं प्रतिपाद्य प्रकृते योजयितुमाह—

* एवमुद्विज्य कामेभ्यो विवेके जनयेद् रतिम्।

कामेभ्यो भयहेतुभ्यः। एवमुक्तक्रमेण उद्विज्य सन्त्रासं कृत्वा पूर्वोक्त-विवेके रतिमभिरतिमुत्पादयेत्। कुत्र स्थित्वा? तत्राह—

* कलहायासशून्यासु शान्तासु वनभूमिषु ॥ ८५ ॥

प्रतिद्वन्द्विनामभावात् कलहायासशून्यास्ताः, व्याल-मृग-सरीसृप-तस्करा-दिविरहाच्च रम्याः ॥ ८५ ॥

तत्रानुशंसामाह—

* धन्यैः शशाङ्ककरचन्दनशीतलेषु
रम्येषु हर्म्यविपुलेषु शिलातलेषु।
निःशब्दसौम्यवनमारुतवीज्यमानैः
चंक्रम्यते, परहिताय विचिन्त्यते च ॥ ८६ ॥

धन्यैः सुकृतिभिः। शशाङ्कस्य चन्द्रमसः करा रश्मय एव शुक्लताशैत्य-साधर्म्याच्चन्दनानीव, तैः शीतलानि यानि शिलातलानि तेषु [P 326] चंक्रम्यत इति सम्बन्धः। किंविशिष्टेषु? प्रकृत्यैव शुचिपवित्रेषु कर्कशादिदोष-रहितेषु च। हर्म्यविपुलेषु धवलगृहवद्विस्तीर्णेषु। कीदृशैः सद्भिश्चंक्रम्यते?

---

८५. [एकान्तवास—] इस तरह जिज्ञासु को विषयभोगों की इस अनर्थ-परम्परा को ध्यान में रखते हुए एकान्तवास में ध्यान लगाना चाहिये, उन शान्त वन-प्रदेशों में न किसी प्रकार का कलह है, न कोई श्रम ॥

८६. वहाँ नीरव सौम्य वन के प्रदेशों में भाग्यशाली लोग ही चन्द्रमा की किरणों के समान, चन्दन से शीतल, बड़े बड़े महलों से भी अधिक विस्तृत, रमणीय शिलातलों पर वृक्षों के पत्तों की हवा में बैठकर परहितचिन्तन में अपना मन लगाते है। या घूमते हुए बोधिचिन्तन करते रहते हैं ॥

निःशब्दैः प्रतिकूलशब्दविरहितैः। सौम्यैरनुत्कटैः। सुखसंस्पर्शैरित्यर्थः। वनमारुतैः वनपवनैः। वीज्यमानाः तैश्चंक्रम्यत इति परावृत्त्या पुनः पुनर्मन्दं भ्रम्यते। न केवलं चंक्रम्यते, किं तु परहिताय सत्त्वानां सुखोत्पादनाय विचिन्त्यते। सर्वमेतदयत्नसिद्धं योगिनाम्, कामिनां तु प्रयत्नसाध्यम्। तदनेन ऐश्वर्यसुखाद्विशिष्यते विवेकसुखमित्युपदर्शितं भवति ।। ८६ ।।

इदमपरमसाधारणं सुखं विवेकविहारिण इत्युपदर्शयन्नाह—

* विहृत्य यत्र क्वचिदिष्टकालं शून्यालये वृक्षतले गुहासु।
परिग्रहारक्षणखेदमुक्तः चरत्यपेक्षाविरतो यथेष्टम् ।। ८७ ।।

सुबोधम् ।। ८७ ।।

स्वच्छन्दचारीत्यादिना कथितमेवार्थं व्यक्तीकरोति—

* स्वच्छन्दचार्यनिलयः प्रतिबद्धो न कस्यचित्।
यत्सन्तोषसुखं भुङ्क्ते तदिन्द्रस्यापि दुर्लभम् ।। ८८ ।।

[P 327] स्वस्यात्मनः छन्दोऽभिलाषः, तेन चरितुं शीलमस्येति। स्वेच्छाचारीत्यर्थः ।। ८८ ।।

विवेकभूमिषु बोधिचित्तभावना

इति विवेकगुणानभिधाय प्रकृतमभिधित्सुराह—

* एवमादिभिराकारैर्विवेकगुणभावनात्।
उपशान्तवितर्कः सन् बोधिचित्तं तु भावयेत् ।। ८९ ।।

एवमिति। पूर्वोक्तैः। आदिशब्दादन्यैरपि एवंविधैराकारैः। विवेकस्य कायिकचैतसिकस्य गुणानां भावनात्, इति हि सर्वसुखसम्पत्तिहेतुर्विवेक इति चेतसि पुनः पुनरामुखीकरणाद्धेतोः उपशान्तो वितर्कः असन्मनसिकारो यस्य

---

८७. [उस विवेकविहारी को दूसरा सुख यह है—] उन शान्त नीरव वन-प्रदेशों में संसार से अनासक्त जिज्ञासु निर्जन देवालयों, वृक्षों के नीचे या गुफाओं में बैठकर बोधि-चिन्तन करता हुआ सांसारिक परिग्रह, परिवार-संरक्षण आदि से होने वाली पीड़ा से दूर रहकर यथेच्छ विहार कर सकता है ।।

८८. स्वेच्छाचारी, अप्रतिबद्ध (स्वतन्त्र विचार वाला), अनागारिक जिज्ञासु जो शान्ति-सुख अनुभव करने लगता है, वह सुख इन्द्र को भी दुर्लभ है ।।

८९. इन पूर्वोक्त विधियों या गुरूपदिष्ट उपदेशों से अपने मानसिक सङ्कल्प-विकल्पों का शमन करता हुआ बोधिचित्त की भावना करे ।।

सः । तथाभूतः सन् बोधिचित्तं तु भावयेत् । एवं परिशुद्धे चेतसि भाव्यमानं बोधिचित्तं प्रकर्षपदमधिरोहतीति विशेषं तुशब्देन दर्शयति ॥ ८९ ॥

तत्र यावदेकत्वं परेषु नात्मना क्रियते, न तावत् परहितसुखाय सम्यक् चित्तं चलति, आत्मग्राहस्य आत्मन्येव विशेषेण प्रवृत्तेः । अतोऽस्य निवृत्तये—

* परात्मसमतामादौ भावयेदेवमादरात् ।

आदौ प्रथमतः । पश्चात् परात्मपरिवर्तनमिति भावः । [P 328] एवमिति वक्ष्यमाणनीत्या । आदरादिति महताभिनिवेशेन । तस्या एवाकारं दर्शयति—

* समदुःखसुखाः सर्वे पालनीया मयाऽऽत्मवत् ॥ ९० ॥

मत्तो नामीषां कश्चिद्विशेषोऽस्ति । अतो यथा मम दुःखं बाधकं तथा एषामपि । यथा मम सुखमनुग्राहकं तथा एषामपि । इति तुल्यदुःखसुखाः सर्वे प्राणिनो भवन्ति । तस्मात् पालनीया मयात्मवत् । यथा आत्मा दुःखाद् दुःखहेतोर्वा समुद्ध्रियते, तथा अन्येपि सत्त्वाः समुद्धरणीयाः । यथा आत्मा सर्वथा सुखीकर्तुमिष्यते, तथा अन्येऽपीति परिपालनीया आत्मवत् ॥९०॥

ननु कथमात्मना अनेकप्रकारगतिभेदभिन्नानां सत्त्वानामेकत्वं सेत्स्यति ? अभिन्नसुखदुःखस्वभावत्वं च कथम् ? इत्यत्राह—

* हस्तादिभेदेन बहुप्रकारः कायो यथैकः परिपालनीयः ।
तथा जगद्भिन्नमभिन्नदुःखसुखात्मकं सर्वमिदं तथैव ॥ ९१ ॥

करचरणशिरःप्रभृतिभेदादनेकप्रकारः कायो यथैकत्वेनाध्यवसितः परिपालनीयो भवति दुःखनिवर्तनात् सुखोपधानाच्च, जगत्सत्त्वलोकः अभिन्न-

---

९०. उस बोधिचित्त-भावना के अभ्यास-हेतु आवश्यक है स्वचित्त में गम्भीरता के साथ परात्मसमता का भाव उदय करना । ताकि उसके सहारे से सर्वप्राणियों के सुख-दुःखों को अपना सुख-दुःख समझ कर उनका पालन (रक्षा) किया जा सके ॥

९१. जैसे शरीर के नाना अङ्ग होते हुए भी उन सबको एक शरीर समझ कर उनका सर्वथा पालन किया जाता है, उसी प्रकार जगत् के प्राणियों के भिन्न-भिन्न होते हुए भी उनकी सुख दुःख भोगने की, हेयोपादेयता की भावना तो एक सी ही है, अतः आत्मशरीरवत् पर काय के सुख-दुःख का भी खयाल रखना चाहिये ॥

मेकत्वेनाध्यवसितमात्मनः परिपालनीयं भवति। अभिन्नदुःखसुखात्मकं च। [P 329]लुप्तचकारो निर्देशः। तथैव हस्तादिभेदवदेव सर्वमिदमिति बहुप्रकारगतिभेदभिन्नमपि। अयमभिप्रायः—यथा अभ्यासादेकत्वाध्यवसायोऽस्मिन् काये एकत्वमन्तरेणापि,तथा अनेकप्रकारे जगत्यपीति न कश्चिद्विशेषः।।९१।।

स्यादेतत्—यदि भवता सह जगदेकस्वभावम्, तदा कथमिव भवतो दुःखमन्यसन्तानेषु न बाधकं स्यात्? एवं विपर्ययेऽपि योज्यमित्याशङ्क्याह—

* यद्यप्यन्येषु देहेषु मद्दुःखं न प्रबाधते।
तथापि तद् दुखमेव ममात्मस्नेहदुःसहम्।। ९२।।

अन्येषु अपरेषु शरीरेषु मम दुःखं यदि नाम प्रबाधकं न भवति, तथापि तद् दुःखमेव मम। कुतः? आत्मनि स्नेहेन दुःसहं सोढुमशक्यम्। हेतुपदमेतत्। अंशेन प्रवृत्तावपि दुःखस्वभावतां न मुञ्चतीत्यर्थः। एवं विपर्ययोऽपि व्याख्येयः।। ९२।।

* तथा यद्यप्यसंवेद्यमन्यद् दुःखं मयात्मना।
तथापि तस्य तद् दुःखमात्मस्नेहेन दुःसहम्।। ९३।।

[P 330] अतः स्वपरविशेषमपास्य दुःखस्वभावतैव निवर्तनहेतुः। अत आह—

* मयान्यदुःखं हन्तव्यं दुःखत्वादात्मदुःखवत्।

यद्यद् दुखं तत्तन्मया हन्तव्यम, यथात्मदुःखम्। दुःखं चेदमन्यसत्त्वदुःखमिति स्वभावहेतुप्रयोगः। दुःखस्वभावतामात्रभाविनी हन्तव्यता। न च असिद्धता हेतोः, अविशेषेण दुःखस्वभावतायाः प्रसाधितत्वात्। न चाप्यनै-

---

९२. यदचपि दूसरों के शरीरों में मेरा अपना दुःख तकलीफ नहीं देता, पर वह मेरे लिये तो दुःख ही है; क्योंकि मुझे अपने से स्नेह है, अतः वह मेरे लिये असह्य है।।

९३. तो जैसे मैं अपना यह दुःख दूर करता हूँ, वैसे ही मुझे दूसरों का भी दुःख दूर करना चाहिये; क्योंकि दुःख तो दुःख ही है, भले ही वह किसी को भी हो। अतः मुझे दूसरे दुःखी जनों पर करुणा ही करनी है; क्योंकि मेरी तरह दूसरे भी प्राणवान् है, उन्हें भी मेरी ही तरह दुःख में वही पीड़ा होती होगी जो मुझे होती है।।

कान्तिकता, आत्मदुःखस्यापि हन्तव्यता न स्यादविशेषादिति विपर्यय-बाधकम् । विरुद्धताप्यत एव न स्यात् ।

तथायमपरः प्रयोगः—

* अनुग्राह्या मयान्येऽपि सत्त्वत्वादात्मसत्त्ववत् ॥ ९४ ॥

ये सत्त्वास्ते सर्वे मया अनुग्राह्याः, यथा आत्मसत्त्वः । सत्त्वाश्च अन्येऽपि प्राणिनः इति स्वभावहेतुरेव । सत्त्वात्मकतामात्रभाविनि अनुग्राह्य-स्वभावता अत्र । अयमपि नासिद्धः, सत्त्वात्मकतायाः पक्षे प्रसिद्धत्वात् । आत्मनोऽनुग्राह्यताभावप्रसङ्गेन अनैकान्तिकोऽपि न स्यात् । पूर्ववन्न विरुद्धः ॥ ९४ ॥

ननु अस्ति विशेषोऽन्यस्मादात्मनि सुखाभिनिवेशो नाम, तथा ततो-ऽयमनैकान्तिको हेतुरिति ? अत्राह—

* यदा मम परेषां च तुल्यमेव सुखं प्रियम् ।
तदात्मनः को विशेषो येनात्रैव सुखोद्यमः ॥ ९५ ॥

तुल्यमेव सममेव सुखं प्रियमिष्टम् । तदात्मनः परस्मात् को [P 331] विशेषः ? नैव कश्चित्, येन तत्रैव आत्मन्येव सुखोत्पादनाय तात्पर्यं न परस्मिन्नित्यर्थः ॥ ९५ ॥

प्रथमे हेतावनैकान्तिकतां परिहरन्नाह—

* यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम् ।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम्[1] ॥ ९६ ॥

भयमिति दुःखहेतुः । नेतरमिति नान्यम् ॥ ९६ ॥

---

९४. दूसरों का कष्ट दूर करने में भी सावधान रहना चाहिये, क्योंकि दुःख तो दुःख ही है, फिर भले ही वह अपना हो या दूसरों का । अतः स्व-पर दुःख में कोई अन्तर न होने के कारण उसे दूर कर दूसरों को भी सुख पहुँचाने की कोशिश करनी चाहिये ।

९५. जब मुझ को तथा दूसरों को समान रूप से सुख ही प्रिय है, तब अपने-पराये में क्यों भेद किया जाय, कि मुझे ही सुख मिले दूसरों को नहीं ॥

९६. जब मुझ को या दूसरों को किसी भी प्रकार का भय या दुःख अभीष्ट

---

१. शिक्षासमुच्चयस्येयं प्रथमा कारिका ।

स्यादेतत्–यदि नाम दुःखात्मकता न विशिष्यते, तथापि यस्य दुःखेन बाधा स्यात्, स एव रक्षितुमुचितो नान्य इत्याह—

* तद्दुःखेन न मे बाधेत्यसौ यदि न रक्ष्यते ।
नागामिकायदुःखान्मे बाधा तत्केन रक्ष्यते ॥ ९७ ॥

तस्य परस्य दुःखेन मम बाधा पीडा नास्तीत्यतोऽस्मात् कारणाद् यदि न रक्ष्यतेऽन्यः, तदा अपरमिदं व्याहतं स्यात् । यतो नागामिनः कायस्य परलोक- [P 332] भाविनो नरकादिजातस्य दुःखात्मकस्य [दुःखान्मे] तस्योपात्तस्य कायस्य काचिद् बाधा सम्भवति, तस्य अन्यत्वात् । इति लोकोक्तौ, तस्मादर्थे वा । यत एवम् तस्मात् केनाभिप्रायेण असौ रक्ष्यते ? काय इति प्रकृतत्वात्, पापान्निवर्तनात् कुशले प्रवर्तनाच्च ॥ ९७ ॥

अथापि स्यात्–अहमेक एव सर्वदा, तेनात्र भिन्नत्वं नास्ति शरीरयोः, नायं दोषः ? इत्यत्राह—

* अहमेव तदापीति मिथ्येयं परिकल्पना ।

आत्मनो निराकरिष्यमाणत्वात् निरस्तत्वाच्च लेशतः तत्कोऽयमहं- प्रत्ययस्य विषयो भविष्यति ? तस्मादहंप्रत्ययविषयस्य कस्यचिदेकस्याभावा- न्मिथ्येयं परिकल्पना अध्यवसायः । अहमेव तदापीति । भवान्तरेऽपि । मायोपम- पञ्चोपादानस्कन्धमात्रालम्बनत्वादस्य । इतीदमपि अध्यवसायवशादुच्यते, न तु पुनरस्य वस्तुतः किंचिदालम्बनमस्ति, विकल्पात्मकत्वात् ।

कुतः पुनरियं मिथ्याकल्पना ? इत्याह—

* अन्य एव मृतो यस्मादन्य एव प्रजायते ॥ ९८ ॥

नहीं है, तब अपने-पराये में क्या भेद करना कि मुझे ही दुःख या भय से निवृत्ति (नाश) मिले, दूसरों को नहीं ! ॥

९७. 'पराये दुःख से मुझको क्या तकलीफ है'—यदि यह समझकर उसका दुःख दूर करने में सहायता न करना चाहो तो यह भी उचित नहीं; क्योंकि इस तरह तो आगामी (भविष्यत्काल के) शरीर से उत्पन्न होने वाले दुःखों से इस वर्तमान शरीर को तो पीड़ा होनी नहीं, फिर उसे दूर करने के लिये क्यों प्रयास (पूजा, पाठ आदि) किया जाता है ॥

९८. 'आगामी शरीर में भी मैं ही होऊँगा'–यदि इस कल्पना से यह प्रयास कर रहे हो तो यह भी तुम्हारी मिथ्या कल्पना ही है, क्योंकि वस्तुतः कोई दूसरा ही मरता है और दूसरा उत्पन्न होता है, वही नहीं । तो दूसरे की रक्षा कैसी ! ॥

यदा नात्मादिः कश्चिदेकः परलोकगामी सम्भवति, स्कन्धमात्रमेव केवलम्, तदा न खलु यदेव स्कन्धपञ्चकमिह विनश्यति, तदेव पुनरप्युत्पद्यते परलोके, अपि तु अपूर्वमेव पूर्वनिवृत्तौ तत्र इदम्प्रत्ययताविशिष्टं [P 333] क्लेशकर्माभिसंस्कृतमन्तराभवसन्तत्या समुत्पद्यते। तस्मादनादिसंसार-प्रवृत्तवितथविकल्पाभ्यासवासनावशादहंप्रत्ययो वितथ एव उपजायते ॥९८॥

किञ्च। इदमपरं तत्र बाधकमित्याह—

* यदि तस्यैव यद् दुःखं रक्ष्यं तस्यैव तन्मतम्।
पाददुःखं न हस्तस्य कस्मात् तत् तेन रक्ष्यते ॥ ९९ ॥

आस्तां तावद् यदागामिकायदुःखरक्षार्थं न यतितव्यम्। इह एकस्मिन्नपि काये प्रत्यङ्गभेदाद्भिन्नं दुःखम्। ततो यदा अन्यद् दुःखमन्यस्य रक्षितुं न युज्यते, तदा कथं पादादौ प्रहारं पतन्तं दृष्ट्वा हस्तं प्रसार्य रक्ष्यते? अन्यत्वाविशेषान्न युक्तमेतदित्यर्थः ॥ ९९ ॥

अथ—

* अयुक्तमपि चेदेतदहङ्कारात् प्रवर्तते।
तदयुक्तं निवर्त्यं तत् स्वमन्यच्च यथाबलम् ॥ १०० ॥

अहङ्कारोऽस्मिन् काये अहमित्यात्मग्रहादात्मनोभावेऽपि। प्रवर्तते जायते पादादौ रक्षणमनसिकारः। नैतत् साधु; यतो यदयुक्तं युक्त्या सङ्गतं न भवति, तन्निवर्त्यमपसार्यं स्वकीयं परकीयं च यथाबलं यथा- [P 334] सामर्थ्यम्। शक्तिवैकल्यादेव तदुपेक्षितुमुचितमिति भावः ॥ १०० ॥

स्यादेतत्—यदि नाम आत्मादिर्नास्ति, तथापि सन्तानो नाम एकः सम्भवति, तथा बहूनां करचरणादीनां समुदायः शरीरमेकम्। तदेतद् द्वयं यथासम्भवमिह लोके परलोके च आत्मदुःखापहरणादेर्नियामकं भविष्यति। ततोऽयमविशेषादित्यसिद्धो हेतुः, पूर्वश्च अनैकान्तिकः? इत्याशङ्क्याह—

---

९९. (फिर एक बात और है--) दूसरे की दुःखों से रक्षा में तुम्हारी दिलचस्पी न हो तो फिर तुम्हारे शरीर का एक अंग (हाथ) चोट लगते समय दूसरे अंग (पैंर) की रक्षा में क्यों तत्पर हो जाता है? ॥

१००. (यदि कहो कि-) यह एक अंग द्वारा दूसरे की रक्षा यद्यपि अयुक्त है, पर ममत्वाभिमान से ऐसा होता रहता हैं—तो यह भी उचित नहीं। कारण जो अयुक्त है, उससे यथासम्भव दूर रहने का प्रयास करना चाहिये, भले ही वह अपना हो या पराया! ॥

* सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा ।
यस्य दुःखं स नास्त्यस्मात् कस्य तत् स्वं भविष्यति ॥ १०१ ॥

सन्तानो नाम न कश्चिदेकः परमार्थसन् सम्भवति । किं तर्हि ? कार्यकारणभावप्रवृत्तक्षणपरम्पराप्रवाहरूप एवायम्, ततो व्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात् । तस्मादेतेषामेव क्षणानामेकपदेन प्रतिपादनाय संकेतो कृतो बुद्धैर्व्यवहारार्थं सन्तान इति । इति प्रज्ञप्ति सन्नेव अयम् । तेन अत्राभिनिवेशो न कार्यः । अन्यथा आत्मना किमपराद्धं येनासौ न स्वीक्रियते । एवं समुदायोऽपि न समुदायिभ्यो वस्तुसन् एको विद्यते, तस्य तेभ्यः पृथगनुपलब्धेः ? तत्त्वान्यत्वविकल्पस्तु अस्य अवयविविचारेणैव गत इति नेह प्रतायते । ततश्च अयमपि संवृतिसन्नेव पूर्ववत् । अनयोर्यथासंख्यमुदाहरण- [P 335] माह—**पंक्तिसेनादिवदिति** । पंक्तिवत् सन्तानः, सेनादिवत् समुदायः । आदिशब्दान्माला-वनादयो गृह्यन्ते । यथा अनेकेषां पिपीलिकादीनां पूर्वापरभावेन व्यवस्थितानां स्वरूपमन्तरेण पंक्तिर्नास्ति स्रक्सूत्रवदेका, यथा च हस्त्यश्वपदातिप्रभृतिभ्यो मिलितेभ्यो व्यतिरिक्ता नान्या सेना काचिदेका तत्रास्ति, तथा समुदायोऽपि । एतच्च अन्यत्र [बो० च०- ९. ७३] विस्तरेण विचारितमिति नेह विचार्यते । तस्माद्वस्तुसदालम्बनाभावान्मृषाऽयं प्रत्ययः । अर्थो वा, विचारासहत्वात् । एवमात्मादेः स्वामिनः कस्यचिदभावाद् यस्य सम्बन्धि दुःखं स नास्ति । अतः **कस्य तद् दुःखं स्वात्मीयं भविष्यति** ? नैव कस्यचिदित्यर्थः । ननु यदि आत्मादिर्नास्ति, तदा कथमयं दृष्टान्तो भविष्यति—आत्मवदिति, आत्मसत्त्ववदिति च ? सत्यमेतत् । किन्तु नेदं व्यसनितया साधनमभिधीयते, किं तर्हि ? परस्य आत्मग्रहाभिनिवेशनिवारणाय । तद्यदि परस्य निवृत्त एव आत्मग्रहाभिनिवेशः, तदा न किञ्चित् प्रयोजनमनुमानप्रयोगस्य । अथ न निवृत्तः, तदा तदभिप्रायेणैव स्वपरविभागं कृत्वा तत्प्रत्यायनार्थं साधनं दृष्टान्तश्चोच्यते, [P 336] इति न दृष्टान्तस्यासिद्धिर्व्यवहारप्रवर्तनाय । किञ्च, इदमुपात्तपञ्चस्कन्धमात्रमभिसन्धाय दृष्टान्ते दीयमाने न काचित् क्षतिः; अत्रैव आत्मशब्दस्य प्रवृत्तेरिति ॥ १०१ ॥

---

१०१. जैसे वृक्षपंक्ति वृक्षों से भिन्न नहीं, सेना योद्धाओं से भिन्न नहीं, उसी तरह सन्तान और सङ्घात भी परम्पराप्रवाह और समुदाय से भिन्न नहीं । अतः जिसका दुःख है वह नहीं है तो फिर उस दुःख पर किसका स्वत्व हो सकता है ! ॥

इदानीं प्रकृतमुपसंहरन्नाह—

* अस्वामिकानि दुःखानि सर्वाण्येवाविशेषतः ।
दुःखत्वादेव वार्याणि नियमस्तत्र किंकृतः ॥ १०२ ॥

न विद्यन्ते स्वामिनो येषामुक्तक्रमेणेति विग्रहः । अममानि कस्यचित् प्रतिबद्धानि इत्यर्थः । कुतः ? किं कानिचिदेव ? न ; **सर्वाण्येवाविशेषतः** । न क्वचित् कस्यचित् स्वामित्वमस्ति, विशेषाभावात् । **दुःखत्वादेव** स्वपराविभागं कृत्वा **वार्याणि** मिषेध्यानि भवन्ति । नान्यन्निमित्तमस्ति तत्र आत्मीयत्वादि । तेनायं **नियमः किंकृतः**, केन विशेषेण कृतः ? येन स्वकीयान्येव वार्याणि न परकीयानीति । एवं दुःखत्वादिति हेतुरनैकान्तिको न भवतीति समर्थितम् ॥ १०२ ॥

ननु यदि दुःखी नाम कश्चि संसारे सम्भवति, तर्हि दुःखमनिवार्यमेव स्यात्, कृपापात्रस्य दुःखिनः कस्यचिदभावाद् ? इत्याशङ्कमान आह—

* दुःखं कस्मान्निवार्यं चेत् सर्वेषामविवादतः । [P 337]
वार्यं चेत् सर्वमप्येवं न चेदात्मापि सत्त्ववत्[1] ॥ १०३ ॥

न वार्यमेव निरात्मकत्वादेव यदि मन्यसे, तदा न युक्तमेतत् । कुतः ? **सर्वेषामविवादादविप्रतिपत्तेः** । **चार्वाकस्यापि** स्वदुःखपरिहारेणैवेह प्रवृत्तेः । न च तेषामात्मनोऽभ्युपगमाददोषः; तत्स्वभावस्यानुपपलब्धेः । न च अभ्युपगमात्रेण तस्य सत्ता प्रसिध्यति, तत्साधकप्रमाणाभावात्, बाधकस्य च अनेकप्रकारस्याभिधनात् । एवं सति यदि वार्यं दुःखम्, तदा सर्वं वार्यम्, तदात्मापि । उपात्तपञ्चस्कन्धस्वभावमपि दुःखं न वार्यम्, सर्व(त्त्व ?)वद विशेषादित्युपसंहारः ॥ १०३ ॥

---

१०२. अतः यह सिद्ध हो गया कि संसार में होनेवाले सभी दुःख अनाथ है, इनका कोई स्वामी नहीं जो इन्हें अपना कह सके । इसलिये अपने-पराये का भेद छोड़कर इनके निवारणहेतु प्रयास करना चाहिये । यह नियम तुमने कहाँ से बना लिया कि अपना ही दुःख मिटाना है, दूसरों का नहीं ! ॥

१०३. ''दुःख के निरात्मक होने से उसके निवारण की कोई आवश्यकता नहीं''—यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि यदि दुःखों का निवारण करना है तो सबका करना चाहिये, अन्यथा अपना भी क्यों ! ॥

---

१. आत्मनि सर्ववत्—पाठा० ।

स्यादेतत्—करुणापरतन्त्रतया परदुःखदुःखिनः सर्वदुःखापहरणाय यत्नः। तद्वरं बहुदुःखनिदानं सैव प्रथमतो नोत्पादयितुं युज्यते ? इति परवचनावकाशं शङ्कमान आह—

* कृपया बहु दुःखं चेत् कस्मादुत्पद्यते बलात्।

बलादिति प्रयत्नात्। अत्रोत्तरमाह—

* जगद्दुःखं निरूप्येदं कृपादुःखं कथं बहु ॥ १०४ ॥

[P 338] जगतो दुःखं नरकादिकृतमनेकप्रकारं समीक्ष्य इदं कृपाकृतं दुःखं कथं बहु ? नेदं बहु कृपादुःखमिति भावः ॥ १०४ ॥

किं च। अपरमिदमत्रोत्तरमित्याह—

* बहूनामेकदुःखेन यदि दुःखं विगच्छति।
उत्पाद्यमेव तद्दुःखं सदयेन परात्मनोः ॥ १०५ ॥

एकस्य पुरुषस्य दुःखेन बहूनां सत्त्वानां यदि दुःखं विगच्छति निवर्तते, तदा उत्पाद्यमेव जनयितव्यमेतत्तादृशं दुःखम्। सदयेन कृपात्मकेन परस्यात्मनश्च ॥ १०५ ॥

उत्सूत्रतामस्य परिहरन्नाह—

* अतः सुपुष्पचन्द्रेण जानतापि नृपापदम्।
आत्मदुःखं न निहतं बहूनां दुःखिनां व्ययात् ॥ १०६ ॥

यत एव उत्पाद्यमेव तद् दुःखं कृपालुना स्वपरात्मनोः अत एव सुपुष्पचन्द्रेण बोधिसत्त्वेन। नृपादापदं नृपस्य वा राज्ञ आपदम्। जानतापि

---

१०४. यदि यह कहो कि 'दुःखियों पर कृपा करने से अपना दुःख और बढ़ जायगा'—यह कहना भी उचित नहीं। क्या तुम्हें जगत् का इतना विपुल दुःख देखते हुए भी करुणा से होने वाला दुःख ज्यादा लग रहा है ! ॥

१०५. एक आदमी के दुःखी होने से यदि अन्य बहुतों का दुःख दूर हो रहा हो तो वैसा दुःख होना लाख बार अच्छा ! अतः स्व-पर-दुःख की निवृत्ति के लिये करुणा का आलम्बन अत्यन्त आवश्यक है ॥

१०६. आर्य समाधिराजसूत्र में आयी कथा के अनुसार धर्मभाणक सुपुष्पचन्द्र ने राजा की ओर से आनेवाली आपत्ति (राजदण्ड) को जानते हुए भी असंख्य लोगों के दुःखों को दूर करने के लिये अपने दुःख (अंग-प्रत्यङ्ग का छेदन) की कोई परवाह नहीं की थी ॥ (आर्य सुपुष्पचन्द्र की कथा ऊपर पञ्जिका में देखें।) ॥

बुध्यमानेनापि । आत्मदुःखं न निहतं न निर्वर्तितम् । उपेक्षितमिति यावत् । तथा राज्ञोऽपि परलोकदुःखम् । किमिति ? बहूनां दुःखिनां व्ययात् । दुःखस्येति प्रकृतं षष्ठयन्ततया सम्बध्यते ।

यदुक्तं सुपुष्पचन्द्रस्येतिवृत्तके [समाधि० सू० ३५] तथा हि —[P 339] अतीतेऽध्वनि रत्नपद्मचन्द्रविशुद्धाभ्युद्गतराजो नाम तथागतोऽभूत् । स भगवान् बुद्धकृत्यं कृत्वा चिरतरकालमवस्थाय परिनिर्वृतः । तस्मिंश्च परिनिर्वृते शासनान्तर्धानसमये राजा शूरदत्तो नाम बभूव । तस्य रत्नावती नाम राजधानी । तस्मिन् काले दृष्टिविपिन्नाः सत्त्वाः । तेषामनुकम्पार्थं बहवो बोधिसत्त्वा उत्पन्नाः प्रव्रजिताः । ते च ततो राष्ट्रजनपदेभ्यो निर्वासिताः समन्तभद्रं नाम अरण्यवनखण्डमुपसृत्य विहरन्ति स्म सार्धं सुपुष्पचन्द्रेण धर्मभाणकेन । अथ खलु सुपुष्पचन्द्रस्य बोधिसत्त्वस्य सत्त्वान् करुणायमानस्य रहोगतस्य चेतसि वितर्कं उदपादि—'यन्न्वहं जनपदराष्ट्रराजधानीर्गत्वा सत्त्वान् कुमार्गप्रपन्नान् कल्याणे वर्त्मनि प्रतिष्ठापयामि'। स तमर्थं सब्रह्मचारिभ्यो निवेदयामास । तैर्निवार्यमाणोऽपि स्वयं च स्वापदं प्रतिपद्यमानः तस्य राज्ञोऽपि ततो वनखण्डान्निर्जगाम । स क्रमेण धर्मं देशयन् तस्य राज्ञो राजधानीमनुप्राप्तो बहून् सत्त्वान् राजपुत्रामात्यपुरोहितप्रभृतीन् प्रकारं[1] विनीय सत्पथे व्यवस्थापयन् तेन राज्ञा दृष्टः । सहदर्शनेन [P 340] प्रकुप्तः सर्वं च जनकायं तदावर्जितं प्रतिपद्य ईर्ष्यादूषितहृदयः तद्वधार्थं स्वपुत्रानाज्ञापयामास । तांश्च तद्वधविमुखान् प्रतिपद्य नन्दिकं वध्यघातकमाज्ञापयामास । तेन तदाज्ञामनुवर्तमानेन करचरणादिच्छेदक्रमेण अक्षीणि च सन्दंशिकेनोद्धृत्य जीविताद् व्यपरोपितः । अथ तस्य भिक्षो राजमार्गगतस्य जीविताद् व्यपरोपितस्य शरीरे अनेकान्यद्भुतानि बभूवुः । तानि प्रतिपद्य स राजा 'निश्चितं बोधिसत्त्व एवायं भिक्षुः' इति परितापगतो बहुतरं परिदेवते स्म ।"

इति सुपुष्पचन्द्रस्येतिवृत्तकं संक्षिप्य कथितम् । विस्तरेण पुनः समाधिराजसूत्रे [३५ प०] निर्दिष्टमिति तत्रैव अवधार्यम् ॥ १०६ ॥

न चापि कृपावतां परदुःखदुःखिनां महदपि दुःखं बाधकमिति प्रतिपादयन्नाह—

---

१. यथाविनयं बहूपायैः—पाठा० ।

* एवं भावितसन्तानाः परदुःखसमप्रियाः ।
अवीचिमवगाहन्ते हंसाः पद्मवनं यथा ॥ १०७ ॥

एवं परात्मसमतया **भावितसन्तानाः** अनाभोगप्रवृत्तचित्तसन्ततयः । **परदुःखेन समं** तुल्यं प्रियं सुखहेतुर्येषां ते तथा । आत्मसुखमपि परदुःखेन दुःखमेव येषामित्यर्थः । ते **अवीचिमवगाहन्ते** परव्यसनसमुद्धरणाय तद्दुःखं सुखमेव मन्यमानाः । इदमेवाह—**हंसाः पद्मवनं यथा** । आवीचिकमपि दुःखं सुखमेव परार्थे येषां ते । केन दुःखहेतुना अन्येन दुःखिनो भविष्यन्ति ? ॥

अपि च सुखमपि तेषामसाधारणमेवोपजायते परसुखेन, इत्युपदर्शयन्नाह—

* मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन[1] किम् ॥ १०८ ॥

दुःखबन्धनाद् विसंयुज्यमानेषु **सत्त्वेषु** सत्सु । **ये ते** इति । तेषामेव अनुभवसिद्धत्वादिदन्तया कथयितुमशक्याः, अत एव **प्रामोद्यसागराः** सन्तुष्टिसमुद्राः कृपावतां सन्तानेषु प्रादुर्भवन्ति । **तैरेव** प्रामोद्यसागरैः **पर्याप्तं** तदन्यसुखवैमुख्यात् परिसमाप्तम् ।……[2] ॥ १०८ ॥

* अतः परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः ।
न विपाकफलाकाङ्क्षा परार्थैकान्ततृष्णया ॥ १०९ ॥

---

१०७. इस तरह जो लोग परहित-चिन्तन की सतत भावना करते रहते हैं, अपने दुःख के समान ही दूसरों के दुःखों को भी समझते हैं, वे परलोक में अवीचि नरक के दुःखों को उसी तरह पार कर जाते हैं, जैसे हंस पद्मवन को पार करते हैं ॥

१०८. उन असंख्य प्राणियों के दुःखबन्धन से छुटकारा पा जाने से तुम्हारे हृदय में जो सन्तोष का समुद्र उमड़ पड़ेगा, उसके सामने आनन्दविहीन निर्वाण तो कुछ भी नहीं है ॥

१०९. इसलिये परहित सम्पन्न करके भी उसका न अभिमान करना चाहिये, न विषाद । और न उसके फल की आकाँक्षा ही रखे । बस ! केवल परहित-चिन्तन का ही व्यसन रहे ॥

---

१. मोक्षेणाप्यरसेन—पाठा० ।
२. इतोऽग्रे आपरिच्छेदसमाप्तेः पञ्जिका नोपलब्धा ।

* तस्माद् यथान्तशोऽवर्णादात्मानं गोपयाम्यहम् ।
रक्षाचित्तं दयाचित्तं करोम्येवं परेष्वपि ।। ११० ।।

* अभ्यासादन्यदीयेषु शुक्रशोणितविन्दुषु ।
भवत्यहमिति ज्ञानमसत्यपि हि वस्तुनि ।। १११ ।।

* तथा कायोऽन्यदीयोऽपि किमात्मेति न गृह्यते !
परत्वं तु स्वकायस्य स्थितमेव न दुष्करम् ।। ११२ ।।

* ज्ञात्वा सदोषमात्मानं परानपि गुणोदधीन् ।
आत्मभावपरित्यागं परदानं च भावयेत् ।। ११३ ।।

* कायस्यावयवत्वेन यथाभीष्टाः करादयः ।
जगतोऽवयवत्वेन तथा कस्मान्न देहिनः ।। ११४ ।।

* यथात्मबुद्धिरभ्यासात् स्वकायेऽस्मिन्निरात्मके ।
परेष्वपि तथात्मत्वं किमभ्यासान्न जायते ।। ११५ ।।

* एवं परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः ।
आत्मानं भोजयित्वैव फलाशा न च जायते ।। ११६ ।।

---

११०. जैसे मैं अपनी निन्दा से घबराकर वैसे कामों से दूर रहने की कोशिश करता हूँ, वैसे ही मुझे अन्य प्राणियों के निमित्त अपने अन्दर रक्षा और दया का भाव पैदा करना चाहिये ।।

१११-११२. दूसरे के शुक्र-शोणित से पैदा हुए इस असत् शरीर पर जैसे अभ्यासवश मैं ममत्व दिखाता हूँ, वैसे ही क्या मुझे दूसरे प्राणियों के शरीरों पर अपना ममत्व नहीं रखना चाहिये ! और फिर स्वकाय का परत्व भी तो सिद्ध ही है ।।

११३. अपने को दुर्गुणों से भरा हुआ और दूसरों को गुणसागर (गुणों से भरा हुआ) मानकर अपने में ममत्व का त्याग और दूसरों में आत्मभाव पैदा करना चाहिये ।।

११४. जैसे शरीर का अवयव (अङ्ग) होने के कारण अपने हाथ-पैर आदि पर ममत्व होता है, उसी प्रकार जगत् का अङ्गभूत होने से दूसरे प्राणियों पर भी ममत्व क्यों न रखा जाय ! ।।

११५. और जैसे अपना न होने पर भी अपने शरीर पर अभ्यासवश मेरी आत्मबुद्धि (अपनापन) है, दूसरों के शरीर पर भी क्या ऐसी ही आत्मबुद्धि अभ्यास के द्वारा नहीं की जा सकती ! ।।

११६. इस तरह परहित-चिन्तन करके भी न तो उस किये हुए का

* तस्माद् यथार्तिशोकादेरात्मानं गोप्तुमिच्छसि ।
रक्षाचित्तं दयाचित्तं जगत्यभ्यस्यतां तथा ।। ११७ ।।

* अध्यतिष्ठदतो नाथः स्वनामाप्यवलोकितः ।
पर्षच्छारद्यभयमप्यपनेतुं जनस्य हि ।। ११८ ।।

* दुष्करान्न निवर्तेत यस्मादभ्यासशक्तितः ।
यस्यैव श्रवणात् त्रासस्तेनैव न विना रतिः ।। ११९ ।।

* आत्मानं चापरांश्चैव यः शीघ्रं त्रातुमिच्छति ।
स चरेत् परमं गुह्यं परात्मपरिवर्तनम् ।। १२० ।।

* यस्मिन्नात्मन्यतिस्नेहादल्पादपि भयाद् भयम् ।
न द्विषेत् कस्तमात्मानं शत्रुवद् यो भयावहः ।। १२१ ।।

अभिमान करना चाहिये, न उसके लिए विषाद कि ऐसा करके मैंने व्यर्थ ही समय खो दिया ! ।।

११७. इसलिये जैसे तुम दुःख शोक आदि की घटनाओं से अपने इस निरात्मक शरीर की रक्षा के उपाय करते हो, उसी तरह दूसरों के लिये दया-भावना व रक्षा की भावना अपने हृदय में पैदा करनी चाहिये ।।

११८. इसीलिये भगवान् अवलोकितेश्वर ने भीरुजनों को सभा में बोलने के भय को दूर करने के लिये अपने नाम का सहारा दिया था । (बौद्धों में यह बात प्रसिद्ध है कि जो व्यक्ति सभा में भगवान् अवलोकितेश्वर के नाम का स्मरण लेकर बोलना प्रारम्भ करता है वह उस सभा में किसी से पराजित नहीं होता) ।।

११९. अभ्यास के सहारे, मनुष्य कठिन से कठिन काम से पीछे नहीं हटता । अन्त में एक दिन ऐसी स्थिति आ जाती है कि दूसरे लोग जिस (कठिन कार्य) का नाम सुनकर ही पीछे हट जाते हैं वह अभ्यासवश उसे बार-बार पूरा करने में आनन्दानुभव करता है ।।

१२०. जो अपनी या दूसरों की रक्षा करने में ही निरन्तर तत्पर रहता है, वही एक न एक दिन दूसरों में भी आत्मभाव (अपने समान समझना) पैदा कर लेता है । (दूसरों के कष्ट को अपना ही समझ उसकी रक्षा में तत्पर हो जाता है ।) ।।

१२१. अति स्नेह के कारण जिसे अपने शरीर में थोड़ा सा भी भय उपस्थित होने पर ज्यादा से ज्यादा भय दिखायी देता हो, उस अपने शरीर से कौन द्वेष नहीं करेगा, जो शत्रु की तरह भय पैदा करने वाला है ।।

* यो मान्द्यक्षुत्पिपासादिप्रतीकारचिकीर्षया ।
पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति परिपन्थं च तिष्ठति ।। १२२ ।।

* यो लाभसत्क्रियाहेतोः पितरावपि मारयेत् ।
रत्नत्रयस्वमादद्याद् येनावीचीन्धनो भवेत् ।। १२३ ।।

* कः पण्डितस्तमात्मानमिच्छेद् रक्षेत् प्रपूजयेत् ।
न पश्येच्छत्रुवच्चैनं कश्चैनं प्रतिमानयेत् ।। १२४ ।।

* यदि दास्यामि किं भोक्ष्ये इत्यात्मार्थे पिशाचता ।
यदि भोक्ष्ये किं ददामीति परार्थे देवराजता ।। १२५ ।।

* आत्मार्थं पीडयित्वान्यं नरकादिषु पच्यते ।
आत्मानं पीडयित्वा तु परार्थं सर्वसम्पदः ।। १२६ ।।

* दुर्गतिर्नीचता मौर्ख्यं ययैवात्मोन्नतीच्छया ।
तामेवान्यत्र संक्राम्य सुगतिः सत्कृतिर्मतिः ।। १२७ ।।

---

१२२. जो अजीर्ण, भूख-प्यास आदि को मिटाने के लिए पक्षियों, मछलियों और मृगों को मारने में लगा रहता है और उनका दुश्मन बन जाता है ।।

१२३. जो थोड़े से लाभ-सत्कार के लिये अपने माता-पिता तक को मारने के लिये तैयार हो जाता है वह मानो अपने से रत्नत्रय को छीन लेता है, फलस्वरूप वह अवीचि नरक का इन्धन बन जाता है ।।

१२४. ऐसे निर्घृण शरीर को कौन बुद्धिमान् मनुष्य चाहे, उसकी रक्षा करे या उसका सम्मान करे। क्यों न इसे सब लोग अपने दुश्मन की तरह समझें ।।

१२५. 'यदि इसे दे दूँगा, तो मैं क्या खाऊँगा'—यह सोचना तो राक्षसपन है। इसके विपरीत 'यदि मैं ही खा जाऊँगा तो इसे क्या दूँगा'—यह सोचना इन्द्रत्व (बड़प्पन) है ।।

१२६. अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को तकलीफ देकर तो नरक ही भोगना पड़ेगा। हाँ! स्वयं तकलीफ सह कर दूसरों की सहायता करने से प्रतिफल में सुखसम्पत्ति ही सुखसम्पत्ति है ।।

१२७. अपने लिये उन्नति की इच्छा जहाँ दुर्गति (पाप), नीचता और मूर्खता कहलाती है, वहीं दूसरों के लिये उन्नति की इच्छा सुगति, सत्कार (प्रशंसा बढ़ाने वाली) और अक्लमन्दी कहलाती है ।।

* आत्मार्थं परमाज्ञप्य दासत्वाद्यनुभूयते ।
परार्थं त्वेनमाज्ञप्य स्वामित्वाद्यनुभूयते ।। १२८ ।।

* ये केचिद् दुःखिता लोके सर्वे ते स्वसुखेच्छया ।
ये केचित् सुखिता लोके सर्वे तेऽन्यसुखेच्छया ।। १२९ ।।

* बहुना वा किमुक्तेन दृश्यतामिदमन्तरम् ।
स्वार्थार्थिनश्च बालस्य मुनेश्चान्यार्थकारिणः ।। १३० ।।

* न नाम साध्यं बुद्धत्वं संसारेऽपि कुतः सुखम् !
स्वसुखस्यान्यदुःखेन परिवर्तमकुर्वतः ।। १३१ ।।

* आस्तां तावत् परो लोके दृष्टोऽप्यर्थो न सिध्यति ।
भृत्यस्याकुर्वतः कर्म स्वामिनोऽददतो भृतिम् ।। १३२ ।।

* त्यक्त्वान्योन्यसुखोत्पादं दृष्टादृष्टसुखोत्सवम् ।
अन्योन्यदुःखनाद् घोरं दुःखं गृह्णन्ति मोहिताः ।। १३३ ।।

---

१२८. अपने लिये दूसरों को आज्ञा देने में, फलस्वरूप, दासता भोगनी पड़ती है (इस या उस जन्म में हमें भी उसका काम करना पड़ेगा)। उधर परहित के लिये अपने शरीर को आज्ञा देकर प्रतिफल में स्वामित्व (बड़प्पन) मिलेगा ।।

१२९. दुनियाँ में जो भी दुःखी दिखायी देते हैं वे सब अपने सुख के लोभ में पड़कर ही ऐसा कष्ट भोग रहे हैं । और जो सुखी दिखायी देते हैं, वे परहित-कामना में लगे रहकर, फलस्वरूप, सुख के भागी हैं ।।

१३०. ज्यादा कहने से क्या लाभ, फिर भी स्वार्थी पृथग्जन और परहित-निरत मुनि के दैनिक चरित्र को देखकर आप इसमें स्वयं ही अन्तर समझ लें ।।

१३१. अपने सुख का दूसरों के दुःख से परिवर्तन न करने वाले को बुद्धत्व मिलना असम्भव है, फिर संसार में सुख की प्राप्ति कैसे होगी ! ।।

१३२. और, परलोक की बात तो छोड़िये ! इस लोक में भी वह सुखी नहीं रह सकता; क्योंकि काम न करने वाले मजदूर को स्वामी के द्वारा वेतन कहाँ मिल पाता है ।।

१३३. परस्पर सुख पहुँचाना इस लोक और परलोक में सुख-महोत्सव मनाना है । मूर्ख लोग आपस में दुःख पहुंचाते हुए अपने लिये भी भयंकर दुःखों का ही संग्रह करते हैं ।।

* उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि चैव ।
सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण ॥१३४॥

* आत्मानमपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।
यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ॥ १३५ ॥

* तस्मात् स्वदुःखशान्त्यर्थं परदुःखशमाय च ।
ददाम्यन्येभ्य आत्मानं परान् गृह्णामि चात्मवत् ॥ १३६ ॥

* अन्यसम्बद्धमस्मीति निश्चयं कुरु हे मनः !
सर्वसत्त्वार्थमुत्सृज्य नान्यच्चिन्त्यं त्वयाधुना ॥ १३७ ॥

* न युक्तं स्वार्थदृष्टचादि तदीयैश्चक्षुरादिभिः ।
न युक्तं स्यन्दितुं स्वार्थमन्यदीयैः करादिभिः ॥ १३८ ॥

* तेन सत्त्वपरो भूत्वा कायेऽस्मिन् यद्यदीक्षसे ।
तत्तदेवापहृत्यास्मात् परेभ्यो हितमाचर ॥ १३९ ॥

* हीनादिष्वात्मतां कृत्वा परत्वमपि चात्मनि ।
भावयेर्ष्यां च मानं च निर्विकल्पेन चेतसा ॥ १४० ॥

---

१३४. संसार में जो भी उपद्रव होते हैं; या जितने प्रकार के भय और दुःख हैं, वे सब आत्म-परिग्रह (अपने लिये संग्रह) से ही उत्पन्न होते हैं, अतः मैं तो इस आत्मपरिग्रह से दूर ही रहूँगा ॥

१३५. जैसे अग्नि से विना दूर रहे दाह को नहीं छोड़ा जा सकता, वैसे ही अपनापन (ममत्व) छोड़े विना सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाना मुश्किल है ॥

१३६. अतः स्व और पर के दुःखों की शान्ति हेतु मैं अपने को दूसरों के लिये समर्पित करता हूँ और दूसरों के लिये आत्मभावना (अपना समझना) पैंदा करता हूँ ॥

१३७. रे मन ! "मैं दूसरों का जरखरीद गुलाम हूँ"—यह निश्चय कर ले । सर्वप्राणिहित-कामना के अतिरिक्त अब तुझे और कुछ नहीं सोचना है ॥

१३८. अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये दूसरों की आँखों का सहारा लेना उचित नहीं । इसी तरह अपनी कार्यसिद्धि के लिये दूसरे के हाथ-पैर का सहारा लेना भी ठीक नहीं ॥

१३९. अतः परहित-भावना रखते हुए भी, इस शरीर के लिये जो तूँ इकट्ठा कर रहा है उसे इसे न देकर परहित में लगा दे ॥

१४०. कम पाने में ही अपना लाभ समझ । अपने में परायेपन की भावना कर । और ईर्ष्या, मान की भावना को निर्विकल्प मन से ही ग्रहण कर ॥

* एष सत्क्रियते नाहं लाभी नाहमयं यथा ।
स्तूयतेऽयमहं[1] निन्द्यो दुःखितोऽहमयं सुखी ।। १४१ ।।

* अहं करोमि कर्माणि तिष्ठत्येष तु सुस्थितः ।
अयं किल महाँल्लोके नीचोऽहं किल निर्गुणः ।। १४२ ।।

* किं निर्गुणेन कर्तव्यं सर्वस्यात्मा गुणान्वितः ।
सन्ति ते येष्वहं नीचः, सन्ति ते येष्वहं बरः ।। १४३ ।।

* शीलदृष्टिविपत्त्यादि क्लेशशक्त्या न मद्वशात् ।
चिकित्स्योऽहं यथाशक्ति पीडाप्यङ्गीकृता मया ।। १४४ ।।

* अथाहमचिकित्स्योऽस्य कस्मान्मामवमन्यसे ।
किं ममैतद्गुणैः कृत्यमात्मा तु गुणवानयम् ।। १४५ ।।

* दुर्गतिव्यालवक्त्रस्थे नैवास्य करुणा जने ।
अपरं गुणमानेन पण्डितान् विजिगीषते ।। १४६ ।।

---

१४१. 'इसका जो सत्कार हो रहा है, लाभ मिल रहा है वह मुझे क्यों नहीं मिल रहा', 'इसकी प्रशंसा हो रही है मेरी निन्दा', 'मैं दुःखी हूँ यह सुखी है' ।।

१४२. 'मैं काम करता हूँ यह निठल्ला बैठा रहता है', 'इसकी लोक में प्रतिष्ठा है, मेरी कोई पूछ नहीं' (मुझे लोग फालतू समझते हैं) ।।

१४३. मैं बेकार हूँ, क्या अपने आप को दूसरों के काम में आने लायक बना सकूँगा । इस दुनियाँ में वे भी हैं जिनसे मैं सभी बातों में हीन हूँ; वे भी हैं जिनसे मैं श्रेष्ठ हूँ ।।

१४४. दुराचरण, मिथ्यादृष्टि आदि कर्मफल क्लेशों की शक्ति के अनुसार घटते-बढ़ते हैं, उन पर मेरा कोई वश नहीं । मुझ गरीब को सहारे की जरूरत है । वह सहारा पाने के लिये मैं कुछ तकलीफ भी सह सकता हूँ ।।

१४५. दूसरा मुझे सहारा नहीं देना चाहता है तो न दे, पर मेरा अपमान तो न करे । वह यदि मुझसे अधिक गुणवान् है तो हुआ करे । मुझे उसके गुणों से क्या लेना देना ! ।।

१४६. दुर्गतिरूपी सर्प के मुँह में पड़े दूसरे लोगों पर इस स्वगुणाभिमानी को दया नहीं आ रही । अपने गुणों के अभिमान में यह भले आदमियों पर रोब गाँठना चाहता है ।।

---

१. स्तूयतेऽहमहं —मु० पा० ।

* सममात्मानमालोक्य यतः स्वाधिक्यवृद्धये ।
कलहेनापि संसाध्यं लाभसत्कारमात्मनः ॥ १४७ ॥

* अपि सर्वत्र मे लोके भवेयुः प्रकटा गुणाः ।
अपि नाम गुणा येऽस्य न श्रोष्यन्त्यपि केचन ॥ १४८ ॥

* छाद्येरन्नपि मे दोषाः स्यान्मे पूजास्य नो भवेत् ।
सुलब्धा अद्य मे लाभाः पूजितोऽहमयं न तु ॥ १४९ ॥

* पश्यामो मुदितास्ताबच्चिरादेनं खलीकृतम् ।
हास्यं जनस्य सर्वस्य निन्द्यमानमितस्ततः ॥ १५० ॥

* अस्यापि हि वराकस्य स्पर्धा किल मया सह !
किमस्य श्रुतमेतावत् प्रज्ञा रूपं कुलं धनम् ॥ १५१ ॥

* एवमात्मगुणान् श्रुत्वा कीर्त्यमानानितस्ततः ।
सञ्जातपुलको हृष्टः परिभोक्ष्ये सुखोत्सवम् ॥ १५२ ॥

* यद्यप्यस्य भवेल्लाभो ग्राह्योऽस्माभिरसौ बलात् ।
दत्वास्मै यापनामात्रमस्मत्कर्म करोति चेत् ॥ १५३ ॥

---

१४७. "दूसरे को अपने बराबर देखकर उससे अपने को आगे बढ़ाने के लिये समाज से झगड़ा करके अपना लाभ-सत्कार प्राप्त करने के लिये प्रयास करना चाहिये" ॥

१४८. "लोक (समाज) में मेरे गुण प्रचारित हो जाँय तो इसके मामूली गुणों को कोई पूछेगा भी नहीं" ! ॥

१४९. "मेरे दोष छिपे रहें, मेरे गुणों की ही पूजा हो, इसकी न हो । आज तो मैं ही समाज में सम्मानित हूँ, यह नहीं" ॥

१५०. "बहुत काल के बाद अब हम इसे बेइज्जत होते देख रहे है । आज हम खुश हैं कि आज यह दुनियाँ में हँसी का पात्र बना तो सही" ॥

१५१. "इस बेचारे के पास अब विद्या, धन, कुल की मान-मर्यादा कितनी सी है कि यह मेरी बराबरी कर सके" ॥

१५२. "इस तरह अब मैं भी समाज में अपने लिये स्तुति-वाक्य सुनता हुआ हर्ष से उत्फुल्ल होता हुआ सुखोत्सव (खुशियाँ) मनाऊँगा" ॥

१५३. "अब भी इसे लाभ हो सकता है, यदि वह हमारा बन जाय । और यह हमसे जीवनयापनमात्र मजदूरी लेकर हमारा काम करे" ॥

* सुखाच्च च्यावनीयोऽयं योज्योऽस्मद्व्यथया सदा ।
अनेन शतशः सर्वे संसारव्यथिता वयम् ॥ १५४ ॥

* अप्रमेया गताः कल्पाः स्वार्थं जिज्ञासतस्तव ।
श्रमेण महतानेन दुःखमेव त्वयार्जितम् ॥ १५५ ॥

* मद्विज्ञप्त्या तथात्रापि प्रवर्तस्वाविचारतः ।
द्रक्ष्यस्येतद्गुणान् पश्चाद्भूतं हि वचनं मुनेः ॥ १५६ ॥

* अभविष्यदिदं कर्म कृतं पूर्वं यदि त्वया ।
बौद्धं सम्पत्सुखं मुक्त्वा नाभविष्यदियं दशा ॥ १५७ ॥

* तस्माद् यथान्यदीयेषु शुक्रशोणितबिन्दुषु ।
चकर्थ त्वमहङ्कारं तथान्येष्वपि भावय ॥ १५८ ॥

* अन्यदीयश्चरो भूत्वा कायेऽस्मिन् यद्यदीक्षसे ।
तत्तदेवापहृत्यार्थं परेभ्यो हितमाचर ॥ १५९ ॥

---

१५४. "इसका सुखी जीवन तो हमें नष्ट कर ही देना है, और हमेशा इसे परेशान रखना हैं। क्योंकि इसने अपने समय में हम में से हजारों को दुःखी किया है" ॥

१५५. इस तरह दूसरों की बुराई और अपनी स्वार्थसिद्धि का चिन्तन करते हुए तुम्हारे असङ्ख्य कल्प मरते-जन्मते बीत गये । तुमने इतनी मेहनत करके भी अपने लिये दुःखराशि का ही अर्जन किया है ॥

१५६. अब भी तूं, मेरे कहने से ही सही, विना आगा-पीछा सोचे इस भले काम (बोधि-चर्या) में लग जा ! बाद में तुझे इसका मजा (सात्त्विक आनन्द) मिलेगा ! भगवान् के वचन (उपदेश) मिथ्या (गलत) नहीं होते ॥

१५७. यदि तूं पहले से ही इस चर्या में लग जाता, इस चर्या का सुख भोगने लगता तो आज तेरी यह दुर्दशा न होती ! ॥

१५८. अतः जैसे तुमने दूसरे के शुक्र-शोणित की बूंदों से इस अपने शरीर पर ममत्व कर रखा है, वैसे ही दूसरों के शरीरों के प्रति भी आत्मभाव पैदा कर ॥

१५९. दूसरों का सेवक बनकर, अपनी इस काया के लिये जो तुझे इस संसार में दिखायी दे उसे इससे छीनकर (उसका अपने लिये उपयोग न कर) परहित में लगा दे ॥

* अयं सुस्थः परो दुःस्थो नीचैरन्योऽयमुच्चकैः ।
परः करोत्ययं नेति कुरुष्वेर्ष्यां त्वमात्मनि ॥ १६० ॥

* सुखाच्च च्यावयात्मानं परदुःखे नियोजय ।
कदायं किं करोतीति फलमस्य[1] निरूपय ॥ १६१ ॥

* अन्येनापि कृतं दोषं पातयास्यैव मस्तके ।
अल्पमप्यस्य दोषं च प्रकाशय महाजने[2] ॥ १६२ ॥

* अन्याधिकयशोवादैर्यशोऽस्य मलिनीकुरु ।
निकृष्टदासवच्चैनं सत्त्वकार्येषु वाहय ॥ १६३ ॥

* नागन्तुकगुणांशेन स्तुत्यो दोषमयो ह्ययम् ।
यथा कश्चिन्न जानीयाद् गुणमस्य तथा कुरु ॥ १६४ ॥

* संक्षेपाद् यद्यदात्मार्थे परेष्वपकृतं त्वया ।
तत्तदात्मनि सत्त्वार्थे व्यसनं विनिपातय ॥ १६५ ॥

* नैवोत्साहोऽस्य दातव्यो येनायं मुखरो भवेत् ।

---

१६०. तुझे यदि ईर्ष्या ही करनी है तो अपने शरीर से कर कि यह तो अच्छी हालत में है और दूसरों का हाल बुरा है; यह महत्त्वशाली है, दूसरे इसकी अपेक्षा हीन है। फिर दूसरे तो मेहनत करके कमा खा रहे है और यह आरामतलवी भोग रहा है ॥

१६१. अपने (शरीर) को इस आरामतलवी से हटाकर परहित में लगा दे। 'यह कब क्या करता है'—इसका लेखा-जोखा रख ! ॥

१६२. दूसरों के किये गलत काम को भी इसी के मत्थे मढ़ दे। और इसकी छोटी से छोटी गलती का भी समाज में ढिंढोरा पीट ॥

१६३–१६४. इससे अनायास हुए किसी अच्छे कार्य से दूसरों की प्रशंसा (गुणस्तुति) सुन कर इसकी अच्छाई को नीचा दिखाता रह। और जरखरीद गुलाम की तरह इसे दिन-रात परहित में लगाये रख ॥

१६५. संक्षेप में यही समझाना है कि पहले जो-जो बुरे काम (जोर-जुल्म) तूँने अपने इस शरीर से दूसरों के लिये किये हैं, उन्हें अब (बोधिचर्या का अभ्यास करते समय) अपने पर आजमाते हुए परहित-साधना में लग जा ॥

१६६. इसकी इतनी हिम्मत न बढ़ने दे कि यह समाज में फालतू बढ़-बढ़कर

---

१. छलमस्य—इति मूलपुस्तके पाठः । २. महामुनेः इति मुद्रितोऽपपाठः ।

स्थाप्यो नववधूवृत्तौ ह्रीतो भीतोऽथ संवृत: ।। १६६ ।।

* एवं कुरुष्व तिष्टैवं न कर्तव्यमिदं त्वया ।
एवमेव वश: कार्यो निग्राह्यस्तदतिक्रमे ।। १६७ ।।

* अथैवमुच्यमानेऽपि चित्तं नेदं करिष्यसि ।
त्वामेव निग्रहीष्यामि सर्वदोषास्त्वदाश्रिता: ।। १६८ ।।

* क्व यास्यसि मया दृष्ट: सर्वदर्पान्निहन्मि ते ।
अन्योऽसौ पूर्वक: कालस्त्वया यत्रास्मि नाशित: ।। १६९ ।।

* अद्याप्यस्ति मम स्वार्थ इत्याशां त्यज साम्प्रतम् ।
त्वं विक्रीतो मयान्येषु बहुखेदमचिन्तयन् ।। १७० ।।

* त्वां सत्त्वेषु न दास्यामि यदि नाम प्रमोदत: ।
त्वं मां नरकपालेषु प्रदास्यसि न संशय: ।। १७१ ।।

* एवं चानेकधा दत्वा त्वयाहं व्यथितश्चिरम् ।
निहन्मि स्वार्थचेटं त्वां तानि वैराण्यनुस्मरन् ।। १७२ ।।

वोल सके । इसे समाज में उसी तरह संकुचित रखे, जैसे नई बहू घर में बड़े-बूढ़ों के सामने संकोच करती है ।।

१६७. 'तूँ ऐसा कर', 'तूँ ऐसे बैठ', 'तुझे यह कार्य इस तरह करना चाहिये'– इस तरह इसे अनुशासन में रखना चाहिये । अनुशासन न मानने पर इसे प्रतिफल में दण्ड देना चाहिये ।।

१६८. रे मन ! यदि तूँ ऐसे (मेरे कहे मुताबिक) आचरण न करेगा तो मैं तुझे निगृहीत करूँगा, क्योंकि मुझसे सभी प्रमाद तेरे ही कारण होते हैं ।।

१६९. अब तूँ कहाँ जा पायगा ! मैंने तेरी सब कमजोरियाँ समझ ली हैं । वह समय बीत चुका जब तूँ मुझे धोखा देकर मेरा नाश किया करता था ! ।।

१७०. रे मन ! 'अब भी मैं तुझसे कुछ स्वार्थ साधना चाहता हूँ'–यह तुझे यदि वहम हो तो उसे दूर कर ले । तेरी दी हुई तकलीफों से तंग आकर मैंने तुझे दूसरे (परहित) के हाथों बेच डाला है ।।

१७१. यदि मैं तुझे दूसरों के हाथों में न सौंपता, तो इसमें मुझे कोई शक नहीं कि तूँ मुझे घोर नरकों में ढकेल देता ।।

१७२. पहले भी तूने मुझको बहुत बार नरकों में ढकेला है । तुझ द्वारा की गयी मेरी उन दुर्गतियों को याद कर के मैं तेरी, स्वार्थ के गुलाम की, दुर्गति करके ही छोड़ूंगा ।।

* न कर्तव्यात्मनि प्रीतिर्यद्यात्मप्रीतिरस्ति ते ।
यद्यात्मा रक्षितव्योऽयं रक्षितव्यो न युज्यते ।। १७३ ।।

* यथा यथास्य कायस्य क्रियते परिपालनम् ।
सुकुमारतरो भूत्वा पतत्येव तथा तथा ।। १७४ ।।

* अस्यैवं पतितस्यापि सर्वापीयं वसुन्धरा ।
नालं पूरयितुं वाञ्छां तत्कोऽस्येच्छां करिष्यति ।। १७५ ।।

* अशक्यमिच्छतः क्लेश आशाभङ्गश्च जायते ।
निराशो यस्तु सर्वत्र तस्य सम्पदजीर्णिका ।। १७६ ।।

* तस्मान्न प्रसरो देयः कायस्येच्छाभिवृद्धये ।
भद्रकं नाम तद्वस्तु यदिष्टत्वान्न गृह्यते ।। १७७ ।।

* भस्मनिष्ठावसानेयं निश्चेष्टान्येन चाल्यते ।
अशुचिप्रतिमा घोरा कस्मादत्र ममाऽऽग्रहः ।। १७८ ।।

---

१७३. [आर्य शान्तिदेव कहते हैं–] स्वशरीर में कोई मोह नहीं करना चाहिये। यदि तुम वस्तुतः इसकी रक्षा करना चाहते हो तो तुम्हारे लिये यही उचित होगा कि इसकी रक्षा न करो ।।

१७४. क्योंकि ज्यों-ज्यों इसकी रक्षा (पालन) करोगे त्यों-त्यों यह सुकुमार होता जायगा और वैसे-वैसे इसका (साथ ही तुम्हारा भी) पतन होता जायगा ।।

१७५. यह स्वयं गया-गुजरा (हीन) है, पर इसकी इच्छा इतनी ऊँची बढ़ी-चढ़ी हैं कि इसे समग्र पृथ्वी का राज्य भी सौंप दिया जाय तो भी यह सन्तुष्ट नहीं होगा ।

१७६. असम्भव की इच्छा करने से, उसके न मिलने पर, क्लेश होता है, उम्मीदें टूट जाती हैं। उलटे, जो किसी की प्राप्ति की आशा (चाह) नहीं करता वही एक तरह से अटूट सम्पत्ति का मालिक है ।।

१७७. इसलिये इस शरीर की इच्छाओं को कभी बढ़ावा नहीं देना चाहिये। आसक्तिरहित वस्तु से ही हमारा भला होगा ।।

१७८. अपवित्रता (अशुचि) का मूर्तिभूत यह शरीर, जिसका अन्त राख के ढेर में बदल जाना है, जो स्वयं चेष्टारहित होते हुए दूसरों के द्वारा सञ्चालित है, उसमें मेरा मोह क्यों और कैसा ? ।।

* किं ममानेन यन्त्रेण जीविना वा मृतेन वा।
लोष्टादेः को विशेषोऽस्य हाऽहङ्कार[1] न नश्यसि ।। १७९ ।।

* शरीरपक्षपातेन वृथा दुःखमुपार्ज्यते।
किमस्य काष्ठतुल्यस्य द्वेषेणानुनयेन वा ।। १८० ।।

* मया वा पालितस्यैवं गृध्राद्यैर्भक्षितस्य वा।
न च स्नेहो न च द्वेषस्तत्र स्नेहं करोमि किम् ।। १८१ ।।

* रोषो यस्य खलीकारात् तोषो यस्य च पूजया।
स एव चेन्न जानाति श्रमः कस्य कृतेन मे ! ।। १८२ ।।

* इमं ये कायमिच्छन्ति तेऽपि मे सुहृदः किल।
सर्वे स्वकायमिच्छन्ति तेऽपि कस्मान्न मे प्रियाः ।। १८३ ।।

* तस्मान्मयानपेक्षेण कायस्त्यक्तो जगद्धिते।
अतोऽयं बहुदोषोऽपि धार्यते कर्मभाण्डवत् ।। १८४ ।।

---

१७९. इस यन्त्रभूत मुर्दा या जीवित शरीर से मेरा क्या वास्ता ! जैसे ढेला (पत्थर) वैसा यह। अरे इस शरीर के प्रति मेरे ममत्व ! तू खतम क्यों नहीं हो जाता ! ।।

१८०. दुनियाँ में इस शरीर का पक्षपात कर फालतू ही तकलीफें उठानी पड़तीं हैं। काठ की तरह बेकार इस शरीर के प्रति राग या द्वेष करने से क्या लाभ !

१८१. इसे मैं पालूं या गीध-कौए खाँय; न इसे मुझसे राग है न उनसे द्वेष ! तो मैं इससे प्रीति क्यों पालूं ! ।।

१८२. जिसके अपमान से हमें क्रोध आवे, जिसके सम्मान से हमें सन्तोष होता हो, वह तो इस बारे में कुछ जानता नहीं, फिर यह सब मेहनत (राग-द्वेष) किस के लिये करूँ ! ।।

१८३. जो मेरे इस शरीर को चाहते हैं वे मेरे सुहृद् (हितचिन्तक) हैं। तो फिर वे अपने जिस शरीर को प्यार करते हैं वे मुझे प्रिय क्यों न हों ! ।।

१८४. इस लिये मैंने अपने इस शरीर के प्रति बेपरवाह हो कर इसे परहित में लगा दिया है। मैं तो इस दोषों से भरे शरीर की, परहित-कार्यों का एक साधन मान कर, रक्षामात्र कर रहा हूँ ।।

---

१. हाहङ्कारं—मु० पाठः।

* तेनालं लोकचरितैः पण्डितताननुयाम्यहम् ।
अप्रमादकथां स्मृत्वा स्त्यानमिद्धं निवारयन् ॥ १८५ ॥

* तस्मादावरणं हन्तुं समाधानं करोम्यहम् ।
विमार्गाच्चित्तमाकृष्य स्वालम्बननिरन्तरम् ॥ १८६ ॥

इति बोधिचर्यावतारे ध्यानपारमिता नाम अष्टमः परिच्छेदः



---

१८५. समाज की परम्परा एक तरफ पड़ी रहे, मैं तो अप्पमादकथा (धम्मपद में वर्णित) का अनुसरण करते हुए आलस्य को दूर रखकर पण्डितों (बुद्धिमानों) का ही पृष्ठगामी बनूंगा ।

१८६. अतः क्लेशावरणों के नाश के लिये अपने चित्त को कुपथ से हटा कर ध्यानालम्बन में लगाता हूँ ॥



९. प्रज्ञापारमिता

(नवमः परिच्छेदः)

या निर्लेपतया निरुत्तरपदं सर्वप्रपञ्चोज्झिता, [P 342]
प्रज्ञापारमितादिसंवृतिपदैराख्यायतेऽनास्रवा ।
यां सम्यक्प्रतिपद्य निर्मलधियो यान्त्युत्तमां निर्वृतिं,
तां नत्वा विधिवत् करोमि विवृतिं तस्याः प्रसन्नैः पदैः ॥ १ ॥

यत्राऽऽचार्यो गुणनिधिरसौ शान्तिदेवः प्रकाशं
वक्तुं शक्तः प्रवचनमहाम्भोधिपारं प्रयातः ।
किं तस्यार्थं हतमतिरहं वक्तुमीशस्तथापि [P 342]
प्रज्ञाभ्यासात् सुकृतमसमं[1] यत् ततोऽस्मि प्रवृत्तः ॥ २ ॥

न नाम काचिद् गुणलेशवासना मतेर्न मेऽस्ति प्रतिभागुणोर्ऽजितः[2] ।
तथापि सन्मित्रनिषेवणाफलं यदेव मे तादृशि वाक् प्रसर्पति ॥ ३ ॥

अथ यो नाम कश्चिद् गोत्रविशेषात् पर्युपासितकल्याणमित्रतया त्रिजगत्पर्यापन्नसमस्तजनदुःखदुःखी सर्वप्राणभृतां निःशेषदुःखसमुद्धरणाशयः स्वसुखनिरपेक्षः तत्प्रशमोपायभूतं बुद्धत्वमेव मन्यमानः तत्प्राप्तिवाञ्छया समुत्पादितबोधिचित्तो महात्मा सौगतपदसाधनोपायभूतसम्भारद्वयपरिपूरणार्थं क्रमेण दानादिषु प्रवर्तते । तस्य तथा प्रवर्तमानस्य सम्यक्प्रतिपन्नशमथस्यापि दानादयः प्रज्ञाविकलतया जगदर्थसम्पादननिदानं बुद्धत्वं नाऽवहन्तीत्यभिसन्धाय अवश्यं संसारदुःखनिर्मोक्षार्थिना प्रज्ञोत्पादनाय यतितव्यम् । यथोक्तम्—

"शमथेन विपश्यनासुयुक्तः ।" (बो० च० ८.४) [P 344]

[अब तक के प्रकरणों से सिद्ध किया जा चुका कि संसार-दुःख से छुटकारा चाहने वाले तत्त्वजिज्ञासु को प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये । प्रज्ञा-प्राप्ति में समाधि (ध्यानपारमिता) का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हैं । अन्य पारमितायें ध्यानपारमिता में सहायक हैं । तो समाधि का पिछले आठवें प्रकरण में समग्रतया वर्णन कर चुके हैं । अब आचार्य उससे प्राप्त होने वाली विपश्यना (प्रज्ञा) का वर्णन प्रारम्भ कर रहे हैं—]

---

१. स्वकृतम् पाठ० ।
२. मतिर्ममास्ति प्रतिभागुणोर्जिता—पाठा० ।

इत्यादि। तत्र शमथप्रतिपादनं कृतम्। इदानीं तदनन्तरप्राप्तां विपश्यनां प्रज्ञापरनामधेयां प्रतिपादयन्नाह —

* इमं परिकरं सर्वं प्रज्ञार्थं हि मुनिर्जगौ।
तस्मादुत्पादयेत् प्रज्ञां दुःखनिवृत्तिकाङ्क्षया ॥ १ ॥

इममिति। समनन्तरमिह शास्त्रे लक्षणतः प्रतिपादितं दानादिकमिदन्तया प्रत्यक्षतया परामृशति। **परिकरमिति** परिवारम्, परिच्छेदम्। सम्भारमिति यावत्। **सर्वमुक्तप्रकारमन्यच्च**। **प्रज्ञार्थं हि मुनिर्जगाविति** सम्बन्धः। प्रज्ञा यथावस्थितप्रतीत्यसमुत्पन्नवस्तुत्त्वप्रविचयलक्षणा, सैव अर्थः प्रयोजनं सम्बोधिहेतुभावोपनायकतया यस्य दानादिलक्षणस्य परिकरस्य स तथा, तमिति। दानपारमितासु धर्मप्रविचयस्वभावायाः प्रज्ञायाः प्रधानत्वात्।

तथा हि दानं सम्बोधिंप्राप्तये प्रथमं कारणम्, पुण्यसम्भारान्तभूतत्वात्। तच्च शीलालंकृतमेव सुगतिपरम्परां सुखभोगोपकरणसम्पन्नामावहदनुत्तरज्ञानप्रतिलम्भहेतुः। क्षान्तिरपि तद्विपक्षभूतप्रतिघप्रतिपक्षतया [P 345] दानशीलसुकृतमयं सम्भारमनुपालयन्ती सुगत्वाधिगतये सम्प्रवर्तते। एतच्च शुभं दानादित्रितयसम्भूतं पुण्यसम्भाराख्यं वीर्यमन्तरेण न भवतीति तदपि उभयसम्भारकारणतया सर्वावरणप्रहाणाय समुपजायते। समाहितचित्तस्य च यथाभूतपरिज्ञानमुत्पद्यत इति ध्यानपारमितापि अनुत्तरज्ञानहेतुरुपपद्यते। एवमेते दानादयः सत्कृत्य सम्भृता अपि प्रज्ञामन्तरेण सौगतपदाधिगमहेतवो न भवन्तीति, नापि पारमिताव्यपदेशं लभन्ते। प्रज्ञाकृतपरिशुद्धिभाजः पुनः अव्याहतोदारप्रवृत्तितया तदनुकूलमनुवर्तमानाः तद्धेतुभावमधिगच्छन्ति, पारमितानामधेयं च लभन्ते।

तथा दातृदेयप्रतिग्राहकादित्रितयानुपलम्भयोगेन प्रज्ञापरिशोधिताः सादरनिरन्तरदीर्घकालमभ्यस्यमानाः प्रकर्षपर्यन्तमुपगच्छतः अविद्याप्रवर्तितसकलविकल्पजालमलरहितं क्लेशज्ञेयावरणनिर्मुक्तमुभयनैरात्म्याधिगमस्वभावं सर्वस्वपरहितसम्पदाधारभूतं परमार्थतत्त्वात्मकं तथागतधर्मकायमभिनिर्वर्तयन्तीति प्रज्ञाप्रधाना दानादयो गुणा उच्यन्ते।

---

१. भगवान् ने जिज्ञासु को सभी सांसारिक दुःखों की निवृत्ति हेतु इन सब (पूर्वोक्त) पारमिताओं की देशना प्रज्ञा-प्राप्ति के लिये ही की है। अतः जिज्ञासु को इस प्रज्ञा की प्राप्ति के लिये हर तरह से प्रयास करना चाहिये ॥

न चैतद्वक्तव्यम्—यदि प्रज्ञा प्रधानं दानादीनाम्, सैव केवला [P 346] सम्बोधिसाधनमस्तु, किमपरैर्दानादिभिरिति। तदन्येषामुपयोगस्य वर्णितत्वात्, केवलं नेत्रविकला इव दानादयः प्रज्ञानेतृका एव यथाभिमतां सौगतीं भूमिमभिसरन्तीति प्रज्ञोपनायका उच्यन्ते, न तु प्रज्ञैव केवला सम्यक्सम्बोधिसाधनम्। तस्माद् दानादिपरिकरः प्रज्ञार्थः इति सिद्धम्।

सर्वकल्पनाविरहात् समारोपापवादान्तद्वयमौनात् अशैक्षकायवाङ्मनःकर्मलक्षणमौनत्रययोगाद्वा मुनिर्बुद्धो भगवान्। त्रिदुःखतादुःखितसर्वजगत्परित्राणाध्याशयो जगौ जगाद। उक्तवानित्यर्थः। आर्यप्रज्ञापारमितादिसूत्रान्तेषु प्रज्ञार्थमुक्तवान् क्रमेण दानादिपरिकरम्। यथोक्तमार्यशतसाहस्र्यां प्रज्ञापारमितायाम्—

"तद्यथापि नाम, सुभूते, सूर्यमण्डलं चन्द्रमण्डलं च चतुर्षु द्वीपेषु कर्म करोति, चतुरश्च द्वीपाननुगच्छति, अनुपरिवर्तते; एवमेव सुभूते, प्रज्ञापारमिता पञ्चसु पारमितासु कर्म करोति, पञ्च पारमिता अनुगच्छति, अनुपरिवर्तते, प्रज्ञापारमिताविरहितत्वात् पञ्च पारमिताः पारमितानामधेयं न लभन्ते। तद्यथापि नाम, सुभूते, राजा, चक्रवर्ती विरहितः सप्तभी [P 347] रत्नैश्चक्रवर्तिनामधेयं न लभते; एवमेव, सुभूते, पञ्च पारमिताः प्रज्ञापारमिताविरहितत्वान्न पारमितानामधेयं लभन्ते। तद्यथापि नाम, सुभूते, याः काश्चन कुनद्यः, सर्वास्ता येन गङ्गा महानदी तेनानुगच्छन्ति। ता गङ्गया महानद्या सार्धं महासमुद्रमनुगच्छन्ति; एवमेव, सुभूते, पञ्च पारमिताः प्रज्ञापारमितापरिगृहीता येन सर्वाकारज्ञता तेनानुगच्छन्ति। इति विस्तरः"॥

पुनश्चोक्तम्—

"इयं, कौशिक, प्रज्ञापारमिता बोधिसत्त्वानां महासत्त्वानां दानपारमितामभिभवति, शीलपारमितामभिभवति, क्षान्तिपारमितामभिभवति, वीर्यपारमितामभिभवति, ध्यानपारमितामभिभवति। तद्यथापि[1] नाम, कौशिक, जात्यन्धानां शतं वा सहस्रं वा अपरिणायकानामभव्यं मार्गावतरणाय, कुतः पुनर्नगरानुप्रवेशाय; एवमेव, कौशिक, अचक्षुष्काः पञ्च पारमिता जात्यन्धभूता भवन्ति विना प्रज्ञापारमितया अपरिणायकाः, विना प्रज्ञापार-

---

१. चित्तचैत्तसंताने—पाठा०।

मितया अभव्या बोधिमार्गावतरणाय, कुत एव सर्वाकारज्ञतानगरानुप्रवेशाय ! यदा, पुनः, कौशिक, पञ्च पारमिताः प्रज्ञापारमितापरिगृहीता भवन्ति, तदा एताः पञ्च पारमिताः सचक्षुष्का भवन्ति । प्रज्ञापारमितापरिगृहीताश्चैताः पञ्च पारमिताः पारमितानामधेयं लभन्ते" इति विस्तरः ॥

एवमन्यत्रापि यथासूत्रमवगन्तव्यम् । उक्तं च—

सर्वपारमिताभिस्त्वं निर्मलाभिरनिन्दिते । [P 348]
चन्द्रलेखेव ताराभिरनुयातासि सर्वदा ॥ इति ॥ (प्रज्ञापार० स्तवः ८)

अथवा —**इममिति** समनन्तरप्रक्रान्तरूपं शमथात्मकं प्रबन्धम् । **परिकरमिति** प्रज्ञासमुत्थापकतया तत्कारणसन्दोहं पीठिकाबन्धं च । **प्रज्ञार्थमिति** प्रज्ञैव पूर्वोक्ता अर्थः प्रयोजनं साध्यतया यस्य तम् । शमथपरिशोधितचित्तसन्ताने प्रज्ञायाः प्रादुर्भावात् सुप्रशोधितक्षेत्रे सस्यनिष्पत्तिवत् । यथोक्तं **शिक्षासमुच्चये**—

"किं पुनरस्य शमथस्य माहात्म्यम् ? यथाभूतज्ञानजननशक्तिः । यस्मात्—

समाहितो यथाभूतं जानातीत्युक्तवान् मुनिः" । इति ॥ (शि० स० ९)

एतदपि **धर्मसङ्गीतावुक्तम्**—

"समाहितचेतसो यथाभूतदर्शनं भवति । यथाभूतदर्शिनो [P 349] बोधिसत्त्वस्य सत्त्वेषु महाकरुणा प्रवर्तते । इदं मया समाधिमुखं सर्वसत्त्वानां निष्पादयितव्यम् । स तया महाकरुणया सञ्चोद्यमानोऽधिशीलमधिचित्तमधिप्रज्ञं च शिक्षाः परिपूर्य अनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बुध्यते" इति विस्तरः ॥

हिरिति यस्मात् प्रज्ञार्थं दानादिपरिकरं शमथात्मकपरिकरं वा मुनिर्जगौ, तस्मादुत्पादयेत् प्रज्ञामिति योजनीयम् । उत्पादयेदिति निष्पादयेत्, साक्षात्कुर्यात्, भावयेत्, सेवयेत्, बहुलीकुर्याद्वा ॥

सा च प्रज्ञा द्विविधा—हेतुभूता, फलभूता च । हेतुभूतापि द्विविधा—अधिमुक्तिचरितस्य च भूमिप्रविष्टस्य च बोधिसत्त्वस्य । फलभूता तु सर्वाकारवरोपेता सर्वधर्मशून्यताधिगमस्वभावा अनिमित्तयोगेन । तत्र प्रथमतो हेतुभूता श्रुतचिन्ताभावनामयी क्रमेण अभ्यासाद् भूमिप्रविष्टस्य [P 350]

प्रज्ञां निर्वर्तयति। सा च अपरापरभूमिप्रतिलम्भयोगेन प्रकर्षमभिवर्धयन्ती यावदुभयावरणविगमात् सकलकल्पनाजालविगतबुद्धत्वस्वभावप्रज्ञां निष्पादयति। अत एवाह—**दुःखनिवृत्तिकाङ्क्षयेति**। दुःखस्य पञ्चगतिसंगृहीतसत्त्वराशिगतस्य स्वात्मगतस्य च सांसारिकस्य जातिव्याधिजरामरणस्वभावस्य प्रियविप्रयोगाप्रियसम्प्रयोगपर्येष्यमाणलाभविघातलक्षणस्य, संक्षेपतः पञ्चोपादानस्कन्धात्मकस्य च, निवृत्तिः = निर्वाणम्, उपशमः। पुनरनुत्पत्तिधर्मकतया आत्यन्तिकसमुच्छेद इत्यर्थः। तस्याः काङ्क्षया अभिलाषेण। छन्देनेति यावत्।

तथाहि—विपर्याससंज्ञिनोऽसत्सत्त्वसमारोपाभिनिवेशवशादात्मात्मीयग्रहप्रवृत्तेरयोनिशोमनसिकारप्रसूतो रागादिक्लेशगणः समुपजायते; तस्मात् कर्म, ततो जन्म, ततश्च व्याधिजरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाश्च प्रजायन्ते। एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति। तदेवमनुलोमाकारं प्रतीत्यसमुत्पादं सम्यक्प्रज्ञया व्यवलोकयतः, पुनस्तमेव निरात्मकमस्वामिकं मायामरीचिगन्धर्वनगरस्वप्नप्रतिबिम्बादिसमानाकारतया परमार्थतो निःस्वभावं पश्यतो यथाभूतपरिज्ञानात् तद्विपक्षात्मकतया मोहस्वभावमविद्याभवांगं निवर्तते, अविद्यानिरोधात् तत्प्रत्ययाः संस्कारा निरुध्यन्ते। एवं पूर्वपूर्वस्य कारणभूतस्य निरोधादुत्तरोत्तरकार्यभूतस्य [P 351] निरोधो वेदितव्यः। यावज्जातिनिरोधाज्जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाश्च निरुध्यन्ते। एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवति। तत्र अविद्या तृष्णोपादानं च क्लेशवर्त्मनो व्यवच्छेदः। संस्कारा भवश्च कर्मवर्त्मनो व्यवच्छेदः। परिशिष्टान्यङ्गानि दुःखवर्त्मनो व्यवच्छेदः। पूर्वान्तापरान्तनिरोधो निरोधवर्त्मनो व्यवच्छेदः। एवमेव त्रिवर्त्म निरात्मकम् आत्मात्मीयरहितम्, सम्भवति च सम्भवयोगेन, विभवति च विभवयोगेन, स्वभावान्नडकलापसदृश इति। एवञ्च उत्तरत्र विस्तरेण युक्त्यागमाभ्यां प्रतिपादयिष्यते।

तदेवं प्रज्ञया स्वप्नमायादिस्वभावं संस्कृतं प्रत्यवेक्षमाणस्य सर्वधर्माणां निःस्वभावतया प्रतिपत्तेः परमार्थाधिगमात् सवासननिःशेषदोषराशिविनिवृत्तिर्भवतीति सर्वदुःखोपशमहेतुः प्रज्ञा उपपद्यते ॥ १ ॥

सत्यद्वयव्यवस्था

[P 352] यथा च युक्त्यागमाभ्यां विचारयतः अविपरीतवस्तुतत्त्वप्रविचयः समुपजायते, तदुपदर्शयितुं सत्यद्वयव्यवस्थामाह—

* संवृत्तिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम् ।
बुद्धेरगोचरस्तत्त्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते ॥ २ ॥

संव्रियते आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणादावृतप्रकाशनाच्च अनयेति संवृतिः । अविद्या, मोहः, विपर्यास इति पर्यायाः । अविद्या हि असत्पदार्थस्वरूपारोपिका स्वभावदर्शनावरणात्मिका च सती संवृतिरुपपद्यते । यदुक्तमार्यशालिस्तम्बसूत्रे --

पुनरपरम्—तत्त्वेऽप्रतिपत्तिः मिथ्याप्रतिपत्तिः, अज्ञानमविद्या । इति । उक्तं च—

"अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते ।
अविद्या जायमानैव कामलातङ्कवृत्तिवत्[1]" ॥ इति ।

तदुपदर्शितं च प्रीत्यसमुत्पन्नं वस्तुरूपं संवृतिरुच्यते । तदेव लोकसंवृतिसत्यमित्यभिधीयते लोकस्यैव संवृत्या तत् सत्यमिति कृत्वा । [P 353] यदुक्तम्—

"मोहः स्वभावावरणाद्धि संवृतिः सत्यं तया ख्याति यदेव कृत्रिमम् ।
जगाद तत्संवृतिसत्यमित्यसौ मुनिः पदार्थं कृतकं च संवृतिम्" ॥ इति ।
[म० अ० ६-२८]

सा च संवृतिर्द्विविधा--लोकत एव तथ्यसंवृतिर्मिथ्यासंवृतिश्चेति । तथा हि किञ्चित् प्रतीत्यजातं नीलादिकं वस्तुरूपमदोषवदिन्द्रियैरुपलब्धं लोकत एव सत्यम्, मायामरीचिप्रतिबिम्बादिषु प्रतीत्य समुपजातमपि दोषवदिन्द्रियोपलब्धं यथास्वं तीर्थिकसिद्धान्तपरिकल्पितं च लोकत एव मिथ्या । तदुक्तम्—

"विनोपघातेन यदिन्द्रियाणां षण्णामपि ग्राह्यमवैति लोकः ।
सत्यं हि तल्लोकत एवं शेषं विकल्पितं लोकत एव मिथ्या" ॥ इति ।
[म० अ० ६.२५]

---

२. (सर्वप्रथम, अविपरीत वस्तुतत्त्व के परिचय के लिये सत्यद्वय का व्यवस्थापन करते हैं—) १–शास्त्रकारों ने संवृतिसत्य (अविद्या, मोह, विपर्यस) और परमार्थसत्य (अकृत्रिम वस्तुरूप सत्य)—ये दो सत्य इस जगत् की वास्तविकता को समझने के लिये बताये गये हैं । इनमें परमार्थ तत्त्व निष्प्रपञ्च एवं बुद्धि से अगोचर है और यह जगद्विषयक प्रपञ्चबुद्धि संवृतिसत्य है ॥

१ श्रीविभूतिचन्द्रेण कुतोऽप्युट्टङ्कितम् ।

एतत्तदुभयमपि सम्यग्दृशामार्याणां मृषा, परमार्थदशायां संवृतिसत्यालीकत्वात् । एतत् समनन्तरमेव उपपत्त्या प्रतिपादयिष्यामः । तस्मादविद्यावतां वस्तुस्वभावो न प्रतिभासते इति ।

परमः उत्तमः अर्थः परमार्थः, अकृत्रिमं वस्तुरूपम्, यदधिगमात् सर्वावृतिवासनानुसन्धिक्लेशप्रहाणं भवति । सर्वधर्माणां निःस्वभावता, शून्यता, तथता, भूतकोटिः, धर्मधातुरित्यादिपर्यायाः । सर्वस्य हि प्रतीत्यसमुत्पन्नस्य पदार्थस्य निःस्वभावता पारमार्थिकं रूपम्, यथाप्रतिभासं सांवृतस्यानुपपन्नत्वात् । तथा हि—न तावत् यथापरिदृश्यमानरूपेण सत्स्वभावो भावः, तस्य उत्तरकालमनवस्थानात्, स्वभावस्य च सर्वदा अनागन्तुकतया अविचलितरूपत्वात् । यो हि यस्य स्वभावः, स कथं कदाचिदपि निवर्तेत ! अन्यथा तस्य स्वभावताहानिप्रसङ्गान्निःस्वभावतैव स्यात् । नापि स उत्पद्यमानः सत्स्वभावरूपेण कुतश्चिदागच्छति, निरुध्यमानो वा क्वचित् सन्निचयं गच्छति, अपि तु हेतुत्ययसामग्रीं प्रतीत्य मायावशादुत्पद्यते, तद्वैकल्यतो निरुध्यते च । हेतुप्रत्ययसामग्रीं प्रतीत्य जातस्य परायत्तात्मलाभस्य प्रतिबिम्बस्येव कुतः सत्स्वभावता ! न च कस्यचित् पदार्थस्य परमार्थतो हेतुप्रत्ययसामग्रीतः समुत्पत्तिः सम्भवति, तस्या अपि अपरसामग्रीजनितात्मतया परायत्तात्मलाभाया निःस्वभावत्वात् । एव-
[P 355] मन्यस्याः पूर्वपूर्वायाः स्वस्वकारणसामग्रीजन्यतया निःस्वभावता द्रष्टव्या । इत्थं कारणानुरूपं कार्यमिच्छता कथं निःस्वभावात् सस्वभावस्योत्पत्तिरभ्युपेतव्या ! यद्वक्ष्यति—

"मायया निर्मितं यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितम् ।
आयाति तत्कुतः कुत्र याति चेति निरूप्यताम् ॥
यदन्यसन्निधानेन दृष्टं न तदभावतः ।
प्रतिवम्बसमे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथम् ?" ॥ इति ।

[बो० च० ९. १४४–४५]

[1]उक्तं च—

"यः प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो न यस्य उत्पादु सभावतोऽस्ति ।
यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः" ॥ इति ।

[अनवतप्तह्रदापसंक्रमणसूत्रम्]

---

१. द्र०– म० व०, १३–२ पृ०

इति शून्येभ्य एव शून्या धर्माः प्रभवन्ति धर्मेभ्य इति ॥

न च स्वपरोभयरूपहेतुनिबन्धनम्, अहेतुनिबन्धनं वा भावस्य जन्म अतिपेशलमुपपद्यते। तथा हि आत्मस्वरूपं भावानां स्वजन्मनिमित्तं भवेत्, निष्पन्नमनिष्पन्नं वा भवेत्। न तावन्निष्पन्नस्य सतः स्वात्मनि कारणता, तस्य सर्वात्मना स्वयं निष्पन्नत्वात् क्व पुनरस्य व्यापारोऽस्तु ! उत्पाद्यस्य पुनरस्यानिष्पन्नस्यान्यस्य स्वभावस्याभावात्, एकस्य चास्य [P 359] निरंशत्वात्। न च पश्चादुत्पद्यमानस्यापरस्य तत्स्वभावता युक्ता; तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य तत्स्वभावत्वाभावात्। इति न स्वात्मनो निष्पन्नात् कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति। न चापि स्वत उत्पत्तिपक्षे प्राङ्निष्पन्नं स्वरूपमित-रेतराश्रयदोषङ्गात् कस्यचित् सम्भवति। नापि तदनिष्पन्नस्वभावमाकाश-कुशेशयसङ्काशमशेषसामर्थ्यशून्यं स्वनिष्पत्तौ हेतुभावमुपगन्तुर्महति; अन्यथा खरविषाणस्यापि स्वस्वभावजनकत्वप्रसङ्गात्।

नापि परत इति पक्षः, आदित्यादपि अन्धकारस्य, सर्वस्माद्वा सर्वस्य उत्पत्तिप्रसङ्गात्, जनकाजनकाभिमतयोर्विवक्षितकार्यापेक्षया परत्वाविशेषात्। जन्यजनकैकत्वैकसन्ततिप्रतिनियमोऽपि अनुपन्ने कार्ये काल्पनिकतया वस्तुतो न सङ्गच्छते। न च अनागतावस्थितधर्मापेक्षया कार्यादि-व्यवहारो वास्तवः; अर्थस्वभावसद्भावस्य निरूपयिष्यमाणत्वात्। नापि बीजावस्थासु विद्यमानाङ्कुरापेक्षया बीजस्य परत्वकाल्पनिकमस्ति, करणे कार्यास्तित्वस्य निषेत्स्यमानत्वात्। यत्र परिदृश्यमानमेव रूपं विचारतो नावतिष्ठते; तत्र अनागतादिषु सम्भावितस्य का चिन्ता !

नापि उभयत इति पक्षः, प्रत्येकपक्षोक्तसमुदितदोषप्रसङ्गात्, [P 257] कार्यानुत्पत्तौ च उभयरूपस्य हेतोः परमार्थतोऽभावात्। उत्पत्तौ वा न किञ्चिज्जनयितव्यमस्तीति कुत्र उभयरूपस्य हेतोर्व्यापारः स्यात् !

नापि अहेतुत इति विकल्पः; यतो नायं प्रसज्यप्रतिषेधात्मतया अहेतुत इति युज्यते। अहेतुकत्वे हि भावानां देशकालनियमाभावप्रसङ्गः स्यात्, नित्यं सत्त्वासत्त्वप्रसङ्गो वा। उपेयार्थिनां प्रतिनियतोपायानुष्ठानं च न स्यात्; प्रधानेश्वरादीनां कारणस्य प्रतिषेत्स्यमानत्वात्। तन्न अहेतुतो भावाः स्वभावं प्रतिलभन्ते।

तस्मान्न स्वपरोभयरूपहेतुभ्य उत्पद्यन्ते सत्स्वभावा भावाः। तदुक्तम्—

"न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन" ।। इति ।
[म० शा०—१.३]

एकानेकस्वभावविचारणयापि सर्वभावानां स्वभावविकलत्वान्न सत्स्वभावत्वम् । तस्मात् स्वप्नमायाप्रतिबिम्बादिवत् इदम्प्रत्ययतामात्रमेव अविचारमनोहरमस्तु, किमिह सर्वदुःखहेतुना भावभिनिवेशेन प्रयोजनम् ? अत इदमर्थस्य तत्त्वम्—

"निःस्वभावा अमी भावास्तत्त्वतः स्वपरोदिताः । [P 368]
एकानेकस्वभावेन वियोगात् प्रतिबिम्बवत्" ।। इति ।
[मध्यमकालं०, का०—१]

एवं निःस्वभावतैव सर्वभावानां निजं पारमार्थिकं रूपमवतिष्ठते । तदेव प्रधानपुरुषार्थतया परमार्थः उत्कृष्टं प्रयोजनमभिधीयते ।

अत्रापि नाभिनिवेष्टव्यम् । अन्यथा भावाभिनिवेशो वा शून्यताभिनिवेशो वेति न कश्चिद्विशेषः; उभयोरपि कल्पनात्मकतया सांवृतत्वात् । न च अभावस्य कल्पितस्वभावतया किञ्चित् स्वरूपमस्ति । न च भावनिवृत्तिरूपोऽभावः, निवृत्तेर्निःस्वभावत्वात् । यदि च भावस्यैव कश्चित् स्वभावः स्यात्, तदा तत्प्रतिषेधात्मा अभावोऽपि स्यात् । भावस्य तु स्वभावो नास्तीति प्रतिपादितमेव । अतो न भावनिवृत्तिरूपः अभावो नाम कश्चित् । न च भावाभावयोरुक्तक्रमेण असत्त्वे प्रतिपादिते तदुभयसङ्कीर्णात्मता सम्भवति, उभयप्रतिषेधस्वभावता वा; भावविकल्पस्यैस सकलविकल्पनिबन्धनत्वात् । तस्मिन्निराकृते सर्व एव अमी एकप्रहारेण निरस्ता भवन्तीति । तस्मात्—

"न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्" ।। इति ।

किञ्चिदभिनिवेशविषयतया मन्तव्यम् । तदुक्तमार्यप्रज्ञापारमितायाम्—
[P 352] "सुभूतिराह—इहायुष्मन् शारद्वतीपुत्र, बोधिसत्त्वयानिकः कुलपुत्रो वा कुलदुहिता वा अनुपायकुशलो रूपं शून्यमिति प्रजानाति, सङ्गः । वेदनां शून्यामिति सञ्जानाति, सङ्गः । संज्ञां शून्यामिति सञ्जानाति, सङ्गः । संस्कारान् शून्यामिति सञ्जानाति, सङ्गः । विज्ञानं शून्यमिति सञ्जानाति, सङ्गः । एवं चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं जिह्वा कायो मनः, यावत् सर्वधर्मशून्यतां शून्यमिति सञ्जानाति, सङ्गः । इति विस्तरः" ।।

उक्तं च—

"सर्वसङ्कल्पहानाय शून्यतामृतदेशना ।
यस्य (यश्च) तस्यामपि ग्राहस्त्वयासाववसादितः" ॥ इति ।
[चतुःस्तवः, निरुपम०–२१]

"न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः[१]" ॥ इति ।

एवं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तमादिशान्तमनुत्पन्नानिरुद्धानुच्छेदाशाश्वतादिस्वभावतया निष्प्रपञ्चत्वादाकाशवदासङ्ख्यानामनास्पदमशेषं विश्वमुत्पश्याम इति ॥

सत्यद्वयमिदं मतमिति। किं तत्? संवृतिः परमार्थश्चेति [P 360] पश्चाद्योजनीयम् । भूतमियं ब्राह्मणी, आवपनमियं मुष्टिकेति यथा । संवृतिरेकं सत्यमविपरीतम्, परमार्थश्च अपरं सत्यमिति । चकारः सत्यतामात्रेण तुल्यबलतां समुच्चिनोति । तत्र संवृतिसत्यमवितथं रूपं लोकस्य, परमार्थसत्यं च सत्यमविसंवादकं तत्त्वमार्याणामिति विशेषः। इत्थं विशेषोपदर्शनार्थोऽपि युक्तश्चकारः ॥

एतदुक्तं भवति सर्व एव अमी आध्यात्मिका बाह्याश्च भावाः स्वभावद्वयमाबिभ्रतः समुपजायन्ते यदुत सांवृतं पारमार्थिकं च । तत्रैकमविद्यातिमिरावृतबुद्धिलोचनानामभूतार्थदर्शिनां पृथग्जनानां मृषादर्शनविषयतया समादर्शितात्मसत्ताकम् । अन्यत् प्रविचयाञ्जनशलाकोद्घातिताविद्यापटलसम्यग्ज्ञाननयनानां तत्त्वविदामार्याणां सम्यग्दर्शनविषयतया उपस्थितस्वरूपम् । तदेतत् स्वभावद्वयं सर्वे पदार्था धारयन्ति । अनयोश्च स्वभावयोर्मृषादृशां बालिशानां यो विषयः, तत् संवृतिसत्यम् । यश्च [P 361] सम्यग्दृशामधिगततत्त्वानां विषयः, तत् परमार्थसत्यमिति व्यवस्था शास्त्रविदाम् । यदाह—

"सम्यग्मृषादर्शनलब्धभावं रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः ।
सम्यग्दृशां यो विषयः स तत्त्वं मृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम्" ॥ इति ॥
[म० अ० ६. २३]

इति द्वयोः समुदायो द्वयमिति युज्यते । मतमिति सम्मतमभिमतम् । केषाम्? प्रहीणावरणधियां बुद्धानां भगवताम्, तन्मार्गानुयायिनामार्य-

१. श्रीसरहपादरचिते सुभाषितसंग्रहे ।

श्रावक-प्रत्येकबुद्ध-बोधिसत्त्वानां च। इदमेव सत्यद्वयं नान्यत् सत्यमस्तीति अवधारणार्थोऽपि युज्यते चकारः। तदुक्तम्—

"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः" ॥ इति।

[म० शा०, २४.८]

पितापुत्रसमागमे चोक्तम्—

सत्य इमे दुवि लोकविदूनां दिष्ट स्वयं अश्रुणित्व परेषांम्।
[P 362] संवृति या च तथा परमार्थो सत्यु न सिध्यति किं च तृतीयु ॥ इति।

ननु चत्वारि आर्यसत्यानि दुःखसमुदयनिरोधमार्गलक्षणानि अभिधर्मे कथितानि भगवता, तत् कथं द्वे एव सत्ये इति? सत्यम्; किं तर्हि वैनेयजनाशयानुशयवशादेते द्वे एव चत्वारि कृत्वा कथिते[1]; अमीषां द्वयोरेवान्तर्भावात्। तथा हि—दुःखसमुदयमार्गसत्यानि संवृतिस्वभावतया संवृतिसत्येऽन्तर्भवन्ति, निरोधसत्यं तु परमार्थसत्ये इति न कश्चिद्विरोधः ॥

स्यादेतत्—संवृतिरविद्योपदर्शितात्मता अभूतसमारोपस्वरूपत्वाद् विचारात् शतशो विशीर्यमाणापि कथं सत्यमिति? एतदपि सत्यम्; किं तु लोकाध्यवसायतः संवृतिसत्यमित्युच्यते। लोक एव हि संवृतिसत्यमिह प्रतिपन्नः। तदनुवृत्त्या भगवद्भिरपि तथैव अनपेक्षिततत्त्वार्थिभिः संवृतिसत्यमुच्यते। अत एव लोकसंवृतिसत्यं चेति शास्त्रेऽपि विशेष उक्त आचार्यपादैः। वस्तुतस्तु परमार्थ एव एकं सत्यम्, अतो न काचित् [P 39] क्षतिरिति। यथोक्तं भगवता[2]—

"एकमेव भिक्षवः परमं सत्यं यदुत अप्रमोषधर्मं निर्वाणम्, सर्वसंस्काराश्च मृषा मोषधर्माणः"। इति ॥

सत्यद्वयमिदमुक्तम्। अत्र अविद्योपप्लुतचेतसां तत्स्वभावतया संवृतिसत्यमिति प्रतीतम्। परमार्थसत्यं न ज्ञायते—कीदृक् किंस्वभावं किंलक्षणमिति। अतो वक्तव्यं तत्स्वरूपमित्याह - **बुद्धेरगोचरस्तत्त्वमिति**। बुद्धेः सर्वज्ञानानाम्, समक्रान्तसर्वज्ञानविषयत्वादगोचरः अविषयः। केनचित् प्रकारेण तत् सर्वबुद्धिविषयीकर्तुं न शक्यते इति यावत्। इति कथं तत्स्वरूपं प्रतिपादयितुं शक्यम्? तथा हि सर्वप्रपञ्चनिर्मुक्तस्वभावं परमार्थसत्यतत्त्वम्,

१. कथितानि—मु० पा०।

२. महावस्तुग्रन्थे द्रष्टव्यम् ४१ पृ०।

अतः सर्वोपाधिशून्यत्वात् कथं कयाचित् कल्पनया पश्येत् ? कल्पनासमतिक्रान्तस्वरूपं च शब्दानामविषयः । विकल्पजन्मानो हि शब्दा विकल्पधियामविषये न प्रवर्तितुमुत्सहन्ते । तस्मात् सकलविकल्पाभिलापविकलत्वादनारोपितमसांवृतमनभिलाप्यं परमार्थतत्त्वं कथमिव प्रतिपादयितुं शक्यते ! तथापि भाजन-श्रोतृजनानुग्राहार्थं परिकल्पमुदाय संवृत्या निदर्शनोपदर्शनेन किञ्चिदभिधीयते--

यथा तिमिरप्रभावात् तैमिरिकः सर्वमाकाशदेशं केशोण्डुक- [P 364] मण्डितमितस्ततो मुखं विक्षिपन्नपि पश्यति । तथा कुर्वन्तमवेक्ष्य अतैमिरिकः किमयं करोतीति तत्समीपमुपसृत्य तदुपलब्धकेशप्रणिहितलोचनोऽपि न केशाकृतिमुपलभते, नापि तत्केशाधिकरणान् भावाभावादिविशेषान् परिकल्पयति । यदा पुनरसौ तैमिरिकः अतैमिरिकाय स्वाभिप्रायं प्रकाशयति—केशानिह पश्यामीति, तदा तद्विकल्पापसारणाय तस्मै यथाभूतमसौ ब्रवीति नात्र केशाः सन्तीति । तैमिरिकोपलब्धानुरोधेन प्रतिषेधपरमेव वचनमाह । न च तेन तथा प्रतिपादयतापि कस्यचित् प्रतिषेधः कृतो भवति, विधानं वा । तच्च केशानां तत्त्वं यदतैमिरिकः पश्यति, तन्न तैमिरिकः ।

एवमविद्यातिमिरोपघातादतत्त्वदृशो बालाः यदेतत् स्कन्धधात्वायतनादिस्वरूपमुपलभन्ते, तदेषां सांवृतं रूपम् । तानेव स्कन्धादीन् येन स्वभावेन निरस्तसमस्ताविद्यावासना बुद्धाः भगवन्तः पश्यन्ति अतैमिरिकोपलब्धकेशदर्शनन्यायेन, तदेषां परमार्थसत्यमिति । यदाह शास्त्रवित्—

> विकल्पितं यत्तिमिरप्रभावात् केशादिरूपं वितथं तदेव । [P 365]
> येनात्मना पश्यति शुद्धदृष्टिस्तत्तत्त्वमित्येवमिहाप्यवेहि ।। इति ।
>
> [म० अ०—६.२९]

इति परमार्थतोऽवाच्यमपि परमार्थत्त्वं दृष्टान्तद्वारेण संवृतिमुपादाय कथञ्चित् कथितम् । न तु तदशेषसांवृतव्यवहारविरहितस्वभावं वस्तुतो वक्तुं शक्यते इति । यदुक्तम्[1]—

> अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का ।
> श्रूयते देश्यते चार्थः[2] समारोपादनक्षरः ।। इति ।
>
> (म० वृ० १५—२)

---

१. द्र०—म० व०, १५-२ ।

२. देश्यते चापि—पाठा० ।

तस्माद्व्यवहारसत्ये एव स्थित्वा परमार्थो देश्यते । परमार्थदेशनावगमाच्च परमार्थाधिगमो भवति, तस्यास्तदुपायत्वात् । यदुक्तं **शास्त्रे**—

व्यवहारमनागम्य परमार्थो न देश्यते ।
परमार्थमनगाम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ।। इति ।

[म० शा०— २४. १०]

एवं परमार्थदेशनोपायभूता संवृतिः, परमार्थाधिगमश्च उपेयभूत [366] इति; अन्यथा तस्य देशयितुमशक्यत्वात् । ननु च तथाविधमपि तथाविधबुद्धिविषयः परमार्थतः किं न भवति ? इत्यत्राह— **बुद्धिः संवृतिरुच्यते** इति । सर्वा हि बुद्धिः आलम्बननिरालम्बनतया विकल्पस्वभावा, विकल्पश्च सर्व एव अविद्यास्वभावः, अवस्तुग्राहित्वात् । यदाह —

विकल्पः स्वयमेवायमविद्यारूपतां गतः । इति ।

अविद्या च संवृतिः । इति नैव काचिद् बुद्धिः पारमार्थिकरूपग्राहिणी परमार्थतो युज्यते । अन्यथा सांवृतबुद्धिग्राह्यतया परमार्थरूपतैव तस्य हीयेत, परमार्थस्य वस्तुतः सांवृतज्ञानाविषयत्वात् । तत्र चेदमुक्तं **भगवता आर्यसत्यद्वयावतारे**—

"यदि हि, देवपुत्र, परमार्थतः परमार्थसत्यं कायवाङ्मनसां विषयतामुपगच्छेत्, न तत् परमार्थसत्यमिति संख्यां गच्छेत्, संवृतिसत्यमेव तद्भवेत् । अपि तु,देवपुत्र,परमार्थसत्यं सर्वव्यवहारसमतिक्रान्तम्, निर्विशेषम्, असमुत्पन्नमनिरुद्धम्, अभिधेयाभिधान-ज्ञेयज्ञानविगतम्, यावत् सर्वाकारवरोपेतसर्वज्ञज्ञानविषयभावसमतिक्रान्तं परमार्थसत्यमिति विस्तरः" ।

अत एव तदविषयः सर्वकल्पनानां यद्भावाभावस्वपरभावसत्यासत्यशाश्वतोच्छेदनित्यानित्यसुखदुःखशुच्यशुच्यात्मानात्मशून्याशून्य- [P 367] लक्ष्यलक्षणैकत्वान्यत्वोत्पादनिरोधादयो विशेषास्तत्त्वस्य न सम्भवन्ति, अमीषां सांवृतधर्मत्वात् । एतदुक्तं **भगवता पितापुत्रसमागमे**—

"एतावच्चैव ज्ञेयम्—यदुत संवृतिः परमार्थश्च । तच्च भगवता शून्यतः सुदृष्टं सुविदितं सुसाक्षात्कृतम् । तेन 'सर्वज्ञः' इत्युच्यते । तत्र संवृतिर्लोकप्रचारतस्तथागतेन दृष्टा । यः पुनः परमार्थः सोऽनभिलाप्यः, अनाज्ञेयः, अपरिज्ञेयः, अविज्ञेयः, अदेशितः, अप्रकाशितः, यावदक्रियः, अकरणः, यावन्न लाभो नालाभो न सुखं न दुःखं न यशो नायशो न रूपं नारूपम्" इत्यादि ।

इति प्रत्यस्तमितसमस्तसांवृतवस्तुविशेषमशेषोपाधिविविक्तमुक्तमनन्तवस्तुविस्तरव्याप्विज्ञानालोकावभासितान्तरात्मना भगवता परमार्थसत्यमिति। तदेतदार्याणामेव स्वसंविदितस्वभावतया प्रत्यात्मवेद्यम्। अतस्तदेवात्र प्रमाणम्। संवृतिसत्यं तु लोकव्यवहारमाश्रित्य प्रकाशितम्। तदेवं यथावद् विभागतः सत्यद्वयपरिज्ञानादविपरीतो धर्मप्रविचय उपजायते ॥ २ ॥

एवं संवृति-परमार्थभेदेन द्विविधं सत्यं व्यवस्थाप्य तदधिकृतश्च लोकोऽपि द्विविध एवेत्युपदर्शयन्नाह—

* तत्र लोको द्विधा दृष्टो योगी प्राकृतकस्तथा। [P 368]
तत्र प्राकृतको लोको योगिलोकेन बाध्यते ॥ ३ ॥

तत्र तयोः संवृत्ति-परमार्थसत्ययोरधिकृतः व्यवस्थितः। तत्सत्यप्रतिपत्तेति यावत्। **लोको** जनः। **द्विधा** द्विप्रकारः संवृति-परमार्थसत्यवेदी। लोक इति समुदायवचनम्, तेन राशिद्वयमित्यर्थः। **दृष्ट** इति प्रतिपन्नः, युक्तेरागमाच्च। कथं कृत्वा द्विधा? इत्याह—**योगी प्राकृतकस्तथेति**। योगः समाधिः, सर्वधर्मानुपलम्भलक्षणः, सोऽस्यास्तीति योगी लोक इत्येकः प्रकारो राशिः। तथा प्रकृतिः संसारप्रवृत्तेः कारणमविद्या तृष्णा, तस्या जात इति प्राकृतः। प्राकृत एव प्राकृतको लोक इति द्वितीयः। तत्र योगी प्रधानतत्त्वमविपरीतं पश्यति, प्राकृतकश्च विपर्यस्तं वस्तुतत्त्वं पश्यति; भ्रान्तत्वात् ॥

स्यादेतत्—उभयोरपि यथास्वं तत्त्वदर्शित्वात् कतरः पुनरनयोर्भ्रान्तिमान्, अस्तु य एवान्यतरेण बाध्यते? कः पुनरनयोः केन बाध्यते? इत्याह—**तत्रे**त्यादि। तत्रेति सप्तम्या समुदायनिर्देशः, निर्धारणे च सप्तमी। **तत्र** तयोर्योगिप्राकृतकयोर्लोकयोर्मध्ये **प्राकृतको लोकः** प्राकृतकत्वजात्या [P 369] समुदायान्निर्धार्यते, निर्धार्य च बाध्यते, इति बाधनं विधीयते।

केन? इत्यपेक्षायामाह—**योगिलोकेनेति**। योगी एव लोकः योगिलोकः, तेन बाध्यते इति विपर्यस्तमतिर्व्यवस्थाप्यते। कथम्? धीविशेषेणेति योजनीयम्। न तु योगी प्राकृतकेन बाध्यते ॥

इदमिहाभिमतम्—यथा विभ्रमाहितसद्भावं तिमिरोपहतचक्षुषः असद्भूतकेशोण्डुकादिदर्शिनो ज्ञानं यथावस्थितवस्तुतत्त्वग्राहिणोऽतैमिरिक-

---

३. उन दो सत्यों द्वारा अधिकृत यह लोक (जनसमुदाय) भी दो प्रकार का है—पहला योगी (ज्ञानी, सन्त) और दूसरा प्राकृतक (साधारण)। इनमें प्राकृतक लोकसमूह योगिलोकसमूह द्वारा विपर्यस्तमति घोषित कर दिया गया है ॥

ज्ञानेन बाध्यते, न तथा तैमिरिकज्ञानेन अतैमिरिकज्ञानं बाध्यते, एवमविद्यामलतिमिरदूषितबुद्धिचक्षुषो विपरीतवस्तुस्वरूपग्राहिणः प्राकृतकस्य ज्ञानं प्रज्ञासलिलक्षालितविगतमलानास्रवज्ञानचक्षुषः भावनिजतत्त्ववेदिनः योगिलोकस्य ज्ञानेन बाध्यते, न पुनरितरज्ञानेन योगिज्ञानमिति । तथा चोक्तम्—

न बाधते ज्ञानमतैमिराणां यथोपलब्धं तिमिरेक्षणानाम् ।
[P 370] तथामलज्ञानतिरस्कृतानां धियास्ति बाधा न धियोऽमलायाः ।। इति ।
[म० अ०–६. १७]

तस्मात् प्राकृतकज्ञानमेव भ्रान्तमिति बाध्यते ।। ३ ।।

अथ किं प्राकृता एव बाध्यन्ते योगिभिः, उत योगिनोऽपि ? इत्याह—

* बाध्यन्ते धीविशेषेण योगिनोऽप्युत्तरोत्तरैः ।

योगिनोऽपि योगिभिरपरापरैर्**बाध्यन्ते** । न केवलं प्राकृतका इत्यपिशब्दार्थः । किंभूतैः ? **उत्तरोत्तरैः** । उत्तरे च उत्तरे च उत्तरोत्तराः, तैः । तारतम्यभेदावस्थितगुणविशेषप्रतिलम्भोत्कर्षप्राप्तैः । अधिकाधिकैरित्यर्थः । तदपेक्षया अपचितगुणा अधराधरे बाध्यन्ते, ज्ञानमाहात्म्यादिभिरभिभूयन्ते । कथम् ? **धीविशेषेणेति** । धियो ज्ञानस्य प्रज्ञाया विशेषः तत्तदावरणविगमात् प्रकर्षः, तेन । उपलक्षणं चैतत् । ध्यानसमाधिसमापत्त्यादिविशेषेणापि । तथा हि–प्रमुदिताख्यप्रथमभूमिलाभिनो बोधिसत्त्वस्य ज्ञानादिगुणापेक्षया तदुत्तरविमलाभिधानद्वितीयभूमिलाभिनो बोधिसत्त्वस्य ज्ञानप्रभावादयो गुणा विशिष्यन्ते । एवमन्येषामपि उत्तरोत्तरभूमिलाभिनां वेदितव्यम् । तथा प्रथमध्यानादिलाभिनामपि उत्तरोत्तरैर्बाधनं योजनीयम्, यावत् सास्रवाणामनास्रवैरिति ।।

[P 371] स्यादेतत्—सत्यपि योगिनां धियो विशेषे प्राकृतज्ञानं भ्रान्तमिति कथमवगमयितुं शक्यते ? इत्याह—

* दृष्टान्तेनोभयेष्टेन कार्यार्थमविचारतः ।। ४ ।।

---

४. और उस योगिसमूह में भी अनेक योगी (ज्ञानी) प्रज्ञोत्कर्ष के कारण अपेक्षाकृत एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर होते हैं ।।

स्वप्न-इन्द्रजाल आदि दृष्टान्तों से, जो कि योगी और प्राकृतक–दोनों को ही अभिमत हैं, जगत की मायामयता (प्रपञ्चता) सिद्ध होती है । और उस मायामय जगत् में वे अपनी कार्यसिद्धि के हेतु अविचारपूर्वक प्रवृत्त होते रहते हैं ।।

उभयेषां योगिप्राकृतकानामिष्टः अभिमतः, तेन दृष्टान्तेन निदर्शनेन। य एव सूत्रेषु भगवता मायामरीचि-गन्धर्व-नगरप्रतिबिम्बादिरुक्तो दृष्टान्तः, स च उभयेषामपि निःस्वभावतया प्रसिद्धः; तत्साधर्म्येण सर्वधर्माणां निःस्वभावत्वप्रतिपदनात्। तथा हि-तावत् सर्वजनप्रतिपन्नस्वरूपा रूपादयः, ते योगिनामेव परमार्थसत्याधिगमान्निःस्वभावतया सिद्धाः। ये पुनरिमे स्वप्नमायादिषु उपलब्धाः, ते प्राकृतकानामपि। अतस्तत्र उभयोरपि विप्रतिपत्तेरभावात् दृष्टान्तधर्मता न विहन्यते। येषां तु मीमांसकादीनां देशकालान्यथात्मकं वस्तु एव तत्तथा प्रतिभासते इति मतम्, तेऽन्यत्र निराकृता इति तन्मतमिह निरस्यते। ये तु स्वयूथ्याः 'चित्तमेव वस्तुसत् स्वप्नादिषु तथा प्रतिभासते' इति मन्यन्ते, तेऽपि यथावसरमग्रतः [बो० च० ९. १७—१८] स्वसंवेदननिराकरणान्निराकरिष्यन्ते।

युक्तिसिद्धमपि उभयसिद्धमेव; अतस्तेन दृष्टान्तेन विपरीतवस्तुस्वरूपग्राहितया प्राकृतकज्ञानं भ्रान्तमिति व्यवस्थाप्यते। एवं योगिनामपि यथासम्भवं वक्तव्यम्।

ननु यदि निःस्वभावाः सर्वभावा इति वस्तुतत्त्वम्, कथं [P 372] तर्हि सर्वसत्त्वसमुद्धरणाशयेन दानादिषु सम्भारपरिपूरणार्थं तत्त्ववेदिनामपि बोधिसत्त्वानां प्रवृत्तिः? तेषामपि निःस्वभावत्वात्, इत्यत आह—**कार्यार्थमविचारतः।** इति कार्यम्=साध्यम्, उपादेयम्। फलमुच्यते। तदर्थं तन्निमित्तम्। अविचारतः अविचारेणैव तद्धेतौ प्रवर्तनात्। तथाभूतेष्वपि तत्र इदम्प्रत्ययतानियमस्य विद्यमानत्वात् न हेतुफलभावस्य। एतदुक्तं भवति—यद्यपि मायादिस्वभावतया निःस्वभावा दानादयः, तथापि त्रिकोटिपरिशुद्धया सादरादियोगेन अभ्यस्यमानाः तथाभूता अपि परमार्थाधिगमाय हेतुभावमापद्यन्ते, तेषां तदुपायत्वात्, प्रतीत्यसमुत्पादस्य च अचिन्त्यत्वात्। एतादृशादेव हेतोरेतादृशं फलमधिगम्यते, तस्य तदुपेयत्वात्। तदुक्तम्—

उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्। इति।

[म० अ०—६. ८.]

अवश्यं चैतदेवम्। अन्यथा मार्गाभ्यासतः समलावस्थाया निर्मलावस्थया,सविकल्पावस्थाया निर्विकल्पावस्था कथमुत्पद्येत,तस्याः परमार्थतस्तत्स्वभावत्वात्। अन्यत्रापि समानमेतत्। सर्वधर्माणां परमार्थतो [P 373] निःस्वभावात् हेतुत्वनुरूपं च सर्वत्र फलमिष्यते। अतः सांवृतादपि निःस्वभावाद्धेतोः निस्वभावताधिगम एव फलम्, कथमन्यथा संकृतादपि

मार्गादसंस्कृतं निर्वाणमवाप्येत ! इति दानादयो वस्तुतो निःस्वभावा अपि परमार्थतत्त्वाधिगमाय सर्वसत्त्वेषु करुणायमानैर्बोधिसत्त्वैरुपादीयन्ते, अन्यथा परमार्थाधिगमायोगात् । ततो दानादिषु प्रवृत्तिरनिवारिता । एवमिष्टानिष्टफलप्राप्तिपरिहारार्थिनां कुशलाकुशलयोः प्रवृत्तिनिवृत्ती वक्तव्ये । एतत् पुनः पश्चाद्व्यक्तीकरिष्यते ।। ४ ।।

स्यादेतत्—यदेतन्मायादिसमानस्वभावं वस्तुरूपं योगिनः प्रतिपद्यन्ते, तदेव यदि प्राकृतकोऽपि जनः प्रतिपद्यते, क्व तर्हि विप्रतिपत्तिरस्ति ? इत्याह—

* लोकेन भावा दृश्यन्ते कल्प्यन्ते चापि तत्त्वतः ।
न तु मायावदित्यत्र विवादो योगिलोकयोः ।। ५ ।।

लोकेन प्राकृतकजनेन । हेतुप्रत्ययं प्रतीत्य भवन्ति स्वरूपं लभन्ते इति **भावाः** । न पुनः पारमार्थिकं रूपं निजमेषामस्ति, इति भावशब्देन निःस्वभावताभिधानं प्रतीयते । सत्स्वरूपेण न केवलं **दृश्यन्ते, कल्प्यन्ते चापि तत्त्वतः** । यथाप्रतीतस्वभावमेव परमार्थतोऽध्यवसीयन्ते । अभिनिविश्यन्ते [P 374] इति यावत् । यदेतदस्मत्प्रतीतिगोचरो वस्तुरूपम्, तद्वास्तवमेवेत्यभिननात् । **न तु मायावत्**, न तु पुनर्यथा योगिना मायेव मायावत् स्वभावशून्या दृश्यन्ते, परमार्थतस्तथा प्रतीयन्ते, **इत्यत्रास्मिन् विवादो** विप्रतिपत्तिर्योगिलोकयोः योगिना सह लोकस्येत्यर्थः । तत्प्रतिपन्ने वस्तुतत्त्वे लोकस्याप्रतिपत्तेः लोकेन सह वा योगिनः, तत्प्रतिपन्ने योगिना यथार्थताप्रतिषेधात् ।

अयमभिप्रायः—सर्वभावानां सांवृतः पारमार्थिकं चेति रूपद्वयमस्ति, तत्र यत् सांवृतं तदेव लोकेन प्रतीयते, यत्तु पारमार्थिकं तद् योगिनेत्युक्तम् । यथा मायाकारनिर्मितहस्त्यादिरूपमेव मन्त्रादिसामर्थ्यविभ्रमितलोचनो जनः पश्यति, मायाकारस्तु तत्स्वभावादि निजं तत्स्वरूपम् । एवं योगिलोकयोरपि यथायोगं प्रतिपत्तव्यम् ।। ५ ।।

---

५. इस जगत् में सामान्य लोगों द्वारा भावपदार्थ सांवृत रूप से देखे जाते हैं और योगियों द्वारा उसका तात्त्विक (पारमार्थिक) रूप देखा जाता है । साधारण लोग उन्हें मायामय नहीं समझते—यही उन योगी और प्राकृतक जनों में अनादि काल से चला आ रहा झगड़ा है । (अर्थात् साधारण जन इस जगत् को वास्तविक मानते हैं, परन्तु योगिजन इसे स्वप्नादि पदार्थों की तरह काल्पनिक मानते हैं) ।।

अथापि स्यात्–यदेतत् समस्तजनसाधारणमर्थक्रियाक्षमं प्रत्यक्षप्रमाणप्रतीतं वस्तुस्वरूपम्,तत् कथमपह्नोतुं शक्यते? इति परस्य हृदयमाशङ्क्याह–

* प्रत्यक्षमपि रूपादि प्रसिद्ध्या न प्रमाणतः ।

यदपि च प्रत्यक्षमभिधीयते रूपादि । आदिशब्देन शब्दादि वेदनादि गृह्यते । तदपि प्रसिद्ध्या रूढ्या लोकप्रवादेन, न प्रमाणतः । न प्रमाणेनाधिगतं सत् प्रत्यक्षं रूपादीति सम्बन्धः । सांव्यावहारिकप्रमाण- [P 375] त्वात् प्रत्यक्षादीनाम्, तदधिगतं सांवृतमेव रूपादि । न च लौकिकप्रमाणसमधिगम्यं तात्त्विकं रूपम्; सर्वजनानां तत्त्ववेदित्वप्रसङ्गात् । यदाह—

इन्द्रियैरुपलब्धं यत् तत्तत्त्वेन भवेद् यदि ।
जातास्तत्त्वविदो बालास्तत्त्वज्ञानेन किं तदा ॥ इति ।

[चतुः० ३.१८]

तस्मात् प्रत्यक्षमपि न प्रमाणेनाधिगतम् ॥

रूपादि तत्त्वं प्रत्यक्षमपि यदि न प्रमाणाधिगतम्, कथं तत्प्रसिद्धिः ? प्रसिद्धिश्चेत् कथं मृषा ? इत्यत्राह—

* अशुच्यादिषु शुच्यादिप्रसिद्धिरिव सा मृषा ॥ ६ ॥

यथा च परमार्थतोऽशुचिनि स्त्रीकलेवरादौ तदासक्तिविपर्यस्तचेतसां शुचिबुद्धिरुपजायते । आदिशब्दादनित्यादौ नित्यादिबुद्धिर्गृह्यते । सा च अतस्मिंस्तद्ग्राहान्मृषा वितथग्राहिणीत्यर्थः । तद्वदियं रूपादावपीत्यविशेषः ॥ ६ ॥

यदि न प्रत्यक्षप्रमाणात् तत्सिद्धिः, आगमात्तर्हि भविष्यति । तथा हि स्कन्धधात्वायतनादिस्वभावतया भगवता भावाः सूत्रे देशिताः, क्षणिकादिस्वभावतया च । तत्रेदमुक्तं भगवता—

"सर्वं[1] सर्वमिति, ब्राह्मण, यावदेव पञ्च स्कन्धाः, द्वादशायतनानि, अष्टादशः धातवः ।" इति ।

तथा—

---

६. रूपादि प्रत्यक्षों का भी सांव्यवहारिक प्रामाण्य ही है । लौकिक प्रमाणों से समधिगम्य वस्तु को तात्त्विक कैसे माना जाय । यदि ऐसा हो, तब तो सारी दुनियाँ ही तत्त्वज्ञानी मानी जाने लगेगी ! ॥

---

१. सत्त्वं सत्त्वमिति पाठा० ।

[P 376] "क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया"।

(तन्त्रवार्त्तिकम्)

'भूतिर्येषां[1] क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥ इति । (भामती)

न च मायादिस्वभावानां क्षणिकाक्षणिकादिधर्मताप्रतिपादनमुचितम्, निःस्वभावानां कस्यचित् स्वभावस्याभावात् । तत्कथममी न परमार्थसन्तः ? इत्यत्राह—

* लोकावतारणार्थं च भावा नाथेन देशिताः ।
तत्त्वतः क्षणिका नैते संवृत्या चेद्विरुध्यते ॥ ७ ॥

लोकानां भावाभिनिवेशिनां स्कन्धादिदेशनावैनेयानां सत्त्वानामापाततः शून्यतादेशनानधिकृतानां शून्यतायाम**वतारणार्थं** सुकुमारोपक्रमेण प्रवर्तनाय । **च**ो हेतौ । यस्माद्**भावाः** स्कन्धायतनादिलक्षणाः, वस्तुतो निःस्वभावत्वेऽपि सर्वधर्माणाम्, **नाथेन** नरकादिदुःखात् सत्त्वान् परित्रायमाणेन अभ्युदयनिःश्रेयससुखं प्रापयता सत्त्वाशयादिवेदिना बुद्धेन भगवता **देशिताः** प्रकाशिताः, न तु परमार्थतः । तस्मान्न सूत्रविरोधः । तदुक्तम्—

"ममेत्यहमिति प्रोक्तं यथा कार्यवशाज्जिनैः ।
तथा कार्यवशात् प्रोक्ताः स्कन्धायतनधातवः" ॥ इति ।

[युक्तिषष्टिका]

[P 377] यदि न परमार्थतो देशिताः, कथं तर्हि ते क्षणिकाः ? इत्याह— **तत्त्वतः क्षणिका नैते** इति । तत्त्वतः परमार्थतः निःस्वभावत्वात् क्षणिका अपि न भवन्ति एते इमे भावाः ; क्षणिकादिदेशना वैनेयानां तत्स्वभावताप्रकाशनात् । यदि न तत्त्वतः क्षणिकाः, कथं तर्हि देशनायामपि कथिताः ? इति मनसि निधाय आह[2]—**संवृत्या चेत्** इति । यदि संवृत्या क्षणिका अभिधीयन्त

जैसे प्राकृतकों द्वारा परमार्थतः अपवित्र स्त्री-कलेवरादि में शुचिता और आत्मादि में नित्यता बुद्धि गृहीत होती है वैसे ही रूपादि में भी वह बुद्धि, 'जो वैसा नहीं है उसे भ्रम से वैसा मानना'—इस विपर्यास के कारण, मिथ्या ही है ॥

७. इन भावाभिनेवेशी सत्त्वों को शून्यता का गम्भीर तत्त्व समझाने के लिये ही भगवान् ने भी इस सांवृतिक व्यवहार का यथाप्रसङ्ग वर्णन किया है, इन्हें

१, 'येषां' भामतीग्रन्थे पाठः ।

२. प्रज्ञापारमितायाम् अष्टसाहस्रिकायामित्यर्थः ।

इत्युच्यते, इत्युत्तरमाशङ्क्य दूषयति--तदा विरुध्यते । संवृत्या क्षणिकाः, न परमार्थत इति विरुध्यते न संगच्छते । अक्षणिकतया प्रतीतेः प्रतीतिविरोधः, सांव्यवहारिभिरक्षणिकत्वप्रतीतेर्न क्षणिकत्वं सांवृतं रूपमिति यावत् ॥ ७ ॥

एतत् सिद्धान्तवादी परिहरति—

* न दोषो योगिसंवृत्या

नायं प्रतीतिविरोधलक्षणो दोषः । कुत ? योगिनां पुद्गलनैरात्म्यसमाधिलाभिनां या संवृतिर्व्यवहारः, तया क्षणिकतया प्रतीतेः । [P 178] अयमभिप्रायः- यदि नाम अर्वाग्दर्शनैः क्षणिकत्वं न प्रतीयते, तथापि योगिव्यवहारगोचरः ! योगिव्यवहारोऽपि संवृतिरूपतां न जहाति, "बुद्धिः संवृतिरुच्यते" [बो० च० ९.२] इति वचनात् । न च प्रतीतिबाधितं बाधितमेव; तथाविधायाः प्रतीतेरप्रमाणत्वात् ।

* लोकात्ते तत्त्वदर्शिनः ।

कुतः पुनरेतत् सांवृतमपि क्षणिकत्वादि योगिन एव पश्यन्ति नार्वाग्दर्शिनः ? इत्याह—लोकात्ते तत्त्वदर्शिन इति । लोकादर्वाचीनदर्शनात् सकाशात् ते योगिनस्तत्त्वदर्शिनः अतीन्द्रियदर्शिनः । हेतुपदमेतत् । यस्मात् तत्त्वदर्शिनस्ते, तस्मात् क्षणिकत्वनैरात्म्यादि लोकाप्रतीतमपि प्रतिपद्यन्ते । अत एव न तेषां लोकप्रतीतिबाधा ।

वास्तविक मानकर नहीं । अब यहाँ प्रश्न उठता है यदि भगवान् ने पञ्च स्कन्धादि भावों की परमार्थतः देशना नहीं की तो वे क्षणिक कैसे हुए ? परमार्थतः (निःस्वभाव होने के कारण)ये क्षणिक भी नहीं हैं । क्षणिकादि देशना तो वैसे भावभिनिवेशी अधिकारी जिज्ञासुओं के लिये की गयी है ।

प्रश्न—यदि सांवृतिक व्यवहार के कारण उनकी देशना की गयी है, तो एक ही वस्तु में क्षणिकता और परमार्थता ये—दो परस्पर विरुद्ध बातें कैसे रहेंगी ? ॥

८. उत्तर देते है पुद्गलनैरात्म्यसमाधिलाभी योगियों की दृष्टि में वह (भाव) क्षणिक है । अर्थात् वह क्षणिकत्व योगिव्यवहारगोचर है, लोकव्यवहारगोचर नहीं । क्योंकि योगी लोग लौकिक पुद्गलों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मदर्शी होते हैं । अतः उनकी दृष्टि से भावों को क्षणिक कहा गया है । यदि यह भेद न माना जायगा तो स्त्री आदि में अशुचित्वनिरूपण लोकदृष्टि में कैसे बनेगा ? ॥

अन्यथा लोकबाधा स्यादशुचिस्त्रीनिरूपणे ॥ ८ ॥

अवश्यं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—**अन्यथेत्यादि** । **अन्यथा** यदि चैवं न स्वीक्रियते, तदा भवदभ्युपगतेऽपि **लोकबाधा स्यात्** । कुत्र ? **अशुचिस्त्रीनिरूपणे** इति । अशुचिभावनासमये अशुचीति **स्त्रियाः** कामिन्या **निरूपणे** विभावनायां लोकबाधा स्यात्, लोकप्रतीतेन विरोधो भवेत्, लोकेन शुचिस्वभावतया स्त्रीशरीरस्याध्यवसानात् । तस्मान्न लोकप्रतीतेन योगिदर्शनबाधेति । अत्र—

'यथोपलब्धं तिमिरेक्षणानाम्'' (म० अ० ६-२३)

[P 379] इत्यादिना उपचयहेतुत्वेन योजनीयम् । इति नागमादपि भावानां परमार्थतः सिद्धिरस्ति । तस्मात् ''मायास्वप्नादिस्वभावाः सर्वधर्माः'' इति निश्चितमेतत् ॥

स्यादेतत् - यदि सर्वव्यापिनी मायोपमस्वभावता, बुद्धोऽपि तर्हि मायोपमः स्वप्नोपमः स्यात् । उक्तं चैतद् **भगवत्याम्** ?

''एवमुक्ते सुभूतिस्तान् देवपुत्रानेतदवोचत्—मायोपमास्ते, देवपुत्राः, सत्त्वाः । स्वप्नोपमास्ते, देवपुत्राः, सत्त्वाः । इति हि माया सत्त्वाश्च अद्वयमेतदद्वैधीकारम् । सर्वधर्मा अपि, देवपुत्रा, मायोपमाः स्वप्नोपमाः । स्रोतआपन्नोऽपि मायोपमः स्वप्नोपमः । स्रोतआपत्तिफलमपि मायोपमं स्वप्नोपमम् । एवं सकृदागाम्यपि सकृदागामिफलमपि । अनागाम्यपि अनागामिफलमपि । अर्हन्नपि अर्हत्त्वमपि मायोपमं स्वप्नोपमम् । प्रत्येकबुद्धोऽपि मायोपमः स्वप्नोपमः । प्रत्येकबुद्धत्वमपि मायोपमं स्वप्नोपमम् । सम्यक्सम्बुद्धोऽपि मायोपमः स्वप्नोपमः । सम्यक्सम्बुद्धत्वमपि मायोपमं स्वप्नोपमम् । यावत् निर्वाणमपि मायोपमं स्वप्नोपमम् । सचेन्निर्वाणादपि कश्चिद् धर्मो विशिष्टतरः स्यात्, तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपमं वदामि'' इति ॥ ८ ॥

सर्वास्तिवादिनामाक्षेपः, तत्समाधानं च

एवं कथं तत्र सत्कारापकारयोः पुण्यपापसमुद्भव इति ।

[P 380] परस्याभिप्रायमाशङ्कयन्नाह—

* मायोपमाज्जिनात् पुण्यं सद्भावेऽपि कथं यथा ।

यदि भगवानपि मायोपमस्वभावः, तदा **मायोपमान्निःस्वभावाज्जिनद्** भगवतः **पुण्यं** सुकृतं पूजासत्कारपादवन्दनादिभिः **कथं यथा** कथमिवेति

---

९. यदि लोकव्यवहार (सांवृतिक सत्य) नहीं माना जायगा तो वस्तुतः

मन्यसे ? उपलक्षणं चैतत्; पापमपि तदपकारे कथमिति द्रष्टव्यम्। न हि मायाकारनिर्मितपुरुषसत्कारापकारयोः पुण्यपापप्रसूतिर्युक्तेति परस्याभिप्रायः। अत्र प्रागुक्तमेवोत्तरम्। तथात्र परमेव परिपृच्छति—**सद्भावेऽपि कथं यथेति**। सद्भावेऽपि परमार्थसत्यत्वेऽपि भगवतः कथमिव पुण्यम् ? कथं यथेत्युभयत्रापि योजनीयम्। अयमभिप्रायः—यथा कस्यचित् परमार्थसतो परमार्थसत् पुण्यमुपजायते, तथा अन्यस्य मायोपमान्मायोपममेवेत्यावयोर्न कश्चिद्विशेषः, इदम्प्रत्ययतामात्रस्योभयसाधारणत्वात्। इति यदेवोत्तरं भवताम्, तदेवास्माकमपि, नातिरिच्यते। किञ्चित्। न च युक्तिसिद्धं परमार्थसद् वस्तुस्वरूपं किञ्चिदस्तीति प्रतिपादितम्॥

भवतु नाम मायोपमादपि जिनात् पुण्यम्। इदं तु कथं समाधीयते ? इत्याह—

* यदि मायोपमः सत्त्वः किं पुनर्जायते मृतः॥ ९॥ [P 381]

अथवा अन्यथाऽवतार्यते—यदि जिनोऽपि मायोपमः, का वार्ता तर्हि सांसारिकेषु सत्त्वेषु ? तेऽपि तथेति ब्रूमः; 'मायोपमास्ते देवपुत्राः सत्त्वाः' इति वचनात्। एवं सति महान् दोषः प्रसज्यते ? इत्याह—**यदीत्यादि**। यदि मायोपमो मायास्वभावसमानधर्मः सत्त्वः प्राणी, तदा किं पुनर्जायते मृतः ? किमिति प्रश्ने अक्षमायां वा। किं पुनर्जायते उत्पद्यते ? मृतो निकायसभागतायाश्च्युतः। कारणमत्र वक्तव्यम्, नैतद्युक्तमिति वा। न हि मायापुरुषो विनष्टः पुनरुत्पद्यते। तस्मात् परमार्थसन्तो भावा इत्युपगन्तव्यम्॥ ९॥

नैतदुपगन्तव्यमित्याह—

* यावत्प्रत्ययसामग्री तावन्मायापि वर्तते।

यावत्कालं प्रत्ययानां कारणानां मन्त्रौषधादीनां **सामग्री** समुदायः, समग्राणि कारणानि, तावत्कालं मायापि वर्तते, न अर्वाङ् निवर्तते, नापि

निःस्वभाव परन्तु व्यवहार में मायोपम भगवान् के साथ किये गये सत्कारादि से प्राप्त पुण्य और अपकारादि से प्राप्त पाप की व्यवस्था कैसे बनेगी !

प्रसङ्गवश प्रश्न उठता है यदि प्राणी मायास्वभावसमानधर्मा है तो फिर वह मरकर बार-बार कैसे पैदा हो जाता है ? मायापुरुष विनष्ट होने के बाद फिर उत्पन्न नहीं होता। अतः 'सभी भाव पारमार्थिक हैं'—ऐसा क्यों न मान लिया जाय ?॥

१०. उत्तर—जब तक कारणसमुदाय रहता है, तभी तक माया भी रहती

ततः परं प्रवर्तते । एवं यावदविद्याकर्मतृष्णास्वभावा सामग्री, तावत् सत्त्वसन्तानमायापि वर्तते, इदम्प्रत्ययतायत्तवृत्तित्वात् । यदि न परमार्थतः सत्त्वोऽस्ति, कथमासंसारं सत्त्वसन्तानः प्रवर्तते, न तु मायावदचिरं निवर्तते ? [P 382] उक्तमत्र– यावत्प्रत्ययसामग्री तावत् प्रवर्तते, यस्य तु तथा नास्ति स नानुवर्तते'' इति । अपि च । न चिरकालावस्थितिः सम्यक्त्वव्यवस्थानिबन्धनमित्याह—

* दीर्घसन्तानमात्रेण कथं सत्त्वोऽस्ति सत्यतः ।। १० ।।

दीर्घश्चिरकालावस्थितः सन्तानः प्रवाहः, स एव केवलस्तन्**मात्रं** तेन । कथमिति पृच्छति—केन प्रकारेण सत्त्वोऽस्ति विद्यते ? **सत्यतः** परमार्थः । एतावांस्तु विशेषः—यस्य हि दीर्घकालावस्थितिहेतुप्रत्ययविशेषोऽस्ति, स दीर्घकालमनुवर्तते । यस्य तथा नास्ति, स नानुवर्तते इति । न तु तावता सम्यङ्मिथ्यात्वम् । तस्मान्मायास्वभावेऽपि न पुनर्जन्मासम्भवः ।। १० ।।

एवं तर्हि यथा मायापुरुषवधादौ न प्राणातिपातः, तथा तदपरपुरुषवधादावपि न स्यात्, अभिन्नस्वभावात् ? इत्यत्राह—

* मायापुरुषघातादौ चित्ताभावान्न पापकम् ।

मायापुरुषस्य घातादौ मारणादौ । आदिशब्देन तस्य अदत्तादि गृह्यतः । समानेऽपि निःस्वभावत्वे **चित्तस्य** विज्ञानस्य मायापुरुषसन्तानेऽ**भावात्** [P 383] असत्त्वात् **न पापकं** न अकुशलमुत्पद्यते प्राणातिपातादि । पापमेव पापकम् । स्वार्थे कन्विधानात् । तत्रापि मारणाभिप्रायेण प्रहारं ददतो भवत्येव अशुभम्, न तु प्राणातिपातः ।

मायापुरुषादन्यत्र कथं प्राणातिपातः ? इति चेदाह—

* चित्तमायासमेते तु पुण्यपापसमुद्भवः ।। ११ ।।

है । न वह पहले प्रत्ययसामग्री के रहते विनष्ट होती है, न सामग्रीनाश के बाद एक क्षण ठहर पाती है । ज्यादा देर प्रत्ययसामग्री रहने के कारण यदि सत्त्व अपेक्षाकृत अधिक ठहर जाय तो इसका मतलब यह नहीं हुआ कि वह परमार्थसत्य हो गया ।।

११. [अच्छा तब तो अब दूसरी बात तुम्हारे गले पड़ गयी—] यदि वह मायापुरुष ही है वास्तविक नहीं तो, उसके बध से पाप और तज्जनित दण्ड की व्यवस्था कैसे सम्पन्न होगी, क्योंकि लोक में हम इन्द्रजाल में किये गये बधादि को (वास्तविक न होने के कारण) दण्डनीय नहीं समझते ?

चित्तमेव माया **चित्तमाया**, तया **समेते** युक्ते। मायास्वभावेन चित्तेन सम्बद्धे इत्यर्थः। तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषार्थः। पुण्यं च पापं च **पुण्यपापे** तयोः सुकृतदुष्कृतयोः **समुद्भवः** समुत्पत्तिः। उपकारापकारयोः इति सामग्रीविशेषात् कार्यविशेषः। यथा सत्यपि गोमयेतरजन्मनोर्वृश्चिकयोराकारसाम्ये कारणभेदात् स्वभावभेदः। तथा इहापि नोक्तदोषप्रसङ्गः॥ ११॥

यदुक्तम्--चित्तमायेति, तत् परो विघटयन्नाह--

* मन्त्रादीनामसामर्थ्यान्न मायाचित्तसम्भवः।

मन्त्रादीनाम, आदिशब्दादौषधादीनां चित्तोत्पादं प्रति **असामर्थ्याद्** व्यापारात् **न मायाचित्तसम्भवः** न मायस्वभावं चित्तं सम्भवति। यथा परव्यामोहनिबन्धनानां मायाकारप्रयुक्तानां मन्त्रादीनां प्रभावेण हस्त्याद्याकारनिर्वृत्तिः, न तथा चित्तस्येति परस्य भावः।

एतत् परिहरन्नाह--

* सापि नानाविधा माया नानाप्रत्ययसम्भवा॥

अपिशब्दोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमश्च। **सा माया नानाविधैव** नानाप्रकारैव। अत एव **नानाप्रत्ययसम्भवा** नानाप्रत्ययात् अनेकप्रकारकारणात् सम्भव उत्पादो यस्याः सा तथोक्ता। अयमभिप्रायः--यदि माया मायेति शब्दसाम्यमस्ति, तथापि न तत्कारणस्याप्यभेदः, मायास्वभावत्वेऽपि कार्यस्य नानास्वभावत्वात्। न हि एकस्मिन् कार्ये किञ्चित् कारणं दृष्टमिति कार्यशब्दसाम्यात् सर्वत्र तदेव प्रकल्पयितुं युज्यते, अपि तु क्वचिदेव कस्यचित् सामर्थ्यम्, शब्दसाम्येऽपि स्वभावभेदात्। एतदेवोपदर्शयन्नाह--

* नैकस्य सर्वसामर्थ्यं प्रत्ययस्यास्ति कुत्रचित्॥ १२॥

नैकस्य क्वचिदुपलब्धसामर्थ्यस्य प्रत्ययस्य कारणस्य हेतोः **सर्वसामर्थ्यं**

उत्तर--समान निःस्वभावत्व होने पर भी, चित्त (विज्ञान) के न होने के कारण मायापुरुष में पाप-पुण्यादि की उद्‌भूति नहीं होती। यह पाप-पुण्य की समग्र व्यवस्था मायासहित चित्त पर आधृत है॥

१२. किञ्च, मन्त्र-औषध आदि की चित्तोत्पाद में सामर्थ्य न होने के कारण मायास्वभाव चित्त समुद्‌भूत नहीं हो सकता। क्योंकि वह माया नाना प्रत्ययसामग्री से उत्पन्न होने वाली नानाविध होती है। किसी एक प्रत्यय की यह शक्ति कहीं नहीं देखी गयी है कि वह जगत् के सभी कार्यों को पैदा कर दे॥

सर्वस्मिन् कार्ये सामर्थ्यं शक्तिरस्ति सम्भवति। क्वचिद् दृष्टमिति कृत्वा कुत्रचिदिति कस्मिंश्चित् समये देशे काले वा दृष्टमिष्टं वा। ततश्च काचि- [P385] न्माया मन्त्रादिसामर्थ्यप्रतिलब्धस्वभावा, काचित् पुनरनादिसंसार- प्रवृत्तमाहात्म्या अविद्यादिप्रभावप्रवर्तिता। तस्मान्न सर्वासु मन्त्रादिसामर्थ्य- मिति। एतत् सर्वं लोकव्यवहारानुगतं कल्पनानिर्मितं सांवृतं वस्तुतत्त्वमु- पादाय समुत्थितम्, न तु परमार्थतः; परमार्थदशायां जननमरणोत्पादनिरोध- हेतुफलभावाभावादिकल्पनाया अभावात्, प्रकृतिनिर्वृतत्वात् सर्वधर्मा- णामिति ॥ १२ ॥

एतदसहमानः परः पुनरन्यथा प्रसञ्जयन्नाह—

* निर्वृतः परमार्थेन संवृत्या यदि संसरेत्।

निर्वृतः स्वभावशून्यत्वादुत्पादनिरोधरहितः। परमार्थेन परमार्थसत्यतः प्रकृतिनिर्वाणतया आदिशान्तत्वात्। यदि संवृत्या संवृतिसत्येन काल्पनिक- त्वेन संसरेत्, जातिजरामरणयोगी भवेत्, तदा अयं महान् विरोधः स्यात्? इत्याह—

* बुद्धोऽपि संसरेदेवं ततः किं बोधिचर्यया! ॥ १३ ॥

एवमभ्युपगम्यमाने बुद्धोऽपि सर्वावरणप्रहाणतो निर्वृतोऽपि संसरेत् जन्मादिभाग् भवेत्। यत एवम्, ततः तस्मात् कारणात् किं बोधिचर्यया? बोधये बुद्धत्वाय चर्या करचरणशिरःप्रदानाद्यनेकदुष्करशतलक्षणा, तया किम्? न किंचित् प्रयोजनम्; उक्तक्रमेण वैफल्यात्। सा हि सर्वसांसारिक- [P 386] धर्मनिवृत्तये सर्वगुणसमुच्चयाश्रितबुद्धत्वप्राप्तये च समाश्रीयते, तथापि न सांसारिकधर्मनिवृत्तिश्चेत, किं तत्समाश्रयेण संसाधितमिति भावः ॥ १३ ॥

* प्रत्ययानामनुच्छेदे मायाप्युच्छिद्यते न हि।
प्रत्ययानां तु विच्छेदात् संवृत्यापि न सम्भवः ॥ १४ ॥

---

१३. [प्रश्न—] यदि सब कुछ माया ही माया है, तो परमार्थतः स्वभाव (उत्पादनिरोध) शून्य, निर्वृत (असंसरणशील) और लोकव्यवहार में संसारी—यह महान् विरोध व्यवहार में होने लगेगा? और तब बुद्ध की भी यही संसरणदशा माननी पड़ेगी तो उस स्थिति में बोधिचर्या का लाभ क्या? ।

१४. सचाई यह है प्रत्यय (कारण) सामग्री के उच्छेद विना माया (जगत्)

प्रत्ययानां कारणानाम् । अनुच्छेदे अविनाशे । ह्रियंस्मात् । मायापि न केवलं संसार इति समुच्चये अपिशब्दः । नैवोच्छिद्यते न निवर्तते । प्रत्ययानां कारणानां तु विच्छेदात् निवृत्तेः, संवृत्याऽपि काल्पनिकव्यवहारेणापि न सम्भवो न संसरणम् । प्रत्ययानां समुच्छेदः पुनस्तत्त्वाभ्यासादविद्यादिनिरोधक्रमेण वेदितव्यः । तद्यथोक्तमार्यशालिस्तम्बसूत्रे —

"एवमुक्ते मैत्रेयो बोधिसत्त्वो महासत्त्व आयुष्मन्तं शारिपुत्रमेतदवोचत्—यदुक्तं भगवता धर्मस्वामिना सर्वज्ञेन–यो, भिक्षवः, प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति, स धर्मं पश्यति । यो धर्मं पश्यति, स बुद्धं पश्यति । तत्र [P 387] कतमः प्रतीत्यसमुत्पादो नाम ? यदिदम्–अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः । संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम् । विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम् । नामरूपप्रत्ययं षडायतनम् । षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः । स्पर्शप्रत्यया वेदना । वेदनाप्रत्यया तृष्णा । तृष्णाप्रत्ययमुपादानम् । उपादानप्रत्ययो भवः । भवप्रत्यया जातिः । जातिप्रत्यया जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाः । एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति । तत्र अविद्यानिरोधात् संस्कारा निरुध्यन्ते···पे०···एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवति । अयमुच्यते–प्रतीत्यसमुत्पादः । ··पे०·· य इमं प्रतीत्यसमुत्पादं सततसमितं निर्जीवं यथावदविपरीतमजातमभूतमसंस्कृतमप्रतिघमनालम्बनं शिवमभयमहार्यमव्युपशमस्वभावं पश्यति, स धर्मं पश्यति । यस्तु एवं सततसमितं यावदव्युपशमस्वभावं धर्मं पश्यति, सोऽनुत्तरं धर्मशरीरं बुद्धं पश्यति·····पे०···

"तत्र अविद्या कतमा ? एतेषामेव षण्णां धातूनां या एकसंज्ञा पिण्डसंज्ञा नित्यसंज्ञा ध्रुवसंज्ञा शाश्वतसंज्ञा सुखसंज्ञा आत्मसंज्ञा सत्त्वसंज्ञा जीवसंज्ञा जन्तुसंज्ञा मनुजसंज्ञा मानवसंज्ञा अहङ्कारममकारसंज्ञा । [P 388] एवमादि विविधमज्ञानम्—इयमुच्यतेऽविद्या । एवमविद्यायां सत्यां विषयेषु रागद्वेषमोहाः प्रवर्तन्ते । तत्र ये रागद्वेषमोहा विषयेषु, अमी अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इत्युच्यन्ते । वस्तुप्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञानम् । चत्वारि महाभूतानि चोपादाय रूपमैकध्यरूपम् । विज्ञानसहजाश्चत्वारोऽरूपिण उपादानस्कन्धा नाम, तन्नामरूपम् । नामरूपसन्निश्रितानि इन्द्रियाणि षडायतनम् । त्रयाणां[1] धर्माणां सन्निपातः स्पर्शः । स्पर्शानुभवो वेदना । वेदनाध्यवसानं

का उच्छेद नहीं हो पाता, और प्रत्ययों का नाश होने पर, काल्पनिक व्यवहार में भी उसका संसरण सम्भव नहीं है । (यह हुआ सौत्रान्तिकों का मत) ।

---

१. इन्द्रिय-विषय-विज्ञानानाम् इत्यर्थः ।

सर्वस्मिन् कार्ये सामर्थ्यं शक्तिरस्ति सम्भवति। क्वचिद् दृष्टमिति कृत्वा कुत्रचिदिति कस्मिंश्चित् समये देशे काले वा दृष्टमिष्टं वा। ततश्च काचि-[P385] न्माया मन्त्रादिसामर्थ्यप्रतिलब्धस्वभावा, काचित् पुनरनादिसंसार-प्रवृत्तमाहात्म्या अविद्यादिप्रभावप्रवर्तिता। तस्मान्न सर्वासु मन्त्रादिसामर्थ्य-मिति। एतत् सर्वं लोकव्यवहारानुगतं कल्पनानिर्मितं सांवृतं वस्तुतत्त्वमु-पादाय समुत्थितम्, न तु परमार्थतः; परमार्थदशायां जननमरणोत्पादनिरोध-हेतुफलभावाभावादिकल्पनाया अभावात्, प्रकृतिनिर्वृतत्वात् सर्वधर्मा-णामिति ॥ १२ ॥

एतदसहमानः परः पुनरन्यथा प्रसञ्जयन्नाह—

* निर्वृतः परमार्थेन संवृत्या यदि संसरेत्।

निर्वृतः स्वभावशून्यत्वादुत्पादनिरोधरहितः। परमार्थेन परमार्थसत्यतः प्रकृतिनिर्वाणतया आदिशान्तत्वात्। यदि संवृत्या संवृतिसत्येन काल्पनिकत्वेन संसरेत्, जातिजरामरणयोगी भवेत्, तदा अयं महान् विरोधः स्यात्? इत्याह—

* बुद्धोऽपि संसरेदेवं ततः किं बोधिचर्यया! ॥ १३ ॥

एवमभ्युपगम्यमाने बुद्धोऽपि सर्वावरणप्रहाणतो निर्वृतोऽपि संसरेत् जन्मादिभाग् भवेत्। यत एवम्, ततः तस्मात् कारणात् किं बोधिचर्यया? बोधये बुद्धत्वाय चर्या करचरणशिरःप्रदानाद्यनेकदुष्करशतलक्षणा, तया किम्? न किंचित् प्रयोजनम्; उक्तक्रमेण वैफल्यात्। सा हि सर्वसांसारिक-[P 386] धर्मनिवृत्तये सर्वगुणसमुच्चयाश्रितबुद्धत्वप्राप्तये च समाश्रीयते, तथापि न सांसारिकधर्मनिवृत्तिश्चेत, किं तत्समाश्रयेण संसाधितमिति भावः ॥ १३ ॥

* प्रत्ययानामनुच्छेदे मायाप्युच्छिद्यते न हि।
प्रत्ययानां तु विच्छेदात् संवृत्यापि न सम्भवः ॥ १४ ॥

---

१३. [प्रश्न—] यदि सब कुछ माया ही माया है, तो परमार्थतः स्वभाव (उत्पादनिरोध) शून्य, निर्वृत (असंसरणशील) और लोकव्यवहार में संसारी—यह महान् विरोध व्यवहार में होने लगेगा? और तब बुद्ध की भी यही संसरणदशा माननी पड़ेगी तो उस स्थिति में बोधिचर्या का लाभ क्या?।

१४. सचाई यह है प्रत्यय (कारण) सामग्री के उच्छेद विना माया (जगत्)

प्रत्ययानां कारणानाम् । अनुच्छेदे अविनाशे । हियँस्मात् । मायापि न केवलं संसार इति समुच्चये अपिशब्दः । नैवोच्छिद्यते न निवर्तते । प्रत्ययानां कारणानां तु विच्छेदात् निवृत्तेः, संवृत्याऽपि काल्पनिकव्यवहारेणापि न सम्भवो न संसरणम् । प्रत्ययानां समुच्छेदः पुनस्तत्त्वाभ्यासादविद्यादिनिरोधक्रमेण वेदितव्यः । तद्यथोक्तमार्यशालिस्तम्बसूत्रे --

"एवमुक्ते मैत्रेयो बोधिसत्त्वो महासत्त्व आयुष्मन्तं शारिपुत्रमेतदवोचत्—यदुक्तं भगवता धर्मस्वामिना सर्वज्ञेन–यो, भिक्षवः, प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति, स धर्मं पश्यति । यो धर्मं पश्यति, स बुद्धं पश्यति । तत्र [P 387] कतमः प्रतीत्यसमुत्पादो नाम ? यदिदम्–अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः । संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम् । विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम् । नामरूपप्रत्ययं षडायतनम् । षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः । स्पर्शप्रत्यया वेदना । वेदनाप्रत्यया तृष्णा । तृष्णाप्रत्ययमुपादानम् । उपादानप्रत्ययो भवः । भवप्रत्यया जातिः । जातिप्रत्यया जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाः । एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति । तत्र अविद्यानिरोधात् संस्कारा निरुध्यन्ते···पे०···एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवति । अयमुच्यते–प्रतीत्यसमुत्पादः । ··पे०·· य इमं प्रतीत्यसमुत्पादं सततसमितं निर्जीवं यथावदविपरीतमजातमभूतमसंस्कृतमप्रतिघमनालम्बनं शिवमभयमहार्यमव्युपशमस्वभावं पश्यति, स धर्मं पश्यति । यस्तु एवं सततसमितं यावदव्युपशमस्वभावं धर्मं पश्यति, सोऽनुत्तरं धर्मशरीरं बुद्धं पश्यति·····पे०···

"तत्र अविद्या कतमा ? एतेषामेव षण्णां धातूनां या एकसंज्ञा पिण्डसंज्ञा नित्यसंज्ञा ध्रुवसंज्ञा शाश्वतसंज्ञा सुखसंज्ञा आत्मसंज्ञा सत्त्वसंज्ञा जीवसंज्ञा जन्तुसंज्ञा मनुजसंज्ञा मानवसंज्ञा अहङ्कारममकारसंज्ञा । [P 388] एवमादि विविधमज्ञानम्—इयमुच्यतेऽविद्या । एवमविद्यायां सत्यां विषयेषु रागद्वेषमोहाः प्रवर्तन्ते । तत्र ये रागद्वेषमोहा विषयेषु, अमी अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इत्युच्यन्ते । वस्तुप्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञानम् । चत्वारि महाभूतानि चोपादाय रूपमैकध्यरूपम् । विज्ञानसहजाश्चत्वारोऽरूपिण उपादानस्कन्धा नाम, तन्नामरूपम् । नामरूपसन्निश्रितानि इन्द्रियाणि षडायतनम् । त्रयाणां[1] धर्माणां सन्निपातः स्पर्शः । स्पर्शानुभवो वेदना । वेदनाध्यवसानं

का उच्छेद नहीं हो पाता, और प्रत्ययों का नाश होने पर, काल्पनिक व्यवहार से भी उसका संसरण सम्भव नहीं है । (यह हुआ सौत्रान्तिकों का मत) ।

१. इन्द्रिय-विषय-विज्ञानानाम् इत्यर्थः ।

तृष्णा। तृष्णावैपुल्यमुपादानम्। उपादाननिर्जातं पुनर्भवजनकं कर्म भवः। भवहेतुकः स्कन्धप्रादुर्भावो जातिः। जात्यभिनिर्वृत्तानां स्कन्धानां परिपाको जरा। स्कन्धविनाशो मरणम्। म्रियमाणस्य सम्मूढस्य साभिष्वङ्गस्य अन्तर्दाहः शोकः। शोकोत्थलपनं परिदेवः। पञ्चविज्ञानसम्प्रयुक्तमाघातानुभवनं दुःखम्। दुःखमनसिकारसम्प्रयुक्तं मानसं दुःखं दौर्मनस्यम्। ये चान्ये एवमादाय उपक्लेशाः, इमे उपायासा इत्युच्यन्ते।

"तत्र महान्धकारार्थेन अविद्या। अभिसंस्कारार्थेन संस्काराः। [P 389] विज्ञाननार्थेन विज्ञानम्। मननार्थेन नामरूपम्। आयद्वारार्थेन षडायतनम्। स्पर्शनार्थेन स्पर्शः। अनुभवनार्थेन वेदना। परितर्षणार्थेन तृष्णा उपादानार्थेन उपादानम्। पुनर्भवजननार्थेन भवः। स्कन्धप्रादुर्भावार्थेन जातिः। स्कन्धपरिपाकार्थेन जरा। विनाशार्थेन मरणम्। शोचनार्थेन शोकः। वचनपरिदेवनार्थेन परिदेवः। कायसम्पीडनार्थेन दुःखम्। चित्तसम्पीडनार्थेन दौर्मनस्यम्। उपक्लेशार्थेन उपायासाः॥ इति विस्तरः" ॥ १४ ॥

एवमुपदर्शितप्रत्ययानामनुच्छेदे संसारोऽविकलः प्रवर्तते; द्वादशाङ्गप्रतीत्यसमुपादस्यैव संसारत्वात्। यदाहुराचार्यपादाः[1]—

"यथाक्षेपं क्रमाद् वृद्धः सन्तानः क्लेशकर्मभिः।
परलोकं पुनर्यातीत्यनादिः भवचक्रकम्॥
स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः। इति।

[अभि० को०, ३.१९-२०]

प्रत्ययानां पुनरुच्छेदे सर्वथैव संसरणं न स्यात्, कारणवैकल्यात्। ततश्च 'बुद्धोऽपि संसरेदेवम्' इत्येतन्न प्रसज्यते इति॥

योगाचारणां विप्रतिपत्तिनिराकरणम्

एवं तावत् सौत्रान्तिकादिचोद्यमुदस्य योगाचारविप्रतिपत्तिनिराकरणाय तन्मतेन दूषणमुद्भावयन्नाह—

* यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति माया केनोपलभ्यते ॥ १५ ॥

---

१५. [अब योगाचार मत से इस सत्यद्वय का निरूपण करते हैं—] हम पूछते हैं कि जब समग्र जगत्, मायात्मक होने के कारण, स्वभावशून्य सिद्ध हो गया तो वहाँ माया का प्रत्यायक कौन होगा ?

---

१. आचार्यवसुबन्धुपादा इत्यर्थः।

यदा सर्वं जगत् मायात्मकतया स्वभावशून्यमुपगतं मध्यमक- [P 390] वादिभिः, मायास्वभावसंवृतिग्राहिणी बुद्धिरपि भवतां नास्ति बाह्यवत्, तदा माया केनोलभ्यते, केन प्रतीयते तद्ग्राहकवस्तुसज्ज्ञानमन्तरेण ? नैव केनचिदित्यर्थः। यस्य पुनः स्वचित्तमेव परमार्थसत् बाह्यरूपतया भ्रान्तं तथा प्रतिभासते, न तस्यायं दोष इति भावः ॥ १५ ॥

एतन्निराकर्तुमाह —

* यदा मायैव ते नास्ति तदा किमुपलभ्यते !

यदा मायैव ग्राह्यतया हस्त्याद्याकारप्रवृत्त्या तव विज्ञानवादिनो नास्ति, चित्तमात्रं जगदभ्युपगच्छन्तो बहिरर्थाभावात्, तदा किमुलभ्यते, तदा किमिह प्रतिभासते ? बहिरर्थाभावाद्देशादिविच्छेदेन प्रतिभासो न युक्त इत्यर्थः।

अत्र परस्याभिप्रायमाशङ्कयन्नाह —

* चित्तस्यैव स आकारो यद्यप्यन्योऽस्ति तत्त्वतः ॥ १६ ॥

उक्तमत्र चित्तमेव बहीरूपतया भ्रान्तं हस्त्याद्याकारं प्रतिभासते इति। उक्तमेव ; किन्तु यद्यपि चित्तस्यैव ज्ञानस्यैव स इति देशादिविच्छेदेन ग्राह्यतया प्रतिभासमान आकारो निर्भासः, अन्य इत्यपरः आन्तराद् ग्राहकाच्चित्ताकारात्, अस्ति विद्यते, तत्त्वतो वस्तुतः ॥ १६ ॥

यद्यपीत्यभ्युपगम्योक्तम्, तथापि नैतत् सङ्गच्छत इत्याह— [P 391]

* चित्तमेव यदा माया तदा किं केन दृश्यते !

चित्तमेव विज्ञानमेव वेदकतया स्वीकृतम्, यदा माया नान्या, न हि वेदकचित्तव्यतिरिक्ता काचिदन्या माया नाम, तदात्मतया तस्यास्तथा प्रतिभासोपगमात्, तदा किं केन दृश्यते, किं केन प्रतीयते ? दर्शनमेव हि केवलमस्ति न दृश्यम्। दृश्यमन्तरेण दर्शनमपि न स्यात्, दृश्यापेक्षत्वात तस्य। अतो न केनचित् किञ्चिन् दृश्यते, इति आन्ध्यमशेषस्य जगतः प्राप्तमिति भावः।

---

१६. इसका प्रतिवन्दी उत्तर यह है कि जव तुम्हारे मत में माया ही नहीं है तो इस सर्व जगत् का प्रतिभास किस से हो सकता है ? ।।

[उत्तर—] हम पीछे कह तो आये कि वस्तुतः चित्त ही तदाकार होकर मायारूप से प्रतिभासित होता है ॥

ननु स्यादेवैतत् यदि ज्ञानस्य आत्मसंवेदनं न स्यात्, यावता संवेदनतया स्वरूपं संवेदयत् तदभिन्नं मायादिप्रतिभासमपि वेदयेत्। तथा च सति न काचित् क्षतिः। इति **विज्ञानवादिनोऽभिप्रायमाशङ्क्याह**—

* उक्तं च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति।

स्वभावशून्यमेव सर्वं जगद् यदा युक्तितः प्रतिपादितम्, तदा कः कस्य स्वभावो वस्तुतः इति कस्य केन वेदनं स्यात्? उक्तं च भगवता

"सर्वधर्माः शून्याः, शून्यतालक्षणं चित्तम्। सर्वधर्मा विविक्ताः, विविक्ततालक्षणं चित्तम्" इति।

किं च, **उक्तं च** कथितं च **लोकनाथेन** लोकानां सर्वसत्त्वानां नाथेन [P 392] शरण्येन बुद्धेन भगवता। किमुक्तम्? **चित्तं चित्तं न पश्यति**, चित्तं स्वात्मानं न जानाति, सत्यपि वस्तुत्वे स्वात्मनि कारित्रविरोधात्। कथमिव?

* न च्छिनत्ति यथात्मानमसिधारा तथा मनः॥ १७॥

यथा सुतीक्ष्णाप्यसिधारा खड्गधारा तदन्यवदात्मानं स्वकायं न च्छिनत्ति न विघाटयति; स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, तथा मनः। असिधारावच्चित्तमपि स्वात्मानं न पश्यतीति योज्यम्। तथा हि न तदेवैकं ज्ञानं वेद्य-वेदक-वेदनात्मस्वभावत्रयं युक्तम्; एकस्य निरंशस्य त्रिस्वभावतायोगात्। **तत्रेदमुक्तमार्यरत्नचूडसूत्रे** --

"स चित्तं परिगवेषमाणो नाध्यात्मं चित्तं समनुपश्यति। न बहिर्धा चित्तं समनुपश्यति। न स्कन्धेषु चित्तं समनुपश्यति। न धातुषु चित्तं समनुपश्यति। नायतनेषु चित्तं समनुपश्यति। स चित्तमसमनुपश्यँश्चित्तधारां पर्येषते - कुतश्चित्तस्योत्पत्तिः? इति। आलम्बने सति चित्तमुत्पद्यते। तत् किमन्यच्चित्तमन्यदालम्बनम्? अथ यदेवालम्बनं तदेव चित्तम्? यदि तावदन्यदालम्बनमन्यच्चित्तम्, तद् द्विचित्तता भविष्यति? अथ यदेवालम्बनं तदेव चित्तम्, तत् कथं चित्तं चित्तं पश्यति? न हि चित्तं चित्तं

---

१७. [प्रश्न —] यदि यही बात है कि चित्त ही माया है तो कौन किसको देखता है? कौन किसकी प्रतीति करता है?

भगवान् ने भी सूत्र में कहा है—चित्त चित्त को नहीं देखता, उसकी प्रतीति नहीं करता।

जैसे तलवार अपने आप को नहीं काट पाती, वैसे चित्त भी चित्त को नहीं देख पाता॥

समनुपश्यति। तद्यथा न तस्यैव असिधारया सैव असिधारा शक्यते छेत्तुम्, न तेनैव अङ्गुल्यग्रेण तदेव अङ्गुल्यग्रं स्प्रष्टं शक्यते, एवमेव तेनैव चित्तेन तदेव चित्तं द्रष्टुम्" इति विस्तरः ॥ १७ ॥

अत्र **चित्तमात्रवादिनः** स्वात्मनि क्रियाविरोधं विघटयितुं स्वपक्षप्रसाधनाय दृष्टान्तमुद्भावयन्नाह--

* आत्मभावं यथा दीपः सम्प्रकाशयतीति चेत् ?

आत्मभावं स्वस्वरूपं **यथा दीपः** प्रदीपः **सम्प्रकाशयति** द्योतयति। यथा हि किल अन्धकारावृतघटादिवस्तुप्रतिपत्तये प्रदीप उपादीयते, न तथा प्रदीपप्रकाशनाय प्रदीपान्तरम्, अपि तु घटादि प्रकाशयन्नेव आत्मानमपि प्रकाशयति, तथा प्रकृतेऽपि स्वसम्वेदने वेदितव्यम्। न चापि क्वचिद् विरोधो दृष्ट इति सर्वत्र योजनीयम्। तस्मात् प्रदीपवदविरोध एवेति चेत ? यद्येवं मन्यसे, तदा नैवं वक्तव्यम्। कुतः ? इत्याह --

* नैव प्रकाश्यते दीपो यस्मान्न तमसावृतः ॥ १८ ॥

नैव प्रकाश्यते घटादिन्नैव उद्द्योत्यते **दीपः, यस्मान्न तमसावृतः** न अन्धकारपिहितः विद्यमानस्यावरणस्य अपनयनं प्रकाशनम्, ततो [P 394] युक्तं घटादीनां प्रकाशनम्, तेषां प्राग् विद्यमानत्वात्। नैवं प्रदीपस्य, तस्य प्रागविद्यमानत्वात्। न च अविद्यमानस्य प्रकाशनं युक्तम्, असत्त्वात्। तस्मान्नैव प्रकाश्यते प्रदीपः। इति विसदृशत्वान्न प्रदीपदृष्टान्तात् साध्यसिद्धिः ॥ १८ ॥

स्यादेतत्--आत्मभावमित्यादिना नैतदभिधीयते यदात्मानं घटवत् तमसावृतं प्रकाशयति दीपः, अपि तु तत्स्वभावं प्रति परनिरपेक्षतामात्रमस्याभिधीयते। एतदेवोपदर्शयन्नाह--

* न हि स्फटिकवन्नीलं नीलत्वेऽन्यमपेक्षते।
तथा किञ्चित परापेक्षमनपेक्षं च दृश्यते ॥ १९ ॥

---

१८. यदि प्रश्न करो कि जैसे दीपक दूसरों को प्रकाशित करने के साथ स्व को भी प्रकाशित करता है, वैसे ही चित्त भी चित्त को प्रकाशित कर सकता है तो यह गलत दृष्टान्त हैं; क्योंकि दीपक घट की तरह कहाँ अन्धकार से आवृत्त है कि वह अपने आपको देखेगा ! ॥

१९. [उत्तर-] स्फटिक पत्थर भले ही नीलत्व के लिये अन्य नीलगुणोत्पत्तिनिमित्तक उपाधि की अपेक्षा करे; परन्तु जो वस्तु स्वयं नील है वह नीलत्व के

हिरिति यस्मात् । यथा स्फटिकोपलः स्वयमनीलः सन्, नीलत्वे नीलगुणोत्पत्तिनिमित्तमन्यमुपाधिं नीलपत्रादिसन्निधिमपेक्षते, तथा स्वमेव यद्वस्तु नीलम्, तदपि न नीलत्वेऽन्यमुपाधिमपेक्षते । तथा तेन प्रकारेण किञ्चिद् घटादिकं परापेक्षं प्रदीपाद्यपेक्षं प्रकाशं दृश्यते, किञ्चित् पुनः प्रदीपादिकमनपेक्षं च स्वयम्प्रकाशात्मकं दृश्यते उपलभ्यते । एतावन्मात्रमेव विक्षितम् ॥

एवं विज्ञानवादिना उपदर्शिते विशेषे सिद्धान्तवादी नीलमेव [P 395] तावन्नीलत्वे परनिरपेक्षं दृष्टान्तत्वेनोपदर्शितं प्रतिषेधयन्नाह -

* अनीलत्वे न तन्नीलं नीलहेतुर्यथेक्ष्यते ।
नीलमेव हि को नीलं कुर्यादात्मानमात्मना ॥ २० ॥

अयमपि न सदृशो दृष्टान्तः, यतो नीलमपि न नीलत्वे स्फटिकवन्निरपेक्षम्, तद्भावं प्रति स्वहेतुप्रत्ययापेक्षत्वात् । कदा पुनरिदमनपेक्षं स्यात् ? यदि तदनीलमेव स्वहेतोरुत्पद्येत । पुनस्तद्भावे परनिरपेक्षं स्वयमेव नीलमात्मानं कुर्यात् । न चैतदस्ति । यतः अनीलत्वे नीलगुणरहितत्वे सति । नेति निषेधयति । तदिति नीलाभिमतं वस्तु । नीलं नीलगुणयुक्तमात्मानं स्वरूपमात्मना स्वयमेव न कुर्यात्, न कर्तुं शक्नोति, पूर्ववत् स्वस्मिन् क्रियाविरोधात् । तस्मान्न नीलस्यापि परानपेक्षता नीलत्वं प्रति स्फटिकवत् । तथा हि स्फटिकोपलोऽपि वस्तुतोऽवस्थितरूप एव उपाधिसन्निधौ न [P 396] नीलोपरागमनुभवति, अपि तु सर्वस्वोपादानलक्षणात् । नीलोपाधिविशेषसहकारिणश्च पूर्वस्वरसनिरोधात् अन्य एव नीलगुणोपरक्तः स्फटिकोपल उत्पद्यते इति सिद्धान्तः । तस्मात् साधारणमनयोस्तद्गुणं प्रति हेतुप्रत्ययाधीनत्वम् । इति प्रकृतेऽपि साध्ये न कश्चिद्विशेषः ।

लिये अन्य उपाधि की अपेक्षा नहीं करती; इसी तरह परापेक्ष घटादि को प्रदीपादि के प्रकाश की आवश्यकता हो सकती है, परन्तु प्रदीप तो स्वयं अन्यानपेक्ष होता हुआ उपलब्ध होता है ॥

२०. यह दृष्टान्त भी समान नहीं, कारण कि नील वस्तु भी, नीलत्व के प्रति स्वहेतुप्रत्ययापेक्ष होने के कारण, निरपेक्ष नहीं है; क्योंकि उस नील पदार्थ को नीलहेतु नहीं माना जा सकता जो नीलत्वरहित हो । जो स्वयं नील है उसको स्व द्वारा कौन फिर से नीला कर सकता है ! और यह नील पदार्थ जो नीलत्वरहित है स्वयं को स्व से नील नहीं बना सकता । अतः जैसे स्फटिक को नील प्रत्ययसामग्री की अपेक्षा है, वैसे ही नील को भी नीलहेतु की अपेक्षा होती है ॥

ननु प्रियमिदमनुष्ठितं प्रियेण यस्मात् जडस्वभावव्यावृत्तात्मतया स्वहेतुप्रत्ययात् उत्पत्तिरेव ज्ञानस्य प्रकाशान्तरनिरपेक्षस्य आत्मप्रकाशता स्वसम्वेदनमुच्यते। एतदेव त्वयापि नीलस्वरूपपरामर्षेण समर्थितम्। एतावन्मात्रेण प्रदीपोऽपि दृष्टान्तीकृतः। न पुनरस्माभिः कर्मकर्तृक्रिया-भेदेन ज्ञानस्यात्मप्रकाशनमिष्यते। एकस्य सतः कर्मादिस्वभावत्रयस्या-योगात्। तन्न क्रियादिभेदेन दूषणेऽपि किञ्चिद् दूषितस्माकं स्यात्; स्वहेतु-जनितस्यात्मप्रकाशस्यानुपघातात्। इति नात्मसम्वेदने प्रतिपादितदोष-प्रसङ्गः। तदुक्तम् --

"विज्ञानं जडरूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते।
इयमेवात्मसंवित्तिरस्य या जडरूपता॥
क्रियाकारकभेदेन न स्वसंवित्तिरस्य तु।
एकस्यानंशरूपस्य त्रैरूप्यानुपपत्तितः" ॥ इति।

[तत्त्वसंग्रहः, २०००-१ का०]

अत्रोच्यते--क्रियाकारभेदेन व्यवहारप्रसिद्धं शब्दार्थम- [P 3 7] धिगम्य दूषणमुक्तम्; स्वसंवेदनशब्दस्य तदर्थाभिधायकत्वात्। यदि पुनर्दोष-भयाल्लोकप्रसिद्धोऽपि शब्दार्थः परित्यज्यते, तदा लोकत एव बाधा भवतो भविष्यति। इत्थमपि न परमार्थतः स्वसंवेदनसिद्धिः। तथा हि हेतुप्रत्ययो-पजनितस्य प्रतिबिम्बस्येव निःस्वभावत्वमुक्तम्। तथा च सुतरां न स्वसंवेदनं ज्ञानस्य, तत्त्वतो निजस्वभावाभावात्। न च स्वभावाभावे गगनोत्पलस्य आत्मसंवेदनमुचितम्। न चापि जडस्वभावता मध्यमकवादिनं प्रति परमार्थतः कस्यचित् सिद्धा, येन जडव्यावृत्तमजडं स्वसंवेदनं स्यात्। तस्मादन्यानेव प्रति युक्तमेतद् वक्तुम्। ततो निःस्वभावतया न कथञ्चिदपि स्वसंवेदनसिद्धिः। एतत् पुनः पश्चात् स्मृत्युपस्थानोपदर्शनप्रस्तावे [बो० च० ९. २४] विस्तरेणोपदर्शयिष्यामः ॥ २० ॥

साम्प्रतं प्रदीपस्य स्वयमप्रकाशतामभ्युपगम्य बुद्धेः स्वसंवेदनमयुक्त-मिति प्रतिपादयन्नाह --

दीपः प्रकाशत इति ज्ञात्वा ज्ञानेन कथ्यते।
बुद्धिः प्रकाशत इति ज्ञात्वेदं केन कथ्यते ![1] ॥ २२ ॥

२२. 'प्रकाशान्तरनिरपेक्ष दीपक स्वयं प्रकाशित होता है'--यह चित्त से जान कर कहा जाता है, परन्तु 'चित्त प्रकाशित होता है'-- यह किससे जानकर कहा जायगा ? ॥

१. अत्र परिच्छेदे क्रमाङ्कः पूर्वमुद्रितपुस्तकानामनुसारमेव दत्त इति ध्येयम्।

भवतु वा प्रदीपस्य प्रकाशात्मता, तथापि न बुद्धिसंवेदनसाधनं प्रति [P 398] सदृशो दृष्टान्त इति समुदायार्थः। **दीपः प्रकाशत** इति आभासते प्रकाशान्तरनिरपेक्षः स्वयमेव, इति **ज्ञात्वा** प्रतीत्य **ज्ञानेन** बुद्धया **कथ्यते** प्रतिपाद्यते, प्रदीपस्य ज्ञानविषयत्वात्। **बुद्धिर्ज्ञानं प्रकाशते** इति यदुच्यते, तत् पुनः **केन ज्ञानेन ज्ञात्वा कथ्यते** इति परं पृच्छति। न चात्र किञ्चिद् बुद्धिप्रतिपत्तिनिबन्धनमस्तीति असम्भावनां प्रकाशयति। न तावत् पूर्वज्ञानेन तत्प्रतिपत्तिः; तत्कालमनुत्पत्तेस्तस्यासत्त्वात्। नापि पश्चात्कालभाविना तदानीं क्षणिकतया ग्राह्यस्यातीतत्वात्। न च तत्समानकालभाविना तेन तस्यानुपकारात्। न च अनुपकारकस्य विषयभावः, 'नाकारणं विषयः' इति वचनात्। नापि स्वयम्, तत्रैव विप्रतिपत्तेः। तत् कथं तत्प्रतीतिरिति न विद्मः॥ २२॥

इत्थं सर्वथा बुद्धेरप्रतिपत्तौ तत्संवेदनमतीव अयुक्तमित्याह—

* प्रकाशा वाप्रकाशा वा यदा दृष्टा न केनचित्।
वन्ध्यादुहितृलीलेव कथ्यमानापि सा मुधा॥ २३॥

प्रकाशा वा प्रकाशात्मिका दीपवत्। **अप्रकाशा वा** अप्रकाशात्मिका घटादिवत्। परस्परसमुच्चये वाशब्दद्वयम्। बुद्धिः **यदा दृष्टा न** [P 399] **केनचित्**, न प्रतिपन्ना केनचित् प्रतिपत्रा स्वयंरूपेण[1] वा। यदेति पदं तदेत्याकर्षति। तदा **वन्ध्याया** अप्रसवधर्मिण्याः स्त्रिया **दुहिता** पुत्री, तस्या **लीला** विलासो ललितं तद्वत्। **कथ्यमानापि** आख्यायमानापि **सा मुधा**। सेति बुद्धिः। **मुधेति**। **वन्ध्यादुहितुरविद्यमानतया** प्रतिपन्नवात् **तल्लीला** सुतरामप्रतिपन्नेत्यभिप्रायः।

अथवा– अनुत्पन्नानिरुद्धस्वभावतया वन्ध्यादुहितृस्थानीया बुद्धिः। अप्रतीततत्स्वभावतया तल्लीलावत् स्वसंवित्तिः। तदप्रतीतेः तस्या अपि अप्रतीतिरिति कथ्यमानापि युक्तिरहितेन वचनमात्रेण सा स्वसंवित्तिर्मुधा, अनुपादेयत्वान्निष्प्रयोजना॥ २३॥

स्यादेवम्–युक्तिशून्यं वचनमात्रमेतत्। यत इयमत्र युक्तिरस्तीत्याह—

---

२३. इस तरह बुद्धि का किसी भी तरह प्रतिपादन न हो सकने के कारण, बुद्धि को जब किसी ने देखा ही नहीं तो 'चित्त स्वयम्प्रकाश है'–यह कहना वन्ध्यापुत्री के क्रियाकलाप के मिथ्यावर्णन के सदृश ही है॥

---

१. क्वचिन्नास्ति।

* यदि नास्ति स्वसंवित्तिर्विज्ञानं स्मर्यते कथम् !

यदि स्वसंवेदनं विज्ञानस्य **नास्ति** न विद्यते, तदा **विज्ञानं स्मर्यते कथम्** ? विज्ञानस्य स्वसंवेदनाभावादुत्तरकालं स्मरणं न स्यात्। न हि अननुभूतस्मरणं युक्तम्; अतिप्रसङ्गात्। तस्मादनुभवफलस्य स्मरणस्य [P 400] उत्तरकालं दर्शनात् ज्ञानसंवेदनकार्यतया स्मरणं निश्चितं भवेत्, भवेद् वह्नेर्यथा धूमः स्वसंवेदनस्य कारणं स्मृतिः। न च असिद्धे स्वसंवेदने प्रमाणतः स्मरणस्य तत्कार्यताग्रहणमस्ति। सर्वथा उभयप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात् कार्यकारणभावप्रतिपत्तेः। न च चक्षुरादेरिव विज्ञानम्, अदर्शनेऽपि स्मरणं तत्कार्यं सेत्स्यति, चक्षुषो हि व्यतिरेके नीलादिज्ञानाभावतो व्यतिरेकद्वारेण तत्कार्यमनुमीयते। स्मृतिस्तु ज्ञानसंवेदनमन्तरेणापि भवतीति प्रतिपादयिष्यामः, इति स्वसंवेदनकार्यतानिश्चयमन्तरेण स्मरणस्य तद्विनाभावान्न संवेदनसिद्धिः। अतः स्मरणमपि ज्ञानत्वात् कथं सिद्धमिति वक्तव्यम्। न च स्वयमसिद्धं लिङ्गं ज्ञापकमन्यस्य। न च स्मरणं स्वसंवेदनस्य प्रत्यक्षतया ग्राहकम्; तस्य तस्मादन्यत्वात्। न च ज्ञानस्य ज्ञानान्तरविषयत्वम्, बहिरर्थवत् सम्बन्धासिद्ध्यादिदोषप्रसङ्गात्। अन्यत्वाविशेषात् सन्ताना- [P 401] न्तरभाविनापि स्मरणेन तस्य ग्रहणं स्यात्। अथ तेन पूर्वमननुभूतत्वान्न स्मर्यत इति चेत् ? एकसन्ततिपतितेनापि न पूर्वमनुभूतमपि समानः प्रसङ्गः।

कार्यकारणभावोऽपि न तस्य नियामको युज्यते, कार्यकारणभावस्यैव परमार्थतोऽभावात्, सत्यपि तस्मिन् सर्वज्ञानानां स्वप्रतिपत्तिनिष्ठतया तद्ग्रहणस्याशक्यत्वात्। यथाव्यवहारमभ्युपगमे काल्पनिकत्वम्, काल्पनिकत्वे च सर्वव्यवहाराणां कल्पनानिर्मितत्वात् सांवृतत्वमिति साधितं न साध्यम्। इति न स्मृतेः स्वसंवेदनसिद्धिः॥

भवतोऽपि कथं तर्हि स्वसंवेदनाभावे स्मृतिः ? इत्याह—

* अन्यानुभूते सम्बन्धात् स्मृतिराखुविषं यथा॥ २४॥

---

२४. (आप कहते हैं कि बुद्धि का स्वयम्प्रकाशत्व युक्तिशून्य है तो हम पूछते हैं—) यदि विज्ञान का स्वसंवेदन नहीं है तो उसमें उत्तरकाल में स्मृति कैसे होगी ?॥

(उत्तर है—) ज्ञान से अन्य ग्राह्य विषयवस्तु के अनुभूत होने पर उसका स्मरण हो जाता है। जैसे चूहे के काटने पर उसका विष तत्काल तो कोई प्रभाव नहीं करता, परन्तु मेघगर्जन के समय उसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है; उसी प्रकार विषय (ज्ञेय) के अनुभूत होने पर ज्ञान का स्मरण हो जाता है॥

ज्ञानादन्यस्मिन् ग्राह्ये वस्तुनि विषयेऽनुभूते सति ज्ञाने स्मृतिः स्मरणमुपजायते । ननु अन्यस्मिन्ननुभूते अन्यत्र स्मरणे अतिप्रसङ्गः स्यादित्याह–**सम्बन्धादिति** । विषयेऽनुभूते तद्विज्ञानस्मरणं सम्बन्धाद् भवति । विज्ञानं हि [P 402] तद्ग्राहकतया तत्सम्बद्धम्, अतो विज्ञानं स्मर्यते, नान्यत् । सत्यपि सम्बन्धे अन्यस्मिन्ननुभूते अन्यस्य स्मरणे विलुप्तं स्मरणं स्यादिति चेन्न, पूर्वमनुभूतो विषयः उत्तरकालमनुस्मर्यमाणः स एवानुभवविशिष्टोऽनुस्मर्यते । तद्विशिष्टस्य तस्य ग्रहणात् । ज्ञानमेव च विषयानुभवो नान्य इति विषयानुभवस्मरणात् तत्सम्बद्धतया ज्ञाने स्मरणमभिधीयते, न तु विषयरहितं ज्ञानमपि केवलमनुस्मर्यते इत्यदोषः ॥

ननु कथमिव ज्ञानसंवेदनाहितस्मृतिवासनाबीजमन्तरेण स्मृतिरुत्तरकालं स्यादित्याह–**आखुविषं यथेति** । आखुविषं मूषिकविषं यथा सम्बन्धात् कालान्तरेण जायते तथा स्मृतिरपीत्यर्थः । तथा हि मूषिकविषमेकस्मिन् क्षणे शरीरसंक्रान्तं पुनः कालान्तरेण मेघस्तनितमधिगम्य विनापि स्वसंवेदनाहितस्मृतिवासनाबीजमिदम्प्रत्ययतामात्रायतवृत्तित्वात् अन्यस्मिन् क्षणे विकृतिमुपयाति, तथा प्रकृतेऽपि न दुष्यतीति भावः ॥ २४ ॥

पुनरपि विज्ञानवादी ज्ञानसंवेदनसिद्धये प्रकारान्तरमुपदर्शयितुमाह–

[P 403] * प्रत्ययान्तरयुक्तस्य दर्शनात् स्वं प्रकाशते ।

प्रत्ययान्तरं कारणान्तरम् [कालान्तरम् ?] । ईक्षणिकादिविद्या परचित्तादिज्ञानाभिज्ञा च ताभ्यां **युक्तस्य** तत्सामग्रीसम्बद्धस्य चित्तस्य **दर्शनात्** प्रतिभासनात् विज्ञानस्य **स्वं प्रकाशते** स्वरूपं प्रतिभासते । संवेदनमस्तीति यावत् । यदि हि तत् सर्वदा परोक्षरूपं कथं कदाचित् सामग्रीविशेषादुपलभ्येत, ततो यथा सामग्रीविशेषात् परचित्तमुपलभ्यते, तथा समनन्तरालम्बनादिप्रत्ययात् स्वचित्तमप्युपलभ्यते इति भावः ।

एतदपि न ज्ञानसंवेदनसामर्थ्यमित्याह–

* सिद्धाञ्जनविधेर्दृष्टो घटो नैवाञ्जनं भवेत् ॥ २५ ॥

---

२५. [विज्ञानवादी की दृष्टि में प्रकारान्तर से भी ज्ञान-संवेदन हो सकता है, वही बताते हैं –] क्योंकि ईक्षणिकादिविद्यायुक्त योगियों को भिन्न देशकालादि में स्थित विज्ञान का प्रत्ययान्तर से भी साक्षात्कार हो जाता है, अतः विज्ञान का स्वसंवेदन है ?

सिद्धं च तदञ्जनं च, सिद्धस्य वा अञ्जनम्, तस्य विधिः विधानं प्रयोगः, तस्माद् दृष्ट प्रतीतः घटो निधानादि वा नैव अञ्जनं भवति। न च घटादिरञ्जनमेव स्यात्। न यद् यस्मात् प्रतीयते तदेव तद्भवति। एवमीक्षणिकादिविद्यासहकारिणा ज्ञानेन परचित्तं च घटादिवद् दृष्टमिति [P404] नैतावता तत्संवेदनं सिद्धं स्यात्। तस्मान्नैतदपि साध्योपयोगि साधनम्।

ननु यदि ज्ञानमविदितस्वरूपं स्यात, अर्थस्यापि प्रतीतिर्न स्यात्। अव्यक्तव्यक्तिकत्वाद् ज्ञानस्य, न हि अर्थस्य व्यक्तिः। तदप्रतीतौ कथमर्थस्य प्रतीतिः ? तथा हि स्वसंवेदनस्य प्रतिषेधात्, अन्येन अन्यस्य ग्रहणायोगाच्च, तद्ग्रहणाभ्युपगमे च उत्तरोत्तरस्य अप्रतीतस्य प्रतीतये ज्ञानान्तरानुसरणेन अनवस्थाप्रसङ्गाच्च न कथञ्चिदपि अर्थस्य प्रतीतिरिति। तेन यदुक्तम्— "अन्यानुभूते" इत्यादि, तदसङ्गतम्, अर्थस्यानुभवाभावात्॥ २५॥

सर्वश्चायं दृष्टादिव्यवहारो लोके न स्यादित्याह–यथा दृष्टमित्यादि। यदुच्यते--दृष्टादिव्यवहारो न स्यादिति, स किं परमार्थतो न स्यात्, संवृत्या वा ? तत्र यदि परमार्थतो न स्यादित्युच्यते, तदा प्रियमिदमस्माकम्; न हि सांवृतस्य परमार्थचिन्तायामवतारोऽस्ति। अथ लोकप्रसिद्धिः ? तदा—

* यथा दृष्टं श्रुतं ज्ञात नैवेह प्रतिषिध्यते।

इति। यथा दृष्टमिति चक्षुरादिविज्ञानेन प्रत्यक्षेण [P 405] प्रतिपन्नम्। श्रुतमिति परपुद्गलादागमाच्च। ज्ञातमिति त्रिरूपलिङ्गजादनुमानान्निश्चितम्। तदेतदिह सर्वं व्यवहारमाश्रित्य नैव प्रतिषिध्यते, नैव वार्यते। यद् यथा लोकतः प्रतीयते, तत् तथैव अविचारितस्वरूपमभ्युपगम्यते लोकप्रसिद्धितः; न तु पुनः परमार्थतः। तेन ज्ञानसंवेदनाभावादर्थानधिगमादयोऽपि दोषाः परमार्थपक्षवादिन इह नावतरन्ति। यदि तत् तथैवाभ्युपगम्यते, किं नाम तर्हि प्रतिषिध्यते ? इत्याह—

* सत्यतः कल्पना त्वत्र दुःखहेतुर्निवार्यते॥ २६॥

क्या कह रहे हैं आप ! क्या सिद्धाञ्जन के द्वारा देखा गया भूमि में गड़ा हुआ घट अञ्जन हो जायगा !॥

२६. लोकव्यवहार में जो जैसा देखा-सुना जाता है उसका वहाँ निषेध नहीं होता। परन्तु परमार्थतः विचार करते समय उस दुःखहेतु कल्पना (=आरोप) का निवारण (=प्रतिषेध) किया जाता है॥

सत्यतः परमार्थतः। कल्पना आरोपः। तुशब्दः पुनरर्थे। सा पुनरत्र विचारे सिद्धान्ते वा। निवर्त्यते प्रतिषिध्यते। कुतः? दुःखहेतुरिति। हेतुपदमेतत्। दुःखस्य हेतुः कारणं यस्मात्, तस्मादित्यर्थः। उपादानस्कन्धानां सदसदादिकल्पनाहितप्रवृत्तिहेतुत एव च संसारः। संसारश्च दुःखस्वभावः।

[P 406] "दुःखं समुदयो लोको दृष्टिस्थानं भवश्च ते।

[अभि० को०–१.८]

इति वचनात्। इति सत्यतः कल्पना दुःखहेतुर्भवति। तस्मादसत्समारोपकल्पनाभिनिवेशप्रतिषेधमात्रमत्राभिप्रेतम्, न तु वास्तवं किञ्चित् प्रतिषिध्यते इति। तदेवं स्वसंवेदनं ज्ञानस्य न कथञ्चिदचिदपि युज्यते। तदुक्तम्—

न बोध्यबोधकाकारं चित्तं दृष्टं तथागतैः।
यत्र बोद्धा च बोध्यं च तत्र बोधिर्न विद्यते॥ इति।

यत्तु क्वचिद् भगवता चित्तमात्रतास्तित्वमुक्तम्, तत् स्कन्धायतनादिवन्नेयार्थतयेति कथयिष्यते॥ २६॥

इदानीं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृते योजयन्नाह—

* चित्तादन्या न माया चेन्नाप्यनन्येति कल्प्यते।
वस्तु चेत् सा कथं नान्याऽनन्या चेन्नास्ति वस्तुतः॥ २७॥

तर्हि १. चित्तादन्या माया स्यात्, २. अनन्या वा स्यात्, ३. उभयस्वभावा वा, ४. अनुभयस्वभावा वा–इति चत्वारो विकल्पाः। तत्र न तावत् प्रथमपक्षः, चित्तादन्याभ्युपगमेऽपि चित्तमात्रं जगदिच्छतः सिद्धान्तविरोधः स्यात्। द्वितीयपक्षे तु "यदा मायैव ते नास्ति" [बो० च० ९. ६] इत्या-
[P 407] दिना प्रतिपादित एव दोषः। तृतीयस्तु प्रकारो न सङ्गच्छते, परस्परविरुद्धयोरेकत्राभावात्। अथ चतुर्थी कल्पना? सापि न सङ्गच्छते। तामुपादायोच्यते चित्तादन्या न माया इत्यन्यत्वप्रतिषेधः। अनन्या तर्हि? नाप्यनन्येति तत्त्वस्यापि प्रतिषेधः इति। उभयपक्षपातश्चेद् यदि कल्प्यते

---

२७. तो फिर माया को चित्त से अन्य माना जाय या उससे अनन्य (अभिन्न)? चित्त से अन्य मानोगे तो 'चित्तमात्र ही जगत् है'—इस सिद्धान्त का खण्डन हो जायगा और यदि अभिन्न मानोगे तो पीछे (९–६ में) कहा हुआ। (वस्तुतः परमार्थतया चित्त है ही नहीं–) दोष आ जायगा॥

व्यवस्थाप्यतं, सोऽपि न युक्तः, अन्योन्यपरिहारवतोरेकप्रतिषेधस्य अपरविधिनान्तरीयकत्वात् तयोरेकत्राभावात् चतुर्थी कल्पना, सापि न सङ्घटते ॥

अपि च। **वस्तु चेदिति**। यदि सा माया वस्तुसती कथं नान्या चित्ताद्व्यतिरिक्ता न भवति ? अथ **अनन्या चेत्** यदि चित्तमेव माया, तदा नास्ति वस्तुतः, न विद्यते परमार्थतः, तस्यास्तत्स्वभावत्वात् 'चित्तमेव केवलम्' इत्येतत् तदेवायातम्। यदुक्तम्—

यदा मायैव ते नास्ति तदा किमुपलभ्यते। इति॥ २७॥

अधुना प्रकृतं प्रसाध्य उपसंहरन्नाह—

* असत्यपि यथा माया दृश्या द्रष्टृ तथा मनः।

असती उपलभ्यमाना **माया** हस्त्यादिवद्वस्तुतोऽसत्स्वभावा। तादृश्यपि **दृश्या** दर्शनविषया **यथा** माया, **द्रष्टृ तथा मनः**। सैव असती माया [P 408] दृश्या दृष्टान्तः, तथा मनः परमार्थतोऽसत्स्वभावमपि दर्शनसमर्थं भविष्यति। तेन "यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति" [बो० च० ९. १५] इत्यादि यदुक्तं परेण, तत् प्रसाध्य उपसंहारेण दर्शितम्।

पुनरपि प्रकारान्तरेण परमार्थसद्विज्ञानसाधनाय परोपक्रममभिसन्धाय आह—

* वस्त्वाश्रयश्चेत् संसारः सोऽन्यथाकाशवद्भवेत्॥ २८॥

तथाहि—संक्लेशो व्यवदानं च हेयोपादेयतया द्वयमिदं यथावत् प्रतिपत्तव्यम्। तत्र रागादिमलावृतं चित्तं संक्लिष्टमित्युच्यते। ते च अभूतसमारोपबलोत्पन्नत्वादागन्तुकाश्चित्ताश्रिताः प्रवर्तन्ते। तत्प्रभूतकर्मजन्मपरम्परोपनिबन्धः संसारः प्रजायते। तदेव चित्तं परमार्थतः प्रकृतिप्रभास्वरमनागन्तुकमभूतपरिकल्पसमुत्थग्राह्यग्राहकादिद्वयसमारोपाभिनिवेशवासनाशून्यमद्वयस्वभावमागन्तुकदोषविनिर्मुक्तमाश्रयपरावृत्तेर्व्यवदानमित्युच्यते। तदेवं संक्लेशव्यवदानयोर्वस्तुसमुद्भूतचित्तमन्तरेण व्यवस्थापनं न घटते इति मन्यन्ते, संसारनिर्वाणयोश्चित्तधर्मत्वात्। 'चित्तमेव संक्लिश्यते, चित्तमेव व्यवदायते' इति वचनात्।

---

२८. अतः लोक में जैसे असत्य माया दृश्य प्रतीत होती है, उसी तरह चित्त भी द्रष्टा मान लिया जाय!

(विज्ञानवादी) क्योंकि यह समग्र संसार किसी न किसी वस्तु (प्रत्यय) के आश्रित है, अन्यथा आकाश (शून्य) की तरह चित्त की भिन्नतया कल्पना करनी

तदेव परमतं निरूपयति - वस्त्वेव वस्तुसद्भूतचित्तमेव आश्रयः अस्येति वस्त्वाश्रयः । चेद् यदि संसारो व्यवस्थाप्यते, तदा संसारोऽन्यथा [P 409] भवेत्, चित्तादन्यः स्यात्, वस्तुनोऽन्यत्वे अवस्तु स्यात्, चित्तस्यैव च वस्तुत्वात् । कथमिव ? आकाशवत् गगनमिव । य एष चित्ताश्रयः संसारोऽभिधीयते, स किं वस्तु ? अवस्तु वा ? वस्त्वपि चित्तम् ? तदन्यद्वा ? तत्र यदि वस्तु चित्तमेव, तदा न चित्तादन्यः संसारस्तदाश्रयः, चित्तमेव सः । चित्तं च प्रकृतिभास्वरतया व्यवदानस्वभावत्वान्न प्रहेयम् । अथ चित्तादन्यः ? तदा चित्तव्यतिरिक्तस्य अन्यस्याभ्युपगमात् सिद्धान्तक्षतिः । अथ अवस्तु ? तदा संसारो नाम न किञ्चिदस्ति, खरविषाणवत् । अत एवाह— आकाशवत् इति । यथा आकाशं प्रज्ञप्तिसन्मात्रमसत्, न क्वचिदर्थक्रियायां समर्थम्, तथा संसारो भवतः स्यात् । अथवा--आकाशवदिति निःस्वभावत्वादस्मत्सिद्धान्तानुप्रवेशः ।। २८ ।।

स्यादेतत्, यदि नाम अवस्तु, तथापि वस्तुसद्भूतचित्तसमाश्रितत्वात् तस्य अर्थक्रियासामर्थ्यं भविष्यति ? इत्याह —

* वस्त्वाश्रयेणाभावस्य क्रियावत्त्वं कथं भवेत् ?

न असद्रूपस्य कश्चिदाश्रयो भवितुमर्हति; आश्रयाश्रयिभावस्य कार्यकारणरूपत्वात् । न च अभावः कस्यचित् कार्यम्, अनिर्वर्त्यविशेषत्वात् । भवतु नाम, तथापि वस्त्वाश्रयेण वस्तुसद्भूतचित्तसमाश्रयेण अभावस्य असदात्मकस्य क्रियावत्त्वम्, अर्थक्रियाकारित्वं कथं भवेत् ! न कदाचिदपि; [P 410] युज्यते इत्यर्थः । अन्यथा तस्य भावस्वभावता स्यात् । "शक्तिर्हि भावलक्षणम् सर्वशक्तिविरहोऽभावलक्षणम्" इति वचनात् ।

किमिदानीमिति विचार्यमाणमुपस्थितं भवत इत्याह —

* असत्सहायमेकं हि चित्तमापद्यते तव ।। २९ ।।

असन्नेव अभावः सहायोऽस्येति असत्सहायम् । हिरवधारणे । एकमद्वितीयमेव चित्तमापद्यते तव चित्तैकपरमार्थवादिनः ।। २९ ।।

पड़ेगी । (अर्थात् जैसे आकाश प्रज्ञप्तिसन्मात्र असत् है, वह किसी अर्थक्रिया में समर्थ नही है; उसी तरह आपका संसार भी 'असत्' हो जायगा) ।।

२९. वस्तुसद्भूत चित्त के समाश्रयण (स्वीकार) से परमार्थतः असदात्मक अभाव में अर्थक्रियाकारित्व कैसे आयगा ?

ननु उक्तमेव--ग्राह्यग्राहकाद्याकारविनिर्मुक्तद्वयलक्षणं चित्तम्, इति चित्तैकताप्रतिपादेन न किञ्चिदनिष्टमस्माकम् ? तदयुक्तम्; संक्लेशस्यापि प्रहेयतया वस्तुत्वमुक्तम्। तत् कथं चित्तमेवैकं वस्तु नाम, तथापि न बाधकान्मुक्तिरित्याह--

* ग्राह्यमुक्तं यदा चित्तं तदा सर्वे तथागताः ।

ग्राह्यमित्युपलक्षणम् । ग्राहकादिमुक्तमपि वेदितव्यम् । अथवा ग्राह्याधीनं ग्राहकत्वमिति तदभावात् ग्राहकाभावः । ग्राहकाभावे च तदुपकल्पितस्य अभिलाप्यस्याभावात अभिलापस्याभाव इत्युपदर्शयितुं ग्राह्यमुक्तमित्युक्तम् । ग्राह्याद्याकारविविक्तमद्वयस्वभावं यदा सर्वस्य [P 411] जगतश्चित्तम्, तदा तस्य चित्तस्य सर्वसन्तानान्तर्गतत्वात् सर्वे संसारिणः सत्त्वाः तथ गता बुद्धा भगवन्तः प्राप्नुवन्ति । न कश्चित् पृथग्जनः स्यात् । ततश्च संक्लेशप्रहाणार्यमार्गभावनावैयर्थ्यप्रसङ्गः । न चैत्रम् । तस्मात सत्यपि ग्राह्यग्राहकवैधुर्ये भावाभिनिवेशस्य तदवस्थत्वान्न सर्वथा संक्लेशप्रहाणम्--इत्यभिसन्ध्याह --

* एवं च को गुणो लब्धश्चित्तमात्रेऽपि कल्पिते ।। ३० ।।

एवं चेति निपातसमुदायः । एवं सतीत्यस्मिन्नर्थे । अप्यर्थे चकारः । एवमपि स्वीकृते को गुणो लब्धः ? नैव कश्चित् । चित्तमात्रेऽपि विज्ञप्तिमात्रतायामपि कल्पितायां कल्पनया समारोपिते, अद्वयतत्त्वपरिज्ञानान्वयेऽपि सर्वसत्त्वसन्ताने रागादीनां पर्यवस्थानात् ।। ३० ।।

ननु एतत्समानं निःस्वभाववादिनो भवतोऽपीति समानदूषणतामापदयन्नाह —

* ज्ञाते मायोपमत्वेऽपि कथं क्लेशो निवर्तते !

मायोपमत्वे मायास्वभावत्वेऽपि जगतो ज्ञाते कथं क्लेशो निवर्तते,

---

इस तरह तुम चित्तैकपरमार्थवादी के मत में चित्त अभावात्मक माना जायगा ।।

३०. जब तुम्हारे मत में चित्त ग्राह्यग्राहकभावमुक्त है तब सभी प्राणी बुद्ध हो जायँगे । इस तरह तुमने चित्तमात्र की कल्पना कर क्या लाभ उठाया (क्योंकि तब भी सर्वसत्त्व-सन्तान में रागादि का पर्यवस्थान तो वैसा का वैसा रह जायगा) ।।

३१. [विज्ञानवादी-] मायोपम जानने पर भी क्लेश (=ज्ञेयावरण की

कथं रागादिगणः प्रहीयते इति पृच्छति । किमत्र प्रहाणानुपपत्तिकारणं यत् पृच्छसीत्याह—

[P 412] * यदा मायास्त्रियां रागस्तत्कर्तुरपि जायते ॥ ३१ ॥

इदमत्र प्रहाणानुपपत्तिबीजं दृश्यते- यदा मायास्त्रियां मायाकारविनिर्मितायामबलायां रागः संरक्तचित्तता जायते उत्पद्यते । कस्य जायते? तत्कर्तुरपि । न केवलं यद्व्यामोहनाय सा विनिर्मिता, तेषामेव जायते, किंतु तस्या मायास्त्रियाः कर्तुः निर्मातुरपि जायते इति अपिशब्दार्थः । यदा हि परिचित्तविभ्रमसम्पादनार्थं मन्त्रौषधिसामर्थ्यविनिर्मितां सर्वाङ्गप्रत्यङ्गावयवलक्षणपरिपूर्णामभिनवयौवनशोभासम्पत्समापन्नां प्रसन्नमनोहरवर्णां लावण्यातिशयशालिनीम् अतीव तदाकारनिर्माणप्रवीणः कश्चिन्मायाकारो जनपदकल्याणीं स्त्रियमुपदर्शयति, तदा न तावत् तदन्ये तामभिसमीक्ष्य मन्मथशरप्रहारान्तरव्यथितचेतसो जायन्ते, अपि तु योऽपि स तस्याः कमनीयकान्तिसम्पदः कामकलाकौशलोत्कण्ठितमूर्तेरभिनिर्माता, 'मया स्वयमेव चैषा विरचिता' इति तत्स्वभावविचक्षणः, सोऽपि कामकलया परमदशामासादयन् न कथञ्चिदपि चेतः सन्धारयितुमलम्, तत् कथं मायोपमत्वेऽपि निश्चिते संसारसन्ततिच्छेदः स्यात् ॥ ३१ ॥

एतत् परिजिहीर्षन्नाह --

* अप्रहीणा हि तत्कर्तुर्ज्ञेयसंक्लेशवासना ।
तद् दृष्टिकाले तस्यातो दुर्बला शून्यवासना ॥ ३२ ॥

हिर्यस्मादर्थे । नैतद् दूषणमस्माकमासज्जते । यस्मादप्रहीणा अनिवृत्ता तत्कर्तुः मायास्त्रीनिर्मातुः । किमप्रहीणा ? ज्ञेयसंक्लेशवासना ज्ञेयसंक्लेशः वस्त्वभावतासमारोपादासङ्गादिः, वस्तुतासमारोपो वा । ज्ञेयावरणं यावत् । तस्य वासना अनादिसंसारजन्मपरम्पराभ्यस्तमिथ्याविकल्पजनिततद्बीजभूतचित्तसन्ततिसंस्काराधानम्, तस्या अप्रहीणत्वात् ।

[P 413]

वासना) निवृत्ति कैसे होगी जब कि मायास्त्री के कर्ता का भी उसमें राग देखा जाता हैं ? ॥

३२. [उत्तर—] यद्यपि उस मायास्त्री के निर्माता में ज्ञेयावरण की वासना बनी रहती है इसीलिये उसके दर्शन के समय शून्यता (= निःस्वभावता) की वासना में बल नहीं होता, परन्तु उक्त शून्यता की वासना स्थिर होने पर मायामय पदार्थों को भाव (सत्) समझने की वासना नष्ट हो जाती है ॥

ननु एतत् समानं विज्ञानवादिनोऽपि प्रतिविधानम्; तस्यापि अद्वयतत्त्वस्य सत्त्वेऽपि आगन्तुकसंक्लेशवासनाया अप्रहीणत्वात् न सर्वे तथागता भवन्ति ? नैतत् समानम्; यस्मादभावात्मानो मलाः कार्यकलाविकला नावरणं भवितुमर्हन्ति, इत्युक्तमेव। अस्माकं तु निःस्वभावमेव जन्यं जनकं चेति न समानम्। सा यस्मादप्रहीणा, अतोऽस्मात् कारणात्। **तद्दृष्टिकाले**, तस्या ज्ञेयसस्वभावताया दृष्टिः उपलब्धिः, तस्याः काले। तस्या वा मायास्त्रिया दृष्टिकाले उपलम्भकाले। **तस्येति** अप्रहीणसंक्लेशवासनस्य द्रष्टुः। **दुर्बला शून्यवासनेति**। शून्यस्य शून्यतत्त्वस्य, शून्यताया वेति विग्रहः। छन्दोऽनुरोधाद् भावप्रत्ययस्य लोपं कृत्वा शून्येति निर्देशः। वासना संस्काराधानम्, सा दुर्बला सामर्थ्यविकला, आरोपितस्य दर्शनात्। अतस्तदा भाववासना बलवती ॥ ३२ ॥

कथं तर्हि सा निवर्तते ? इत्याह—

* शून्यतावासनाधानाद्धीयते भाववासना।　　　　　[P 414]

शून्यताया मायास्वभावनिःस्वभावतया **वासना** तस्या **आधानम्** आवेधः। अभ्यासेन दृढीकरणमिति यावत्। तस्माद्विरुद्धप्रत्ययात् **हीयते** निवर्तते। वह्निसन्निधानाच्छीतस्पर्शवत्। किम् ? **भाववासना** अनवराग्र-संसाराभ्यस्तवस्तुसद्ग्राह्याध्यवसानवासना। तस्या भूतार्थत्वात्, वस्तुनिजस्व-भावत्वाच्च। इतरस्या अलीकत्वात, आगन्तुकत्वाच्च।

ननु भावाभिनिवेशो वा शून्यताभिनिवेशो वा इति नाभिनिवेशं प्रति कश्चिद्विशेषः, तस्यापि कल्पनास्वभावानतिक्रमात्। यदाह—

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं बुधैः।
येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे ॥ इति ॥

[म० शा० १३.८]

एतत् परिहर्तुमाह—

* किञ्चिन्नास्तीति चाभ्यासात् सापि पश्चात् प्रहीयते ॥ ३३ ॥

किञ्चिदिति भावो वा शून्यता वा। **नास्ति** न विद्यते। **चशब्दः** पूर्वा-पेक्षया समुच्चये। इत्येवं **चाभ्यासात्** भाववासनाप्रहाणस्य **पश्चात् सापि** शून्य-वासनापि **प्रहीयते** निवर्तते। अयमभिप्रायः-शून्यतावेधो हि भावाभिनिवेशस्य

---

३३. और वह भाववासना भी, शून्यतावासना का कोई आधार (आलम्बन) न होने के कारण, अन्त में अभ्यासवशात् नष्ट हो जाती है ॥

प्रतिपक्षत्वात् प्रहाणोपायभूतः। अधिगते च उपेये पश्चात् कोलोपमत्वात् [P 415] उपायस्यापि प्रहाणमनुष्ठीयते। एतदेवाह—

सर्वसङ्कल्पहानाय शून्यतामृतदेशना ।
यस्य तस्यामपि ग्राहस्त्वयासाववसादितः ॥ इति ॥ ३३ ॥

[चतुः० २.२१]

स्यादेतत्—यदि नाम किञ्चिन्नास्तीति मनसिकाराभ्यासाद् भवति शून्यतावासनायाः प्रहाणम्, तथापि तदभ्यासात् पुनरभावकल्पना प्रवर्तमाना निवर्तयितुमशक्या। ततश्च गण्डप्रवेशेऽक्षितारानिर्गमो जात इति तदवस्थं तव दौष्ठचम्, इत्यत्राह—

* यदा न लभ्यते भावो यो नास्तीति प्रकल्प्यते ।
तदा निराश्रयोऽभावः कथं तिष्ठेन्मतेः पुरः ॥ ३४ ॥

इयमपि अभावकल्पना विचारेण नावतिष्ठते इति। यो भावो नास्तीति प्रकल्प्यते, यस्य भावस्य प्रतिषेधः क्रियते, स यदि विचार्यमाणो निःस्वभावतया न लभ्यते न प्राप्यते तैमिरिकोपलब्धकेशस्तबकवत्। तदा निराश्रय इति। यस्यासौ परिकल्पितो भावः, तस्य सम्बन्धिनोऽभावात् निरा- [P 416] लम्बः अभावः कल्पनात्रिदर्शितमूर्तिः कथं तिष्ठेन्मतेः पुरः, कथमसौ विचारेण बुद्धेरग्रतः प्रतिभासेत ? स्वयमेव भावनिःस्वभावतायां निवर्तते।

अथवा अन्यथाऽवतार्यते—भवतु नाम शून्यताबलाधानाद् भाववासना विनिवृत्तिः। तत्प्रतिषेधाभावादभावाभिनिवेशस्तु केन वार्यते ? इत्यत आह— यदा न लभ्यते इत्यादि। अन्यत् सर्वं पूर्ववत्।

अयमत्र समुदायार्थः—सर्वधर्मशून्यता हि भावाभिनिवेशप्रहाणाय उपादीयते। सापि शून्यता शून्यताभिमुखीकरणात् पश्चात् प्रहीयते। यापि च कथञ्चिद् भावकल्पना जायते, सापि समनन्तरविचारेण निवर्तते। अत एव एतत्समस्तकल्पनाजालविनिवर्तनाय भगवत्यां प्रज्ञापारमितायां विस्तरेण अध्यात्मशून्यतादयोऽष्टादश शून्यताः प्रोक्ताः। न च शून्यता भावाद् व्यतिरिक्ता, भावस्यैव तत्स्वभावत्वात्। अन्यथा शून्यताया भावाद् व्यतिरेके

---

३४ जिस भाव के निषेध की कल्पना की जाती है, वह जब (निःस्वभावतावशात्) नहीं मिलता, तब वह भाव के किसी आश्रय के न होने के कारण बुद्धि के सामने कैसे प्रतिभासित होगा ! ॥

धर्माणां निःस्वभावता न स्यात् । निःस्वभावता तत्स्वभाव इति प्रसाधितं प्राक् । एतदपि प्रज्ञापारमितायामुक्तम्--

"पुनरपरं, सुभूते, बोधिसत्त्वो महासत्त्वः प्रज्ञापारमितायां चरन् सर्वाकारज्ञताप्रतिसंयुक्तैर्मनसिकारैरेवं प्रत्यवेक्षते—न रूपशून्यतया रूपं शून्यम्, रूपमेव शून्यम्, शून्यतैव रूपम् । न वेदनाशून्यतया वेदना [P 417] शून्या, वेदनैव शून्या, शून्यतैव वेदना । न संज्ञाशून्यतया संज्ञा शून्या, संज्ञैव शून्या, शून्यतैव संज्ञा । न संस्कारशून्यतया संस्काराः शून्याः, संस्कारा एव शून्याः, शून्यतैव संस्काराः । न विज्ञानशून्यतया विज्ञानं शून्यम्, विज्ञानमेव शून्यम्, शून्यतैव विज्ञानम्" ॥ इति विस्तरः । उक्तं च--

"यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते मता ।
भावः स्वतन्त्रो नास्तीति सिंहनादस्तवातुलः' ॥ इति ।
[चतुः—२.२०]

इति न शून्यता धर्माद् व्यतिरिक्ता । तस्माच्छून्यतायामपि नाभिनिवेशः कर्तव्य इति ॥ ३४ ॥

एवं सर्वविकल्पप्रत्यस्तमयात् समस्तावरणनिर्मुक्तिरुपजायते--इत्युपदर्शयन्नाह –

* यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः ।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ॥ ३५ ॥

यदा न भावः परमार्थसत्स्वभावो मतेर्बुद्धेः सन्तिष्ठते पुरोऽग्रतः, न अभावः, नापि भावविरहितलक्षणोऽभावः यदा मतेः सन्तिष्ठते पुरः, तदा अन्यगत्यभावेन विधिप्रतिषेधाभ्यां गत्यन्तराभावात्, उभयानुभयपक्षयोरेतद्द्वयविधिप्रतिषेधात्मकत्वात् आभ्यामव्यतिरिक्ततया अनयोः [P 418] संग्रहे तावपि संगृहीताविति निराश्रया, सदसतोरालम्बनयोरयोगात् बुद्धिः प्रशाम्यति उपशाम्यति । सर्वविकल्पोपशमान्निरिन्धनवह्निवत् निर्वृतिमुपयातीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

---

३५. और जब बुद्धि के सामने भाव और अभाव दोनों ही नहीं ठहर पायेंगे तब कोई अन्य सहारा न होने के कारण निरिन्धन वह्नि की तरह वह (बुद्धि) स्वयं शान्त हो जाती है ॥

कथं तर्हि सकलकल्पनाविरहादनेककल्पासंख्येयाभिलषितं परार्थसम्पदुपायभूतं बुद्धत्वमधिगम्य परार्थमभिसम्पादयति भगवान् ? इत्यत्राह--

* चिन्तामणिः कल्पतरुर्यथेच्छापरिपूरणः।
विनेयप्रणिधानाभ्यां जिनबिम्बं तथेक्ष्यते ॥ ३६ ॥

चिन्तामणिरिति चिन्तितफलदाता रत्नविशेषः। **कल्पतरु**रिति कल्पितफलदाता वृक्षविशेषः। स **यथा** विकल्पमन्तरेणापि लोकानां यथाभव्य**मिच्छायाः परिपूरणः** अभिलाषस्य सम्पादक.। **जिनबिम्बं तथेक्ष्यते** इति सम्बन्धः। चतुर्मारजयाज्जिनो भगवान्, पापकधर्मजयाद्वा । जिनस्य बुद्धस्य भगवतः बिम्बं द्वात्रिंशता महापुरुषलक्षणैर्विराजितं शरीरम् । तथा तेन प्रकारेण [P 419] ईक्ष्यते सर्वकल्पनाभावेऽपि परहितसुखसम्पादनसमर्थं प्रतीयते ।

कथं पुनरेतदिष्टमात्रेण भविष्यति ? इत्याह–**विनेयप्रणिधानाभ्यामिति**। विनेयवशात् ये बुद्धस्य भगवतो विनेयाः तदुपाधिफलविशेषप्रतिलम्भहेतुकुशलकर्मपरिपाकात्, तद्वशात् । प्रणिधानवशाच्च, यत्पूर्वं बोधिसत्त्वावस्थायामनेकप्रकारं भगवता सत्त्वार्थसम्पादनं प्रणिहितं तस्याक्षेपवशात्, कुलालचक्रभ्रमणाक्षेपन्यायेन अनाभोगेन प्रवर्तनात् सर्वसत्त्वहितसुखसम्पादनमुपपद्यते । यदुक्तम् -

"यस्यां रात्रौ तथागतोऽभिसम्बुद्धो यस्यां च परिनिर्वृतः, अत्रान्तरे तथागतेन एकमप्यक्षरं नोदाहृतम् । तत् कस्य हेतोः ? नित्यं समाहितो भगवान् । ये च अक्षरस्वररुतवैनेयाः सत्त्वाः, ते तथागतमुखादूर्णाकोशादुष्णीषाद् ध्वनिं निश्चरन्तं शृण्वन्ति" इत्यादि । (आर्यतथागतगुह्यसूत्रम्)

उक्तं च—

"तस्मिन् ध्यानसमापन्ने चिन्तारत्नवदास्थिते ।
निश्चरन्ति यथाकामं कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः ॥
ताभिर्जिज्ञासितानर्थान् सर्वान् जानन्ति मानवाः ।
हितानि च यथाभव्यं क्षिप्रमासादयन्ति ते" ॥ इति ।

[तत्त्वसंग्रहः, ३२४१–४२]

---

३६. [बुद्धदर्शन का फल —] जैसे चिन्तामणि रत्न, और कल्पवृक्ष प्राणियों के सकल मनोरथों को पूर्ण करते हैं, उसी तरह शिक्षा के योग्य जिज्ञासु और प्राणिहित के लिये शुभ सङ्कल्प से युक्त भगवान् बुद्ध का काय भी प्राणियों की इच्छा का परिपूरक देखा जाता है ॥

चतुःस्तवेऽप्युक्तम्—　　[P 420]

"नोदाहृतं त्वया किञ्चिदेकमप्यक्षरं विभो।
कृत्स्नश्च वैनेयजनो धर्मवर्षेण तर्पितः" ॥ इति ॥ ३६ ॥
[चतुः०–१.७]

एवमसाधारणं कारणमाख्याय पुनरन्यथा हेत्ववस्थाया एव स तादृशः प्रभावातिशयविशेषो यदनाभोगेन परार्थसम्पादनसमर्थफलमुपजायते—इति वृत्तद्वयेनोपदर्शयन्नाह—

* यथा गारुडिकः स्तम्भं साधयित्वा विनश्यति।
स तस्मिंश्चिरनष्टेऽपि विषादीनुपशामयेत् ॥ ३७ ॥

यथा गारुडिको विषतत्त्ववित् लब्धमन्त्रसामर्थ्यः **स्तम्भं** काष्ठमयं वा अन्यद्वा **साधयित्वा** मन्त्रेणाभिसंस्कृत्य 'ममाभावादयमेव सर्वविषापहारचतुरो भविष्यति' इति **विनश्यति**, स्वयमुपरतव्यापारो भवति। **स** स्तम्भः तेनाभिमन्त्रितः **तस्मिन्** गारुडिके **चिरनष्टेऽपि** प्रभूतकालमुपरतेऽपि **विषादीनुपशामयेत्**, आदिशब्दात् ग्रहादिविकारमपहरेत्। छान्दससमयं परिपालयता मितोऽपि उपधाया णिचि ह्रस्वो न कृतः। संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाद्वा ॥ ३७ ॥

एवं दृष्टान्तमुपपाद्य दार्ष्टान्तिके योजयन्नाह—

* बोधिचर्यानुरूप्येण जिनस्तम्भोऽपि साधितः।　　[P 421]
करोति सर्वकार्याणि बोधिसत्त्वेऽपि निर्वृते ॥ ३८ ॥

यथाशब्दस्तथेत्याकर्षयति। तथा **बोधौ** बोधिनिमित्तं बुद्धत्वार्थं **चर्या** बोधिचर्या। **बोधिसत्त्वेऽपि निर्वृते** इति। बोधिः बुद्धत्वम्, एकानेकस्वभावविविक्तमनुत्पन्नानिरुद्धमनुच्छेदमशाश्वतं सर्वप्रपञ्चविनिर्मुक्तमाकाशप्रतिसमं धर्मकायाख्यं परमार्थतत्त्वमुच्यते। एतदेव च प्रज्ञापारमिता-शून्यता-तथताभूतकोटि-धर्मधात्वादिशब्देन संवृतिमुपादाय अभिधीयते। इदमेव च अभिसन्धायोक्तम्—

---

३७. जैसे गारुडिक (विषतत्त्ववेत्ता) विष का कोई स्तम्भक (विष-नाशक ओषधि) बनाकर अलग हो जाता है और वह स्तम्भक (अगद), उस गारुडिक के नष्ट होने पर भी, रोगियों को स्वस्थ करता रहता है ॥

३८. इसी तरह बोधिचर्या के अभ्यास के सहारे भगवान् ने भी जो यह संसारविषनाशक स्तम्भक (अगद = बुद्धोपदेश) बना दिया है वह भगवान् के निर्वृत होने पर भी प्राणिहित करता ही रहता है ॥

"धर्मतो बुद्धा द्रष्टव्या धर्मकाया हि नायकाः।
धर्मता चाप्यविज्ञेया न सा शक्या विजानितुम्" ॥ इति ॥

[वज्रच्छेदिका–२६]

उक्तं च—

"अलक्षणमनुत्पादमसंस्कृतमवाङ्मयम् ।
आकाशं बोधिचित्तं च बोधिरद्वयलक्षणा" ॥ इति ।

तत्र बोधिः सत्त्वमभिप्रायोऽस्येति **बोधिसत्त्वः** । तस्मिन्निर्वृतेऽपि । अपि-शब्दो भिन्नक्रमः । अप्रतिष्ठितनिर्वाणत्वेन परमां शान्तिं गतेऽपि । हेत्ववस्था-निवृत्तौ फलावस्थाप्राप्तौ चेत्यर्थः । इति उभयथापि सर्वथा कल्पनाविरहेऽपि सत्त्वार्थसम्पादनमविकलमुपदर्शितं भवति ॥ ३८ ॥

शून्यवादिमते बुद्धपूजायाः फलम्

[P 422] स्यादेतत्—यदि भगवानुपरतसकलविकल्पालम्बनतया निवृत्तसर्वचित्तचैत्तव्यापारः, कथं तर्हि तथागतपूजा महाफला वर्ण्यते ? इत्या-शङ्कयन्नाह—

* अचित्तके कृता पूजा कथं फलवती भवेत् !

संवृतिचित्तविविक्ते भवति **कृता** उपहृता **पूजा** काराविशेषः **कथं फलवती भवेत्**, सफला स्यात् ? तत्र असत्युपभोक्तरि दायकदानपतीनां कथं पुण्यं भवेत् ? अत्रोत्तरमाह—

* तुल्यैव पठ्यते यस्मात् तिष्ठतो निर्वृतस्य च ॥ ३९ ॥

तुल्यैव **समैव** । **पठ्यते** आगमे प्रतिपाद्यते । यस्मात् तिष्ठतो निर्वृतस्य च तस्मात् फलवती भवेदिति योजनीयम् । **तिष्ठतो**ऽपरिनिर्वृतस्य । **निर्वृतस्य** निरुपधिनिर्वाणं गतस्य पूजाया **नास्ति** विशेषः । अयमभिप्रायः—द्विविधं हि पुण्यम्—परित्यागान्वयं च, त्यागादेव यदुत्पद्यते प्रतिग्रहीतुरभावात्, परि-भोगान्वयं च, देयधर्मपरिभोगाद् यदुत्पद्यते । तत्र यदि नाम निर्वृते भगवति प्रतिग्रहीतुरभावात् परिभोगान्वयं न भविष्यति पुण्यम्, परित्यागान्वयं च

---

३९. (प्रसङ्गतः प्रश्न उठता है कि) भगवान् यदि चित्त-चैत्त-व्यापार से निवृत्त हैं तो उनकी पूजा महाफलदायिका क्या होगी ? ॥

शास्त्र (आगम) में भगवान् (के काय) की उभयथा (उनके निवर्तमान तथा निवृत्त काय की) स्थिति समान ही प्रमाणित की गयी है, अतः उनके निवृत होने से उनकी काय-पूजा की महाफलदायिता में कोई फर्क नहीं पड़ेगा ॥

केन वार्यते ? अप्रतिगृह्णति कस्मिंश्चित् कथं परित्यागान्वयमपि [P 423] पुण्यम् ? किं पुनः कारणं सति प्रतिग्रहीतरि भवितव्यं पुण्येन, नासति ? कस्यचिदप्यभावादिति चेत्, इदमकारणमेव। यदि हि पुण्यं परानुग्रहादेव स्यात्, मैत्र्याद्यप्रमाणसम्यग्दृष्टिभावनायां न स्यात्। तस्मात् द्रष्टव्यं स्वचित्तप्रभवं परानुग्रहणमन्तरेणापि पुण्यम्। तथा व्यतीतेऽपि गुणवति तद्भक्तिकृतं स्वचित्ताद्भवत् पुण्यं न विरुध्यते इति ॥ ३९ ॥

अपि च सर्वपुण्यपापसद्भावे सर्वेषामागमः साक्षीत्याह—

* आगमाच्च फलं तत्र संवृत्या तत्त्वतोऽपि वा।

किमत्र उपपत्त्यन्तरेण ? आगमात् भगवत्प्रवचनात् फलं भगवत्पूजाकृतं महाभोगतादिलक्षणमवगम्यते। तत्रेति। निर्वृतानिर्वृते भगवति पूजायाम्। एतावाँस्तु विशेषः—कस्यचित् तत् फलं सांवृतम्, कस्यचित् पुनः पारमार्थिकमभिमतम्। एवमनन्तरविचारमनादृत्य विशेषेणोच्यते। संवृत्या तत्त्वतोऽपि वा पुण्यपापक्रियायाः फलं भगवदागमात् प्रतीयते, तत्र च आवयोरविवाद एव। तत्र इदमुक्तं भगवता पुण्यकूटधारण्याम्— [P 424]

"ये केचित्, सिंहविक्रीडित, तथागतस्य पूजां करिष्यन्ति तिष्ठतो वा परिनिर्वृतस्य वा, सर्वे ते त्रियानादेकतरेण यानेन परिनिर्वास्यन्ति। यश्च खलु, सिंहविक्रीडित, तथागतमर्हन्तं सम्यक्सम्बुद्ध दृष्ट्वा चित्तं प्रसादयेत्, प्रसन्नचित्तः सत्कुर्यात् गुरुकुर्यात् मानयेत् पूजयेत् उपचरेत्, लाभेन चीवरपिण्डपातशयनासनग्लानप्रत्ययभैषज्यपरिष्कारैः सर्वसुखोपधानैरुपतिष्ठेत्। यश्च परिनिर्वृतस्य तथागतस्य सर्षपफलमात्रधातौ शरीरपूजां कुर्यात्, समो विपाकः प्रतिकांक्षितव्यः। तथा पूजायै नास्ति विशेषो नानाकरणं च"। इति ॥

उक्तं च—

"तिष्ठन्तं पूजयेद्यस्तु यश्चापि परिनिर्वृतम्।
समचित्तप्रसादेन नास्ति पुण्यविशेषता" ॥ इति ॥

[दिव्या०]

पुनरिदमुक्तम्—

"यश्च खलु पुनः, सिंहविक्रीडित, तथागतं वर्षसहस्रं वा सर्वसुखोपधानेनोपतिष्ठेत्, यश्च परिनिर्वृतस्य तथागतस्य चैत्ये बोधिचित्तपरिगृहीतैकपुष्पमारोपयेत् तथागतपूजायै जलाञ्जलिं चोपनामयेत्, जलेन चोप-

[P 425] सिञ्चेत्, ईषिकापदं वा दद्यात्, निर्माल्यं वा अपनयेत, उपलेपप्रदानं वा कुर्यात्, आत्तमनाः, एकक्रमपदव्यतिहारं वा अतिक्रम्य वाचं भाषेत— 'नमस्तस्मै बुद्धाय भगवते' इति, मा ते अत्र, सिंहविक्रीडित, काङ्क्षा वा दुर्गतिविनिपातं गच्छेत्, नेद स्थानं विद्यते"। इति ॥

एतदवश्यमभ्युपेयमिति आह—

* सत्यबुद्धे कृता पूजा सफलेति कथं यथा ॥ ४० ॥

सत्यबुद्धे परमार्थसति भगवति **कृता पूजा सफलेति** फलवती, इत्येतदपि **कथं यथेति**। कथमिवेत्युदाहरणमुपदर्शयति। नान्यदत्रोदाहरणमागमादिति भावः। तस्मात् सर्वथा भगवत्पूजायां फलसद्भाव आगमादवगम्यते ॥४०॥

आगमप्रामाण्यम्

'शून्यतावासनाधानात्' इत्यादि यदुक्तम्, तत्र वैभाषिकादयः सर्वधर्मशून्यतायाः सर्वावरणप्रहाणमसहमानाः चतुरार्यसत्यदर्शनभावनां च तदुपायमिच्छन्तः प्राहुः—

* सत्यदर्शनतो मुक्तिः शून्यतादर्शनेन किम् !

चतुर्णामार्यसत्यानां दुःखसमुदयनिरोधमार्गलक्षणानां दर्शनतः उपलब्धितः। साक्षात्करणादित्यर्थः। दर्शनत इत्युपलक्षणम्। भावनातोऽपि द्रष्टव्यम्। तदुक्तम्—

[P 426] 'क्लेशप्रहाणमाख्यातं सत्यदर्शनभावनात्'। इति।

[अभि० को० ६. १]

तत्र वृत्तस्थस्य श्रुतचिन्तावतो भावनायां प्रवृत्तस्य अशुभानापानस्मृतिस्मृत्युपस्थानभावना निष्पत्तिक्रमेण अनित्यतो दुःखतः शून्यतोऽनात्मतश्च इत्येतैः षोडशभिराकारैः दुःखादिसत्यं पश्यतः ऊष्मगतादिचतुर्निर्वेध-

---

४०. आगम (भगवान् के प्रवचन) से जीवित निर्वृत्त दोनों ही तरह से भगवत्पूजाकृत फल सिद्ध होता है। इतना फर्क जरूर है कि किसी को वह फल सांवृत होता है किसी को परमार्थतः !

(यह सिद्धान्त जब सभी बौद्धनिकायों को अभिमत है तो) परमार्थसत् भगवान् के धर्मकाय की की गयी पूजा सफल क्यों नहीं होगी ! ॥

४१. (सर्वास्तिवादी का प्रश्न—) सत्य के साक्षात्कारमात्र से मुक्ति मानी गयी है, तब शून्यता का साक्षात्कार किसी को क्या लाभ देगा ? ॥

भागीयद्वारेण दुःखे धर्मज्ञानक्षान्त्यादिपञ्चदशक्षणलक्षणस्य दर्शनमार्गस्य, ततः परं भावनामार्गस्याधिगमात् दर्शनभावनाहेयत्रैधातुकक्लेशोपक्लेशराशिप्रहाणात् क्षयानुत्पादज्ञानोत्पत्तिरित्यार्यसत्येषु संक्षेपतोऽभिसमयक्रमः। इत्थमार्यसत्यदर्शनतो मुक्तिरुच्यते। तस्मादत एवमुक्तिरस्तु, **शून्यतादर्शनेन** किम्। शून्यतायाः सर्वधर्मनिःस्वभावतायाः दर्शनेन अधिगमेन। साक्षात्करणेनेति यावत्। किम्? न किञ्चित् प्रयोजनम्। तदपरस्य मुक्तेरुपायस्य विद्यमानत्वात्। अत्राह--

* न विनाऽनेन मार्गेण बोधिरित्यागमो यतः ॥ ४१ ॥

न उपायान्तरमस्ति, तस्मादित्यर्थः। इदं महार्थस्य तत्त्वम्। [P 427] तथा हि-सर्व एव हि भावा आरोपितमनारोपितं चेति रूपद्वयमुद्वहन्ति। तत्र यत् तदविद्याप्रवाहितमारोपितं रूपम्, तत् सर्वजनसाधारणमिति न तदुपलब्धेः संक्लेशप्रहाणमुपपद्यते। अन्यथा सर्वे बालजनास्तथागताः स्युरिति प्राचीनप्रसङ्गः। इति अनारोपितमेव तत्त्वमनुपलम्भयोगेन अधिगम्यमानमज्ञानास्रवक्षयाय सामर्थ्यवदुपलभ्यते। तच्च प्रज्ञया विवेच्यमानं सर्वधर्मानुपलम्भलक्षणमवसितमिति सर्वधर्मशून्यतैव सर्वावरणविभ्रमप्रहाणाय पटीयसीत्यवगम्यते। इति युक्तितो निरूपितं प्राक्, निरूपयिष्यते च पश्चात्। इह पुनरागमत एव एनमर्थमवग्राहयितुम्--

'न विनानेन मार्गेण बोधिरित्यागमो यतः'।

इत्युक्तवान्। यदुक्तं प्रज्ञापारमितायाम्--

"भगवानाह--इह, सुभूते, बोधिसत्त्वो महासत्त्वः प्रज्ञापारमितायां चरन् रूपं भाव इति न भावयति। वेदनां भाव इति न भावयति। संज्ञां भाव इति न भावयति। सर्वाकारज्ञतां भाव इति न भावयति। यावत् मार्गाकारज्ञतां भाव इति न भावयति। यावत् सर्वाकारज्ञतां भाव इति न भावयति। सर्ववासनानुसंधिक्लेशप्रहाणं भाव इति न भावयति। तत्कस्य हेतोः? नास्ति भावसंज्ञिनोऽभावशून्यताभावना, नास्ति भावसंज्ञिनः षडभिज्ञाभावना [P428] यावत् नास्ति सर्वसमाधिसर्वधारणीमुखतथागतबलवैशारद्यप्रतिसंविन्महामैत्रीमहाकरुणावेणिकबुद्धधर्माणां भावना। तत्कस्य हेतोः? तथा हि स भावः एषोऽहमिति द्वयोरन्तयोः सक्तः। दाने शीले क्षान्तौ वीर्ये ध्याने प्रज्ञा-

---

(उत्तर—) 'शून्यतासाक्षात्कार के विना बोधि की प्राप्ति नहीं होती'— ऐसा शास्त्र में बार-बार कहा गया है ॥

याम्। एषोऽहमिति द्वयोरन्तयोः सक्तः । यश्च द्वयोरन्तयोः सक्तः, तस्य नास्ति मोक्षः । तत्कस्य हेतोः ? नास्ति, सुभूते, भावसञ्ज्ञिनो दानम्, यावत् नास्ति प्रज्ञा, नास्ति मार्गः, नास्ति ज्ञानम्, नास्ति प्राप्तिः, नास्ति अभिसमयः, नास्त्यानुलोमिकी क्षान्तिः, नास्ति रूपस्य परिज्ञा, नास्ति वेदनायाः परिज्ञा, यावत् नास्ति प्रतीत्यसमुत्पादस्य परिज्ञा । नास्ति आत्मसत्त्वजीवजन्तुपोषपुद्गलजनमानवकारकवेदकजानकपश्यकसंज्ञायाः[1] परिज्ञा । यावत् नास्ति सर्ववासनानुसन्धिक्लेशप्रहाणस्य परिज्ञा । कुतः पुनरस्य मोक्षो भविष्यति !"।

[P 429] अत एव पुनस्तत्रैवोक्तम्--

"भगवानाह–एवमेतत् कौशिक, एवमेतत्। येऽपि तेऽभूवन्नतीतेऽध्वनि तथागता अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धाः, तेऽपि इमामेव प्रज्ञापारमितामागम्य अनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बुद्धाः । येऽपि ते भविष्यन्ति अनागतेऽध्वनि तथागता अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धाः, तेऽपि इमामेव प्रज्ञापारमितामागम्य अनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्भोत्स्यन्ते । येऽपि ते एतर्हि दशदिग्लोकधातुषु अप्रमेयासंख्येयेषु तथागता अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धास्तिष्ठन्ति, ध्रियन्ते यापयन्ति धर्मं देशयन्ति, तेऽपि इमामेव प्रज्ञापारमितामागम्य अनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बुद्धाः । येऽपि तेऽभूवन्नतीतानां तथागतानामर्हतां सम्यक्सम्बुद्धानां श्रावकाः, येऽपि ते भविष्यन्ति अनागतानां तथागतानामर्हतां सम्यक्सम्बुद्धानां श्रावकाः, येऽपि ते एतर्हि प्रत्युत्पन्नानां तथागतानामर्हतां सम्यक्सम्बुद्धानां श्रावकाः,तेऽपि इमामेव प्रज्ञापारमितामागम्य प्रत्येकबोधिं प्राप्ताः, प्राप्स्यन्ति प्राप्नुवन्ति च । तत्कस्य हेतोः ? अत्र प्रज्ञापारमितायां सर्वाणि त्रीणि यानानि विस्तरेणोपदिष्टानि । तानि पुनरनिमित्तयोगेन अनुपलम्भयोगेन अनुत्पादयोगेन असंक्लेशयोगेन अव्यवदानयोगेन, यावत् तत्पुनः लोकव्यवहारेण अपरमार्थयोगेन । इति विस्तरः" ॥

[P 430] उक्तं च--

"बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता ।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः" ॥ इति ॥ ४१ ॥

[प्रज्ञापारमितास्तुतिः]

एतन्महायानवचनमसहमान आह--

* नन्वसिद्धं महायानम्,

ननु भोः शून्यतावादिन्, महायानमागमत्वेन मम असिद्धम्, असंमतम्, तदस्योपन्यासो न साधनतया साधुः ! अत्र परस्य समानपरिहारदूषणमाह--

१. ०पुद्गलनुजमानव०--मु० पा० ।

* कथं सिद्धस्त्वदागमः ?

यदि महायानमसिद्धम्, कथं केन प्रकारेण त्वदीयागमो भगवद्वचनमिति सिद्धः ? तत्र न किञ्चिदागमत्वप्रसाधकं प्रमाणमुत्पश्यामः।

परः परिहारमाह--

* यस्मादुभयसिद्धोऽसौ,

यस्मात् कारणात् **उभयस्य** तव मम च **सिद्धः** आगमत्वेन **निश्चितोऽसौ** ममागमः। न हि मदागमे भवतोऽपि महायानानुयायिनो बुद्धवचनत्वेन विप्रतिपत्तिरस्ति, तस्मात् सिद्धोऽसौ। न तु महायाने मम सम्प्रतिपत्तिः, येन इदमेवोत्तरं भवतोऽपि स्यात्।

सिद्धान्तवादी आह—

* न सिद्धोऽसौ तवादितः ॥ ४२ ॥ [P 431]

इति। यद्यपि उभयसिद्धत्वं त्वदागमस्य आगमसिद्धौ हेतुः, तदापि नैतद्वक्तव्यम्, असिद्धत्वात्। यस्मात् तवैव तावदसौ त्वदागमोः **न सिद्धः**। कदा ? आदौ तत्स्वीकारात् पूर्वम्। न हि अभ्युपगमात् प्राक् तव कथञ्चिदप्यसौ सिद्धः, इति उभयसिद्धत्वमसिद्धत्वादसाधनम् ॥ ८२ ॥

यद्यपि उभयसिद्धत्वमसिद्धम्, इदं तर्हि साधनमस्तु--यद् गुरुशिष्यपरम्परया आम्नायायातं बुद्धवचनत्वेन, यच्च[1] सूत्रेऽवतरति, विनये सन्दृश्यते, धर्मतां प्रतीत्यसमुत्पादं च न विलोमयति, तद् बुद्धवचनं नान्यत्। इत्यत्राह--

* यत्प्रत्यया च तत्राऽऽस्था महायानेऽपि तां कुरु।

यः प्रत्ययो निबन्धनम् अस्या आस्थायाः, सा तथोक्ता। **यत्प्रत्यया** यन्निबन्धना। **आस्था** आदेयता आदरः। **तत्र** स्वागमे। **तां** तत्प्रत्ययामास्थाम् इह **महायानेऽपि कुरु** विधेहि; महायानेऽपि उक्तस्य आस्थाकारणस्य

४२. (सर्वास्तिवादी का प्रश्न—) जब हम तुम्हारे महायान निकाय को ही नहीं मानते तब तुम्हारे इस आगम को हम प्रमाणभूत कैसे मानें ?

(मध्यमकवादी का प्रश्न—) तव तुम्हारा शास्त्र ही कैसे प्रमाण है ?

(उत्तर—) क्योंकि उसे हम दोनों मानते हैं।

(पुनः प्रश्न—) आपका आगम भी हम दोनों के मानने पूर्व प्रमाणभूत नहीं था ?

१. तु० महापरिनिर्वाणसूत्रे।

विद्यमानत्वात् । इदं पुनः सर्वप्रवचनसाधारणव्यभिचारि लक्षणम् यदुक्तम् **मध्याशयसञ्चोदनसूत्रे**—

[P 432] "अपि तु, मैत्रेय, चतुर्भिः कारणैः प्रतिभानं सर्वबुद्धभाषितं वेदितव्यम् । कतमैश्चतुर्भिः ? इह, मैत्रेय, प्रतिभानमर्थोपसंहितं भवति नानर्थोपसंहितम् । धर्मोपसंहितं भवति नाधर्मोपसंहितम् । क्लेशप्रहायकं भवति न क्लेशविवर्धकम् । निर्वाणगुणानुशंससन्दर्शकं भवति न संसारगुणानुशंससन्दर्शकम् । एतैश्चतुर्भिः···पे० यस्य कस्यचिन्मैत्रेय, एतैश्चतुर्भिः प्रतिभाति प्रतिभास्यति वा, तत्र श्राद्धैः कुलपुत्रैः कुलदुहितृभिर्वा बुद्धसंज्ञा उत्पादयितव्या । शास्तृसंज्ञां कृत्वा स धर्मः श्रोतव्यः । तत्कस्य हेतोः ? यत किञ्चन्मैत्रेय, सुभाषितम्, सर्वं तद् बुद्धभाषितम् । तत्र, मैत्रेथ, य इमानि प्रतिभानानि प्रतिक्षिपेत् –नैतानि बुद्धभाषितानीति, तेषु च अगौरवमुत्पादयेत्, पुद्गलविद्वेषेण तेन बुद्धभाषितं प्रतिभानं प्रतिक्षिप्तं भवति । धर्मं प्रतिक्षिप्य धर्मव्यसनसंवर्तनीयेन कर्मणा अपायगामी भवति" ॥

तदत्र धर्मताया अविलोमनमेव सम्यग्लक्षणमुक्तम् । उक्तं च—

"यदर्थवद्धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिवर्हणं यचः ।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा" । इति ।

[P 433] एतन्महायाने सर्वसमस्तीति कथमुपादेयं न स्यात् ? यदुक्तम्—"न सिद्धोऽसौ तवादितः" इति, तत्र परो विशेषमभिधत्ते –न ब्रवीमि यदावयोर्द्वयोः सिद्धमुभयसिद्धमिति, किं तर्हि ? आवाभ्यामन्येषामुभयेषां मदागमः सिद्ध इत्युपादेयः । न महायानम्, एतद्विपरीतत्वात्; तेन नोपादेयमित्याह—

* अन्योभयेष्टसत्यत्वे वेदादेरपि सत्यता ॥ ४३ ॥

यदि आवयोर्विवादारूढत्वात् आवाभ्यामन्ये ये केचिदप्रतिपन्ना **उभये,** तेषामिष्टं अभिमतम् । सम्मतमिति यावत् । तस्य **सत्यत्वे** यथार्थत्वे अभ्युपगम्यमाने सति **वेदादेरपि सत्यता** वेदवाक्यस्य चोदनालक्षणस्य । आदिशब्दात् कणादादिवचनस्यापि । **सत्यता** अमृषार्थता स्यात् । तत्रापि

अतः जिन कारणों से आप अपने शास्त्र को प्रमाण मानते हैं, उन्हीं कारणों (=तर्कों) से हमारा आगम भी प्रमाणित है ॥

४३. जिन भगवदुपदिष्ट चार कारणों से तुम्हारी अपने आगम में जो श्रद्धा (=आस्था) है, वही तुमको हमारे महायान में भी करनी चाहिये (क्योंकि

वादिप्रतिवादिभ्यामन्योन्योभयसम्मतिः सम्भाव्यते, इति तदप्युपादेयं भवतः स्यात्। तस्मान्नायमपि विशेषः ।। ४३ ।।

अथापि स्यात्—मदागमे बुद्धवचनत्वेऽविवादः, न तु महायाने। तेन स उपादेयो नेतरदित्याशङ्कयन्नाह—

* सविवादं महायानमिति चेदागमं त्यज। [P 434]
तीर्थिकैः सविवादत्वात् स्वैः परैश्चागमान्तरम् ।। ४४ ।।

सविवादं सविप्रतिपत्तिकं **महायानम्**। केचिद् बुद्धवचनतया प्रवृत्त्यङ्गमिच्छन्ति, केचित् तद्विपरीतसमारोपान्नेच्छन्ति, इति हेतोः, **चेत्** यदि न ग्राह्यम्, तदा **आगमं त्यज** स्वागममपि विजहीहि, सोऽपि प्रवृत्त्यङ्गं न स्यात्। कस्मात्? **तीर्थिकैः**मीमांसकादिभिः **सविवादत्वात्** विप्रतिपत्तिसम्भवात् परित्यागमर्हति। न केवलं तीर्थिकैः, अपि तु स्वयूथ्यैरित्याह—**स्वैरिति**। चतुर्निकायमष्टादशभेदभिन्नं भगवतः शासनम्। तत्र एकस्यैव निकायस्य अनेकभेदसम्भवात् स्वयूथ्यैरपि परस्परविवादः सम्भवति। **स्वैरिति** स्वनिकायान्तर्गतभेदान्तरावस्थितैः। **परैरिति** अन्यनिकायव्यवस्थितैः। **चकारः** पूर्वापेक्षया समुच्चयार्थः। **सविवादत्वात्** आगमान्तरं त्यजेति सम्बन्धः। त्वदभ्युपगतादागमादन्य आगमः **आगमान्तरम्**। तदपि सविवादत्वान्न स्वीकारमर्हति। त्वदागमस्यापि अपरापेक्षया सविवादत्वं समानमिति परित्यागे तुल्य एव न्यायः।

अथवा। **स्वैरिति** एकभेदव्यवस्थितैः सौत्रान्तिकाभिधर्मिक वैनयिकैः परस्परं सविवादत्वात् सूत्राभिधर्मविनयाः परित्यागमर्हन्ति। [P 435]

महायान का आगम भी १–सार्थक है निरर्थक नहीं; २–धर्म का प्रतिपादक है, अधर्म का नहीं; ३–क्लेशों का नाशक है, क्लेशवर्धक नहीं; ४. निर्वाणमाहात्म्य का दर्शक है, संसार का नहीं)। अन्यथा हम दोनों के अतिरिक्त अन्य को जो अभिमत हो उसे प्रमाण मानोगे तो तुम्हें वेदादिक को भी प्रमाण मानना पड़ जायगा ?

४४. (स० वा०) महायानशास्त्र पर ही तो हमारा विवाद चल रहा है, फिर हम उसी को प्रमाण कैसे मान लें ?

(मध्य०) यदि ऐसी बात है तो तुम्हें अपने आगम का भी त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि उस पर भी अन्य तीर्थिकों का (बौद्धेतर दार्शनिकों) का विवाद है। अथ च— इतनी दूर भी मत जाओ ! विवाद (मतभेद) तो अपने आगमों में भी अवान्तर भेदों के कारण रहता ही है। अतः मामूली विवादों के कारण आगम-प्रामाण्य ही न स्वीकार करें—यह तो कोई बात नहीं हुई ! ।।

अस्ति हि एकभेदावस्थितानां सौत्रान्तिकादीनामन्योन्यं विवादः। **परैरिति** एकनिकायाश्रितभेदान्तरगतैः। एतेन यदुक्तम्-- "गुरुपर्व [शिष्य ?] क्रमेणाम्नायायातं बुद्धवचनम्" इत्यादि, तदनेनैव प्रत्याख्यातं द्रष्टव्यम्। न हि अविस्मृतसम्प्रदायानामन्योन्यस्य विवादो युक्तः। न च सर्वज्ञवचनेषु परस्परहृतिरस्ति। न च सूत्राभिधर्मविनयानां परस्परमेकवाक्यता भवतः सम्भवति। तत् कथं सूत्रादिसंस्यन्दनं बुद्धवचनत्वे हेतुरुक्तम्? तस्माद् यत्किञ्चिदेतत्॥ ४४॥

एवं समानपरिहारदूषणतामभिधाय पुनर्विशेषेण परस्याभ्युपगमे दूषणमुद्भावयन्नाह—

* शासनं भिक्षुतामूलं भिक्षुतैव च दुःस्थिता।

शासनमित्यादिनोपक्रमते—**शासनं** भगवता हिताहितस्वीकारपरिहारदेशनालक्षणम्। तच्च **भिक्षुतामूलम्**। अथवा--आगमविप्रतिपत्तिमानुषङ्गिकीं परिसमाप्य यदुक्तम्—

'सत्यदर्शनतो मुक्तिः, शून्यतादर्शनेन किम्'। [बो० च० ९. ४१]

इति निराचिकीर्षुरन्नाह- **शासनमित्यादि**। **शासनम्** = इदं कर्तव्यमिदं न [P 436] कर्तव्यमित्याज्ञाप्रणयनम्। तद् **भिक्षुतामूलम्**। भिक्षुभावो भिक्षुता, सैव मूलं कन्दो यस्येति तत्तथोक्तम्, तत्प्रतिष्ठितत्वात्। यथा किल दृढमूलो वृक्षः चिरमवस्थितिमनुभवन् काण्डशाखाप्रशाखापत्रपुष्पफलच्छायादानसन्तापाद्यपहरणसमर्थो भवति, तथा भगवतोऽपि शासनकल्पपादपो भिक्षुताकन्दमासाद्य स्मृत्युपस्थान-सम्यक्प्रहाणर्द्धिपादेन्द्रियबल-बोध्यङ्ग-ध्यानारूप्यसमाधि-समापत्ति-बोधिपाक्षिकार्याष्टाङ्गिकमार्गश्रामण्यफलसम्पन्नः ऋद्धिप्रातिहार्यादिभिः क्लेशोष्मसन्तापाद्यपहरणपटुर्भवति, इति भिक्षुताया मूलसाधर्म्यम्। तत्र संज्ञाभिक्षुः, प्रतिज्ञाभिक्षुः, भिक्षणशीलो भिक्षुः, ज्ञप्तिचतुर्थकर्मणोपसम्पन्नो भिक्षुः, भिन्नक्लेशो भिक्षुः--इति पञ्चप्रकारो भिक्षुः। तत्र चतुर्थपञ्चम द्वयमग्रयम्, इतरेषां समानाभिधानमात्राभिधेयत्वात्। तदुभयमपि शासनावस्थाननिदानमविरुद्धम्। तत्रापि भिन्नक्लेशो भिक्षुः प्रधानम्। तस्यैवेह ग्रहणम्। तद्भावो भिक्षुता। सा च आर्यसत्यदर्शनतो न सङ्गच्छते इत्याह–**भिक्षुतैव चेत्यादि**। भिक्षुता भिन्नक्लेशता। क्लेशप्रहाणमिति यावत्। चो वक्तव्यान्तरं समुच्चिन्वन् हेतौ वर्तते। यस्मात् सा भिक्षुतैव [P 437] दुःस्थिता, शून्यतादर्शनमन्तरेण असमञ्जसा केवलसत्यदर्शनतो न युज्यते। तस्मात् सत्यदर्शनतो मुक्तिरिति न वक्तव्यमित्यभिप्रायः। केषां

सा दुःस्थिता ? सावलम्बनचित्तानामिति। सहावलम्बनेन वस्त्वभिनिवेशेन वर्तते इति सावलम्बनम्, तत्तादृशं चित्तं येषां योगिनां ते तथोक्ताः, तेषामिति। यतः 'ते दुःखादिसत्यं क्लेशविसंयोगं च वस्तुत्वेनावलम्बन्ते' इति मतं भवताम्। अतस्तेषामुपलम्भदृष्टीनां दुःस्थिता, न निरालम्बनचित्तानाम्॥

यत्पुनरुक्तम्—सत्यदर्शनतो मुक्तिरिति, तद्विकल्पनीयम्। द्विधा हि सत्यदर्शनं सम्भाव्येत–परमार्थतः, संवृतितो वा। तद् यदाद्यो विकल्पः ? तदा नास्माकं विप्रतिपत्तिः; अस्मत्पक्षस्य प्रधानत्वात्, सर्वधर्माणामस्माभिः परमार्थतो दर्शनाभ्युपगमात्। अथ द्वितीयः ? तन्न सहामहे; युक्तिविरोधात्। न हि संवृतिसत्यदर्शनान्मुक्तिरुत्पद्यते; सर्वसत्त्वानां मुक्तिप्रसङ्गात्। तथा हि युक्त्यागमाभ्यां तत्त्वातत्त्वविवेचनात्, परमार्थसत्यमेवात्र क्लेशप्रहाणाय निश्चीयते, न संवृतिसत्यम्। तच्च सर्वधर्मानुपलम्भलक्षणम्। न हि तदन्तरेण क्लेशनिवृत्तिर्युज्यते। यावद्भावाभिनिवेशः, तावत् कल्पना न निवर्तते, यावच्च कल्पना तावदखण्डितमहिमानः संक्लेशाः चित्तसन्तानमध्यावसन्ति। यावच्च संक्लेशाः तावत् कर्मनिर्मितजन्मपरम्पराप्रसवः संसारोऽपि सुतरामव्याहतप्रसरः प्रवर्तते। तस्मात् सर्वधर्मशून्यतैव अविद्याप्रतिपक्षत्वात् संसारसन्ततिविच्छित्तिहेतुरवसीयते, न केवलं सत्यदर्शनम्। इदमेव आचार्यपादैरुक्तम्[1]—

"मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेस्तदर्थाशेषभावना"॥ इति। [P 438]

यथा आर्यसत्यानि सत्यद्वयेऽन्तर्भवन्ति तथोपदर्शितमेव प्राक्। इत्यलमतिप्रसङ्गेन। अपि च—

* सावलम्बनचित्तानां निर्वाणमपि दुःस्थितम्॥ ४५॥

इति न केवलं भिक्षुता, किं तर्हि ? निर्वाणमपि, इत्यपेरर्थः। निर्वाणं क्लेशविसंयोगान्निरुपधिशेषं दुःस्थितं दुर्घटम्॥ ४५॥

तत्र भिक्षुतायास्तावदसङ्गतिमाह—

४५. यह सद्धर्म भिक्षुता के सहारे टिका हुआ है। जब यह भिक्षुता (= क्लेशप्रहाणता) ही नहीं रहेगी और चित्त किसी आलम्बन में आबद्ध हो जायगा तो निर्वाण की भी सम्भावना क्या रह जायगी !॥

१. सुभाषितसंग्रहे—इति शेषः।

* क्लेशप्रहाणान्मुक्तिश्चेत् तदनन्तरमस्तु सा ।

यदि च आर्यसत्यदर्शनतः क्लेशाः प्रहीयन्ते, ततो विमुक्तिरुपजायते, तदा तदनन्तरं **क्लेशप्रहाणात्** समनन्तरमेवास्तु **सा मुक्तिर्भवतु** । भवतु एवम् । को वै नाम अन्यथा ब्रूते ? नैतदस्ति, कुत ? इत्याह—

* दृष्टं च तेषु सामर्थ्यं निष्क्लेशस्यापि[1] कर्मणः ॥ ४६ ॥

चो हेतौ । **दृष्टं** प्रतिपन्नम् । आगमतः । यस्मात् **तेषु** प्रहीणक्लेशेषु आर्यमौद्गल्यायनार्यांगुलिमालप्रभृतिषु **सामर्थ्यं** फलदानं प्रति शक्तिः । [P 439] तस्मान्न तदनन्तरमेव मुक्तिरस्ति । कस्य सामर्थ्यं दृष्टम् ? **कर्मणः** शुभाशुभलक्षणस्य । किं पूर्वमनार्यावस्थायां क्लेशसहितस्य ? नेत्याह — **अक्लेशस्यापि** क्लेशसहकारिरहितस्यापि **कर्मणः** ॥

ननु च सत्यदर्शनादविद्यादि प्रहीयते, तत्प्रहाणात् संस्कारादिप्रहाण-क्रमेण तृष्णापि प्रहीयते । तृष्णाविपर्यासमती च पुनर्भवोत्पत्तिनिमित्ते । ततश्च तयोरभावात् तुषरहितस्य बीजस्येव कर्मणः सद्भावेऽपि न किञ्चिद् विहन्यते इति । तदुक्तम्—

"मिथ्याज्ञानतदुद्भूततर्षसञ्चेतनावशात् ।
हीनस्थानगतिर्जन्म त्यक्त्वा चैतन्न जायते" ॥ इति ।

अथवा । तृष्णैव केवला पुनर्भवकारणम्, समुदयाकारत्वात् । उक्तं हि भगवता—"तत्र कतमत् समुदयार्यसत्यम् ? येयं तृष्णा पौनर्भविकी नन्दी-रागसहगता तत्रतत्राभिनन्दिनी, यदुत कामतृष्णा भवतृष्णा विभवतृष्णा चेति" ॥ ४६ ॥

तदेवं यस्य तृष्णा नास्ति, तस्य प्रहीणसमुदयस्य कारणाभावात् न पुनर्जन्मसम्भवः । इति पराभिप्रायमुत्थापयन्नाह—

* तृष्णा तावदुपादानं नास्ति चेत् सम्प्रधार्यते ।

[P 440] अविद्याप्रहाणात् **तृष्णा** पुनर्भवो**पादानं** कारणं तावन्**नास्ति**, न विद्यते **चेद्** यदि **सम्प्रधार्यते** निश्चीयते, तदा नैतद् वक्तव्यम्; यतः

४६ (प्रश्न–) क्लेशों के नाश से मुक्ति होती है'—ऐसा भी मान लिया जाय तो क्लेशनाशानन्तर मुक्ति को सद्यः होना ही चाहिये; पर व्यवहार में ऐसा नहीं देखा गया, क्योंकि महामौद्गल्यायन आदि अर्हतों को क्लेशरहित कर्मों का भी फल भोगना पड़ा था ॥

1. अक्लेशस्यापि —इति टीकासम्मतः पाठः ।

उपलम्भदृष्टीनामविद्याप्रहाणमनुपपन्नम् । तद्भावात् तृष्णाप्रहाणस्याप्यभावात् । भवतु वा, तथाप्यभिधीयते —

* किमक्लिष्टापि तृष्णैषां नास्ति सम्मोहवत् सती ॥ ४७ ॥

अक्लिष्टापि सती क्लेशासम्प्रयुक्तापि **तृष्णा किमेषां** भवद्योगिनां **नास्ति** न सम्भवति । कथमिव ? **सम्मोहवत्** अक्लिष्टाज्ञानवत् ॥ ४७ ॥

इत्थमपि तृष्णा निषेद्धुमशक्येत्याह —

* वेदनाप्रत्यया तृष्णा वेदनैषां च विद्यते ।

स्पर्शप्रत्यया वेदना, **वेदनाप्रत्यया च तृष्णा** । सा वेदना तृष्णाकारणमेषामस्ति । तृष्णा तु तत्कार्यम्, अविकलेऽपि कारणे न समस्ति इति कथमभिधातुं शक्यते ? निरविद्यस्य वेदनायामपि तृष्णा न भवतीति चेत्, न भावाभिनिवेशिनां निरविद्यत्वमेव असिद्धम्, इत्युक्तम् । ततो यदि अक्लिष्टाज्ञानवत् नाभ्युपगम्यते तृष्णा, तथापि शून्यतादर्शनमन्तरेण न्याय-[P441] बलादापतति । अयमत्र समुदायार्थः--यदा मुक्तसन्तानेऽपि कर्मणः फलदानसामर्थ्यमुपलभ्यते, तृष्णा च वेदनासद्भावे सम्भाव्यमाना, तदा क्लेशप्रहाणमपि सन्दिह्यमानं कथमिव विमुक्तौ निश्चयं कुर्यात् ? तस्मान्न शून्यतामन्तरेण भिक्षुता सुस्थिता प्रतिभासते इति । यदुक्तम्—

"सावलम्बनचित्तानां निर्वाणमपि दुःस्थितम्" ॥ इति

तदुपपादयन्नाह—

* सालम्बनेन चित्तेन स्थातव्यं यत्र तत्र वा ॥ ४८ ॥

सालम्बनेन सोपलम्भेन **चित्तेन स्थातव्य**मासक्तव्यम् । **यत्र तत्र वा** यत्र तत्र आसङ्गस्थानेषु. आर्यसत्यादिषु तद्भावनाफलेषु वा । आसङ्गसम्भावनायां न पुनर्जन्मनिवृत्तिरिति कथं पुनर्जन्मसम्भावनायां निर्वाणमपि न सन्दिग्धं स्यात् ? ॥ ४८ ॥

---

४७. और आपके आगम के अनुसार —'अविद्याप्रहाण से तृष्णा उपादान का कारण नहीं है' —यह कहना भी उचित नहीं; क्या उक्त अर्हतों को क्लेशरहित अज्ञान की भाँति क्लेशरहित तृष्णा भी नहीं रहती ? ॥

४८. क्योंकि वेदना के कारण तृष्णा होती है और इन अर्हतों को भी वेदना तो होती ही है (वेदना के कारण जब तृष्णा का नाश न हुआ तो) अर्हतों के चित्त को भी किसी न किसी आलम्बन से बँध कर कहीं न कहीं रहना ही पड़ेगा, तब मुक्ति कहाँ हुई ? ॥

शून्यताया निर्वाणहेतुत्वम्

तस्मादुक्तशून्यतैव निर्वाणकारणमुक्तेत्याह—

* विना शून्यतया चित्तं बद्धमुत्पद्यते पुनः ।
यथासंज्ञिसमापत्तौ भावयेत् तेन शून्यताम् ।। ४९ ।।

विना शून्यतया शून्यतामन्तरेण **चित्तं** विज्ञानं सालम्बनं **बद्धं** संयतम् आलम्बनासङ्गपाशेन । **उत्पद्यते पुनः**, समाधिबलात् कियत्कालं निवृत्तमपि पुनरुत्पत्तिमद् भवति । क्व पुनरिदं दृष्टमित्याह— **यथा असंज्ञिसमापत्तौ** इति । समापद्यमानानां तावत्कालं चित्तचैत्तनिरोधेऽपि पुनस्तदुत्पत्तिः स्यात, तथा [P 442]अन्यत्रापि इत्यर्थः । उपलक्षणंचैतत् । तथा निरोधसमापत्तावित्यपि द्रष्टव्यम् । अथ वा । यथा असंज्ञिसमापत्तिं समापद्य असंज्ञिषु देवेषु उपपद्यमानानामनेककल्पशतं यावन्निरुद्धानामपि तत्समापत्तिविपाकफलपरिसमाप्तौ चित्तचैत्तानां पुनरुत्पत्तिः, तथा । यतः शून्यतामन्तरेण न भिक्षुता न निर्वाणमुपपद्यते, ततः उभयार्थिनां शून्यतैव भावनीयेत्याह— **भावयेदित्यादि** । येन कारणेन विना शून्यतया चित्तं बद्धमुत्पद्यते पुनः,तेन कारणेन निर्वाणाद्यर्थी शून्यतामेव भावयेत् । तद्भावना हि क्लेशप्रहाणं निर्वाणं चाधिगमयति । न केवलैव सत्यादिभावनेति यावत्, सालम्बनत्वात् । यदुक्तम् **आर्यवज्रच्छेदिकायां प्रज्ञापारमितायाम्**—

"तत् किं मन्यसे, सुभूते, अपि तु स्रोतआपन्नस्यैवं भवति—मया स्रोतआपत्तिफलं प्राप्तमिति ? सुभूतिराह— नो हीदं, भगवन् ! तत् कस्य हेतोः ? न हि, भगवन्, किञ्चिदापन्नः, तेनोच्यते स्रोतआपन्न इति । न रूपमापन्नः, न शब्दान् न गन्धान् न रसान् न स्प्रष्टव्यानि, न धर्मापन्नः, तेनोच्यते स्रोतआपन्न इति । सचेद्, भगवन्, स्रोतआपन्नस्यैवं भवेत्— मया स्रोतआपत्तिफलं प्राप्तमिति, स एव तस्य आत्मग्राहो भवेत् सत्त्वग्राहो [P 443] जीवग्राहः पुद्गलग्राहो भवेत्" पे०···· तत् किं मन्यसे, सुभूते, अपि नु अर्हत एवं भवति—मयार्हत्त्वं प्राप्तमिति ? सुभूतिराह— नो हीदं, भगवन् ! तत्कस्य हेतोः ? न कश्चिद् धर्मो योऽर्हन्नाम । सचेद्भगवन्, अर्हत एवं भवेत्—

---

४९. (उत्तर–) आपकी बात तो ठीक है, पर शून्यता की भावना के बिना ही वह अन्य आलम्बन से बँधेगा और उसका सन्ततिप्रवाह चलने लगेगा । जैसे असंज्ञिचित्त समापत्ति, निरोधसमापत्ति में वैसा होने लगता है । अतः इस चित्तसन्तति के निरोध हेतु योगी के लिये शून्यता की भावना अत्यावश्यक है ।।

मयार्हत्त्वं प्राप्तमिति, स एव तस्यात्मग्राहो भवेत् । ....पे०.....भगवानाह-- तस्मात्तर्हि, सुभूते, बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन एवमप्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादयितव्यम्, न क्वचित् प्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादयितव्यम्, न रूपप्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादयितव्यम्, न शब्दगन्धरसस्प्रष्टव्यप्रतिष्ठितं चित्तमुत्पदायितव्यम् इति । तस्माच्छून्यतैव बोधिमार्ग इति स्थितम् ॥ ४९ ॥

* यत् सूत्रेऽवतरेद् वाक्यं तच्चेद् बुद्धोक्तमिष्यते ।
महायानं भवत्सूत्रैः प्रायस्तुल्यं न किं मतम् ॥ ५० ॥

* एकेनागम्यमानेन सकलं यदि दोषवत् ।
एकेन सूत्रतुल्येन किं न सर्वं जिनोदितम् ॥ ५१ ॥

* महाकाश्यपमुख्यैश्च यद् वाक्यं नावगाह्यते ।
तत्त्वस्यानवबुद्धत्वादग्राह्यं कः करिष्यति ! ॥ ५२ ॥

यत्सूत्रेऽवतरेदित्यादि अनुष्टुप्-त्रयं केनचित् प्रतिक्षिप्तमिव [P 444] लक्ष्यते; अपक्रमनिवेशितत्वात् । आगमविप्रतिपत्तिरस्य विचारस्य प्रस्तावः । 'शासनं भिक्षुता' इत्यादिषु आगमविवादात्, प्रक्रमान्तरत्वात् पूर्वमेव वक्तुमुचितम् । अनेनान्तरितस्य विवादस्य पुनरुपक्रमो ग्रन्थकारस्य प्रस्तावाकौशलं स्यात् । यत्प्रत्ययेत्यादिना (९४३) च प्राक्तनवृत्तद्वयार्थस्याभिहितत्वात् । **महाकाश्यपमुख्यै**रित्यादिवचनस्याश्लीलत्वात् ग्रन्थकाराप्रयुक्तमिति निश्चितम् । तस्मात् प्रक्षेप एवायमिति ॥ ५०-५२ ॥

---

५०. (प्रश्न–) आपके यहाँ लिखा है –'जो वाक्य सूत्र में होता है वही बुद्धवचन है' तो महायानसूत्र भी प्रायः आपके सूत्रों के समान हैं, उन्हें आप प्रमाण क्यों नहीं मानते ? ॥

५१. और फिर किसी एक जगह आपके द्वारा अनुमोदित बुद्धवचनों से साम्य न आता हो तो इसका मतलब यह तो नहीं कि सम्पूर्ण शास्त्र ही असंगत मान लिया जाय; क्योंकि वह दोषपूर्ण है ! यह क्यों नहीं मान लेते कि आपके बुद्धवचनों से मेल खाने के कारण महायान आगम भी बुद्धवचन है ॥

५२. एक बात और ! अतिदुरूह होने के कारण, महाकाश्यप जैसे विद्वान् जिन बुद्धवचनों का पार नहीं पा सके, तब तुम जैसों की नासमझी के कारण महायान-आगम की सबके लिये अग्राह्यता कैसे मान ली जाय ॥

[यहाँ प्रज्ञाकरमति कहते हैं, मालूम पड़ता है ये तीन (५०-५१-५२) श्लोक

स्यादेतत्—यथा सालम्बनचित्तस्यासङ्गसम्भवात् न मुक्तिः स्यात्, तथा शून्यतायामपि भयमुपजायते। तद्वरमुभयपरिहारेण संसार एव स्थितिर्युक्ता ? इत्याह—

* सक्तित्रासात्त्वनिर्मुक्त्या संसारे सिध्यति स्थितिः।
मोहेन दुःखिनामर्थे शून्यताया इदं फलम्॥ ५३॥

सक्तिरासङ्गः। त्रासो भयम्। शून्यताश्रवणात्, तदर्थपरिज्ञानात्। सक्तित्रासमिति समाहारः। तस्मादुभयपक्षपरिहारेण **संसारे** त्रैधातुकस्व-[P 445] भावे **सिध्यति स्थितिरवस्थानमुपजायते। तुशब्दः पुनर्दोषपरिहारार्थम्। इदं तु शून्यताभ्युपगमे दूषणं स्यात्। साधारणं दूषणमिति यावत्। कुतः? **अनिर्मुक्त्या**। हेतौ तृतीया। मुक्तेरभावादित्यर्थः। कतमेषाम्? **दुःखिना** पञ्चगतिसंसारे जात्यादिदुःखपीडितानां सताम्। कथम्? **अर्थे** अर्थविषये। **मोहेन** अविद्यया। आलम्बनासङ्गेनेति यावत्। अतः **शून्यताया इदं फलम्**, यत् पुनरपि निवृत्य संसारेऽवस्थानम्। अयमभिप्रायः—यथा शून्यताव्यतिरेकेण उपलम्भदृष्टेर्न मुक्तिः स्यात्, तथा विषयासङ्गसुखचेताः सर्वधर्मशून्यताभयभीतकातरः वरं संसार एवावस्थानमिति मन्यमानो बालः प्रशमसुखविमुखो विनिवृत्य जात्यादिदुःखमनुभवन् पुनस्तत्रैवावतिष्ठते इति किमनया प्रसाधितमिति॥

अन्ये तु **सक्तित्रासान्तनिर्मुक्त्येति** पाठं मन्यमाना एवं व्याचक्षते—सक्तेर्हेतुत्वात् **सक्तिरासङ्गस्थानम्। त्रासहेतुत्वात् **त्रासो** भयस्थानम्। तावेव अन्तौ सक्तित्रासान्तौ। शाश्वतोच्छेदान्तौ इत्यर्थः। तथा हि--शाश्वतदृष्टेरासक्तिः, उच्छेददृष्टेश्च त्रासो जायते। तयोर्निर्मुक्त्या परित्यागेन। पूर्ववत् [P 446] तृतीया। यत् परमार्थविचारेण शाश्वतान्तविवर्जनम्, सम्वृतिसत्याभ्युपगमेन च उच्छेदान्तपरित्यागः, इति समारोपापवादान्तपरिहारा-

---

किसी अन्य विद्वान् ने यहाँ प्रक्षिप्त कर दिये हैं। ये श्लोक आगमविवाद से सम्बद्ध हैं; आगमविवाद पीछे जा चुका। अब प्रसङ्गान्तर होने पर पिछली बातों का उठाना युक्तियुक्त नहीं। और महाकाश्यपप्रभृति विद्वानों पर आक्षेप लगाने के कारण भी इन श्लोकों का आर्य शान्तिदेव द्वारा लिखा जाना तर्क की कसौटी पर नहीं चढ़ता।]॥

५३. शून्यता का ही यह माहात्म्य है कि बोधिसत्त्व व्यवहारजगत् में दुःखी जनों के निमित्त संसार में रहता हुआ आसक्ति और भय की सीमा से मुक्त रहता है; क्योंकि वह नित्य की कल्पना से दूर है कि जिसमें आसक्त हो, और भास के

न्मध्यमा प्रतिपत्तिरियमुपदर्शिता भवति । तथा च किं सम्पद्यते ? इत्याह—**संसारे सिध्यति स्थितिः ।** प्रज्ञया संसारदोषालिप्तस्य करुणापरतन्त्रत्वात् संसारे सिध्यति निष्पद्यते स्थितिरवस्थानम् । किमर्थम् ? **दुःखिनामर्थे** परदुःखदुःखितया दुःखिनां संसारिणामर्थे, तद्दुःखसमुद्धरणाभिलाषात् ॥

ननु संसारिणो नाम परमार्थतो न सन्त्येव, तत् कथं तदवस्थानम् ? इत्यत्राह—**मोहेन** विपर्यासेन संवृत्या सत्त्वस्योपलम्भात् । एतच्च "दुःखव्युपशमार्थं तु कार्यमोहो न वार्यते" [बो० च० ९. ७७] इत्यत्र पश्चाद् व्यक्तीकरिष्यते । तस्माच्छून्यताया **इदं फलम्** यत्करुणया संसारेऽवतिष्ठमानोऽपि शून्यतादर्शनात् संसारदोषैर्न लिप्यते । इदमप्रतिष्ठितनिर्वाणता शून्यतायाः फलम्; शून्यतामन्तरेण अस्याभावात् । तस्मादासंसारं सत्त्वार्थमवस्थानमिच्छिद्भिः शून्यतैव भावयितव्या ॥ ५३ ॥

एतत् सर्वमुपसंहारेणोपदर्शन्नाह—

* तदेवं शून्यतापक्षे दूषणं नोपद्यते ।

तदेतत् एवमुक्तक्रमेण शून्यतापक्षे उक्तं **दूषणम्**—शून्यतायां त्रासात् संसारावस्थानलक्षणं **नोपपद्यते** न सङ्गच्छते, वक्ष्यमाणसमाधानात् । इति प्रथमपक्षे योजना । यत एवम्;

* तस्मान्निर्विचिकित्सेन भावनीयैव शून्यता ॥ ५४ ॥ [P 447]

निर्गतो विचिकित्साया **निर्विचिकित्सः** निःसंदेहः, तेन सता **भावनीयैव** अभ्यसनीयैव **शून्यता** सर्वधर्मनिःस्वभावता अनुपलम्भयोगेन ॥ ५४ ॥

एतेन यदुक्तम् —"न विनाऽनेन मार्गेण" [बो० च० ९. ४१] तदुपसंहृतं भवति । यत्पुनरुक्तम्—"शून्यतादर्शनेन किम्", तत्र शून्यतया विशेषमाह—

अन्त से भी दूर हैं, कारण वह उच्छेद की कल्पना से रहित है । इस तरह वह दोनों ही अन्तों से दूर रहता हुआ मध्यमा प्रतिपदा का अभ्यास करता हुआ सुखी रहता है ॥

५४. (उपसंहार–) इसलिये शून्यता के पक्ष में तुमने जो दोष दिया था कि उसके त्रास के कारण बोधिसत्त्व की संसारावस्थिति नहीं होगी—इसके असङ्गत होने के कारण, वह दोष इसमें नहीं बनता । अतः साधक को असन्दिग्ध होकर शून्यताभावना का अभ्यास करना चाहिये ॥

* क्लेशज्ञेयावृतितमः प्रतिपक्षो हि शून्यता ।
शीघ्रं सर्वज्ञताकामो न भावयति तां कथम् ! ।। ५५ ।।

क्लेशा रागादयः । ज्ञेयं पञ्चविधम् । आवृतिशब्दस्तु उभयत्र सम्बध्यते । क्लेशा एवावृतिः । ज्ञेयं च आवृतिरावरणमिति विभज्य योजनीयम् । ज्ञेयमेव समारोपितरूपत्वादावृत्तिः, सैव तम इव तमः, वस्तु- [P 448] तत्त्वावरणात्, तस्य प्रतिपक्षः प्रहाणहेतुः । हि यस्मात् शून्यता, तस्मात् शीघ्रं त्वरितं सर्वज्ञतायां बुद्धत्वे कामोऽभिलाषो यस्यासौ तथोक्तः । सर्वज्ञतां कामयते इति वा सर्वज्ञताकामः । भावयति तां कथमिति । तां शून्यतां कथं न भावयति नाभ्यस्यति ? अपि तु महता यत्नेन भावयेदेव ।। ५५ ।।

यदप्युक्तम्—त्रासाच्छून्यतायां प्रवृत्तिर्न स्यात्, तदपि न युक्त- मित्याह—यद्दुःखेत्यादि । द्वितीयपक्षे पुनरित्थमवतारणीयम्—अस्त्यैव शून्यतायामेषोऽनृशंसः, केवलं प्रथमत एव तत्र संत्रासात् प्रवृत्तिर्न स्यादिति । आह —

* यद् दुःखजननं वस्तु त्रासस्तस्मात् प्रजायताम् ।
शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयम् ! ।। ५६ ।।

यद्वस्तु दुःखजननं पीडाकरम्, तस्माद्वस्तुनः सकाशात् त्रासः भयं जायतां नाम । शून्यता पुनः प्रत्युत दुःखशमनी सर्वसांसारिकदुःखापहन्त्री । ततः तस्याः शून्यतायाः किं किंनिमित्तं अभयस्थाने कातरस्य जनस्य भयं जायते ? सर्वगुणनिदानत्वात् प्रेमैव तस्यामुचितमिति भावः ।। ५६ ।।

अहम्प्रत्ययविषयस्त्रासः

आत्मग्रहजनिताहङ्कारप्रसूतं हि भयमतत्त्वविदामुत्पद्यते । स चात्मा कल्पनासमारोपितमूर्तिरिति अहङ्कारोऽपि तदभावादनास्पद इत्युपदर्श- यन्नाह—

---

५५. शून्यता राग और पञ्चविध ज्ञेय के आवरणरूपी अन्धकार के निवारण में कारणभूत है, अतः जल्दी से जल्दी बुद्धत्व-प्राप्ति की कामना वाला पुरुष उसकी भावना क्यों नहीं करना चाहेगा ! ।।

५६. जो दुःखजनक तत्त्व है उससे त्रास हो सकता है, पर शून्यता तो सर्व- सांसारिकदुःखापहन्त्री है, उससे भय कैसा ! (क्योंकि वह तो सभी सुखों की निमित्त है, अतः उससे तो प्रेम ही होना चाहिये) ।।

* यतस्ततो वाऽस्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन ।   [P 449]
अहमेव न किञ्चिच्चेद्, भयं कस्य भविष्यति ! ।। ५७ ।।

यतस्ततो वा भयाभयस्थानात् अस्तु भवतु भयम् । कदा ? **यदि अहं नाम किञ्चन** । अहमिति अहम्प्रत्ययस्य विषयः कथितः । अहं नाम अहम्प्रत्ययवेद्यं यत्किञ्चन किञ्चिद्वस्तु स्यात् । अव्यक्तनिर्देशान्नपुंसकता । तदा युक्तमेव भयम् । यदा पुनरहमेव न किञ्चित् वस्तुसत् विचार्यमाणमहं किञ्चित् शब्दविकल्पमात्रादन्यत्, तदा **भयं कस्य** ? अहमित्यस्याभावात् । **भविष्यति** उत्पत्स्यते । इतोऽपि विचारात् त्रासो निवर्तते इति भावः ।

नास्म्यहं न भविष्यामि न मेऽस्ति न भविष्यति ।
इति बालस्य सन्त्रासः पण्डितस्य भक्षयः ।। इति ।। ५७ ।।

केशादयः अहम्प्रत्ययाविषयाः

यथा च अहम्प्रत्ययविषयस्य कल्पनामात्रोपदर्शितत्वादसत्त्वम्, तथा प्रतिपादयन्नाह—

* दन्तकेशनखा नाहं नास्थि नाप्यस्मि शोणितम् ।
न सिङ्घाणं न च श्लेष्मा न पूयं लसिकापि वा ।। ५८ ।।

दन्तकेशनखा नाहम् । प्रत्येकममी अहम्प्रत्ययविषया न [P 450] भवन्ति । नास्थि नाप्यस्मि शोणितम् । अस्थि=हड्डम् । शोणितम् = रुधिरम् । एतद् द्वयमपि नास्मि नाहम् । सिङ्घाणं न च श्लेष्मा न पूयम् । सिङ्घाणम् = नासिकाविवरनिर्यातः क्लेदः । श्लेष्मा = मुखविवरविनिर्गतः । पूयम् = व्रणे पक्वरुधिरम् । एतान्यपि नाहं भवन्ति । लसिकापि वा = व्रणक्लेदः, सापि नाहम् ।। ५८ ।।

* नाहं वसा न च स्वेदो न मेदोऽन्त्राणि नाप्यहम् ।
न चाहमन्त्रनिर्गुण्डी गूथमूत्रमहं न च ।। ५९ ।।

---

५७. यदि मेरा कहीं राग हो, आसक्ति हो, ममत्व हो तो उससे मुझे भय हो सकता है । जब मैं कुछ हूँ ही नहीं, तब मुझको भय कैसा और किससे ! ।।

५८. (शरीर के प्रति निरासक्ति—) न मैं दांत हूँ, न केश हूँ, न नख । न हड्डी, न खून । न नाक का मैल, न गले का कफ । न मवाद (पके फोड़े का गन्दा खून) हूँ, न फोड़े से निकलने वाला गन्दा पानी ।।

५९. न वसा (शरीरस्नेह) हूँ न पसीना, न मेद हूँ न छोटी आँत । न मैं बड़ी आँत हूँ, न विष्ठा, न मूत्र ही हूँ ।।

नाहं वसा न च स्वेदो न मेद इति। वसा = शरीरस्नेहः। स्वेदः = प्रस्वेदः। स्वेदश्चतुर्थो धातुः। इमान्यपि नाहम्। **अन्त्राणि नाप्यहमिति।** अन्त्राणि प्रसिद्धानि, तान्यपि नाहम्। **न चाहमन्त्रनिर्गुण्डी** सूक्ष्मात्मिका, सापि नैवाहम्। **गूथमूत्रमहं न च।** गूथं विष्ठा। एतदपि द्वयं नाहं न भवामि॥

* नाहं मांसं न च स्नायु नोष्मा वायुरहं न च।
न च च्छिद्राण्यहं नापि षड् विज्ञानानि सर्वथा॥ ६०॥

[P 451] **नाहं मांसं न च स्नायु नोष्मा।** स्नायु = सिरा। ऊष्मा शरीरधातुः। इमेऽपि नाहम्। **वायुरहं न च,** वायुः = आश्वासप्रश्वासादिलक्षणः, सोऽपि नैवाहम्। **न च च्छिद्राणि** चक्षुरादीनि, तान्यपि नाहम्। **नापि षड् विज्ञानानि सर्वथा,** षट् चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायमनोविज्ञानानि, तान्यपि नाहं भवन्ति। सर्वथा सर्वप्रकारेण प्रत्येकं समुदितानि वा। तथा हि दन्तादिसमुदायात्मकमेव विचार्यमाणं शरीरमुपलभ्यते। तच्च प्रत्येकमहम्प्रत्ययवेद्यं न भवति; प्रत्येकमहम्प्रत्ययस्य तेषु अभावात्। न हि परेषामपि एकैकशः केशादयोऽहम्प्रत्ययवेद्या भवन्ति। समुदिता अपि ते केवलाः पूर्ववत्। न च समुदितेषु कश्चिदेकः सम्भवति, तस्य प्रतिषेत्स्यमानत्वात्। नाप्यनेके समुदिता अपि एकप्रत्ययविषया भवितुमर्हन्ति। न च अनेकेषु एकप्रत्ययो भ्रान्तो युक्तः। न च भ्रान्तेस्तत्त्वव्यवस्था। तस्मात् कल्पनामात्रमेतदहमित्यर्थशून्यमाभातीति निश्चितम्। उक्तं **चैतदशुभभावनाप्रस्तावे शिक्षासमुच्चये—**

[P 452] "सन्ति अस्मिन् काये केशा रोमाणि नखा दन्ता रजो मलं त्वक् मांसास्थि स्नायु शिरा वृक्को हृदयं प्लीहकः क्लोमकः अन्त्राणि अन्त्रगुणाः आमाशयः पक्वाशयः औदरीयकं यकृत् पुरीषम् अश्रु स्वेदः खेटः सिङ्घाणकं वसा लसिका मज्जा मेदः पित्तं श्लेमपूयशोणितं मस्तकलुङ्गं प्रस्रावः। एषु च वस्तुषु बोधिसत्त्वः उपपरीक्षणजातीयो भवति। एतत् पुनः पश्चात् कायस्मृत्युपस्थानपर्यन्ते निर्देक्ष्यामः"। इति॥

एवं निर्विषय एवाहम्प्रत्ययविशेषः॥

२. नाप्यात्मा

स्यादेतत्—यदि नाम केशादयोऽहम्प्रत्ययवेद्या न भवन्ति, तथापि

---

६०. न मैं मांस हूँ न स्नायु और न शरीर की तेजोधातु। न मैं वायु हूँ, न रोमकूप। न मैं अपने आपको छह विज्ञानों के अन्तर्भूत मानता हूँ॥

नायं निर्विषयः सिध्यति। यतः अन्तर्व्यापारपुरुषगोचर एव अहम्प्रत्ययोऽस्माभिरिष्यते इति नैयायिकादयः। नैतदपि युक्तम्। यस्मात्- अहं गौरः कृशो दीर्घो गच्छामीत्याद्याकारपरामर्शात्मक एव अयमहम्प्रत्ययः प्रतिभासते। न च आत्मन एतद्रूपमिष्यते परैः। न च अन्याकारेण ज्ञानेन अन्यस्य ग्रहणं युक्तम्; अतिप्रसङ्गात्। तथाहि तद्वान्, इदमिदं तस्य लक्षणमुपवर्णयन्ति परे।

तत्र नैयायिकास्तावत् नित्यं सर्वगतं प्रतिप्राणिभिन्नचेतनं चेतनायोगात्तु चेतनं सुखादिगुणाधारं शुभाशुभकर्मकर्तारं तत्फलोपभोक्तारं [P453] परलोकिनं च आत्मानमिच्छन्ति। नैयायिकवद् वैशेषिका अपि। तदुक्तम्—

"अन्ये पुनरिहात्मानमिच्छादीनां समाश्रयम्।
स्वतोऽचिद्रूपमिच्छन्ति नित्यं सर्वगतं तथा॥

शुभाशुभानां कर्तारं कर्मणा तत्फलस्य च।
भोक्तारं चेतनायोगाच्चेतनं न स्वरूपतः"॥ इति॥

[तत्त्वसंग्रहः, १७१–१७२]

जैमिनीयास्तु– व्यावृत्त्यनुगमात्मकं बुद्धिरूपेण परिणामिनं चैतन्यरूपमात्मानमिच्छन्ति। तच्च चैतन्यं बुद्धिस्वभावम्। न च तस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतः; तस्योभयत्रानुगतत्वात्। तदयथा-सर्पस्य कुण्डलावस्थानिवत्तौ ऋजुत्वावस्थाप्रवृत्तौ च सर्पत्वस्योभयत्राप्यवृत्तिः। यथोक्तम्—

"व्यावृत्त्यनुगमात्मानमात्मानमपरे पुनः।
चैतन्यरूपमिच्छन्ति चैतन्यं बुद्धिलक्षणम्॥
यथाहेः कुण्डलावस्था व्यपेति तदनन्तरम्।
सम्भवत्यार्जवावस्था सर्पत्वं न निवर्तते॥
तथैव नित्यचैतन्यस्वभावस्यात्मनोऽपि न।
निःशेषरूपविगमः सर्वस्यानुगमोऽपि च"॥ इति।

[तत्त्वसंग्रहः, २२२–२२४]

इति विशेषः। अन्यत् सर्वं पूर्ववत्॥

जैनास्तु जैमिनीयवच्चेतनमात्मानमिच्छन्ति द्रव्यपर्यायरूपेण यथायोगमनुगमव्यावृत्त्यात्मकम्। तथा चोक्तम्—

"जैमिनीया इव प्राहुर्जैनाश्चिल्लक्षणान्तरम्। [P 454]
द्रव्यपर्यायरूपेण व्यावृत्त्यनुगमात्मकम्"॥

[तत्त्वसंग्रहः, ३११]

कापिलास्तु नित्यं व्यापकं निर्गुणं स्वयमेव चैतन्यात्मकमात्मानमिच्छन्ति, न तु बुद्धिसम्बन्धात्। बुद्धेः स्वयमचित्स्वभावत्वात्। 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' इति वचनात्। नापि स कस्यचित् कार्यस्य कर्ता, स्वयं तत्फलोपभोक्ता वा, निष्क्रियत्वात्। प्रकृतिरेव तत्कर्त्री तस्य, तत्फलोपनेत्री च। विपर्यासवशादसौ स्वात्मनि तत् समारोपयति। तथा हि—यदा पुरुषस्य शब्दादिविषयोपभोगाकारमौत्सुक्यमुपजायते, तदा प्रकृतिः परिज्ञातपुरुषौत्सुक्या पुरुषेण युज्यते, ततः शब्दादिसर्गं करोति। शब्दादिषु श्रोत्रादिवृत्तिभिर्मनसाधिष्ठिताभिः परिगृहीतेषु बुद्धिरध्यवसायं करोति। ततो बुद्ध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते इति। एवं चैतन्यस्वरूपत्वानिर्गुणत्वम्, व्यापित्वान्निष्क्रियत्वमिति सांख्यपुरुषस्य विशेषः। उक्तं च—

"चैतन्यमन्ये मन्यन्ते भिन्नं बुद्धिस्वरूपतः।
आत्मनश्च निजं रूपं चैतन्यं कल्पयन्ति ते॥
[P 455] प्रधानेनोपनीतं च फलं भुंक्ते स केवलम्।
कर्तृत्वं तस्य नैवास्ति प्रकृतेरेव तन्मतम्"॥

[तत्त्वसंग्रहः, २८५-८६]

प्रवर्तमानान् प्रकृतेरिमान् गुणान् तमोवृतत्वाद्विपरीतचेतनः।
अहं करोमीत्यबुधोऽभिमन्यते तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यनीश्वरः॥ इति।

[सांख्यक्रमदीपिकाः, ४३]

उपनिषद्वादिनस्तु समस्तप्राणिसन्तानान्तर्गतमेकमेव व्यापि नित्यं च ज्ञानमिच्छन्ति। तद्विवर्तरूपतया सकलमिदं क्षितिजलपवनहुताशनादिकं जगदवभासते। तत्स्वभाव एव चात्मा। न बाह्यं किमप्यवयवि परमाण्वादिकं ग्राह्यं प्रमाणप्रसिद्धमस्ति। आह च—

"नित्यो ज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः।
आत्मा तदात्मकश्चेति सङ्गिरन्तेऽपरे पुनः॥
ग्राह्यलक्षणसंयुक्तं न किञ्चिदिह विद्यते।
विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात् सर्वं परीक्ष्यते"॥ इति।

[तत्त्वसंग्रहः, ३२८-२९]

पुद्गलवादिनस्तु पुनरन्तश्चरतीर्थिकाः। स्कन्धेभ्यस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यं पुद्गलनामानमात्मानमिच्छन्ति। अन्यथा तीर्थिकसिद्धान्ताभिनिवेशदर्शनं स्यात्। आह च—

"केचिच्च सौगतम्मन्या अप्यात्मानं प्रचक्षते" । इति । [P 456]
[तत्त्वसंग्रहः, ३३६]

कथमात्मनोऽहम्प्रत्ययविषता स्यात् ? स्वस्वरूपेण तत्राप्रतिभासनात् । तत्कथम् 'आत्मा अहं प्रत्ययतया प्रतिभासते' इत्युच्यते । तस्माद् विकल्पमात्रमेतत् निर्विषयमुत्पद्यते इति स्थितम् ॥ ६० ॥

३. न ज्ञानमात्मा

सम्प्रति **चित्स्वभावात्मवादिनः साङ्ख्यादयः** षड्विज्ञानानामात्मनिषेधमसहिष्णवः प्राहुः–शब्दादिज्ञानं चिदात्मकमात्मैवास्माभिरभिधीयते । तत्कथमस्यात्मताप्रतिषेध उच्यते ? इति पराभिप्रायमाकलय्य सिद्धान्तवादी प्रसङ्गमासज्जयन्नाह—

* शब्दज्ञानं यदि तदा शब्दो गृह्येत सर्वदा ।

ननु यदि शब्दज्ञानात्मक आत्मा, तस्य च नित्यत्वात् **शब्दज्ञानं** नित्यं स्यात्, **तदा** शब्दोऽपि सदा नित्यमेव तद्भावाभावकालयोर्ग्रहीतव्यः स्यात्, शब्दग्रहणस्वभावस्य तस्य तत्सदसत्ताकाले सर्वदानुवर्तनात् । अन्यथा नित्यत्वमेव तस्य हीयेत । भवतु एवमेवेति चेत् ? आह—

* ज्ञेयं विना तु किं वेत्ति येन ज्ञानं निरुच्यते ॥ ६१ ॥

ज्ञानमेव नित्यमुपस्थितम्, शब्दस्य तु कादाचित्कत्वान् न [P 457] सर्वदा सत्ताभिव्यक्तिः । ततश्च तदसत्ताकाले **ज्ञेयं विना** विषयमन्तरेण **किं वेत्ति** किं जानाति तद् ज्ञानम् ? तुशब्दोऽसत्ताकालप्रश्नविशेषे वर्तते । **येन** ज्ञेयेन शून्यमपि **ज्ञानं निरुच्यते** अभिधीयते । ज्ञेयं जानातीति ज्ञानमाख्यायते, तदभावात् कथं ज्ञानमित्याशयः ॥ ६१ ॥

एतदेवाह—

---

६१. (ज्ञान में अनासक्ति—) [आचार्य साङ्ख्यवादी दार्शनिकों का खण्डन करते हैं जो आत्मा को शब्द-ज्ञानात्मक मानते हैं । आचार्य कहते हैं—] यदि आत्मा शब्दज्ञानात्मक है तो उसके सर्वथा नित्य होने से उसका सर्वत्र ग्रहण होना चाहिये । परन्तु उसमें ज्ञान की उपस्थिति तो नित्य सम्भव है, पर ज्ञेय (शब्द) के कादाचित्क (अनित्य) होने के कारण विषयाभावात् वह ज्ञान किसको जानेगा कि जिससे उसे 'ज्ञान' कहा जाय । (ज्ञेय को जानना ही 'ज्ञान कहलाता है, जब ज्ञेय ही नहीं तो ज्ञान' कैसा !) ॥

* अजानानं यदि ज्ञानम्; काष्ठं ज्ञानं प्रसज्यते !

यद्यपि विषयं न जानाति, तदापि यदि ज्ञानमुच्यते, तदा काष्ठमज्ञानस्वभावं ज्ञानं प्रसज्यते । न हि तेन किञ्चिदपराद्धं येन न विज्ञानं स्यात् । न चैवम् । तस्माद्विषयपरिज्ञानभावात् यथा काष्ठं ज्ञानं न भवति, तथा अन्यदपि न स्यात् ? इत्याह --

* तेनासन्निहितज्ञेयं ज्ञानं नास्तीति निश्चयः ॥ ६२ ॥

येन निर्विषयं न ज्ञानम्, तेन कारणेन असन्निहितज्ञेयं असन्निहिततमयोग्यदेशस्थं ज्ञेयं ग्राह्यो विषयो यस्य तत्तथोक्तं ज्ञानं नास्ति न विद्यते इति निश्चयः एकान्त एषः; सापेक्षत्वात् ॥

स्यादेतत्–शब्दस्य सदाविद्यमानत्वात् नासन्निहितविषयं शब्दज्ञानम् । [P 458] अग्रहणं तु कदाचित् कादाचित्काभिव्यक्तित्वादि नोक्तदोषप्रसङ्गः ? नैतदस्ति; यतो यदस्य ज्ञानस्य परिच्छेद्यं रूपं व्यक्तमित्युच्यते, तस्य सदासन्निहितविषतया ग्राहकमज्ञानमभिधीयते । शब्दस्य तु सदा सत्त्वमसत्त्वं वा न विवक्षितम् । ज्ञानं तु कदाचिद् ग्राहकमित्येतावतैव साध्यसिद्धेः । तस्मादसन्निहितज्ञेयमित्यनेन ज्ञानस्यैव अग्राहकत्वं साध्यते । येन रूपेण ज्ञानस्य ग्राह्यो विषयः, तस्य न सर्वदा सन्निधानमस्तीति कृत्वा इति कथं नोक्तदोषप्रसङ्गः ? शब्दस्य यथा सर्वदा सत्त्वं नास्ति, तद्विस्तरभयान्नोच्यते ॥ ६२ ॥

अपि च । यदि शब्दज्ञानमेवात्मा, तदा तद्ग्रहणात्मकत्वात्तस्य रूपग्रहणं न स्यात् ? नैतदस्ति; यतः तदेव रूपग्राहकमिष्यते इति चेदत्राह—

* तदेव रूपं जानाति तदा किं न शृणोत्यपि !

तदेव शब्दज्ञानमेव यदि रूपं जानातीति मतम्, तदा किं न शृणोत्यपि, तदा रूपग्रहणकाले किमिति न शृणोत्यपि, शब्दमपि किं न गृह्णाति ? शब्दज्ञानत्वात् । अथ गृह्णात्येव, यदि सन्निहितं स्यात् । केवलमसन्निधानात् न दोष इति परस्योत्तरमाशङ्क्याह—

---

६२. जो विषय को न जानता हो और उसे भी 'ज्ञान' कहा जाय तो काष्ठ, लोष्ठ आदि को भी 'ज्ञान' कह लिया जाय ! अतः यह निश्चित हुआ कि जिसको ज्ञेय सन्निहित नहीं है उसे 'ज्ञान' नहीं कह सकते ॥

६३. 'शब्दज्ञान ही रूप का भी ज्ञान करता है'—यदि ऐसा कहते हो तो हम पूछते है कि वह उसी समय सुनता क्यों नहीं ! (शब्द को ग्रहण क्यों नहीं करता !)

* शब्दस्यासन्निधानाच्चेत् ततस्तज्ज्ञानमप्यसत् ॥ ६३ ॥ [P 459]

शब्दस्य विषयतामापन्नस्य असंनिधानादयोग्यदेशात् ग्रहणं न स्यात् ? एवमभिधीयते, ततस्तत् ज्ञानमप्यसत् । तत् तस्मात् तर्हि शब्दस्यासन्निधानात् तत् ज्ञानमपि शब्दज्ञानम् असदविद्यमानम् । शब्दज्ञानमेव तर्हि तन्न भवतीत्यर्थः ॥ ६३ ॥

किञ्च, यदि शब्दज्ञानं तदा रूपग्रहणाद्यात्मकं तन्न युज्यते ? इत्याह—

* शब्दग्रहणरूपं यत् तद्रूपग्रहणं कथम् ?

शब्दस्य ग्रहणरूपं शब्दस्य ग्रहणस्वभावम् । शब्दग्राहकमिति यावद् । यत् ज्ञानं तद् रूपग्रहणं रूपग्रहणात्मकं कथम् ? न कथञ्चिदपि स्यात् । एकस्य निरंशस्य रूपद्वयायोगात् ।

ननु यथा कश्चिदेक एव कस्यचिदपेक्षया पिता, कस्यचिदपेक्षया च स एव पुत्रः स्यात्; तथा प्रकृतेऽपि रूपद्वयमेकस्य भविष्यति ? इत्याह—

* एकः पिता च पुत्रश्च कल्प्यते न तु तत्त्वतः ॥ ६४ ॥

एकः पिता एव जनकः पुत्रश्च जन्यः स एवेति कल्प्यते, स तु तदपेक्षया कल्पनया व्यवस्थाप्यते । न तु तत्त्वतः, न पुनः परमार्थतः । एक [P 460] एव स्वभावः उभयात्मकः कल्पनासमारोपितव्यपदेशात् । रूपभेदेन पुनरेक एव तथा नानाभिधानेन नैवाभिधीयते । उभयवास्तवरूपद्वयमेकस्य घटनीयम्, तच्च कथञ्चिदपि न सङ्गच्छते, रूपद्वयव्यतिभिन्नतया वस्तुनोऽपि द्वित्वप्रसङ्गात् । तस्मात् यथा वास्तवमेकस्य द्विरूपत्वं तन्न दृष्टान्तधर्मिण्यस्ति, यच्चास्ति काल्पनिकम्, तत् प्रकृतानुपयोगीति यत्किञ्चिदेतत् ॥ ६४ ॥

यदि यह कहो कि शब्द के नजदीक न (दूरदेशस्थ) होने के कारण वह सुन नहीं पाता—तो वह तुम्हारा ज्ञान असत् (अविद्यमान) हो गया, (फिर वह नित्य कहाँ रहा !) शब्दज्ञान ही तब तो उसे नहीं कह सकते ॥

६४. जो ज्ञान शब्दग्रहणस्वभाव वाला है (शब्द का ग्राहक है) वह रूपग्रहण कैसे करा पायगा ! (उसमें रूपग्राहकता शक्ति कहाँ से आ जायगी !)

यदि कहो कि लोक में जैसे एक ही आदमी किसी का पिता है और किसी का पुत्र, उसी प्रकार ज्ञान में भी शब्द और रूप की ग्राहकता युगपत् रह जायगी ? लोक में एक ही व्यक्ति में पिता-पुत्र का व्यवहार कल्पनामात्र है, वस्तुतः (परमार्थतः) ऐसा नहीं । (इस तरह दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में भेद होने से यह दृष्टान्त उचित नहीं) ॥

इतोऽपि न पारमार्थिकोऽयं व्यपदेश इत्याह—

* सत्त्वं रजस्तमो वापि न पुत्रो न पिता यतः ।

एतच्च अवश्यं त्वयापि स्वीकर्तव्यम्–सांख्यमते हि त्रिगुणमेकं जगत्, ततः **सत्त्वं रजस्तमो वापीति** समुदायः समुच्चयार्थः । **ःतो** यस्मादेते गुणाः स्वस्वभावावस्थिताः, प्रत्येकं समुदिता वा । तस्मान्न **पिता न पुत्रः** परमार्थतः । सर्वदा गुणा एव केवलाः सन्ति । अयमर्थः—पुत्रावस्थायां ये सत्त्वरजस्तमोलक्षणा गुणाः, ते एव प्राप्तजनकभावा अपि तेन पूर्वापरकालयोरविशिष्टस्वभावा एव । ते ततस्तदपेक्ष्य पिता पुत्रश्चाभिधीयन्ते, न तु तत्र कश्चिद् [P 461] विशेषः । ततः काल्पनिक एवायं व्यवहारः । यदि च रूपग्रहणकालेऽपि शब्दग्रहणात्मकमेकमेव तज्ज्ञानम्, तदा तत्स्वभावमुपलभ्येत, न चोपलभ्यते । ततो न तद्ग्रहणात्मकमित्याह—

* शब्दग्रहणयुक्तस्तु स्वभावस्तस्य नेक्ष्यते ।। ६५ ।।

शब्दग्रहणेन युक्तः सम्बद्धः । तुशब्दो विशेषाभिधाने । **स्वभावस्तस्य** रूपग्राहकस्य ज्ञानस्य **नेक्ष्यते** न प्रतीयते । अतस्तदा तस्य शब्दग्रहणता नास्तीति निश्चीयते ।। ६५ ।।

स्यादेतत्–यदि नाम न प्रतीयते, तथापि तदेव तत् । कथं तर्हि रूपग्रहणम् ? इत्याह—

* तदेवान्येन रूपेण नटवत् सोऽप्यशाश्वतः ।

तदेव शब्दज्ञानम् । **अन्येन रूपेण** स्वभावेन रूपग्रहणात्मकेन रूपं गृह्णातीति शेषः । कथमिव तस्यानुरूपता ? **नटवत्** । यथा नाटयसमये रङ्गभूमिगतो नट एक एव नानारूपेणावतरति, तथा प्रकृतेऽपीति न दोषः । अत्राह– [P 462] **सोऽप्यशाश्वतः** इति अनित्यः पूर्वस्वभावपरित्यागेन रूपान्तरमाविशति । न च पूर्वापरकालयोरेकस्वभाव एव नटो नानारूपसम्बन्धात्, अन्यथा तस्य रूपद्वयमेकदेति भाषेत । इति साध्यविकलो दृष्टान्तः ।

---

६५. और इस दृष्टान्त के न बनने में एक कारण और भी है—आप (सांख्यवादी) के मत में सत्त्व, रजस्, तमस् ये तत्त्व हैं, कल्पना नहीं कि कभी उन्हें पिता मान लिया जाय, कभी पुत्र ।।

किञ्च, ज्ञान का शब्दग्रहण से सम्बद्ध स्वभाव रूप-ग्रहण की प्रतीति कैसे करायगा ? यदि करायगा तो उस समय शब्दग्रहणता उसमें नहीं रहेगी ।।

६६. यदि 'वही शब्दज्ञान नट की तरह दूसरे रूप से रूप का भी ग्राहक हो

अथापि स्यात्–भावः स एव। स्वभावः पुनरस्य अपरापर उत्पद्यते, निरुध्यते च। ततः अयमदोषः ? इत्यत्राह–

* स एवान्यस्वभावश्चेदपूर्वेयं तदेकता ॥ ६६ ॥

स एवात्मा नटो वा। **अन्यस्वभावः** अपरस्वभावः। **चेद्** यदि उच्यते, तदा **अपूर्वेयं तदेकता**, अपूर्वेयमदृष्टपूर्वेयमीदृशी तदेकता। तस्य भावस्य अपरस्वभावोत्पत्तावपि एकता अभिन्नात्मता। तथा हि–स एवेति तत्त्वमाख्यायते, पुनरन्यस्वभाव इति तस्यैव अन्यत्वम्। न चैतत् परस्परविरुद्धधर्मद्वयमेकस्य युक्तम्। न हि भावो नाम अन्य एव स्वभावात्, येन तस्योत्पादनिरोधयोरपि भावस्य तौ न स्याताम्। नापि तदभिन्नस्य स्वभावस्य उत्पादनिरोधयोर्भावस्य तादवस्थ्यं युक्तम्; अभेदाभावप्रसङ्गात्। भेदे वा सम्बन्धासिद्धिरिति भावः ॥ ६६ ॥

स्यादेतत् --भवत्वेवैष प्रसङ्गः, यदि रूपद्वयमस्यात्मनः सत्यं स्यात्, किं तर्हि ? निजमस्य रूपमपहाय अपरं रूपमतात्त्विकम्, तेन [P 163] नोक्तदोषप्रसङ्गः, इत्याशयमाशङ्कयन्नाह

* अन्यद् रूपमसत्यं चेन्निजं तद्रूपमुच्यताम्।

अन्यद्रूपं तद्विषयोपाधिकं स्फटिकोपलस्येव **असत्यमस्वाभाविकम्**, इति **चेद्** यदि, तर्हि **निजं तद्रूपमुच्यताम्** निजं स्वाभाविकं तस्यात्मनो रूपं तत्त्वमुच्यताम्। अस्त्येवान्यद्रूपं तस्य। किं तत् ? ज्ञानता चेत् ?

* ज्ञानता चेत्, ततः सर्वपुंसामैक्यं प्रसज्यते ॥ ६७ ॥

ज्ञानात्मतैव तस्य पूर्वापरकालानुगामिनी निजं रूपम्। किमन्यद् वक्तव्यम् ? तद्रूपेण पूर्वापरान्यरूपसम्बन्धेऽपि स्फटिकवद् यदि एकोऽस्तीत्युच्यते, एवं **सर्वपुंसामैक्यं प्रसज्यते**, एवं ज्ञानत्वेन तत्साधारणरूपत्वात्। तद्यथा पूर्वापरकालिकयोः शब्दरूपज्ञानयोर्भिन्नाकारत्वाद् भिन्नयोरप्येकत्वमेव,

---

जाता है'—यह मान लिया जाय तो उस ज्ञान को अनित्य मानना पड़ेगा, (क्योंकि उसमें नियतस्वभावत्व नहीं रह गया) ॥

यदि एक ही ज्ञान में स्वभाव-भेद मानकर उसकी रूपग्राहकता सिद्ध करोगे तो यह एकता अपूर्व हुई जो सम्भवतः किसी के भी समझ में न आय ॥

६७. (सांख्य वादी–) ज्ञान तो एक ही है, परन्तु उसका शब्दग्राहकता के समय रूपग्राहकता का स्वरूप सत्य नहीं, अपि तु कल्पित है ?

तथा सर्वसत्त्वानां प्राणिगतिगतानामेकात्मता प्रसज्यते = आपद्यते, वस्तुतो भेदेऽपि विशेषाभावात् ॥ ६७ ॥

इत्थं च पुनरिदमतिप्रसज्यते ? इत्याह—

[P 464] * चेतनाचेतने चैक्यं तयोर्येनास्तिता समा ।

यदि वा अवान्तरं भेदनिबन्धनं विशेषमपास्य किञ्चिदाकारकमाश्रित्य मुच्यते तदा चेतना पुरुषधर्मः, अचेतना प्रकृत्यादिधर्मः । चकारो दोषान्तरसमुच्चये । तेऽपि एकमभिन्नं वस्तु स्याताम् । कथम् ? तयोश्चेतनातनयोः येन कारणेन अस्तिता समा । सापि भावानां निजं रूपम् । समा द्वयोरपि तुल्या ।

ननु च अत्रापि सादृश्यनिबन्धनमिष्यते एव एकत्वं वस्तुभेदेऽपि । ततोऽयमिष्टप्रसाधनाददोषः ? इत्याह—

* विशेषश्च यदा मिथ्या कः सादृश्याश्रयस्तदा ॥ ६८ ॥

दूषणान्तरद्योतेन चकारः । विशेषो भेदः सर्वभावानामनियमेन यदा मिथ्या असत्यः । निजमेव रूपं सत्यम्, तदा कः सादृश्याश्रयः स्यात् ? किमाश्रित्य सादृश्यं व्यवस्थाप्यते ? विशेषसद्भावे हि किञ्चिन्मात्रसाधर्म्येण सादृश्यं स्यात् । विशेषभावे च तदेव तत् स्यात्, न सदृशम् । न हि गोगवययोर्गोविशेषमननुभवन् न गवयो गोसदृशो भवेत्, अपि तु [P 465] गौरेव स्यात् । अतो विशेष एव सादृश्याश्रयः । स च यदा पारमार्थिको न भवति, तदा कः सादृश्यस्य समानाकारतायाः पुंसामन्यस्य वा आश्रयो निबन्धनं वा भवेत् ? नैव कश्चिदित्यर्थः । अतो वस्तुत एव एकत्वमापतितं भवतः, न सादृश्यकृतम् । तत् कथं सिद्धसाधनाददोष इत्युच्यते ? ॥ ६८ ॥

एवं कापिल[जैन]जैमिनीयपरिकल्पितस्य चित्स्वभावस्यात्मनः सत्त्वमसिद्धम् । उपनिषद्वादिपरिकल्पितेऽपि यथासम्भवं दूषणमभिधेयमिति ॥

(माध्य —) तो उसका निज रूप क्या है ? —यह बताइये ।

यदि उसे ज्ञानता कहें तो सब आत्माओं में भेद न होने से सकल पुरुषों में एकता माननी पड़ेगी । जब कि तुम्हारे मत में सभी पुरुष (आत्मा) अलग-अलग हैं ॥

६८. किञ्च, भेद (विशेष) होने पर ही सादृश्य (किञ्चिन्मात्र साधर्म्य) सम्भव है । विशेष (भेद) के मिथ्या होने पर सब कुछ एक हो जायगा । फिर तुम्हारा प्रकृति-पुरुष आदि विभाग कैसे बनेगा ?

आत्मनि सद्व्यवहारनिषेधः

साम्प्रतमचेतनस्य नैयायिकादिपरिकल्पितस्यात्मनः सद्व्यवहारप्रतिषेधायाह—

* अचेतनश्च नैवाहमाचैतन्यात् पटादिवत् ।

चेतनस्तावदात्मा उपक्रमेण न युज्यते । अचेतनोऽपि नैवाहमात्मा युक्त इति चकारार्थः । कुतः ? आचैतन्यात् चैतन्याभावात् । न विद्यते चेतना अस्येत्यचेतनः, तस्य भावः आचैतन्यम् । उभयपदवृद्धिः पारलौकिकादिवत् । तस्मात् । अचेतनत्वादित्यर्थः । कथमिव ? पटादिवत् । यथा पटवृक्षपर्वतादयः चैतन्याविरहादात्मा न भवन्ति, तथा अभिमतोऽपि । कर्मकर्तृत्वादेरस्याभ्युपगमात् । अन्यथा न किञ्चित् प्रयोजनं तेन । न च [P 466] अचेतनस्य तद्युक्तम्, यथा पटादेः ।

यदि नाम स्वयमसावचेतनः, तथापि बुद्धेश्चेतना चेतयते, तेनायमदोषः ? इति पराभिप्रायं सम्भावयन्नाह—

* अथ ज्ञश्चेतनायोगादज्ञो नष्ट प्रसज्यते ।। ६९ ।।

अथेति पृच्छायाम् । अथायमात्मा चेतनायोगाद् बुद्धिसमवायात् स्वयमचेतनोऽपि ज्ञो भवति । जानातीति ज्ञः, कप्रत्ययान्तस्य रूपम् । एवमुपगम्यमाने अज्ञो नष्टः प्रसज्यते । यदा तर्हि मदमूर्च्छावस्थायां चेतनानिवृत्तौ अयमात्मा न किञ्चदपि जानाति, तदा नष्टः प्राक्तनचैतन्यसम्बद्धस्वभावपरित्यागाद् विनष्टः प्रसज्यते ।। ६९ ।।

चैतन्यसम्बन्धकालयोरेकस्वभावत्वान्नायं दोष इति परमाशङ्कयन्नाह-

* अथाविकृत एवात्मा चैतन्येनास्य किं कृतम् !

अथ चैतन्योत्पादनिरोधयोरविकृत एव अनुत्पन्नानिरुद्धस्वभाव

---

६९. [नैयायिकादयभिमत आत्मा में आचार्य सद्व्यवहार का प्रतिषेध कर रहे हैं—] इस तरह चेतन में आत्मत्व का खण्डन कर दिया गया। घटादि अचेतन में भी आतमत्व स्वीकृत नहीं कर सकते; क्योंकि वे (घटादि) स्वयं अचेतन हैं ।।

[प्रश्न—] यह आत्मा चेतना (बुद्धि) के योग से स्वयम् अचेतन होते होते हुए भी चेतन प्रतीत होने लगेगा ?

[उत्तर —] तब तो उस आत्मा को भी नष्ट मानना पड़ेगा ।

[P 467] **एवात्मा**। यद्येवम्, तर्हि **चैतन्येनास्य किं कृतम्**, अचेतनस्य सर्वकालमविकृतस्य सतः अस्यात्मनः चैतन्येन बुद्धिसमवायेन किं कृतम्, किमतिशयाधानमनुष्ठितम् ? न किञ्चित्।

बुद्धिसमवायेऽपि तथैवाप्रच्युतप्राच्यस्वभावस्य अवस्थानादचेतन एवात्मा। तथा च सति किमनुष्ठितं भवद्भिः ? इत्याह--

* अज्ञस्य निष्क्रियस्यैवमाकाशस्यात्मता मता ॥ ७० ॥

अज्ञस्य किञ्चिदपि हिताहितं ज्ञातुमशक्तस्य **निष्क्रियस्य** निर्गतो बहिर्भूतः क्रियाया इति निष्क्रियः, तस्य सर्वप्रतीकाररहितस्य अनाधेयातिशयतया असंस्कर्तव्यस्य। अथवा—सर्वकर्मणि शक्तिविकलस्य गमनाधिक्रियाशून्यस्य वा **आकाशस्य** प्रकृतानुपयोगित्वादाकाशकल्पस्य। एवं सति **आत्मता** आत्मस्वभावव्यवस्था व्यवस्थापिता। एतच्च स्वमतेनोदाहरणम्। यथा निःस्वभावतया सर्वक्रियाशून्यं प्रज्ञप्तिसन्मात्रमाकाशम्, तथा आत्मापीत्यर्थः। परमतेनापि वा। यथा च न कर्मकर्त्रादिरूपमाकाशमचेतनत्वादक्रियत्वाच्च, तथा आत्मापीति भावः ॥ ७० ॥

इदानीं पुनरन्यथा आत्मप्रतिषेधबाधकं परमतेनोत्थापयन्नाह--

* न कर्मफलसम्बन्धो युक्तश्चेदात्मना विना।

यदि न कश्चिदेकः परलोकी स्यात्, तदा तेनात्मना परलोकगामिना [P 468] **विना** अन्तरेण **कर्मफलसम्बन्धोऽयुक्तः**। कर्म शुभाशुभम्, फलं च तस्यैव इष्टानिष्टलक्षणम्, तयोः सम्बन्धः। कर्मणः कृतस्य फलेन वा सम्बन्धः। येनैव कृतं कर्म, तस्यैव तत्फलप्रतिलम्भः, नान्यस्येति। **न युक्तो** न घटते। इष्यते च परलोके कर्मफलसम्बन्धः। तत्र च सौगतानामप्यविवादः। तथा च [1]सूत्रम्--

---

७०. [एक वात और] आत्मा जब स्वयम् अविकारी है तो उसे बुद्धि का क्या सहारा मिलेगा !

[मध्य० —] जव निष्क्रिय आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं मानोगे तो आकाश को भी आत्मा मानना पड़ेगा; क्योंकि आपके मत में आकाश भी आत्मा की तरह निष्क्रिय और ज्ञानहीन हैं ॥

७१. नैयायिक की पिपृच्छा है कि, आप बौद्ध लोग आत्मा के माने विना कर्म और उसके फल का सम्वन्ध कैसे स्थापित कर सकोगे; क्योंकि कर्ता कर्म करके

---

१. द्र० अवदानशतके।

"अनेनैव कृतं कर्म, कोऽन्यः प्रत्यनुभविष्यति ? न हि भिक्षवः कृतोपचितानि कर्माणि पृथिवीधातौ विपचन्ते, नाब्धातौ, न वायुधातौ। उपात्तेष्वेव स्कन्धधात्वायतनेषु····· इति विस्तरः" ।

[1]उक्तं च—

"न प्रणश्यन्ति कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि ।
सामग्रीं प्राप्य कालं च फलन्ति खलु देहिनाम्" ।। इति ।

ततः **कर्मफलसम्बन्धो**ऽनिवारितो भवतामपि । तस्मादवश्यमङ्गीकर्तव्य आत्मा । अन्यथा सर्वमेतदसंगतं स्यात् । कथमसति आत्मनि कर्मफलसम्बन्धो घटते ? इत्याह —

* कर्म कृत्वा विनष्टे हि फलं कस्य भविष्यति ! ।। ७१ ।। [P 469]

हि यस्मात् **कर्म कृत्वा** कर्मोत्पाद्य शुभाशुभलक्षणम् । **विनष्टे** निरुद्धे सति कर्मकर्तरि । **फलं कस्य भविष्यति ?** आत्मनोऽसत्त्वे परलोकगामिनः कस्यचिदभावात् । येन चित्तक्षणेन कृतं कर्म, तस्य क्षणिकतया तत्कर्मक्रियाकाले निवृत्तत्वात्, कृतस्य कर्मणः फलं सुगतौ दुर्गतौ वा सुखदुःखात्मकं कस्य भविष्यति उत्पत्स्यते ? नैव कस्यचित् स्यात् । परलोके च कृतकर्मण एव फलयोगिनोऽन्यस्य कस्यचिदुत्पादात, इति कृतविप्रणाशोऽकृताभ्यागमश्च स्यात् ।। ७१ ।।

उपलक्षणं चैतत् । स्मृतिप्रत्यभिज्ञानसंशयनिर्णयस्वयंनिहितप्रत्यनुमार्गणदृष्टार्थकुतूहलविरमणकार्यकारणभावतदधिगतप्रमाणबन्धमोक्षादयोऽपि न स्युः चेद्यदि मतम् ? तन्न युक्तमित्याह —

* द्वयोरप्यावयोः सिद्धे भिन्नाधारे क्रियाफले ।

द्वयोरप्यावयोः । आत्मवादिनो भवतः, मम च नैरात्म्यवादिनः । **सिद्धे** निश्चिते । के सिद्धे ? आह —**भिन्नाधारे क्रियाफले** । कर्म क्रिया अस्मिन् भवे, तस्याः फलं परलोके । ते भिन्नाधारे नानाधिकरणे सिद्धे । तथाहि—न येनैव

क्षणिक होने के कारण जब विनष्ट हो गया तो उस कर्म का फल भोगने वाला कौन रह जायगा ? ।।

७२. [शून्यवादी कहते हैं—] यद्यपि हम दोनों ही कर्म-फल का सम्बन्ध

---

१. द्र० अवदानशतके ।

शरीरेण तस्मिन् जन्मनि कर्म करोति,तेनैव प्रेत्य फलमुपभुंक्ते । अतः अन्यदेव कर्म करोति, तेनेव प्रेत्य फलमुपभुंक्ते । अतः अन्यदेव कर्मकर्तृ, तदन्यच्च [P 470] फलभोक्तृ । अतो भिन्नाधारे क्रियाफलं भवतः । अत्र च अविप्रतिपत्तिरावयोः ।

स्यादेतत्, आत्मव्यापारमन्तरेण ते एव कर्तृत्वोपभोक्तृत्वे न स्याताम् ? इत्यत्राह—

* निर्व्यापारश्च तत्रात्मेत्यत्र वादो वृथा ननु ॥ ७२ ॥

निर्व्यापारो व्यापाररहितः । तत्र तयोः कर्मक्रियाफलोपभोगयोः आत्मा निष्क्रियत्वादचेतनत्वात् । नित्यत्वान्न क्वचिदपि क्रियायां समर्थः । यदप्युक्तम्--

"ज्ञानमात्रादिसम्बन्धः कर्तृत्वं तस्य भण्यते ।
सुखदुःखादिसंवित्तिसमवायस्तु भोक्तृता" ॥ इति,

[तत्त्वसंग्रहः, १७६]

तदपि पूर्वापरकालयोरविचलितस्वभावस्य उक्तक्रमेण न सङ्गच्छते । इति हेतोरत्रात्मनि निर्व्यापारे वादो विवादो वृथा निष्फलः । यदर्थमसावङ्गीकृतः, तत्र तस्यानुपयोगित्वात् । नन्विति परसम्बोधने ॥ ७२ ॥

ननु यदि आत्मा न भवेत्, कथं तर्हि कृतविप्रणाशादिदोषो न स्यात् ? ततो न वृथा तद्वादः ? इत्याह –

* हेतुमान् फलयोगीति दृश्यते नैष सम्भवः ।

[P 471] यो हेतुमान् कर्मणा युक्तः, स एव फलयोगी फलसम्बद्धः--इति एवमेष सम्भवो न दृश्यते, नोपलभ्यते । यस्मात्--

* अन्य एव मृतो लोके जायते अन्य एव हि ।

मानते हैं, पर उसके आधार के विषय में हमारा मतभेद है । (हम मानते हैं कि) जिस शरीर से कर्ता कर्म करता है उसी शरीर से (क्षणिक होने के कारण) उसका फल मरने पर नहीं भोग पाता । अतः कर्ता और कर्म पृथक्-पृथक् है ॥

[नैया०—] आत्मा तो वही है, अतः एक शरीर में वह कर्ता हैं तो दूसरे शरीर में वही भोक्ता है ॥

[माध्य० —] तुम्हारा आत्मा निर्व्यापार है, निर्व्यापार में कर्तृत्व-भोक्तृत्व कैसे बनेगा ? अतः भवदभिमत आत्मा के बारे में विवाद करना व्यर्थ ही है ॥

७३. जो कर्म से युक्त है वही फल से भी सम्बद्ध हो—ऐसा सम्भव नहीं दिखायी देता; क्योंकि लोक में कोई दूसरा ही मरता है दूसरा ही पैदा होता है ॥

ततो हेतुमतः फलयोगो न दृश्यते। एतर्त्तर्हि कथं नीयते, यदुक्तम्--

अनेनैव कृतं कर्म, कोऽन्यः प्रत्यनुभविष्यति।

इति? अत्राह--

* सन्तानस्यैक्यमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशितम्॥ ७३॥

सन्तानस्य उत्तरोत्तरानेकक्षणपरम्परालक्षणस्य कार्यकारणभावे न प्रवर्तमानस्य ऐक्यमाश्रित्य अनेकेषु एकत्वं लोकाध्यवसायवशादारोपितमेव निमित्तीकृत्य **कर्ता भोक्ता इति देशितम्**। य एव कर्मणः कर्ता स एव तत्फलस्योपभोक्ता च। इत्येतद्देशितत्वेऽपि नेयाभिप्रायवशात् **भगवता** प्रकाशितम्। अन्यथा कर्मफलोच्छेदं मन्येत जनः। न तु तावता उभयलोकानुगामिनः सत्त्वमाख्यातम्। अत एव च तत्रैवोक्तम्—"उपात्तेष्वेव स्कन्धधात्वायतनेषु विपच्यन्ते" इति। तथा 'चेतना कर्म" इति वचनाच्च। तदुक्तम्—

"कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत्। [P 472]
चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी"॥ इति।
[अभि० को० ४.१]

अन्यत्राप्युक्तम्—

"सत्त्वलोकमथ भाजनलोकं चित्तमेव रचयत्यतिचित्रम्।
कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं कर्म चित्तमवधूय न चास्ति"॥ इति।
[म० अ० ६.८९]

तस्मान्न चित्तविनिर्मुक्तमन्यत् कर्मास्ति। तच्च कुशलाकुशलं चित्तमुत्पद्य निरुध्यमानं स्वोपादेयचित्तक्षणे कुशलाकुशलादिसंस्कारविशेषवासनामादधाति। तदपि तदाहितवासनमुत्तरोत्तरतदभिसंस्कृतक्षणपरम्पराविच्छेदतः सन्तानप्रवर्तमानं परिणतिविशेषमुपगच्छत् कर्मविशेषानुरूपं तथाविधं सुखादिस्वभावं चित्तात्मकमेव फलमभिनिर्वर्तयति परलोके। तद्यथा क्षितिबीजादयः परस्परोपसर्पणप्रत्ययविशेषात् समधि- [P 473] गतातिशयतया प्रथमक्षणोपनिपातिनः स्वोपादेयभूतद्वितीयक्षणकलापे कार्योत्पादानुगुणविशेषोत्पादनद्वारेण तदुत्तरोत्तरतारतम्यमुपजनयन्तः सन्ततिपरिणामविशेषादन्त्यक्षणलक्षणं प्रकर्षपर्यन्तमासादयन्तो बीजानुरूपशालिकोद्रवाङ्कुरमुत्पादयन्ति। यथा च लाक्षारसपरिभावितं मातुलुङ्गादिबीजमुप्तं

---

* हाँ, हमारे मत में शरीर के क्षणिक होने पर भी विज्ञान का सन्तति-प्रवाह मान लेने से एक आधार में कर्तृत्व-भोक्तृत्व बन जाता है॥

तत्संस्कारपरम्पराप्रवृत्तेः तत्पुष्पादिषु रक्ततामुत्पादयति, न च तत्र कश्चित् पूर्वापरकालयोरेकोऽनुगामी समस्ति। तच्च कुशलाकुशलसमानस्यापि कल्पनोपस्थापितत्वात् नोपन्यासो युक्तः। तदुक्तम्—

"यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव बध्नाति कर्पासे रक्तता यथा[1]"॥ इति।

तस्माद्यथा बीजादिषु आत्मानमन्तरेणापि प्रतिनियमेन कार्यं तदुत्पत्तिश्च क्रमेण भवति, तथा प्रकृतेऽपि परलोकगामिनमेकं विनापि कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात् प्रतिनियतमेव फलम्, क्लेशकर्माभिसंस्कृतस्य [P 474] सन्तानस्य अविच्छेदेन प्रवर्तनात् परलोके फलप्रतिलम्भोऽभिधीयते, इति नाकृताभ्यागमो न कृतविप्रणाशो बाधकम्। ततो नात्मानमन्तरेण कर्मफलसम्बन्धो न युज्यते। यथा च सत्येवात्मनि स न घटते, तथा सप्रचयमुच्यमानमतिविस्तरं स्यादिति नेह प्रतन्यते। आह च—

"नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु क्लेशकर्माभिसंस्कृतम्।
अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्"॥ इति॥
[अभि० को०]

पुद्गलतद्वादिभिस्तत्त्वान्यत्वप्रतिषेधपक्षाभ्युपगमात् स्वयमेव वस्तुत्वं प्रतिषिद्धम्। वस्तुनो हि तत्त्वान्यत्वप्रकारानतिक्रमात्, परस्परपरिहारवतोरेकप्रतिषेधापरविधिनान्तरीयकत्वात्। भारहारादिसूत्रमपि समर्थितमत्रार्थे। तस्मादाभिप्रायिकीं भगवतो देशनामजानद्भिः परिकल्पितोऽसौ, न वस्तुसत्। वस्तुत्वाभ्युपगमे नान्यत्वम्, इत्यात्मनो निराकरणेनैव निरस्तः, इति न पुनर्विशेषेण प्रतिषेधितः। उक्तं चैतद् भगवता—

"इति हि, भिक्षवः, अस्ति कर्म, अस्ति फलम्। कारकस्तु नोपलभ्यते य इमान् स्कन्धान् विजहाति, अन्यांश्च स्कन्धानुपादत्ते, अन्यत्र धर्मसंकेतात्। अत्रायं धर्मसंकेतः, यदस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते" इति[2]॥

[P 475] एतेन भगवतैव इदम्प्रत्ययतामात्रलक्षणः कार्यकारणभावोऽपि दर्शित एव। अयमपि च सन्तानस्येत्यनेन [सन्तान एक इत्यनेन] यथाव्यवहारमनिरूपितस्वरूपः सूचित एव; सन्तानवचनेन इदम्प्रत्ययतामात्रस्याभ्युपगमात्। अन्यथा सन्तान एव न स्यात्। तेन वास्तवकार्यकारणभावभाविनो दोषा नावलीयन्ते। इदमेव आचार्यपादैरप्युक्तम्—

१. द्र०—सर्वदर्शनसंग्रहे। २. द्र०—म० सू० अ०, पृ० १५३।

"अशक्तं सर्वमिति चेद् बीजादेरङ्कुरादिषु ।
दृष्टा शक्तिर्मता सा चेत् संवृत्यास्तु यथा तथा" ।। इति ।

कार्यकारणभावप्रतिनियमादेव स्मृत्यभावोऽपि निरस्तः । एकस्यानुगमात्मनोऽभावात् न स्मर्ता कश्चिदिह विद्यते, किं तर्हि ? स्मरणमेव केवलमारोपवशात् स्मर्यमाणवस्तुविषयम् । न च अत्र स्मर्तुरभावेऽपि कश्चिद् व्याघातः । अनुभूते हि वस्तुनि विज्ञानसन्ताने स्मृतिबीजाधानात् कालान्तरेण सन्ततिपरिपाकहेतोः स्मरणं नाम कार्यमुत्पद्यते । एवं प्रत्यभिज्ञानादयोऽपि द्रष्टव्याः । अतिविस्तरभयात् प्रत्येकमिह न प्रतिविधीयन्ते इति तत्समर्थनमन्यत्रैव विस्तरेणावधार्यमिति ।। ७३ ।।

सर्वमेतत् संवृतिसत्यमुपादाय समर्थितम् । परमार्थे तु सर्व- [P 476] धर्माणां निःस्वभावत्वात् सर्वविकल्पोपरमाच्च न किञ्चिदुत्पद्यते वा, निरुध्यते वा, सात्मकमनात्मकं वा । नापि विचार्यमाणं कर्म तत्फलं वा, नापि इहलोको न परलोको वा न कश्चिदस्ति; कल्पनाविठपितत्वात् । तस्मात् सर्वमेतत् प्रतिबिम्बसंनिभं निःस्वभावमुत्पद्यते, निरुध्यते च । कार्यकारणं च सात्मकं निरात्मकं च नित्यमनित्यं चाभिधीयते स्वप्नवत् कर्मकर्तृत्वम् । तत्फलोपभोगः, इहलोकः, परलोकः, सुगतिदुर्गतिगमनं च; कल्पनानामप्रहाणात् । इति सर्वं सुस्थम् । यद्वक्ष्यति—

"एवं न च निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति तत्त्वतः ।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत् ।।
स्वप्नोपमास्तु गतयो विचारे कदलीसमाः" । इत्यादि ।
[बोधि० ९.१५१–५२]

उक्तं च—

"कर्ता स्वतन्त्रः कर्मापि त्वयोक्तं व्यवहारतः ।
परस्परापेक्षिकी तु सिद्धिस्तेऽभिमताऽनयोः ।।
न कर्तास्ति न भोक्तास्ति पुण्यापुण्यं प्रतीत्यजम् ।
यत्प्रतीत्य न तज्जातं प्रोक्तं वाचस्पते त्वया" ।। इति ।
[चतुः० — २.८–९]

यथा निरात्मानश्च सर्वे धर्माः कर्मफलसम्बन्धाविरोधश्च, [P 477] निःस्वभावता च, यथा दृष्टसर्वधर्माविरोधश्च, तथा पितापुत्रसमागमे देशितम् । तदुक्तम्—

"भगवानाह-एवमेव, महाराज, बालोऽश्रुतवान् पृथग्जनश्चक्षुषा रूपाणि

दृष्ट्वा सौमनस्यस्थानीयानि अभिनिविशते । सोऽभिनिविष्टः समनुनीयते । समनुनीतः संरज्यते । संरक्तो रागजं कर्माभिसंस्करोति त्रिविधं कायेन, चतुर्विधं वाचा, त्रिविधं मनसा । तच्च कर्माभिसंस्कृतमादित एव क्षीणं निरुद्धं विगतं विपरिणतं न पूर्वां दिशं निश्रित्य तिष्ठति, न दक्षिणाम्, न पश्चिमाम्, नोत्तराम्, नोर्ध्वम्, नाधः, नानुविदिशम्, नेह, न तिर्यक्, नोभयमन्तरा । तत् पुनः कालान्तरेण मरणकालसमये प्रत्युपस्थिते जीवितेन्द्रियनिरोधे आयुषः परिक्षयात् तत्सभागस्य कर्मणः क्षीणत्वात् चरमविज्ञानस्य निरुध्यमानस्य मनस आरम्बणीभवति । तद्यथापि नाम शयितविबुद्धस्य [P 478] जनपदकल्याणी । इति हि, महाराज, चरमविज्ञानेनाधिपतिना तेन च कर्मारम्बणेन औपपत्त्यंशिकं द्वयप्रत्ययं प्रथमं विज्ञानमुत्पद्यते । यदि वा नारकेषु, यदि वा तिर्यग्योनौ, यदि वा यमलोके, यदि वा आसुरकाये, यदि वा मनुष्येषु, यदि वा देवेषु । तस्य च प्रथमविज्ञानस्य औपपत्त्यंशिकस्य समनन्तरनिरुद्धस्य अनन्तरं सभागा चित्तसन्ततिः प्रवर्तते, यत्र विपाकस्य प्रतिसंविदा प्रज्ञायते । तत्र यश्चरमविज्ञानस्य निरोधः, तत्र च्युतिरिति संख्या भवति, यः प्रथमविज्ञानस्य प्रादुर्भावः, तत्रोपपत्तिरिति । इति, महाराज, न कश्चिद्धर्मोऽस्माल्लोकात् परलोकं गच्छति, च्युत्युपपत्ती प्रज्ञायेते । तच्च, महाराज, चरमविज्ञानमुत्पद्यमानं न कुतश्चिदागच्छति, निरुध्यमानं न क्वचिद् गच्छति । कर्माप्युत्पद्यमानं न कुतश्चिदागच्छति, निरुध्यमानं न क्वचिद् गच्छति । [प्रथमविज्ञानमुत्पद्यमानं न कुतश्चिदागच्छति, न क्वचिद् गच्छति ।] तत् कस्य हेतोः ? स्वभावविरहितत्वात् । चरमविज्ञानं चरमविज्ञानेन शून्यम्, कर्म कर्मणा शून्यम्, प्रथमविज्ञानं प्रथमविज्ञानेन [P 479] शून्यम्, च्युतिश्च्युत्या शून्या, उपपत्तिरुपपत्त्या शून्या । कर्मणां च अवन्ध्यता प्रज्ञायते, विपाकस्य च प्रतिसंवेदना । न तत्र कश्चित् कर्ता, न भोक्ता, अन्यत्र नामसंकेतात्, इति विस्तरः" ॥

एवं द्वेषमोहाभ्यामपि कर्माभिसंस्करणं यथायोग्यं वाच्यमिति ॥

शालिस्तम्बसूत्रेऽप्युक्तम्—

"पुनरपरं तत्त्वेऽप्रतिपत्तिर्मिथ्याप्रतिपत्तिरज्ञानमविद्या । एवमविद्यायां सत्यां त्रिविधाः संस्कारा अभिनिर्वर्तन्ते—पुण्योपगाः, अपुण्योपगाः, आनञ्ज्योपगाश्च । इमे उच्यन्ते—अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इति । पुण्योपगानां संस्काराणां पुण्योगमेव विज्ञानं भवति, अपुण्योपगानां संस्काराणामपुण्योपमेव विज्ञानं भवति, आनञ्ज्योपगानां संस्काराणामानञ्ज्योपगमेव विज्ञानं भवति । इदमुच्यते—संस्कारप्रत्ययं विज्ञानमिति । तदेव

विज्ञानप्रत्ययं नाम रूपम्। नामरूपविवृद्धया षड्भिरायतनद्वारैः [P 480] कृत्यक्रियाः प्रवर्तन्ते, तन्नामरूपप्रत्ययं षडायतनमुच्यते। षड्भ्य आयतनेभ्यः षट् स्पर्शकायाः प्रवर्तन्ते- अयं षडायतनप्रत्ययः स्पर्श इत्युच्यते। यज्जातीयः स्पर्शो भवति तज्जातीया वेदना प्रवर्तते—इयं स्पर्शप्रत्यया वेदनेत्युच्यते। यस्तां वेदयति, विशेषेणास्वादयति, अभिनन्दयति, अध्यवस्यति, अधितिष्ठति –सा वेदनाप्रत्यया तृष्णेत्युच्यते। आस्वदना, अभिनन्दना, अध्यवसायस्थानम्, आत्मप्रियरूपसातरूपैर्वियोगो मा भवत्विति अपरित्यागो भूयो भूयश्च प्रार्थना—इदं तृष्णाप्रत्ययमुपादानमित्युच्यते। एवं प्रार्थयमानः पुनर्भवजनकं कर्म समुत्थापयति—कायेन वाचा मनसा, स उपादानप्रत्ययो भव इत्युच्यते। तत्कर्मनिर्जातानां पञ्चस्कन्धानामभिनिर्वृत्तिर्या, सा भवप्रत्यया जातिरित्युच्यते। यो[1] जात्यभिनिर्वृत्तानां स्कन्धानामुपचयपरिपाकाद्विनाशो भवति, तदिदं जातिप्रत्ययं जरामरणमित्युच्यते। ...पे०... तत्र विज्ञानं बीजस्वभावत्वेन हेतुः। कर्म क्षेत्रस्वभावत्वेन हेतुः। अविद्या तृष्णा च क्लेशस्वभावत्वेन हेतुः। कर्मक्लेशा विज्ञानबीजं सञ्जनयन्ति। तत्र कर्म विज्ञानबीजस्य क्षेत्रकार्यं करोति। तृष्णा विज्ञानबीजं स्नेहयति। अविद्या विज्ञानबीजमवकिरति। असतामेषां प्रत्ययानां विज्ञानबीजस्या- [P 481] भिनिर्वृत्तिर्न भवति। तत्र कर्मणां नैवं भवति—अहं विज्ञानबीजस्य क्षेत्रकार्यं करोमि। तृष्णाया अपि नैवं भवति—अहं विज्ञानबीजं स्नेहयामीति। अविद्याया अपि नैवं भवति—अहं विज्ञानबीजमवकिरामीति। विज्ञानबीजस्यापि नैवं भवति—अहमेभिः प्रत्ययैर्जनितमिति। अपि तु विज्ञानबीजं कर्मक्षेत्रप्रतिष्ठितं तृष्णास्नेहाभिस्यन्दितम् अविद्यावकीर्णं विरोहति, नामरूपाङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। स च नामरूपाङ्कुरो न स्वयंकृतो न परकृतो नोभयकृतो नेश्वरनिर्मितो न कालपरिणामितो न चैककारणधीनो नाप्यहेतुसमुत्पन्नः। अथ च मातापितृसंयोगादृतुसमवायादन्येषां च प्रत्ययानां समवायादास्वादनानुप्रबद्धं विज्ञानवीजं तत्रतत्रोपपत्त्यायतनप्रतिसन्धौ मातुः कुक्षौ नामरूपाङ्कुरमभिनिर्वर्तयति; अस्वामिकेषु धर्मेषु अममेषु अपरिग्रहेषु अप्रत्यर्थिकेषु आकाशसमेषु मायालक्षणस्वभावेषु हेतुप्रत्ययानामवैकल्यात्। ....पे०.... न तत्र कश्चिद्धर्मोऽस्माल्लोकात् परलोकं संक्रामति। अस्ति च कर्मफलम्, अस्ति च विज्ञप्तिः; हेतुप्रत्ययानामवैकल्यात्। ....पे०..... यथा अग्निरुपादानवैकल्यान्न ज्वलति, उपादानवैकल्याच्च ज्वलति; एवमेव

---

१. या–इति मूलपुस्तके पाठः।

कर्मक्लेशजनितं विज्ञानबीजं तत्रतत्रोपपत्त्यायतनप्रतिसन्धौ मातुः कुक्षौ [P 482] नामरूपाङ्कुरमभिनिर्वर्तयति; अस्वामिकेषु धर्मेषु अममेषु अपरिग्रहेषु अप्रत्यर्थिकेषु आकाशसमेषु मायालक्षणस्वभावेषु हेतुप्रत्यानाम-वैकल्यात्। एवमाध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य प्रत्ययोपनिबन्धो द्रष्टव्यः ॥

तत्र आध्यात्मिकः प्रतीत्यसमुत्पादः पञ्चभिः कारणैर्द्रष्टव्यः। कतमैः पञ्चभिः ? न शाश्वततः, नोच्छेदतः, न संक्रान्तितः, परीत्तहेतुतो विपुलफलाभिनिर्वृत्तितः, तत्सदृशानुप्रबन्धतश्चेति। १. कथं न शाश्वतः ? यस्मादन्ये मारणान्तिकाः स्कन्धाः, अन्ये औपपत्त्यंशिकाः स्कन्धाः प्रादुर्भवन्ति। न तु य एव मारणान्तिकाः स्कन्धाः, त एव औपपत्त्यंशिकाः प्रादुर्भवन्ति। अतो न शाश्वततः। २. कथं नोच्छेदतः ? न च पूर्वनिरुद्धेषु [P 483] मारणान्तिकेषु स्कन्धेषु औपपत्त्यंशिकाः प्रादुर्भवन्ति, नाप्यनिरुद्धेषु मारणान्तिस्कन्धा निरुध्यन्ते, तस्मिन्नेव च समये औपपत्त्यंशिकाः स्कन्धाः प्रादुर्भवन्ति, तुलादण्डोन्नामावनामवत्। अतो नोच्छेदतः। ३. कथं न संक्रान्तितः ? विसदृशात् सत्त्वनिकायाद्विसभागाः स्कन्धा जात्यन्तरेऽभिनिर्वर्तन्ते। अतो न संक्रान्तितः। ४. कथं परीत्तहेतुतो विपुलफलाभिनिर्वृत्तितः। परीत्तं कर्म क्रियते, विपुलफलविपाकोऽनुभूयते। अतः परीत्तहेतुतो विपुलाफलाभिनि वृत्तितः। ५. कथं तत्सदृशानुप्रबन्धतः ? यथावेदनीयं कर्म क्रियते, तथावेदनीयो विपाकोऽनुभूयते। अतस्तत्सदृशानुप्रबन्धतः। एवमाध्यात्मिकः प्रतीत्यसमुत्पादः पञ्चभिः [कारणैः — आकारैः] द्रष्टव्यः"। इति विस्तरः ॥

तदेवमात्मादिविरहेऽपि कर्मसम्बन्धोऽविकलः सूत्रेषु भगवता स्वयमुपदर्शितः —इत्युदर्शितं भवति। इति नैकस्योभयानुवर्तिनोऽभावेऽपि किञ्चिद् विरुध्यते इति ॥

यदि कथञ्चिदपि नास्त्येवात्मा, कथं तर्हि

"आत्मा हि आत्मनो नाथः को नु नाथः परो भवेत्।
आत्मना हि सुदान्तेन स्वर्गं प्राप्नोति पण्डितः" ॥

[—धम्मपदे]

इति गाथायामुक्तम् ? चित्तमेव अहङ्कारनिश्रयतया अस्यामात्मशब्देनोक्तम्। अन्यत्र सूत्रे—

"चित्तस्य दमनं साधु चित्तं दान्तं सुखावहम्"।

[—धम्मपदे]

[P 484] इति चित्तस्य दमनवचनात्। तदपि च आत्मदृष्टयभिनिविष्टा-

नामन्यत्रात्मग्राहपरिकल्पविच्छेदार्थं नेयार्थतया संवृत्या चित्तमात्मेति प्रकाशितम्, न तु परमार्थतः । एतेन यदुक्तमार्यलङ्कावतारे—

''पुद्गलः सन्ततिः स्कन्धाः प्रत्यया अणवस्तथा ।
प्रधानमीश्वरः कर्ता चित्तमात्रं वदाम्यहम्'' । इति ।
[लङ्का० २.१३९;१०.१३३]

तदपि व्याख्यातं भवति । यतः तदपि च अन्यत्र पुद्गलाद्यभिनिवेशबाधनाय वचनम् । न तु तावता चित्तस्य परमार्थसत्त्वमुक्तम् । एवमन्यत्रापि स्कन्धादिष्वात्मदेशना नेयार्था । अतश्चित्तमपि वस्तुतो नाहम्प्रत्ययस्य विषयः ।। ७३ ।।

चित्तं नाहंकारगोचरम्

भवतु वा चित्तं परमार्थसत् । तथापि न वस्तुतः तदहंकारगोचरम् इत्युपदर्शयन्नाह –

* अतीतानागतं चित्तं नाहं तद्धि न विद्यते ।

त्रिधा हि चित्तं सम्भवति परिकल्पमुपादाय अतीतमनागतं [P 485] प्रत्युत्पन्नं च । तत्र अतीतानागतं नष्टाजातं **चित्तं नाहं** न अहंदर्शनविषयः । कुतः ? **हिर्यस्मात्** । **तदतीतानागतं चित्तं न विद्यते**, न सम्प्रत्यस्ति, नष्टाजातत्वात् । यदतीतं तत् क्षीणं निरुद्धं विगतं विपरिणामितम् । यदनागतम् तदप्यसम्प्राप्तमिति ।

प्रत्युत्पन्नं तर्हि चित्तमहं भविष्यति ? इत्यत आह—

* अथोत्पन्नमहं चित्तं नष्टेऽस्मिन्नास्त्यहं पुनः ।। ७४ ।।

यथा **उत्पन्नं** वर्तमानं **चित्तमहमस्तु**, तदपि न युक्तम्; यतो **नष्टेऽस्मिन्नास्त्यहं पुनः** । अस्मिन् प्रत्युत्पन्ने चित्ते नष्टे द्वितीयक्षणे अतीते सति नास्त्यहं पुनः, पश्चादहंप्रत्ययस्य विषयो नष्टः स्यात् ? प्रत्युत्पन्नस्य स्थितिर्नोपलभ्यते । तत् कुतश्चित्तमालम्ब्यतां येन आलम्बनं स्यात् ? अतो न चित्तालम्बनोऽपीति निरालम्बन एवायमहम्प्रत्यय उत्पद्यते ।। ७४ ।।

---

७४. विज्ञानवाद के अनुसार चित्त को परमार्थसत् मान लेने पर भी अतीत (भूत) और अनागत (आगामी) चित्त अहंकार के विषय नहीं हो सकते; क्योंकि वे वस्तुतः हैं ही नहीं । वर्तमान चित्त भी द्वितीय क्षण में निरुद्ध हो जाने के कारण, अहंकार का विषय कैसे बन सकेगा ? ।।

एवमात्मनोऽसत्त्वात् नात्मा; त्र्यध्ववर्तिनश्चित्तस्य च तद्विषयत्वात्। नापि चित्तमहङ्कारस्य विषय इति प्रसाध्योपसंहरन्नाह—

* यथैव कदलीस्तम्भो न कश्चिद्भागशः कृतः।
तथाहमप्यसद्भूतो मृग्यमाणो विचारतः॥ ७५॥

यथैव कदलीस्तम्भो रम्भादण्डखण्डम्, **भागशः** प्रत्यवयवशः **कृतो**ऽवधृतो [P 486] **न कश्चित्** न वस्तुसन् प्राप्यते, **तथा अहमप्यसद्भूतः** कदलीस्तम्भवत्। अहमपि अहम्प्रत्ययस्य विषयोऽपि असद्भूतः, वन्ध्यातनयवत्। न कश्चिद् विषयोऽस्यास्तीति भावः। कथम् ? **मृग्यमाणो विचारतः** निरूपणतः॥ ७५॥

पुनरन्यद् बाधकमात्मप्रतिषेधे प्रसञ्जयन्नाह—

* यदि सत्त्वो न विद्येत कस्योपरि कृपेति चेत्!

यदि सर्वथैव सत्त्वः आत्मा पुद्गलो वा विचार्यमाणो **न विद्यते**, न स्यात्, तदा **कस्योपरि कृपा** करुणा बोधिसत्त्वानां भवेत्, सत्त्वमन्तरेण किमालम्ब्य प्रवर्तेत ? करुणा च सम्यक्सम्बोधिसाधनम्, तत्पूर्वकमेव सम्भारनिदानेषु दानादिषु प्रवर्तनात्। अतः करुणापुरःसराः सर्वे बुद्धधर्मा प्रवर्तन्ते। तथा **चोक्तमार्यधर्मसङ्गीतौ**—

"अथ खलु आर्यावलोकितेश्वरो बोधिसत्त्वो महासत्त्वो भगवन्तमेतदवोचत्—न, भगवन्, बोधिसत्त्वेन अतिबहुषु धर्मेषु शिक्षितव्यम्। एक एव धर्मो [P 487] बोधिसत्त्वेन स्वाराधितः कर्तव्यः सुप्रतिविद्धः। तस्य करतलगताः सर्वे बुद्धधर्मा भवन्ति। तद्यथा—येन राज्ञश्चक्रवर्तिनश्चक्ररत्नं गच्छति, तेन सर्वबलकायो गच्छति; एवमेव, भगवन्, येन बोधिसत्त्वस्य महाकरुणा गच्छति, तेन सर्वे बुद्धधर्मा गच्छन्ति। तद्यथा, भगवन्, जीवितेन्द्रिये सति अन्येषामिन्द्रियाणां प्रवृत्तिर्भवति; एवमेव, भगवन्, महाकरुणायां सत्यां बोधिकारकाणां धर्माणां प्रवृत्तिर्भवति" इति।

आर्यगयाशीर्षे चोक्तम्—

"किमारम्भो, मञ्जुश्रीः, बोधिसत्त्वानां चर्या, किमधिष्ठाना ?

---

७५. जैसे केले के खम्भे को उधेड़ते जाने पर अन्त में उसमें कुछ नहीं बचता, उसी तरह तत्त्वतः विचार करने पर 'अहं' का विषय बनने के लिये कुछ भी नहीं रह जाता॥

७६. अब यहाँ एक दूसरा प्रश्न भी उठता है—यदि सत्त्व की सत्ता

मञ्जुश्रीराह–महाकरुणारम्भा, देवपुत्र, बोधिसत्त्वानां चर्या, सत्त्वाधिष्ठाना। इति विस्तरः" ॥

तस्मादवश्यं प्रथमतः सत्त्वालम्बाना करुणाभ्युपगन्तव्या; दुःखितसत्त्वाधिष्ठानेन समुत्पत्तेः। सत्त्वाभावे च सा न स्यादिति चेत्—एवं मन्यसे यदि ? तदा नैतद् वक्तव्यमित्याह—

* कार्यार्थमभ्युपेतेन यो मोहेन प्रकल्पितः ॥ ७६ ॥

कार्यमभिमतसाध्यं पुरुषार्थ इत्युच्यते। तदर्थमभ्युपेतेन स्वीकृतेन मोहेन संवृत्या यः प्रकल्पितः समारोपितः सत्त्वः, तस्योपरीत्यर्थः। तथाहि—सकलकल्पनाजालरहितं सर्वावरणविनिर्मुक्तं परमपुरुषार्थतया बुद्धत्वमिह [P 488] साध्यम्। तच्च सर्वधर्मानुपलम्भमन्तरेण नाधिगम्यते। स च प्रज्ञाप्रकर्षगमनात् सम्पद्यते। तच्च सादरनिरन्तरदीर्घकालाभ्यासादुपजायते। सदारम्भश्च करुणावशादुत्पद्यते। सा च प्रथमतो दुःखितसत्त्वेषु प्रवर्तमाना सम्भारारम्भनिदानमुपपद्यते इति कार्यार्थं मोहस्य संवृतिसत्यरूपस्याभ्युपगमः। ततः प्रथमतः सत्त्वालम्बनैव करुणा, ततः परं धर्मालम्बना, अनालम्बना च। अयमभिप्रायः–न सर्वथा सत्त्वस्याभावः। स्कन्धादयो हि संवृत्या आत्मशब्देनोच्यन्ते। यथोक्तं भगवता—

"ये केचिद्भिक्षवः, श्रमणा वा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति इमानेते पञ्चोपादानस्कन्धान्"। इति।

ततो यदि नाम प्रज्ञया निरूपयतः परमार्थतः सत्त्वानुपलम्भः, तथापि संवृत्या न निषिध्यते इति। यदुक्तम्—

"यतः प्रज्ञा तत्त्वं भजति करुणा संवृतिमतः,
तवाभून्निःसत्त्वं जगदिति यथार्थं विमृशतः।
यदा चाविष्टोऽभूर्दशवलजनन्या करुणया,
तदा तेऽभूदार्ते सुत इव पितुः प्रेम जगति" ॥ इति।

[गुणपर्यन्तस्तोत्रम्[1], ३३]

नहीं मानोंगे तो भवदनुमोदित बोधिसत्त्व की करुणा किस पर होगी ! ॥

(उत्तर—) कार्य(पुरुषार्थ)सिद्धि के लिये माने गये सांवृत सत्य के सहारे कल्पित सत्य पर बोधिसत्त्व की वह करुणा सम्भव है ॥

---

१. रत्नदासविरचितम्।

चतुःस्तवेऽपि--

[P 489] "सत्त्वसंज्ञा च ते नाथ सर्वथा न प्रवर्तते।
दुःखार्तेषु च सत्त्वेषु त्वमतीव कृपात्मकः ॥ इति।
[चतुः०-१.९]

तस्मादमी रूपादय एव संवृत्या सत्त्वशब्देनोच्यन्ते। इति न करुणा निर्विषया ॥ ७६ ॥

ननु परमार्थतः सत्त्वाभावे कस्य तत् कार्यम् ? इति कथं तत्साधनाय कस्यचित् प्रवृत्तिः ? इत्यभिसन्धाय आह--

* कार्यं कस्य न चेत् सत्त्वः सत्यमीहा तु मोहतः।

न चेत् सत्त्व इति। यदि सत्त्वो नास्ति, तदा एकस्यानुयायिनोऽभावात् रूपादीनां च उत्पन्नविनाशित्वात् कार्यं कस्य ? न कस्यचित् स्यादित्यर्थः। सत्यमित्यभ्युपगमे इति। एवमेव एतन्मतमेव अस्माकम्--नैव कस्यचित् परमार्थतः कार्यम्, अस्वामिकत्वात् सर्वधर्माणाम्। यद्येवम्, कथं तर्हि तत्साधनाय प्रथमतः प्रवृत्तिरिति चेत् ? ईहा तु मोहतः। ईहा=चेष्टा, पुनस्तत्कार्यार्थितया व्यापारो मोहात्। ममैव तत् कार्यं भविष्यति--इत्येकत्वाध्यवसायेन सत्त्वाभावेऽपि संवृत्या मायास्वभावतया। वस्तुतो निरीहत्वात् सर्वधर्माणामन्यत्र प्रतीत्यसमुत्पादात्। यदुक्तम्--

"निरीहा वशिकाः शून्या मायावत् प्रत्ययोद्भवाः।
सर्वधर्मास्त्वया, नाथ, निःस्वभावाः प्रकाशिताः" ॥ इति।
[चतुः०, २.२२]

तस्मात् संवृतेरेव कार्यार्थिव्यापारः। ननु च मोहो नाम अविद्यास्व- [P 490] भावतया सर्वथैव अनुपादेयः, तत् कथं पुनस्तस्यैव स्वीकारः ? इत्यत आह--

* दुःखव्युपशमार्थं तु कार्यमोहो न वार्यते ॥ ७७ ॥

द्विविधो हि मोहः--संसारप्रवृत्तिहेतुः, तत्प्रशमहेतुश्च। तत्र यः संसारनिदानम्, स प्रहातव्य एव। अन्यस्तु यः परम्परया दुःखव्युपशमार्थं सर्वसत्त्व-

---

७७. [प्रश्न--] जब वस्तुतः सत्य है ही नहीं, तो कार्य किसका ?

(उत्तर--) ठीक कहते हो, पर मोह के कारण सत्त्वों की पुरुषार्थ के साधन में ईहा (= चेष्टा, प्रवृत्ति) होती रहती है और संसार-प्रशमहेतुभूत इस कार्यप्रवर्तक मोह का हमारे यहाँ निषेध नहीं किया जाता ॥

जात्यादिव्यसननिमित्तं कार्यमोहः कार्यस्य परमार्थसत्यलक्षणस्याधिगमाय मोहः, स पुनर्न वार्यते, न प्रतिषिध्यते। उपादीयत एव परमार्थोपयोगित्वात् इदमिहाधिकृतम्, तदपि कार्यं नात्मसुखाभिलाषेण महद्भिरुपादीयते, अपि तु सर्वसत्त्वानामात्यन्तिकसर्वदुःखव्युपशमार्थम्। तत्र च उपेयभूतः परमार्थाधिगम एव। तस्याप्युपायभूतं संवृतिसत्यम्। संवृतिसत्यमन्तरेण परमार्थानधिगमात्। इति दुःखप्रशमार्थता कार्यमोहस्य। एतत् "कार्यार्थमविचारतः" [बो.९.४] इत्यस्मिन् प्रस्तावे प्रतिपादितमेव पूर्वम्। पुनर्विपञ्चयितुमुक्तम्॥

स्यादेतत्—यथा दुःखोपशमहेतुत्वात् कार्यमोहोऽविद्यास्वभावोऽभ्युपगम्यते, तथैवात्ममोहोऽपि तद्धेतुत्वादस्तु। तत् किमात्मा यत्नेन निषिध्यते?

तत्सद्भावेऽपि आत्मभावनया अहङ्कारपरिक्षयात् भविष्यति [P 491] संसारनिवृत्तिः। ततः किं नैरात्म्यभावनया? इत्यत्राह—

* दुःखहेतुरहङ्कार आत्ममोहात्तु वर्धते।

यथा कार्यमोहो दुःखोपशमहेतुः न तथा द्वितीय आत्ममोहः, तस्मिन् सति अहङ्कारक्षयाभावात्। आत्ममोहात्तु अनात्मनि आत्मविपर्यासदर्शनात् पुनरहङ्कारो वर्धते, वृद्ध उपजायते। किम्भूत.? दुःखहेतुः दुःखस्य सांसारिकस्य त्रिदुःखतालक्षणस्य हेतुः कारणम्। अहङ्कारक्षयाच्च दुःखोपशम इष्यते। सति च आत्मदर्शने कथमसौ निवर्तेत। तथाहि आत्मानं पश्यतः संस्कृतेषु स्कन्धधात्वायतनेषु अहमिति दृढतरमुत्पद्यते स्नेहः। ततस्तद्दुःखप्रतीकारेच्छया सुखाभिलाषो दोषान् प्रच्छाद्य तदर्थितया गुणाध्यारोपात् तत्साधनेषु प्रवर्तते। स्वोपकारिणि वयमिति बुद्धिरुपजायते। अहं ममेति च दर्शनात् परिपन्थिनि विद्वेषः। ततः समस्तदुःखनिदानं सर्व एव क्लेशोपक्लेशा लब्धप्रसराः प्रवर्तन्ते। इति आत्ममोहप्रवर्तितो दुःखहेतुरहङ्कारो भवति। तदुक्तमाचार्यपादैः[1]—

"यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्राहमिति शाश्वतस्नेहः। [P 492]
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत्तु संसारः॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते" ॥ इति॥

---

७८. वस्तुतः आत्ममोह (अनात्मपदार्थों में आत्मविपर्यास) के कारण ही

---

१. आर्यनागार्जुनपादैरित्यर्थः। (पुसें)।

इत्थमात्मस्नेहान्निवर्तयितुमशक्योऽहङ्कारः ।

* ततोऽपि न निवर्त्यश्चेत् ?

ततोऽपि आदर्शनादपि न निवर्त्यो निवर्तयितुमशक्योऽहङ्कारश्चेद् यदि ? तदा—

* वरं नैरात्म्यभावना ॥ ७८ ॥

नैरात्म्यस्य पुद्गलादिविरहस्य भावना अभ्यासः । वरमुत्तमम् । आत्मदर्शनप्रवृत्ताहङ्कारनिवृत्तिहेतुत्वात् । तावत्कालमस्तु, पश्चात् पुनरियमपि प्रहास्यते, उपलम्भदृष्टित्वादिति भावः । तथाहि तद्भावनाप्रकर्षपर्यन्तगमनात् साक्षान्नैरात्म्यदर्शनात् विरोधि सत्कायदर्शनं निवर्तते । तन्निवृत्तौ च एकस्यानुगामिनो दर्शनाभावात् पूर्वापररूपविकलस्य क्षणमात्रस्य दर्शनम् । [P 493] ततः पूर्वापरसमारोपाभावात् न अनागतसुखसाधनं किञ्चिदात्मनः पश्यति । ततो न तस्य क्वचिद्विषये रागो जायते, नापि तत्प्रतिविरोधिनि द्वेषः, आसङ्गाभावादेव । नाप्यपकारिणं प्रति अपकारस्थानं पश्यति । येन यस्मिन् कृतोऽपकारः, तयोर्द्वयोरपि द्वितीयक्षणेऽभावात् । न च अन्येन कृतेऽपकारे प्रेक्षावतः अन्यत्र वैरनिर्यातनमुपचितम्, नापि यस्य कृतस्ते नापि ।

एवं रागादिनिवृत्तौ अन्येऽपि तत्प्रभवाः क्लेशोपक्लेशा नोत्पद्यन्ते । नापि वस्तुतः कश्चित् कस्यचिदपकारी, 'इदं प्रतीत्य इदमुत्पद्यते' इति प्रतीत्यसमुत्पाददर्शनाद्वा । एवं हि पुद्गलशून्यतायां सत्कायदर्शननिवृत्तौ छिन्नमूलत्वात् क्लेशा न समुदाचरन्ति । यथोक्तमार्यतथागतगुह्यसूत्रे—

"तद्यथापि नाम, शान्तमते, वृक्षस्य मूलच्छिन्नस्य सर्वशाखापत्रपलाशं शुष्यति; एवमेव शान्तमते, सत्कायदृष्टिप्रशमात् सर्वक्लेशा उपशाम्यन्ति" इति ।

तस्माद् वरं नैरात्म्यभावना ॥ ७८ ॥

कायावयव्यपि नाहङ्कारगोचरः

१ कायस्मृत्युपस्थानम्

[P 494] गतमिदमानुषङ्गिकम् । सम्प्रति पुनरहङ्कारविषयं निरूपयितुमुपक्रमते—

अहंकार सांसारिक बन्धनों (दुःखों) का हेतु होता है । अतः इस दुःखहेतु आत्ममोह को न मानते हुए सर्वत्र नैरात्म्यभावना का अभ्यास करना ही साधक के लिये उचित है ॥

स्यादेतत्—यदि नाम आत्मा विचारेण खरविषाणसदृशत्वान्नाहङ्कारस्य विषयः, तथापि कायावयवी तद्विषयो भविष्यति ? इत्यत्राह—

* कायो न पादौ न जङ्घा, नोरू कायः कटिर्न च ।
नोदरं नाप्ययं पृष्ठं, नोरो बाहू न चापि सः ॥ ७९ ॥

* न हस्तौ नाप्ययं पार्श्वौ, न कक्षौ नांसलक्षणः ।
न ग्रीवा न शिरः कायः, कायोऽत्र कतरः पुनः ! ॥ ८० ॥

कायोऽपि विचारेणैको नैव कश्चिदस्तीत्युपदर्शयति । तथा हि—करचरणादयो भागा एवं परं दृश्यन्ते, न त्वेकः कायो नाम प्रतिभासते । न च तेष्वन्यतमः कायो युज्यते । यतः **कायो न पादौ**, न चरणौ, **न जङ्घा च** कायो न भवति । **नोरू** जङ्घैकदेशविशेषौ **न कायः** । **कटिर्न च**, श्रोणिरपि नैव कायः । **नोदरम्**, जठरमपि कायो न भवति । **नाप्ययं पृष्ठम्**, अयं कायः पृष्ठमपि नैव । **नोरः**, नोरो वक्षोऽपि न कायः । **बाहू न चापि सः**, स कायो भुजावपि न भवति ॥ ७९ ॥

न हस्तौ, करावपि न कायः । **नाप्ययं पार्श्वौ**, अयं कायः पार्श्वावपि न भवति । **न कक्षौ**, भुजमूले अपि न कायः । **नांसलक्षणः**, नापि स्कन्धस्वभावः कायः । **न ग्रीवा**, न कन्धरा कायः । **न शिरः कायः** । मस्तकोऽपि **कायो न** भवति । चरणादीनां वक्ष्यमाणविचारेण परमाणुशोऽप्यनवस्थानात् करचरणादीनामन्यतमच्छेदे कायविनाशेन मरणप्रसङ्गात्, पराभ्यु- [P 495] पगमाभावाच्च नैषु प्रत्येकं कायात्मता । एवं यदा न प्रत्येकमेते कायस्वभावाः, एतत्समुदायमात्रं च शरीरम्, तत् **कायोऽत्र कतरः पुनः** ! अत्र एषु पादादिभागेषु पुरोवर्तिषु शरीरकल्पनानिमित्तेषु कतरः कायो भवतु ! नैव कश्चिदेकोऽपि निरूप्यमाणः कायात्मक उपलभ्यते इति यावत् ॥ ८० ॥

---

७९. [शरीर या उसके अवयवों में भी अहंकार का निषेध (कायस्मृत्युपस्थान का प्रतिपादन) करते हैं—] हमारा यह शरीर भी कोई एक (अवयवी) नहीं है, क्योंकि इसके कर-चरणादि भाग तो दिखायी देते हैं, पर उनको एकाकार मान कर अवयवी (शरीर) किसे कहें ! क्या अकेले पैरों को शरीर कहें या जाँघ को, या ऊरु (जाँघ के एक विशिष्ट भाग) को या कटिप्रदेश को काय (शरीर) कहें । इसी तरह न पेट, न पीठ, न छाती, न भुजा ही शरीर कहला सकता है ॥

८०. और न हाथ, न पसली और न कन्धे ही शरीर कहलाने योग्य है । न गर्दन, न शिर शरीर कहे जा सकते हैं । तो फिर इस अवयवसमूह में से शरीर किसे कहें ? ॥

अवयविस्वसमीक्षा

अथापि स्यात्—नैवमभिधीयते प्रत्येकं करादयः कायः, किं तर्हि ? सर्वावयव्यापकत्वादवयवित्वं सर्वावयवेषु वर्तते ? इत्यत्राह—

* यदि सर्वेषु कायोऽयमेकदेशेन वर्तते ।

सर्वावयवेषु वर्तमानोऽयमेकदेशेन वर्तते, युगपत् सर्वात्मना वा ? तत्र **यदि सर्वेषु** करचरणादिषु अवयवेषु **कायो**ऽवयवी, **एकदेशेन वर्तते,** केनचिद् भागेन कश्चिदवयवं व्याप्नोति । न सर्वात्मना सर्वमित्यर्थः । तदा एतन्न वक्तव्यम्; यतः यैरेकदेशैरवयवेषु वर्तते, तेष्वपि किमेकदेशेषु अपरैः एकदेशेन वर्तते, सर्वात्मना वेति विकल्पो न निवर्तते । तत्रापि पुनरेकदेशेन वृत्तिकल्पनायामनवस्थानिवृत्तिर्न स्यात् ।

अपि च, तस्य अवकाशाभादेव अवयवेषु न वृत्तिरित्याह—

* अंशा अंशेषु वर्तन्ते, स च कुत्र स्वयं स्थितः ।। ८१ ।।

अंशा भागाः **अंशेषु** स्वस्वभागेषु **वर्तन्ते** व्यतिष्ठन्ते, स्वस्वभागव्यवस्थितत्वात् सर्वभावानाम् । **स च कुत्र स्वयं स्थितः ?** स्वयं पुनरसौ कायोऽवयवी क्व नु नाम व्यवस्थितः ? -इति न विद्मः ।। ८१ ।।

अथ द्वितीयो विकल्पः ? तत्राह—

* सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थितः कायः करादिषु । [P 496]
कायास्तावन्त एव स्युर्यावन्तस्ते करादयः ।। ८२ ।।

सर्वात्मनापि वृत्तिसम्भावनायाम् । अवयवेषु अनवकाशत्वात् स च कुत्र स्वयं स्थितः इति प्रसङ्गो नाद्यापि निवर्तते । तथापि पुनरपरमुच्यते—**सर्वात्मना** सर्वभावेन । **सर्वत्र** सर्वेषु **करादि**ष्ववयवेषु । आदिशब्दाच्चरणादिषु **स्थितः** समवेतः कायावयवी **चेत्** यदि, तदा पुनरयं दोषः स्यादित्याह—**काया** इति । कायावयविनः **तावन्त एव स्युः** । तत्संख्यापरिच्छिन्ना एव प्राप्नुयुः । कियन्तः ? **यावन्तस्ते करादयः** । ते करचरणादयोऽवयवा यावन्तः यत्संख्यापरिच्छिन्नाः, तत्समवेता अवयविनोऽपि तावन्त एव भवेयुः । तस्य निरंशतया सर्वात्मना तेषु परिसमाप्तत्वात् । तदनेकसम्बन्धादनेकत्वात् ।

---

८१. यदि इन सब अवयवों में अवयवी (काय) एक अंश से ही रहता है तो उसके अंश (=भाग) तो अवयवों में रहे, फिर वह अवयवी स्वयं कहाँ रहा ? ।।

८२. यदि सब हस्त-पादादि अवयवों को ही 'काय' माना जाय तो प्रत्येक को भी पृथक्शः 'काय' कहना पड़ेगा ! ।।

नान्यथा एकवृत्तिः स्यात् । अयं च प्रसङ्गः अनेकत्र एकदेशेन वृत्तिपक्षेऽपि योजयितव्यः । यथा रक्तारक्तपिहितापिहितकम्पादयोऽपि यथायोगं [P 497] वक्तव्या इति ।। ८२ ।।

एवं प्रत्यक्षादिप्रमाणसमधिगम्यः कायो नास्ति । बाधकं पुनरस्य अनन्तरमुक्तमस्तीति प्रसाधितमित्युपदर्शयन्नाह—

* नैवान्तर्न बहिः कायः कथं कायः करादिषु ?

पूर्वमन्तर्व्यापारपुरुषप्रतिषेधात् मांसशोणितादीनां विचारित्वात् **नैवान्तर्मध्ये कायः**। अधुना पुनरवयविनः प्रतिषेधात् **न बहिः** न बाह्यः प्रत्यक्षादिगोचरः कायः, इति **कथं कायः करादिषु** व्यवस्थाप्यते ?

अथ करादिव्यतिरिक्तो भविष्यति ? इत्याह—

* करादिभ्यः पृथङ् नास्ति कथं नु खलु विद्यते ।। ८३ ।।

करादिभ्योऽवयवेभ्यः पृथग् भिन्नः उपलब्धिलक्षणप्राप्तः कायो **नास्ति** न प्रतिभासते । करादय एव हि केवलाः प्रतिभासन्ते । एवं यो न करादिस्वभावः, नापि तदाधेयः समवेतो नाप्यन्तर्गतः, न चापि तद्व्यतिरिक्तः, स कायः कथं नु खलु विद्यते ? **कथं न्विति** कथञ्चिदपि कायमनुपलभमानः तत्सत्त्वसम्भावयन् पृच्छति—**कथं नु** केन प्रकारेण । न्विति विमर्शे । **विद्यते**, तत्सत्ता व्यवस्थाप्यते ? ।। ८३ ।। [P 498]

यदा चैवं विचारेण कायो व्यवस्थापयितुमशक्यः, तदा असन्नेव व्यवहर्तव्य इत्युपसंहरन्नाह—

* तन्नास्ति कायो मोहात्तु कायबुद्धिः करादिषु ।

तन्नास्ति काय इति । यस्मादुक्तविचारेण नोपलभ्यते, तस्मादुपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽनुपलभ्यमानो नास्ति कायः । यदि नास्ति, कथं तर्हि करादिषु कायबुद्धिः ? इत्याह—**मोहात्तु** इत्यादि । मोहादविद्यावशात् पुनः कायबुद्धिः करादिषु:, न तु परमार्थतः । अवधारणे वा तुशब्दः । तथाहि—अनवराग्रसंसारवृत्तिजन्मपरम्परापरिचितमिथ्याभ्यासवासनावशात् यथावस्थित-

---

८३. इसलिये न अस्थि, मांस, रुधिर आदि में कायत्व सिद्ध हुआ, न वहिरङ्ग (अवयवी) ही; फिर हस्त-पादादि में कायत्व कैसे मान सकते हो ! ।।

[प्रश्न—] यदि हस्त-पादादि से काय पृथक् नहीं है तो यह व्यवहार में कैसे वोला-चाला जा रहा है ? ।।

वस्तुतत्त्वप्रतिपत्तावपि तद्विपरीतसमारोपकल्पना उपजायते । तदुपनिबद्धोऽयं कायादिव्यवहारो लोके प्रवर्तते, न तु पारमार्थिक इति ॥

कथमन्यत्र सा न भवति ? इत्यत्राह—

* सन्निवेशविशेषेण स्थाणौ पुरुषबुद्धिवत् ॥ ८४ ॥

करचरणादिसन्निवेशः संस्थानम्, तदेव विशेषो भेद इतरस्मात्, तेन विभ्रमहेतुना करादिष्वेव, न सर्वत्र सा भवति । प्रतिनियतविषया हि भ्रान्तय इष्यन्ते । कथमिव ? स्थाणौ पुरुषबुद्धिवत् । यथा स्थाणौ पुरुषस्वभाव- [P 499] रहितेऽपि पुरुषसाधारणोर्ध्वतादिसन्निवेशविशेषमुपलब्धवतो दूरादविवेचितपरविशेषस्य कस्यचित् विभ्रमात् पुरुषबुद्धिरुपजायते, तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः ॥ ८४ ॥

स्यादेतत्, कथं पुनरेतदवसितम्—'मोहात् कायबुद्धिः, न तु पुनर्वस्तुतः' ? इत्याह—

* यावत् प्रत्ययसामग्री तावत् कायः[1] पुमानिव ।

यावत् यावत्कालावधिपरिच्छन्ना प्रत्ययानां कारणानां पृथिव्यादिषड्धातुषट्स्पर्शायतनाष्टादशमनोपविचारात्मकानां कर्मायत्तवृत्तीनां सामग्री समवधानम्, तावत्कालावधिरेव कायः पुमानिव । यथा पुरुषस्वभावविरहितोऽपि परमार्थतः परिकल्पितरूपतया पुरुष इव प्रतिभासते व्यवह्रियते । उपलक्षणं चैतत् । स्त्रीवेत्यपि द्रष्टव्यम् । न पूर्वं कललाद्यवस्थायां न पश्चाद्विकलितत्वाद् भस्माद्यवस्थायां निजस्वभावाभावात् । इदमत्रापि सामान्यमित्युपदर्शयन्नाह—

* एवं करादौ सा यावत् तावत् कायोऽत्र दृश्यते ॥ ८५ ॥

---

८४. [उत्तर—] कह तो दिया कि ये हस्त-पादादि वस्तुतः 'काय' नहीं कहला सकते; इन्हें तो मोह(भ्रम)वश लोक में 'काय' कह दिया जाता है। जैसे स्थूणा में पुरुष के आकार-प्रकार का धोखा होने से उसे 'पुरुष' कह दिया जाता है ॥

८५. तो फिर यह हस्त-पादादि में काय का भ्रम होता क्यों है ? (आचार्य कहते हैं—) जब तक कारणसामग्री रहती है तभी तक यह काय जैसे पुरुषवत् प्रतीत होता है, उसी तरह कारणसामग्री के अस्तित्वकाल तक ही हस्त-पादादिक में 'कायत्व' प्रतिभासित होता है ॥

---

१. काष्ठं पाठा० ।

यथा प्रत्ययसामग्रीसद्भावे कायः पुमानिव प्रतिभासते, सद्भावेन प्रतिभासते, एवं तथा करादौ यावत् सा प्रत्ययसामग्री, तावत् कायोऽत्र [P 500] करादौ दृश्यते, कल्पनावशात् प्रतिभासते, न तु परमार्थतः। तस्मात् सामग्रीसाकल्ये भवति, तदभावे च न भवति कायबुद्धिः। अतो मोहादेव करादिषु कायबुद्धिरिति निश्चितम्। अयमत्र समुदायार्थः—तत्तत्प्रत्यय-सामग्रीसद्भावे तत्तद्वस्तुस्वभावमन्तरेणापि अभूतं तत्त्वमादर्शयन्ती भ्रान्तिवशादसौ कल्पना उपजायते। तद्वशात् सन्निवेशविशेषेषु स्त्रीपुरुषकायादिव्यवहारः प्रवर्तते। अत एव भस्माद्यवस्थायां सामग्रीवैकल्यान्निवर्तते। अतो नायं कायादिव्यवहारो वास्तव इति। तदुक्तम्—

"कायस्वभावो वक्तव्यो योऽवस्थारहितः स्थितः।
कायश्चेत् प्रतिमाकारः पेशीभस्मसु नास्ति सः॥
सूक्ष्मभावेन चेत् तत्र स्थौल्यं त्यक्त्वा व्यवस्थितः।
अनिर्देश्यः स्वतः प्राप्तः काय इत्युच्यते कथम्"[1] ॥ इति।

उक्तं च—

"हेतुतः सम्भवो यस्य स्थितिर्न प्रत्ययैर्विना।
विगमः प्रत्ययाभावात् सोऽस्तीत्यवगतः कथम्" ॥ इति।
[युक्तिषष्टिका]

क्वचित् पाठः—

"यावत्प्रत्ययसाग्री तावत्काष्ठं पुमानिव" ॥ इति।

तत्रेदं व्याख्येयम्—यावद्विपर्यासप्रत्ययसाग्री स्थाणौ पुरुषप्रतीतिः, [P 501] तावत् काष्ठं स्थाणुस्वभावं पुमानिव प्रतीयते, न तदभावे। एवमेव करादौ यावत् सा प्रत्ययसामग्री, तावत् कायोऽत्र करादौ दृश्यते न पश्चात्। अतो मोहादेव कायबुद्धिरिति निश्चयः॥ ८५॥

ननु यदि नाम कायो नास्ति, करचरणादयः पुनरवयवाः प्रत्यक्षोपलब्धत्वात् प्रतिषेद्धुमशक्याः? इत्याशङ्क्य करादयोऽपि परिकल्पतस्वभावा एवेत्युपदर्शयितुमाह –

(कारिका में 'काष्ठं पुमानिव' पाठभेद मानने पर यह अर्थ होगा—) जैसे विपर्यास कारण-सामग्री के रहते-रहते ही स्थाणु 'पुरुष' प्रतीत होता हैं, कारण-सामग्री के विनष्ट होते ही स्थाणु में पुरुषभ्रम नष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्रत्यय-सामग्रीकाल में ही हस्तपादादि में कायत्व प्रतीत होता है॥

---

१. न सः—गाठा०। द्र०—शि० स०, पृ० १९२।

प्रासङ्गिकी अणुसमीक्षा

* एवमङ्गुलिपुञ्जत्वात् पादोऽपि कतरो भवेत् ?

यथैव विचार्यमाणः कायो नास्ति, एवं करचरणादयोऽपि न सन्ति। यतः **अङ्गुलीनां पुञ्जः** समुदायः। अङ्गुलीनामित्युपलक्षणम् । पार्ष्णिप्रभृतीनामपि द्रष्टव्यः। तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मात् तत्स्वभावादित्यर्थः । **पादोऽपि** चरणोऽपि **कतरो भवेत्** ? तत्समुदायमन्तरेण विचार्यमाणो नैव कश्चिदिति भावः।

अङ्गुलीपुञ्जोऽपि नैकस्वभाव इत्याह—

* सोऽपि पर्वसमूहत्वात् पर्वापि स्वांशभेदतः ॥ ८६ ॥

सोऽपि अङ्गुलीपुञ्जोऽपि विचारतो न वस्तुसन्। कुतः ? **पर्वसमूहत्वात्**, पर्वणामङ्गुलीभागानां समूहत्वात् सङ्घातत्वात् कतरो भवेदिति प्रकृतेन सम्बन्धः। पर्वणामपि प्रत्येकमवस्तुत्वम् ? इत्यत आह—**पर्वापि** न वस्तु। कस्मात् ? **स्वांशभेदतः**। स्वस्य आत्मनः अंशानामवयवानां भेदतोऽपि विभागात् ॥ ८६ ॥

[P 502] अंशा अपि तत्त्वतो न सन्ति—इत्याह—

* अंशा अप्यणुभेदेन,

इति। **अंशाः** पर्वभागा **अपि अणुभेदेन** परमाणुशो विभागेन विद्यमानत्वात् कल्पिता एव।

अणवोऽपि न प्रत्येकं परमार्थसन्तः ? इत्याह—

* सोऽप्यणुर्दिग्विभागतः।

दिशां पूर्वापरदक्षिणोत्तराधरोर्ध्वस्वभावानां सम्बन्धेन **विभागतो** नानात्वात् । तद्विभागभेदाद्भिद्यमानस्य परमाणोः षडंशता स्यात्। दिक्षु वा विभागाः नानादिगवस्थिता नानारूपांशाः परमाणोः, ततो भेदेन न तस्य स्वभावोऽवतिष्ठते।

---

८६. इसी तरह अंगुलिसमूह से भिन्न पैर भी किसे कहेंगे ! क्योंकि वस्तुतः यह अंगुलिसमूह भी पर्व (पोर) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। और ये पर्व भी अपने अवयवांशों के अतिरिक्त कुछ नहीं ॥

८७. इन अवयवांशों की भी, परमाणुशः विभाग के अतिरिक्त, कोई सत्ता नहीं है। और वह अणु भी (दायाँ, बायाँ, ऊपर, नीचे—इस) दिग्विभाग के सिवा

'दिग्भागभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते'।

[विंशकारिका–१४]

इति न्यायात्। तथाहि–पूर्वापरादिदिगवस्थितपरमाण्वभिमुखं यत् तत् परमाणोर्मध्यवर्तिनो रूपम्, तत् किमेकमेव, अपरापरं वा ? यदि एकमेवेति पक्षः, तदा सर्वपरमाणूनां परिवार्यावस्थितानामेकदेशताप्रसङ्गः। यतः पूर्वादिदिगवस्थितपरमाणुसमानदेशतामन्तरेण अपरदिगाद्यवस्थितपरमाणुना न प्राग्देशावस्थितपरमाण्वभिमुखरूपाभिमुखं स्यात्; अन्यथा रूपभेदप्रसङ्गात्। तत्समानदेशता च न तत्स्वरूपान्तर्भावात् परमाणुमात्रं द्रव्यं स्यात्। तथा च सति प्रचयरूपा भूधरादयो न स्युः। अतो भवनादीनां प्रचय- [P 503] मिच्छता द्वितीय एव पक्षः समभ्युपेयः। तदा च षड्भिरपरापररूपेण युगपत् सम्बन्धात् षड्भागो मध्यपरमाणुः स्यात्, तत्तद्देशावस्थितापरापरमाणुसम्बन्धेन तत्परमाणुरूपस्य भेदात्। इति परमाणुरपि नैकस्वभावो युक्तः। यदुक्तमाचार्यपादैः[1]—

''षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्याद्वाणुमात्रकः'' ॥ इति।'

[विंशकारिका—१२]

तेऽपि पुनरणीयांसो भागाः तथैव निरूप्यमाणाः निरात्मतया नभःस्वभावतां प्रतिपद्यन्ते इत्याह—

* दिग्विभागो निरंशत्वादाकाशं तेन नास्त्यणुः ॥ ८७ ॥

दिग्विभागोऽपि दिग्भेदेन परमाणोर्विभागोऽपि पूर्ववत् षडंशतया भिद्यमानः कतरो भवेत् ? न किञ्चिद्वस्तु स्यात्। एतत् सर्वत्र पूर्वेषु योजनीयम्। कुतः ? **अनंशत्वात्**। अतोऽभिनिकृष्यमाणो निःस्वभावतया **आकाशं** शून्यमेव। **तेन** कारणेन **नास्त्यणुः**, न विद्यते परमाणुरिति। एवं करादयोऽपि [P 504] विचारतो निःस्वभावा द्रष्टव्या इति। ततः कायोऽपि न परमार्थतः कश्चिदस्ति, एकानेकस्वभाववियोगस्य प्रतिपादनात्। इत्थं न केशादयः, न चात्मा, नापि चित्तम्, न च कायः अहंकारस्य विषयो वस्तुतः। तस्मादविद्यासमुत्था-

---

वास्तविकता में कुछ नहीं है। और यह दिग्विभाग भी अन्त में समीक्षा करने पर क्या होगा ? आकाश (शून्य) रह जायगा ! अतः आपका यह 'अणु' भी युक्ति और प्रमाण से सिद्ध नहीं हुआ ॥

---

१. आचार्यवसुबन्धुमिरित्यर्थः।

पितात्मतया आत्मादिसत्त्वमन्तरेणापि प्रवर्तमानोऽयमहमिति प्रत्ययो निर्विषय एव समुत्पद्यते । तेन यदुक्तम्—

अहमेव न किञ्चिच्चेद् भयं कस्य भविष्यति ! (बो० च० ९–५७)

इति, तत् समर्थितम् । सर्वेण चैतेन कायस्मृत्युपस्थानमुपदर्शितं भवति ।

यदुक्तं धर्मसङ्गीतिसूत्रे—

"पुनरपरम्, कुलपुत्र, बोधिसत्त्व एवं कायस्मृतिमुपस्थापयति—अयं कायः पादपादाङ्गुलिजङ्घोरुत्रिकोदरनाभिपृष्ठवंशहृदयपार्श्वपार्शुकाहस्तकलाचीबाह्वङ्गग्रीवाहनुललाटशिरःकपालमात्रसमूहः कर्मभवकारकोपचितः नानाक्लेशोपक्लेशसङ्कल्पविकल्पशतसहस्राणामावासः । बहूनि चात्र द्रव्याणि समवहितानि यदुत केशरोमनखदन्तास्थिचर्मपिशितवपास्नायुमेदोवसा- [P 505] लसिकायकृन्मूत्रपुरीषामाशयपक्वाशयरुधिरखेटपित्तपूयसिंघाणकमस्तिष्कमस्तकलुङ्गानि । एवं बहुद्रव्यसमूहः । तत्र कोऽत्र कायः ? तस्य प्रत्यवेक्षमाणस्य एवं भवति–आकाशसमोऽयं कायः । स आकाशवत् काये स्मृतिमुपस्थापयति । सर्वमेतदाकाशमिति पश्यति । तस्य कायपरिज्ञानहेतोर्न भूयः क्वचित् स्मृतिः प्रसरति, न विसरति, न प्रतिसरति" ॥ इति ॥

पुनरुक्तम्—

"अयं कायो न पूर्वान्तादागतो नापरान्ते संक्रान्तो न पूर्वान्तापरान्तावस्थितोऽन्यत्रासद्विपर्याससम्भूतः कारकवेदकरहितो नाद्यान्तमध्ये प्रतिष्ठितमूलः, अस्वामिकोऽममोऽपरिग्रहः । आगन्तुकैर्व्यवहारैर्व्यवह्रियते काय इति, देह इति, भोग इति, आश्रय इति, कुणप इति, आयतनमिति । असारकोऽयं कायः मातापितृशुक्रशोणितसम्भूतः अशुचिपूतिदुर्गन्धिस्वभावः रागदोषमोहविषादतस्कराकुलः नित्यं शतनपतनभेदनविकिरणविध्वंसनधर्मा नानाव्याधिशतसहस्रनीडः" इति ॥ ८७ ॥

एवं यदा विचार्यमाणो वस्तुतः शून्यस्वभावतया आकाशसङ्काशः [P 506] सर्वथा कायः, तदा मिथ्यैव वस्तुतत्त्वमारोप्य रागादिकमुत्पादयन्तः संसारमुपबृहयन्ति बालाः—

* एवं स्वप्नोपमे रूपे को रज्येत विचारकः !

एवमित्युक्तक्रमेण स्वप्नोपमे स्वप्नोपलब्धे इव रूपेऽसौमनस्यस्थानीये को रज्येत, क आसज्येत ? अस्य च उपलक्षणत्वात् को द्विष्यात्, को

मुह्येत्, इत्यपि वेदितव्यम् । तद्यथा--सौमनस्यस्थानीयानि चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा रागो जायते । दौर्मनस्यस्थानीयानि चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा द्वेषो जायते, उपेक्षास्थानीयानि चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा मोहो जायते इति । यदेतन्मनोऽप्रतिकूलेषु रूपेष्वनुनीतं चरति, तेनास्य राग उत्पद्यते । प्रतिकूलेषु रूपेषु प्रतिहतं चरति, तेनास्य द्वेष उत्पद्यते । नैवानुकूलेषु न प्रतिकूलेषु सम्मूढं चरति, तेनास्य मोह उत्पद्यते । एवं शब्दादिषु त्रिविधमालम्बनमनुभवति...पूर्ववत्...तत्र यः पण्डितजातीयः, इति हि अत्यन्ततया चक्षुरायतनं शून्यं चक्षुरायतनस्वभावेन तत् पूर्वान्ततोऽपि नोपलभ्यते, अपरान्ततोपि नोपलभ्यते, मध्यतो नोपलभ्यते; स्वभावरहितत्वात्वात् । एवमन्येषु श्रोत्रादिषु वक्तव्यम् । एवमत्यन्ततया रूपायतनं रूपायतनं रूपायतनस्वभावेनेत्यादि पूर्ववत् । एवं शब्दादिषु वाच्यम् । [P 507]

इति हि मायोपमानीन्द्रियाणि स्वप्नोपमान् विषयान् पश्यति, तस्य कथं रागादिकमुत्पद्यते ? अत एवाह– **विचारक** इति । विचारको विचक्षणः । एवमेतद्यथाभूतं सम्यक् प्रज्ञया पश्यन् को रज्येत द्वेष्टि मुह्यति वा ? अत्र च स्वप्नोपलब्धजनपदकल्याणीप्रभृति भगवतोक्तं निदर्शनमुपदर्शितव्यम् ।

कायभावे च स्त्र्यादिकल्पनयापि रागो न युक्त इत्याह--

* कायश्चैवं यदा नास्ति, तदा का स्त्री पुमांश्च कः ? ।। ८८ ।।

हेतुसमुच्चये चकारः । यस्मात् स्त्र्यादिकल्पनया रागो न भवति । **कायो यदा** एवमुदितनयेन **नास्ति** निःस्वभावः, **तदा** कायाभावात् **का स्त्री** कामिनी यस्याः कमनीयतया पुरुषे रागो भवेत् ? **कश्च पुमान्** कामुकः यस्य रञ्जनीयतया स्त्रियां रागो भवेत् ? स्त्री हि स्वात्मनि स्त्रीति सङ्कल्प्य बहिर्धा पुरुषे पुरुष इति रागं जनयति । एवं पुरुषोऽपि स्वात्मनि पुरुष इति सङ्कल्प्य बहिर्धा स्त्रियां स्त्रीति रागं जनयति । कायाभावे तु स्त्रियां स्त्री न सम्विद्यते, पुरुषे पुरुषो न सम्विद्यते । यच्च स्वभावेन न सम्विद्यते, न तत् स्त्री, न पुरुष इति । तस्मादसति काये स्त्र्यादिकल्पनाकृतोऽपि न युज्यते रागः । तत्कस्य हेतोः ? मन्यनापगता हि [P 508] सर्वधर्मा इति । यथाप्रधानमयं निर्देशः । एवमेव स्रक्चन्दनादयोऽपि

---

८८. अतः इस स्वप्नोपलब्ध के समान रूपकाय में कौन विचारवान् पुरुष राग, द्वेष या मोह करना चाहेगा ! और इस तरह विचार करने पर जब काय की ही सत्ता सिद्ध नहीं हुई तब फिर वहाँ किसे स्त्री कहकर राग किया जाय, या पुरुष कहकर द्वेष किया जाय ! ।।

स्वभावरहिता वेदितव्याः। तथा द्वेषमोहविषया अपीति। उक्तं चैतद्भगवता **पितापुत्रसमागमे**—

"षड्धातुरयं, महाराज, पुरुषः, षट्स्पर्शायतनः, अष्टादमनोपविचारः। षड्धातुरयं महाराज, पुरुष इति खलु पुनरेतद् युक्तम्। किं चैतत् प्रतीत्य कम्? षडिमे, महाराज, धातवः। कतमे षट्? तद्यथा—पृथ्वीधातुः, अब्धातुः, तेजोधातुः, वायुधातुः, आकाशधातुः, विज्ञानधातुश्च। इमे महाराज, षड् धातवः। यावत् षडिमानि, महाराज, स्पर्शायतनानि। कतमानि षट्? चक्षुःस्पर्शायतनं रूपाणां दर्शनाय.. यावन्मनः स्पर्शायतनं [P 509] धर्माणां विज्ञानाय। इमानि, महाराज, षट् स्पर्शायतनानि..... पे०.. अष्टादश इमे, महाराज, मनउपचाराः। कतमे अष्टादश? इह पुरुषः चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा सौमनस्यदौर्मनस्योपेक्षास्थानीयानि रूपाण्युपविचरति। एवं श्रोत्रादिषु वाच्यम्। तेन प्रत्येकमिन्द्रियषट्केन सौमनस्यादित्रयभेदादष्टादश मनउपविचारा भवन्ति ....पे० ....।

कतमश्च, महाराज, आध्यात्मिकः पृथ्वीधातुः? यत् किञ्चिदस्मिन् कायेऽध्यात्मं कक्खटत्वं खरगतमुपात्तम्। तत् पुनः कतमत्? तद्यथा—केशा रोमाणि नखा दन्ता इत्यादि। कतमश्च, महाराज, बाह्यः पृथ्वीधातुः? यत् किञ्चिद् बाह्यं कक्खटत्वं खरगतमुपात्तम्। अयमुच्यते—बाह्यः पृथ्वीधातुः। तत्र, महाराज, आध्यात्मिकः पृथ्वीधातुः उत्पद्यमानो न कुतश्चिदागच्छति, निरुध्यमानो न क्वचित् सन्निचयं गच्छति। भवति, महाराज, समयोऽयं यत् स्त्री अध्यात्मम् 'अहं स्त्री' इति कल्पयति। सा अध्यात्ममहं स्त्री कल्पयित्वा बहिर्धा पुरुषं पुरुष इति कल्पयति। सा बहिर्धा पुरुषं पुरुष इति कल्पयित्वा संरक्ता सती बहिर्धा पुरुषेण सार्धं संयोगमाकांक्षते। पुरुषोऽपि अध्यात्मं पुरुषोऽस्मीति कल्पयतीति पूर्ववत्। तयोः संयोगकांक्षायां संयोगो भवति। संयोगप्रत्ययात् कललं जायते। तत्र [P 510] महाराज, यश्च सङ्कल्प्यते, यश्च सङ्कल्पयिता—उभयमेतन्न सम्विद्यते। स्त्रियां स्त्री न सम्विद्यते। पुरुषे पुरुषो न सम्विद्यते। इति हि असन्नसद्भूतः सङ्कल्पो जायते। सोऽपि सङ्कल्पः सद्भावेन न सम्विद्यते। यथा सङ्कल्पः, तथा संयोयोऽपि। कललमपि स्वभावेन न सम्विद्यते। यच्च स्वभावतो न सम्विद्यते, तत् कथं कक्खटत्वं जनयिष्यति? इति हि, महाराज, सङ्कल्पं ज्ञात्वा कक्खटत्वं वेदितव्यम्, यथा कक्खटत्वमुत्पद्यमानं न कुतश्चिदागच्छतीति। भवति, महाराज, समयः, यदयं कायः श्मशानपर्य-

वसानो भवति । तस्य तत् कक्खटत्वं संविलद्यमानं सन्निरुध्यमानं न पूर्वां दिशं गच्छति, न दक्षिणाम्, न पश्चिमाम्, नोत्तराम्, नोर्ध्वम्, नाध, नानुविदिशं गच्छति । एवं, महाराज, आध्यात्मिकः पृथिवीधातुर्द्रष्टव्यः ····पे०···· ।

तत्र, महाराज, पृथिवीधातोरुत्पादोऽपि शून्यः, व्ययोऽपि शून्यः, उत्पन्नोऽपि पृथिवीधातुः स्वभावशून्यः । इति हि, महाराज, पृथिवीधातुः पृथिवीधातुत्वेन नोपलभ्यते, अन्यत्र व्यवहारात् । सोऽपि व्यवहारो न स्त्री न पुरुषः । एवं, महाराज, यथाभूतं सम्यक् प्रज्ञया द्रष्टव्यमिति । [P 511] तेन का मन्यना ? मन्यना मारगोचरः । तत् कस्य हेतोः ? मन्यनापगता हि सर्वधर्माः" ।। इति ।। ८८ ।।

वेदनास्मृत्युपस्थानम्

एवं कायस्मृत्युपस्थानं प्रतिपाद्य वेदनास्मृत्युपस्थानमुपदर्शयितुं वेदनां विचारयन्नाह—

* यद्यस्ति दुःखं तत्त्वेन प्रहृष्टान् किं न बाधते ।
शोकाद्यार्ताय मृष्टादि सुखं चेत्किं न रोचते ।। ८९ ।।

त्रिविधा हि वेदना–सुखा वेदना, दुःखा वेदना, अदुःखासुखा चेति । तत्र रूपवद्वेदनापि नास्ति परमार्थतः । कथमिति चेत् ? **यद्यस्ति दुःखम्**, असातं वेदितम् । **तत्त्वेन** परमार्थतः । तदा **प्रहृष्टान् किं न बाधते**, सन्तोषयुक्तान् किं न दुःखयति ? सुखमपि यद्यस्ति तत्त्वेन, तदा **शोकाद्यार्ताय** । आदिशब्दात् कामभयोन्मादार्ताय । **मृष्टादि सुखं चेत्**, मृष्टादि सरसमाहारपानादि । आदिशब्दात् स्रक्-चन्दनादि सुखं सुखहेतुत्वात् । सुखं चेद्यदि, किं न रोचते ? न हि वस्तु सत्स्वभावं कदाचिदपि निवर्तितुमुत्सहते । तस्मात् कल्पनोपस्थापितमेव सुखदुःखं वेदनीयमिति ।। ८९ ।।

यदुक्तम् 'प्रहृष्टान् किं न बाधते' इति, तत्र परस्य [P 512] समाधानमाह—

---

८९. [वेदनास्मृत्युपस्थान–] रूप की तरह वेदना भी परमार्थसत् नहीं है; क्योंकि यदि दुःख परमार्थसत् होता तो संसार में जो सुखी हैं, हृष्ट-पुष्ट हैं, उन्हें वह दुःख पीड़ा क्यों नहीं पहुचाता ! इसके विपरीत, शोकपीड़ित पुरुष को स्वादिष्ठ भोजन, सुरापान आदि अच्छे क्यों नहीं लगते ! ।।

* बलीयसाभिभूतत्वाद् यदि तन्नानुभूयते ।

न हि प्रहृष्टावस्थायां सर्वथैव दुःखमसत् । किं तर्हि ? समुद्भूतवर्तिना सुखेन तिरस्कृतत्वात् विद्यमानमपि नानुभूयते, **बलीयसा** अतिबलवता सुखेन **अभिभूतत्वादु**पहतत्वात् । सदपि **यदि तद्**दुःखं **नानुभूयते** न वेद्यते इत्युच्यते, तदा न युक्तमेतदित्याह—

* वेदनात्वं कथं तस्य यस्य नानुभवात्मता ॥ ९० ॥

वेदनात्वं वेदनास्वभावत्वं **कथं** केन प्रकारेण **तस्य** अव्यक्तस्य सुखस्य **यस्य नानुभवात्मता** नानुभूयमानस्वभावता । वेद्यते इति हि वेदनोच्यते; वेदनानुभव इति वचनात् । यदि च अवेद्यमानापि वेदना स्यात्, तदा न किञ्चिन्न वेदना स्यादित्यतिप्रसङ्गः ॥ ९० ॥

अथापि स्यात्—न सर्वथा नानुभूयते, किन्तु सूक्ष्मतया अनुभूतमपि अननुभूतकल्पमित्यत्राह—

* अस्ति सूक्ष्मतया दुःखं स्थौल्यं तस्य हृतं ननु[1] ।
तुष्टिमात्रापरा चेत् स्यात्तस्मात् साप्यस्य सूक्ष्मता ॥ ९१ ॥

[P 513] **अस्ति** विद्यते **सूक्ष्मतया** अनुपलक्ष्यमाणतया **दुःखम्**, तर्हि बलीयसा सुखेन किं कृतमस्य ? **स्थौल्यमेव हृतं ननु** । प्रहृष्टावस्थायां प्रवृत्तेन बलवता सुखेन स्थौल्यं प्राबल्यमस्य दुःखस्य हृतमभिभूतम् । ननु, नन्विति परस्य संबोधने । इति मतं भो तव, न हि सूक्ष्मता नाम दुःखस्य सातानुभवकाले काचिदुपलभ्यते । तत् कथं सूक्ष्मता तस्येति वक्तव्यम् ? अथ **तुष्टिमात्रा अपरा तस्मादेव** उद्भूतवृत्तेः सुखात् अपरा तुष्टिमात्रा द्वितीया सुखमात्रा अल्पीयसी सुखकणिका स्यात्, दुःखस्य सूक्ष्मता भवेत्, चेद् यदि

९०. यदि यह कहो कि प्रहृष्टावस्था में दुःख नहीं था, ऐसा नहीं है; अपि तु वह उस हर्षावस्था में हर्ष की अपेक्षा दुर्बल होने के कारण अभिभूत रहता है, अतः अनुभूत नहीं होता ? इस पर हमारा कहना है कि तब उसका वेदनात्व क्या रहा, क्यों कि वेदना तो वेद्यमान होनी ही चाहिये, अन्यथा वह (यदि वेद्यमान नहीं है तो) वेदना कैसी ! ॥

९१. 'सुख के समय दुःख के रहते हुए भी उसके सूक्ष्म होने के कारण वह अननुभूत सा लगता है, केवल उसकी स्थूलता (=स्पष्टता) नहीं दिखायी देती'-

१. स्थौल्यमेव हृतं ननु—इति टीकासम्मतः पाठः ।

अभिप्रेतम्, ननु साप्यस्य सूक्ष्मता सापि तुष्टिमात्रा अपरा, अस्य सुखस्यैव सूक्ष्मता, न तु दुःखस्य; तुष्टेः सुखजातित्वात्। इति दुःखस्य सूक्ष्मता अवेद्यस्वभावा सुखानुभवकाले नास्त्येवेति निश्चितम् ॥ ९१ ॥

स्यादेतत्–न दुःखं काल्पनिकतया कादाचित्कम्, किं तर्हि ? कारणवैकल्यात् कदाचिन्नोपलभ्यते इत्यत्राह –

* विरुद्धप्रत्ययोत्पत्तौ दुःखस्यानुदयो यदि ?

दुःखेन विरुद्धस्य सुखस्य यः प्रत्ययो हेतुः स्पर्शः, तस्योत्पत्तौ आभिमुख्ये सति। अथ वा। विरुद्धस्य प्रत्ययस्य सुखहेतोरुत्पत्तौ जन्मनि, विरुद्धः प्रत्ययोऽस्येति वा। दुःखेनेत्यपेक्षायामपि गमकत्वाद् भवति [P 514] समासः। तस्योत्पत्तौ सत्यां प्रहृष्टावस्थायां हेतुवैकल्यात् दुःखस्यानुदयो दुःखस्यानुत्पत्तिश्चेदुच्यते, तदा—

* कल्पनाभिनिवेशो हि वेदनेत्यागतं ननु ॥ ९२ ॥

ननु यदेव अस्माभिरभिहितं तदेव सांप्रतमागतमायातम्। किं तत् ? कल्पनया अभिनिवेशः, कल्पनया कृतो योऽभिनिवेशः, हिरवधारणे। स एव वेदना सुखा, दुःखा, तदितरा वा। नान्यत् वास्तवं सुखाद्यसुखादिहेतुर्वास्ति, इति। तथाहि निजस्वभावरहितमपि यत् सुखसाधनत्वेन परिकल्पितम्, तदभिनिवेशात् सुखं वेदितमुत्पद्यते, इतरस्मादितरत्। कथमन्यथा यदेव अन्यस्य दुःखसाधनम्, तदेव अपरस्य कस्यचित् सुखसाधनं स्यात् ? तस्यैवैकस्य यस्य शब्दश्रवणादपि दुःखमासीत्, पुनः कालान्तरेण तस्य दर्शनात् प्रीतिरुपजायते। तस्मात् काल्पनिकमेव सुखादिकं तत्साधनं वा, न वास्तवम्। आह च—

अहिर्मयूरस्य सुखाय जायते विषं विषाभ्यासवतो रसायनम्।
भवन्ति चानन्दविशेषहेतवो मुखं तुदन्तः करभस्य कण्टकाः ॥ इति ॥९२॥

वेदना अभिनिवेशस्वभावत्वादेव च विचारेण निवर्तयितुं शक्यते इत्याह—

यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि सुख की अल्प मात्रा (जिसे तुम अननुभूत सूक्ष्म दुःख कह रहे हो वह) भी तो वस्तुतः सुख की ही सूक्ष्मता है ॥

९२. आप 'दुःखविरोधी सुख के प्रत्यय (स्पर्श) की उत्पत्ति के कारण दुःख की अनुत्पत्ति होती है'—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि तब तो वेदना केवल मन की कल्पना ही रह जायगी ॥

[P 515] * अत एव विचारोऽयं प्रतिपक्षोऽस्य भाव्यते ।

अत एवेति । यत एव अभिनिवेशस्वभावा वेदना, अत एव **विचारोऽयं** विमर्शोऽयं **प्रतिपक्षो** विरोधी, निराकृतिकारणत्वात् **अस्याभिनिवेशस्य** सुखादिरूपस्य **भाव्यते** विचिन्त्यते, तत्साधनाभावे तदभिनिवेशाभावात् ।

अपि च । इत्थमप्यभिनिवेशो वेदनेत्याह—

* विकल्पक्षेत्रसम्भूतध्यानाहारा हि योगिनः ॥ ९३ ॥

अत एवेति वर्तते । **विकल्प** एव **क्षेत्रं** जन्मभूमित्वात् । तस्मिन् **सम्भूतं** जातं ध्यानं विविक्तं कामैः, विविक्तंपापकैरकुशलैर्धर्मैः सवितर्कं सविचारं समाधिजं प्रीतिसुखमित्यादि । **ध्यानादि**भावना समाधिसमापत्तेर्विकल्पभवत्वात्, तदेव **आहारः** शरीरयापनाहेतुत्वात्, येषां ते तथोक्ताः । के ते ? **योगिनः** । हिर्यस्मात् कल्पनानिर्मितप्रीतिसुखाहारसन्धारितशरीरा योगिनः, तस्मात् कल्पनाभिनिवेशो वेदनेति प्रतिपादितम् ॥ ९३ ॥

साम्प्रतं हेत्वनभिसम्भवादेव न वेदना वस्तुसती युक्तेत्याह—

* सान्तराविन्द्रियार्थौ चेत् संसर्गः कुत एतयोः । [516]

अयमत्र समुदायार्थः—स्पर्शप्रत्यया वेदना । विषयेन्द्रियविज्ञानानां त्रयाणां सन्निपातश्च स्पर्शः । "स्पर्शाः षट् सन्निपातजाः" [अभि० को०—३.३०] इति वचनात् । स त्रिकसन्निपातजः स्पर्श एव न घटते, कुतस्तत्प्रत्यया वेदना भविष्यतीति ! तथाहि—इन्द्रियार्थयोः सान्तरयोर्वा स्यान्निरन्तयोर्वा ? तत्र इन्द्रियार्थावक्षविषयौ **सान्तरौ** सव्यवधानौ यदि, **तदा संसर्गः** सन्निपातो मेलनं **कुतः** कस्मात् **एतयो**रिन्द्रियार्थयोः ? नैव युज्यते । स्पर्शो हि सम्पर्क उच्यते । व्यवधाने सति स कथं भवेत् इति भावः ।

अथ द्वितीयः प्रकारः, सोऽपि न युज्यते इत्याह—

* निरन्तरत्वेऽप्येकत्वं कस्य केनास्तु सङ्गतिः ॥ ९४ ॥

---

९३. क्योंकि वेदना अभिनिवेशस्वभाव वाली है, अतः उसके विरोधी विचार की यहाँ बात उठायी गयी, क्योंकि विना कल्पना का नाश हुए तत्त्वज्ञान नहीं होता । योगी लोग कल्पना-निर्मित प्रीतिसुखाहार से अपनी शरीरयात्रा चलाते हैं । इस तरह 'वेदना कल्पनाभिनिवेशमात्र है'—यह सिद्ध हुआ ॥

९४. [अब वेदना के हेतुओं का निराकरण करते हुए उसकी परमार्थसत्ता का खण्डन कर रहे हैं—] इन्द्रिय और अर्थ (=विषय) के बीच अन्तर (=व्यवधान) रहता है तो उनका संसर्ग (=सन्निपात) कैसे होगा ?

निरन्तरत्वेऽपि व्यवधानाभावेऽपि सति **एकत्वं** तादात्म्यमिन्द्रयार्थयोः। हि तयोः सर्वात्मना नैरन्तर्यं भवेत् यदि अणीयसापि नांशेन व्यवधानं स्यात्, सधर्मता च। तत्रान्तर्भावे तत्त्वमेव। एवं च **कस्य केनास्तु सङ्गतिः** ? एकत्वे सति भेदाभावात् किं केन सङ्गतं स्यात् ? न हि आत्मनैव आत्मनः सङ्गतिर्युक्ता ॥ ९४ ॥

स्यादेतत्—निरंशानामेव परमाणूनां संसर्गो वस्तुतः। न च तत्र अंशांशिव्यवहारो युक्तः, स्थूलरूपाणामेव तत्सम्भवात्। तत्र च संसर्गदूषणे न किञ्चिद् दूष्यते इत्याह —

* नाणोरणौ प्रवेशोऽस्ति निराकाशः समश्च सः। [P 517]

परमाणूनामपि नैव सम्पर्को युक्तः। यतः एकस्याप्यणोरन्यस्मिन्नणौ **न प्रवेशोऽस्ति**, नान्तर्भावोऽस्ति। कुतः ? **चो** यस्मात् **निराकाशः सः** नीरन्ध्रः परमाणुः। **समः** स तुल्यः, निम्नोन्नताभावात्। इति कथं निरंशस्य सङ्गतिरस्तु ? अथापि स्यात्--मा भूदणोरणौ प्रवेशः, सङ्गतिमात्रं केवलमस्तु, तावता सिद्धं नः साध्यमित्याह--

* अप्रवेशे न मिश्रत्वममिश्रत्वे न सङ्गतिः ॥ ९५ ॥

सर्वात्मना हि सम्पर्कः सङ्गतिरणोः, अन्यथा सांशत्वप्रसङ्गात्। तथा च तत्स्वरूपं स्वात्मना व्याप्नुवत् एव तेन सङ्गतिः। एवं तत्स्वरूपमिश्रत्वाभावे सङ्गतिर्न स्यात्। तच्च मिश्रत्वं तत्र प्रवेशमन्तरेण न भवेत्। इत्थमप्रवेशे प्रवेशाभावे सति न मिश्रत्वं नासम्भिन्नरूपत्वम्। **अमिश्रत्वे** मिश्रत्वाभावे च **न सङ्गतिः** नासङ्गः ॥ ९५ ॥

निरंशस्य सर्वथैव संसर्गो न युज्यते इत्याह--

* निरंशस्य च संसर्गः कथं नामोपपद्यते !

निरंशस्य अंशशून्यस्य च पदार्थस्य। **चो** दूषणसमुच्चये। **संसर्गो** मीलनं **कथं नामोपपद्यते** ? नामेति सम्भावनायाम्। कथं संसर्गः सम्भाव्यते ?

व्यवधानाभाव होने पर भी इन्द्रिय-अर्थ का तादात्म्य होने पर कौन किससे संयुक्त होगा ? (क्या स्व से स्व की संगति उचित है !) ॥

९५. सभी पदार्थ परमाणु-पुञ्जमात्र हैं तो परमाणु का परमाणु में प्रवेश सम्भव नहीं है; क्योंकि वह निरवकाश और निर्भाग होता है। प्रवेश के विना संगति सम्भव नहीं, और विना संगति के संसर्ग सम्भव नहीं है ॥

९६. जो पदार्थ निरवयव है उसका संसर्ग हो ही कैसे सकता है ? यदि आप

[P 518] सर्वाल्पस्यापि अवश्यमेकेनांशेन भवितव्यम् । यस्य पुनरंश एव नास्ति, तस्य अमूर्तस्य अंशाभावे असत्त्वमेव प्राप्तमिति भावः । न चैतद् भवतोऽपि प्रमाणप्रतीतं क्वचिदस्तीत्याह—

* संसर्गे च निरंशत्वं यदि दृष्टं निदर्शय[1] ॥ ९६ ॥

* विज्ञानस्य त्वमूर्तस्य संसर्गो नैव युज्यते ।

तुरतिशयाभिधाने । विज्ञानस्य विषयविज्ञप्तेः । पुनः संसर्गो नैव युज्यते । न सङ्गच्छते । कुतः ? अमूर्तस्येति हेतुपदमेतत् । मूर्तिशून्यस्य विज्ञानस्य । अमूर्तत्वादित्यर्थः । परस्परसम्पर्को हि संसर्गः । स च मूर्तिमतामेव विद्यते । यस्य तु मूर्तिरेव नास्ति, तस्य कथं संसर्गः स्यात् ?

इति त्रयाणामपि संसर्गमवधूय सम्प्रति समूह एव वस्तुसन् नास्ति इति प्रतिपादयन्नाह—

* समूहस्याप्यवस्तुत्वाद् यथा पूर्वं विचारितम् ॥ ९७ ॥

अपि दूषणसमुच्चये । समूहस्यापि सङ्घातस्यापि । अवस्तुत्वात् वस्तु- [P 519] रहितत्वात् अश्वविषाणवत् संसर्गो नैव युज्यते इति प्रकृतेन सम्बन्धः । समूहस्यैवाभावात् । कथं पुनरवस्तुकत्वम् ? यथा पूर्वं विचारितम् । यथा प्राङ् निरूपितम्, 'एवमङ्गुलिपुञ्जत्वाद्' (९-८६) इत्यादिना ॥ ९७ ॥

हेत्वसम्भवमेव उपसंहरन्नाह—

* तदेवं स्पर्शनाभावे वेदनासम्भवः कुतः !

तस्मादेवं प्रतिपादितक्रमेण स्पर्शनाभावे त्रिकसम्पर्काभावे वेदना-सम्भवः कुतः, वेदनायाः सुखादिरूपायाः सम्भवः उत्पादः कुतः ? नैव युज्यते; कारणाभावे कार्यस्य सम्भवायोगात् । इति परमार्थतो वेदनाभावे हिताहित विषयस्यासम्भवात् ।

* किमर्थमयमायासः ?

सुखदुःखसाधनप्राप्तिपरिहाराय योऽयमायासः क्रियते स किमर्थः ? आकाशचर्वणार्थमिव नैवोचित इति भावः ।

के पास निरवयव–संसर्ग का कोई दृष्टान्त हो तो बताइये ! ॥

९७. विज्ञान (विषयविज्ञप्ति), अमूर्त होने के कारण, किसी से संसृष्ट होगा कैसे ? क्योंकि संसर्ग तो मूर्त द्रव्यों में ही हो सकता है ! ॥

९८. इस प्रतिपादन-रीति से त्रिक (= मन-इन्द्रिय-अर्थ) का सम्पर्क न होने

---

१. कारिकाया अस्यांशस्य पञ्जिका नोपलब्धा ।

मा भूत् सुखसाधनाय, दुःखस्याभिषोढुमशक्यत्वात् तत्परिहाराय भवतु चेदाह—

* बाधा कस्य कुतो भवेत् ॥ ९८ ॥

वेदनाया विचारेण निःस्वभावत्वाद् बाधा अविचारितः आत्मादेः पूर्वंनिरस्तत्वाद् वेदकाभावः। उपघातहेतोरपि विकल्पकल्पितत्वात् न परमार्थतः सत्त्वम्। इत्येवं बाधा पीडा वेदनाभावात् कस्य वेदकाभावाद्भवेत्, [P 520] कुत उपघातहेतोरभावाच्च भवेत्! नैव परमार्थतः कस्यचित् कुतश्चित् स्यात्! तस्माद्वेदित्रभावादपि वेदना न युक्ता ॥ ९८ ॥

सम्प्रति वेदनाभावात् तत्प्रत्यया तृष्णापि कारणविरहात् परमार्थतो नोत्पादमर्हतीत्युपदर्शयितुमाह—

* यदा न वेदकः कश्चिद्वेदना च न विद्यते।
तदावस्थामिमां दृष्ट्वा तृष्णे किं न विदीर्यसे ॥ ९९ ॥

यो वेदनां वेदयते स वेदकः। यदा कश्चिदात्मादिर्नास्ति, तदभावात् समनन्तरनिरूपणाच्च वेदना न विद्यते। तदा अवस्थामिमामेवंविधां स्वजन्म-विकलां दृष्ट्वा उपलभ्य तृष्णे किं न विदीर्यसे, तद्दुःखदुःखितापि सती किं न विशीर्यसे, यदद्यापि तद्वियोगविधुरा त्वमात्मानं न मुञ्चसि ॥ ९९ ॥

स्यादेतत्—यदि वेदको न स्यात्, वेदना च नास्ति, केनायं तर्हि सुखसाधनत्वादिना भावेषु दृष्टादिव्यवहारः प्रवर्तते? इत्यत्राह—

* दृश्यते स्पृश्यते चापि स्वप्नमायोपमात्मना।
चित्तेन सहजातत्वाद् वेदना तेन नेक्ष्यते ॥ १०० ॥

के कारण सुखादिरूप वेदना का उत्पाद कैसे होगा! और जब वेदना ही सिद्ध नहीं हुई तो सुख-प्राप्ति और दुःख-परिहार के लिये यह सारा प्रयास किस लिये! यहाँ किससे किस को बाधा (पीड़ा) होगी! ॥

९९. जब न कोई वेदयिता सिद्ध हो पाया, न उसकी कोई वेदना सिद्ध हो पायी तो रे तृष्णे! अपने जन्म का अभाव देख कर उसके कारण तूं नष्ट-भ्रष्ट क्यों नहीं हो जाती! ॥

१००. यह जो कुछ चक्षुरिन्द्रिय या कर्णेन्द्रिय से देखा सुना जाता है वह सब मायोपम या स्वप्नोपम प्रतीत्यसमुत्पन्न चित्त से ही होता है। उसकी परमार्थ सत्ता नहीं है। यह चित्त के सहजात (साथ उत्पन्न) होने के कारण देखा-सुना जाता है। अतः वस्तुतः वेदना का अभाव मानना ही उचित है ॥

दृश्यते चक्षुरिन्द्रियजेन । **स्पृश्यते** कायेन्द्रियजातेन चित्तेन ज्ञानेन । **एवं** [P 521] तर्हि चित्तमेव वेदकं वस्तुसदस्तीति चेदाह–**स्वप्नमायोपमात्मना ।** स्वप्नोपमस्वभावेन, मायोपमस्वभावेन च । प्रतीत्यसमुत्पन्नेन **चित्तेन**, न तु परमार्थसता । कथं चित्ताद् व्यतिरिक्तं चित्तेन दृश्यते ? **सहजातत्वात्** चित्तेन सहोत्पन्नत्वात्, चित्तेन सह जन्म यस्य तस्य दर्शनम्, एकसामग्री-प्रतिबद्धत्वात्, प्रतीत्यसमुत्पादस्याचिन्त्यत्वाच्च । न तु परमार्थतो दर्शनमस्ति येनैवं दृष्टादिव्यवहारः । **वेदना तेन नेक्ष्यते ।** येन दृष्टसुखसाधनादि-व्यवहारोऽप्यन्यत एव, तेन कारणेन वेदना नेक्ष्यते, न दृश्यते वस्तुतः ॥

अथापि स्यात्—न सहजं दृश्यते, अपि तु ज्ञानं विषयाकारतया तत उत्पद्यमानमुत्तरकालं तस्य ग्राहकमुच्यते, इत्येतदपहस्तयितुमाह—

* पूर्वं पश्चाच्च जातेन स्मर्यते नानुभूयते ।

अवश्यं सहजातस्य वेदनम्, अन्यथा **पूर्वं** प्राग्भावि **पश्चा**दुत्तरकालं **जातेन** उत्पन्नेन ज्ञानेन **स्मर्यते नानुभूयते** स्मृतिरूपेण विषयीक्रियते, न साक्षाद् विद्यते । तज्ज्ञानकाले तस्यातीतत्वात् । न च अतीतस्य स्वरूपेण वेदनमुचितम्, अविद्यमानत्वात् । स्वरूपवेदनं चानुभवः । तस्मात् स्मरणमात्रमेतत् । तत्र युक्तं न स्वरूपवेदनम् । वेदनायाः स्वभावव्यवस्थापकं लक्षणमेव अयुक्तमित्याह—

* स्वात्मानं नानुभवति, [P 522]

स्वात्मानं नानुभवति, न वेदयते, स्वसंवेदनस्य पूर्वं निरस्तत्वात् । अन्येन तर्हि सा ज्ञानेनानुभूयते वेदना ? आह—

* न चान्येनानुभूयते ॥ १०१ ॥

न च नैव । अन्येन तत्समानकालभाविना ज्ञानेन**नानुभूयते** वेद्यते; ज्ञानस्य ज्ञानान्तरेण अवेदनात् ॥ १०१ ॥

* न चास्ति वेदकः कश्चिद् वेदनाऽतो न तत्त्वतः ।

न च नैवास्ति वेदकः कश्चित्, यो वेदनां वेदयते, चित्तमन्यद्वा । **अतः**

---

१०१. सहजात का ही अनुभव होता है, पर पूर्वकाल या पश्चात्कालभावी का स्मरण होता है, अनुभव नहीं ।

स्वयं से स्वसंवेदन होना सम्भव नहीं—यह हम पीछे सिद्ध कर चुके है (९–१७–२५) और पर से पर का अनुभव शक्य नहीं ॥

अस्मात् कारणात् वेदना अनुभव इति वेदनालक्षणशून्यत्वाद्वेदना न तत्त्वतः न परमार्थतः; अन्यत्राभिनिवेशात् तत्स्वरूपप्रतिपादकस्य कस्यचिदभावात् । एतदुक्तमार्याक्षयमतिसूत्रे—

"अपि तु खलु पुनरभिनिवेशो वेदना, परिग्रहो वेदना, उपादानं वेदना, उपलम्भो वेदना, विपर्यासो वेदना, विकल्पो वेदना" इत्यादि ॥

धर्मसंगीतिसूत्रेऽप्युक्तम् –

"वेदनाऽनुभवः प्रोक्ता केनासावनुभूयते ।
वेदको वेदनावेद्यः पृथग्भूतो न विद्यते ॥
एवं स्मृतिरुपस्थेया वेदनायां विचक्षणैः ।
यथा वोधिस्तथा ह्येषा शान्ता शुद्धा प्रभास्वरा" ॥ इति ।

तस्माद् वेदकवेदनास्वभावशून्यं प्रतीत्यसमुत्पन्नमात्रं निर्व्या-[P 523] पारमस्वामिकं मायाप्रपञ्चवदुपलम्भगोचरतामुपगतमिदं कलेवरमवभासते, इति न कस्यचित् सुखं वा दुःखं वा स्वकीयं भवतीत्याह –

* निरात्मके कलापेऽस्मिन् क एवं बाध्यतेऽनया ॥ १०२ ॥

निरात्मके कस्यचिदात्मादेर्वेदकस्याभावादस्वामिके **कलापे** एकस्यानुयायिनोऽभावात् प्रतीत्यसमुत्पन्नमात्रे**ऽस्मिन्** मायास्वभाववदुपलम्भगोचरतामुपगते । एवमिन्द्रजालवत् पश्यन् सञ्जातविस्मयो ब्रूते–**क एवं बाध्यतेऽनया** । एवमुक्तक्रमेण कस्यचिद्वेदयितुरभावात् वेदनायाश्च, कः परमार्थतोऽनया वेदनया बाध्यते पीडयते ? विचारतो नैव कश्चित् । तस्मात् विकल्प एवायं सुखादिसाधनाध्यवसायः । तदेतद् वेदनास्मृत्युस्थानं दर्शितम् ॥ १०२ ॥

चित्तस्मृत्युपस्थानम्

साम्प्रतं चित्तस्मृत्युपस्थानमुपदर्शयितुमाह—

* नेन्द्रियेषु न रूपादौ नान्तराले मनः स्थितम् ।
नाप्यन्तर्न बहिश्चित्तमन्यत्रापि न लभ्यते ॥ १०३ ॥

---

१०२. जब कोई वेदयिता नहीं है, तो इसी लिये यह वेदना (अनुभव) भी परमार्थसत् नहीं है । इस स्कन्धसमुदाय के अन्दर किसी वेदक (आत्मादि) के न होने के कारण यह वेदना किसे पीड़ा देगी ! ॥

१०३. [चित्तस्मृत्युपस्थान –] यह चित्त (मनोविज्ञान) न इन्द्रियों में

तत्र षष्ठं तावन्मनोविज्ञानं निरूपयति–तथा क्व पुनरिदं मनोविज्ञानं स्वयमुपस्थितम् ? तत्र न तावदिन्द्रियेषु चक्षुरादिषु **मनः स्थितं** स्थितिमुपगतम्। **न रूपादौ** विषये मनः स्थितम् । **नान्तराले**, नापीन्द्रियविषययोरन्तराले मध्ये मनः स्थितम् । एकत्राप्यनिश्चितस्वरूपत्वात् । **नाप्यन्तर्न बहिश्चित्तम्** । नाप्य-
[P 524] न्तर्न मध्ये कायस्य चित्तं नापि बहिः न बाह्येषु शरीरावयवेषु चित्तं लभ्यते । **अन्यत्रापि न लभ्यते** । उक्तेभ्यः स्थानेभ्यः अन्यत्रापि क्वचिद् देशान्तरे यत्र तत्र वा न लभ्यते, न प्राप्यते विचारतः ।। १०३ ।।

तथा क्वचित् कथञ्चिद्भवति, ततः कथं तस्य निषेधः ? इत्यत्राह—

* यन्न काये न चान्यत्र न मिश्रं न पृथक् क्वचित् ।
तन्न किञ्चिदतः सत्त्वाः प्रकृत्या परिनिर्वृताः ।। १०४ ।।

यच्चित्तं न काये बाह्याभ्यन्तरे शरीरे । **न चान्यत्र** नैव कायादन्यत्र बाह्ये वस्तुनि । **न मिश्रम्** । क्रियाविशेषणमेतत् । द्वयोराध्यात्मिकबाह्ययो-र्मिश्रमपि न स्थितम् । यच्चित्तं **न पृथक्** कायात्, **नापि पृथक्** स्वातन्त्र्येण च क्वचिदवस्थितम्, तत् परमार्थतो **न किञ्चित्** न वस्तुसत् । कल्पनोपदर्शितमेव तत् । आसंसारं चित्तं मायावत्प्रतिभासः; निःस्वभावत्वात् । **अतः** अस्मात् **सत्त्वाः** प्राणिनः स्वभावेन **परिनिर्वृताः** परिमुक्तस्वभावाः; निःस्वभावता-लक्षणस्य प्रकृतिनिर्वाणस्य सर्वसत्त्वसन्तानेषु सदा विद्यमानत्वात् । स्वयमेव तु अभूतपरिकल्पवशादसत्यपि सत्यमारोप्य क्लेशवासनोपहतचित्तसन्ततयः संसारचारकावरोधनिषिद्धस्वातन्त्र्यवृत्तयोऽपरिमुक्ता इत्युच्यन्ते, न तु परमार्थतः ।। १०४ ।।

[P 525] इति मनो विचार्य **चक्षुरादिविज्ञानं** विचारयन्नाह—

* ज्ञेयात् पूर्वं यदि ज्ञानं किमालम्ब्यास्य सम्भवः !
ज्ञेयेन सह चेज्ज्ञानं किमालम्ब्यास्य सम्भवः ! ।। १०५ ।।

स्थित है, न उनके विषय रूपादि में स्थित है, न इन्द्रिय-विषय के मध्य में स्थित है; न काय के अन्दर है न वाहर (अवयवों में) है, इन स्थानों के अतिरिक्त कहीं है !

१०४. जो चित्त न वाह्याभ्यन्तर शरीर में, न बाह्य वस्तु में, न दोनों बाह्य आभ्यन्तर में मिश्रित; न काय से पृथक् हैं वह परमार्थतः वस्तुसत्य है ही नहीं। अतः प्राणी प्रकृतितः ही निःस्वभाव है ।।

१०५. [इस तरह मनोविज्ञान पर विचार कर चुके, अब चक्षुर्विज्ञान पर विचार करते हैं-–] ज्ञान कहीं भी सदा सद्रूप से अवस्थित नहीं रहता, किन्तु चक्षुरादिसामग्री की अपेक्षा कर के उत्पद्यमान रूपादि ज्ञेय का ग्राहक होता है।

तथा हि—क्वचित् सदा सद्रूपमवस्थितं ज्ञानम्, किन्तु चक्षुरादिसामग्रीं प्रतीत्य उत्पद्यमानं रूपादिज्ञेयग्राहकमित्युच्यते, इति परस्याशयमाशङ्क्य विकल्पयति—तत् पुनर्ज्ञेयात् पूर्वं वा स्यात्, ज्ञेयसमानकालं वा, ज्ञेयस्य पश्चाद्वा इति। तत्र यदि प्राचीनो विकल्पः, तत्राह—ज्ञेयात् ग्राह्यविषयात् पूर्वं प्रागेव, अनुत्पन्ने एव ज्ञेये यदि ज्ञानमुत्पन्नमभिधीयते, तदा **किमालम्ब्य अस्य सम्भवः** ? पूर्वं ज्ञेयमालम्बनमन्तरेण किमालम्ब्य किमाश्रित्य अस्य सम्भव उत्पादः ? द्वितीयपक्षमाश्रित्याह—**ज्ञेयेन** ग्राह्यविषयेण **चेद् समानकालं सह यदि ज्ञानम्, किमालम्ब्य** ? समानकालस्य ज्ञेयस्य अकारणतया अनालम्बनत्वात्। 'नाकारणं विषयः' इति वचनात् ॥ १०५ ॥

अथ तृतीयः प्रकारः स्वीक्रियते ?

* अथ ज्ञेयाद्भवेत् पश्चात् तदा ज्ञानं कुतो भवेत् ?

अथेति पृच्छायाम्। **ज्ञेयादिति** पूर्वं ज्ञेयम्, **पश्चात्** तदनन्तरं निवृत्ते ज्ञेये **भवेत्** उत्पद्येत ज्ञानम्, **तदाज्ञानं कुतो भवेत्**। ज्ञानकाले ज्ञेयस्य निवृत्तत्वात्, कुन आलम्बनात् ज्ञानं भवेत्, किमाश्रित्य उत्पद्येत ? तस्माद्विषयादिसामग्रीतोऽपि परमार्थतो न सिध्यति ज्ञानम्।

इदं चित्तस्मृत्युपस्थानमार्यरत्नकूटादिष्वभिहितम्— [P 526]

"स एवं चित्तं परिगवेषते—कतरत् तच्चित्तं रज्यति वा दुष्यति वा मुह्यति वा ? किमतीतमनागतं प्रत्युपन्नं वा ? इति। तत्र यदतीतम्, तत् क्षीणम्। यदनागतम्, तदसम्प्राप्तम्। प्रत्युपन्नस्य स्थितिर्नास्ति। चित्तं हि, काश्यप, नाध्यात्मं न बहिर्धा नोभयमन्तरेणोपलभ्यते। चित्तं हि, काश्यप, अरूप्यनिदर्शनमप्रतिघमविज्ञप्तिकमप्रतिष्ठमनिकेतम्। चित्तं हि, काश्यप, सर्वबुद्धैर्न दृष्टम्, न पश्यन्ति, न द्रक्ष्यन्ति। [यत् सर्वबुद्धैर्न दृष्टम्]' न पश्यन्ति, न द्रक्ष्यन्ति, कीदृशस्तस्य प्रचारो द्रष्टव्यः ? अन्यत्र वितथपतितया संज्ञाया धर्माः प्रवर्तन्ते। चित्तं हि, काश्यप, मायासदृशमभूत-

---

ऐसी स्थिति में वह ज्ञान या तो ज्ञेय से पूर्वकाल में हो, या ज्ञेय के समकाल हो या फिर ज्ञेय के पश्चात्काल में हो। इस में पहले विकल्प के विषय में हम पूछते हैं—यदि ज्ञान ज्ञेय (ग्राह्य विषय) से पूर्व ही उत्पन्न हो तो बतलाइये किसके आलम्बन से इसकी उत्पत्ति होगी ? और ज्ञेयसमकाल उसकी उत्पत्ति मानोगे तब भी हमारी वही पिपृच्छा है ! ॥

१०६. और यदि वह ज्ञेय के बाद (ज्ञेय के नष्ट हो जाने के कारण) ज्ञान किससे होगा ! (ज्ञान किसका आलम्बन करेगा !) ॥

कल्पनतया विविधामुपपत्तिं परिगृह्णाति ।···पे० ···। चित्तं हि, काश्यप, नदीस्रोतःसदृशमनवस्थितमुत्पन्नभग्नविलीनम् । चित्तं हि, काश्यप, दीपार्चिःसदृशं हेतुप्रत्ययतया प्रवर्तते । चित्तं हि, काश्यप, विद्युत्सदृशं क्षणभङ्ग्यनवस्थितम् । चित्तं हि, काश्यप, आकाशसदृशम्, आगन्तुकैः क्लेशोप-[P 527] क्लेशैरुपक्लिश्यते·····पे०····· । यावत् चित्तं हि, काश्यप, परिगवेष्यमाणं न लभ्यते । यन्न लभ्यते, तन्नोपलभ्यते । तन्नैवातीतं नानागतं न प्रत्युपन्नम् । तत् त्र्यध्वसमतिक्रान्तम् । यत् त्र्यध्वसमतिक्रान्तं तन्नैवास्ति, न नास्ति'' इत्यादि ।।

धर्मस्मृत्युपस्थानम्

एवं चित्तस्मृत्युपस्थानं प्रतिपाद्य धर्मस्मृत्युपस्थानं प्रतिपादयितुमुक्तमेव क्रमं योजयन्नाह—

* एवं च सर्वधर्माणामुत्पत्तिर्नावसीयते ।। १०६ ।।

चकार एवकारार्थः । **एवमेव** यथोदितन्यायेन **सर्वधर्माणां** सर्वभावानामुत्पत्तिरुत्पादो **नावसीयते** न प्रतीयते । तेषामपि स्वहेतुतः पूर्वं समानकालं पश्चाद्वा उत्पत्तौ इदमेव दूषणं यथासम्भवं वाच्यम् । उत्पादाभावान्निरोधोऽपि न युज्यते; अनुत्पन्नस्य निरोधायोगात् । अत एव च अनुत्पन्नानिरुद्धस्वभावतया निष्प्रपञ्चत्वात् सर्वधर्मा विमोक्षाभिमुखा धर्मधातुनिर्याता आकाशधातुपर्यवसाना अप्रज्ञप्तिका अव्यवहारा अनभिलाप्या अनभिलपनीया इत्युच्यन्ते । एवं धर्मस्मृत्युपस्थानेनाविरहितं सर्वधर्मेष्वनासङ्गज्ञानमुत्पद्यते ।

धर्मस्मृत्युपस्थानभावना च **आर्यक्षयमतिसूत्रे** दर्शिता । यदुक्तम्— [P 528] ''धर्मे धर्मानुपश्यी विहरन् बोधिसत्त्वो न कञ्चिद्धर्मं समनुपश्यति; यतो न बुद्धिधर्माः, यतो न बोधिः, यतो न मार्गः, यतो न निःसरणम् । सर्वधर्मा निःसरणमिति विदित्वा अनावरणमहाकरुणासमाधिं समापद्यते । स सर्वधर्मेषु सर्वक्लेशेषु च कृत्रिमसंज्ञां प्रतिलभते— निष्क्लेशा एते धर्मा नैते सक्लेशाः । तत् कस्य हेतोः ? तथाहि एते नीतार्थेऽर्थं समवसरन्ति । नास्ति क्लेशानां सन्निचयो राशीभावः, न रागभावः, न द्वेषभावः, न मोहभावः । एषामेवानुबोधाद् बोधिः । यत्स्वभावाश्च क्लेशाः तत्स्वभावा बोधिः—इत्येवं स्मृतिमुपस्थापयति'' इति ।।

[धर्मस्मृत्युवस्थान—] इस तरह सभी धर्मों (भावों) की उत्पत्ति प्रतीत नहीं होती । (इनकी उत्पत्ति के विषय में भी हमारा वही तर्क है) ।।

उक्तं च--

'उत्पत्तिपर्ययस्य नैवास्ति तस्य का निर्वृतिर्भवेत् ।
मायागजप्रकाशत्वादादिशान्तं त्वयत्नतः ॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते मता ।
तथाविधश्च सद्धर्मस्तत्समश्च तथागतः ॥
तत्तत्त्वं परमार्थोऽपि तथता द्रव्यमिष्यते ।
भूतं तदविसंवादि तद्बोधाद् बुद्ध उच्यते" ॥ इति ।

[चतुः-०३.२७, ३९, २०]

एवं धर्मस्मृत्युपस्थानं दर्शयता सर्वधर्मा अनुत्पन्नानिरुद्धाः प्रकाशिताः ॥ १०६ ॥

तथा सति संवृतिसत्यमयुक्तमित्युक्तं स्यात् । ततः सत्यद्वय- [P 529] व्यवस्थापनं न घटते–इति परिहर्तुं चोद्यमुत्थापयन्नाह--

* यद्येवं संवृतिर्नास्ति ततः सत्यद्वयं कुतः !

यदि परमार्थतः सर्वधर्मा अनुत्पन्नानिरुद्धस्वभावाः, एवं सति **संवृतिर्नास्ति** व्यवहारो न स्यात्, परमार्थसत्यमेवैकं स्यात् । **ततः** संवृतेरभावात् **सत्यद्वयं** संवृतिसत्यं परमार्थसत्यं चेति । यदुक्तम् –

संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम् । [बो० च० ९.२]

इति तदेतत्, सत्यद्वयं **कुतः** ? नैव स्यात् । तदभावाच्च परलोकगमनकर्मक्रियाफलसम्बन्धस्वभावोपार्जनादि न स्यात्, सर्वव्यवहाराभावात् ।

अथापि स्यात्, यदि नाम नास्ति, तथा मरीचिकादिषु जलकल्पनयेव संवृतिस्वभावया कल्पनया बुद्ध्या व्यवस्थाप्यते, ततः सत्यद्वयमुपपद्यते इत्या, शङ्कयन्नाह—

* अथ साप्यन्यसंवृत्या ?

अथेति प्रश्ने । **सापीति** संवृत्तिः । न केवलं परमार्थसत्यमित्यपेरर्थः । **अन्यया संवृत्या** कल्पनाबुद्धिरूपया व्यवस्थाप्यते । अथवा अपिरवधारणे,

---

१०७. [प्रश्न] यदि सभी धर्म अनुत्पन्न एवं अनिरुद्ध स्वभाव हैं तब तो सांवृत सत्य की सिद्धि कैसे होगी ? और यह सिद्धि न होने पर तुम्हारी पूर्वोक्त सत्यद्वय के सिद्धान्त (९२ श्लो०) का क्या होगा ?

यदि वह संवृतिसत्य किसी अन्य संवृतिसत्य से सिद्ध किया जाय ?

[p 530] भिन्नक्रमे च । अन्ययैव संवृत्येति योजनीयम् । एवमेकं सन्धित्सतोऽन्यत् प्रच्यवते इत्युपदर्शयन्नाह--

* स्यात् सत्त्वो निर्वृतः कुतः ॥ १०७ ॥

यदि परमार्थतस्तत्स्वभावशून्यमपि कल्पनाबुद्धिविषयीकरणात् सांवृतमुच्यते, योऽपि तर्हि सर्वधर्मनिःस्वभावतालक्षणं परमार्थसत्यमधिगम्य अनुपलम्भयोगेन सर्वप्रपञ्चविरहात् परिनिर्वृतिमुपयातः, सोऽपि सत्त्वः परिनिर्वृतो विनिर्मुक्तः कुतो भवेत् ? नैव स्यात् । तस्यापि बुद्ध्या विषयीकरणात् । बुद्धिश्च सर्वैव संवृतिः कल्पनास्वभावत्वात् । 'बुद्धिः संवृतिरुच्यते' इति वचनात् निर्वृतिरपि संवृतिः स्यात् ? ॥ १०७ ॥

अत्र परिहारमाह--

* परचित्तविकल्पोऽसौ, [P 531]

परस्य निर्वतसत्त्वादन्यस्य सत्त्वस्य चित्तं तस्यासौ विकल्पः, योऽयं निर्वृतस्यापि बुद्ध्या विषयीकरणम् । न हि परचित्तविकल्पेन अन्यस्य संवृतिर्युक्ता । ततोऽन्यबुद्ध्या विषयीक्रियमाणोऽपि निर्वृत एवासौ कुतः ? यतः—

* स्वसंवृत्या तु नास्ति सः ।

तुः पूर्वस्माद्विशेषमभिधत्ते । स्वसंवृत्या निजसंवृत्या स्वकल्पनया स इति परिनिर्वृतो नास्ति न विद्यते । परिनिर्वृत एव सः—इति; स्वयमस्य सर्वाविकल्पोपरमात् ।

अन्यत्रापि तर्हि कथमन्यसंवृतिः स्यादित्यत्राह--

* स पश्चान्नियतः सोऽस्ति न चेन्नास्त्येव संवृतिः ॥ १०८ ॥

'अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते' इति इदम्प्रत्ययतामात्रमेव संवृतिः । इति धर्मेभ्यो धर्म उत्पद्यमानः पश्चाद्भावी भवेत् ।

तब तो यह परम्परा चलती ही रहेगी और वह सत्त्व विनिर्मुक्त कैसे होगा ! (क्योंकि वह मुक्त भी किसी न किसी की संवृति का विषय बन ही जायगा) ॥

१०८. [उत्तर—] वह (मुक्त जीव) परचित्त की कल्पना में आता है, परन्तु अपनी कल्पना (संवृति) में नहीं आता । वह (कारणोत्पन्न धर्म) नियमतः पश्चाद्भावी होता है । वह याद हो तो संवृति होती है । यदि हो तो संवृति नहीं होती (क्यों कि संवृति कार्यकारणभाव रहने पर ही होती है) ॥

ततः स पश्चान्नियतो धर्मः, सोऽस्ति यदि, तदा अस्त्येव संवृतिः। न चेद् यदि स नास्ति, तदा नास्त्येव संवृतिः; गगनेन्दीवरादिषु इदम्प्रत्ययतायाः अभावात्। एतदुक्तं भवति—यदि नाम परिनिर्वृतो बुद्धया विषयीकृतः, नैव तावता परिचित्तविकल्पमात्रेण तस्यापरिनिर्वृतः; स्वयमस्य सर्वविकल्पप्रपञ्चोपशमात्। न रक्तचित्तेनालम्बितः स्वयं प्रहीणसर्वक्लेशावरणो वीतरागोऽप्यवीतरागो भवेत्। तस्मात् सर्वकल्पनाविरहादन्यसंवृत्यालम्बितोऽपि स्वयं परिनिर्वृत एवासौ परमार्थतः। अत एव सर्वधर्माः सर्वकल्पनाशून्यत्वादनुत्पन्नानिरुद्धस्वभावत्वाच्च प्रकृतिपरिनिर्वृता आदिशान्ता इत्युच्यन्ते।[P 532] तथापि तथाविधेभ्य एव तथाविधा अन्ये धर्मा उत्पद्यन्ते, निरुध्यन्ते च, मायास्वभाववत्। तेन च रूपेण परिकल्पवशात् पुनरालम्ब्यमानाः सांवृताः, वास्तवरूपाभावाच्च अनुत्पन्नानिरुद्धा इत्युच्यन्ते खरविषाणवत्। यदुक्तम्—

शून्येभ्य एव शून्या धर्माः प्रभवन्ति धर्मेभ्यः॥ इति॥

आर्यललितविस्तरेऽप्युक्तम्[1]—

"संस्कार प्रदीपअर्चिवत् क्षिप्रमुत्पत्तिनिरोधधर्मकाः।
अनवस्थित मारुतोपमा फेनपिण्डेव असारदुर्बलाः॥ (९७)॥
संस्कार निरीह शून्यकाः कदलीस्तम्भसमा निरीक्षतः।
मायोपम चित्तमोहना बालउल्लापन रिक्तमुष्टिवत्॥ (९८)॥
यथ मुञ्ज प्रतीत्य बल्वजं रज्जु व्यायामबलेन वर्तिता।
घटियन्त्र सचक्र वर्तते तेषु एकैकश नाति वर्तना॥ (१००)॥
तथ सर्वभवाङ्गवर्तिनी अन्यमन्योपचयेन निश्रिता।
एकैकश तेषु वर्तनी पूर्वपरान्तत नोपलभ्यते॥ (१०१)॥
मुद्रात् प्रतिमुद्र दृश्यते मुद्रसंक्रान्ति न चोपलभ्यते।
न च तत्र न चैव सान्यतो एव संस्कार अनुच्छेदशाश्वताः॥ (१०४)॥

"अरणिं यथ चोत्तरारणिं हस्तव्यायाम त्रयेभि सञ्जति।
इति प्रत्ययतोऽग्नि जायते जातु कृतार्थु लघु निरुध्यते॥ (१०८)॥
अथ पण्डितु कश्चि मार्गते कुतयं आगतु कुत्र याति वा।
विदिशो दिशि सर्वि मार्गतो नागति नास्य गतिश्च लभ्यते॥ (१०९)॥
स्कन्धायतनानि धातवः तृष्ण अविद्या इति कर्मप्रत्यया।
सामग्रि तु सत्त्वसूचना स च परमार्थतु नोपलभ्यते॥ इति॥ ११०॥

---

१. त्रयोदशपरिवर्ते इति शेषः।

२. क्लेशसूदना—पाठा०।

चतुःस्तवेऽप्युक्तम्—

"निरुद्धाद्वाऽनिरुद्धाद्वा बीजादङ्कुरसम्भव। ।
मायोत्पादवदुत्पादः सर्व एव त्वयोच्यते ॥
घतस्त्वया जगदिदं परिकल्पसमुद्भवम् ।
परिज्ञातमसद्भूतमनुत्पन्नं न नश्यति ॥
नित्यस्य संसृतिर्नास्ति नैवानित्यस्य संसृतिः ।
स्वप्नवत् संसृतिः प्रोक्ता त्वया तत्त्वविदां वर" ॥ इति ।

[चतु: —१.१६-१८]

तस्मात् परमार्थत उत्पादनिरोधाभावेऽपि न संवृतिसत्यविरोध इति सर्वं समञ्जसम् ॥ १०८ ॥

ननु यदि परमार्थतोऽनुत्पन्नानिरुद्धाः, सर्वधर्माः, तदा न ज्ञानं न च ज्ञेयं वस्तुतः सम्भवति । तत् किमिह केन विचार्यते इति विचारेऽपि [P534] न स्यात् । अतस्तूष्णीमेव स्थातव्यमित्यत आह—

* कल्पना कल्पितं चेति द्वयमन्योन्यनिश्रितम् ।
यथाप्रसिद्धमाश्रित्य विचारः सर्व उच्यते ॥ १०९ ॥

कल्पना आरोपिका बुद्धिः। **कल्पितं** तया समारोपितम् । **चे**त्युक्त-समुच्चये । इत्येवं **द्वयमु**भय**मन्योन्यस्य निमितं** परस्परसमाश्रितम्, कल्पनापेक्षया कल्पितम्, कल्पितापेक्षया कल्पनेति । **यथाप्रसिद्धं** लोकव्यवहारतो निश्रित**माश्रित्य** गृहीत्वा **विचारो** विमर्शः **सर्व उच्यते** अभिधीयते । सर्वं इति न कश्चिदेव विचारोऽपि संवृतिमाश्रित्य प्रतन्यते, न तु परमार्थसत्यम्; तस्य सर्वव्यवहारातिक्रान्तत्वादित्यर्थः ॥ १०९ ॥

विचारोऽपि बहिर्विचारवत् काल्पनिकस्वभावत्वाद्विचारयितव्य इति चेत्, विचारस्याशक्यविचारत्वादित्यभिसन्धायाह—

* विचारितेन तु यदा विचारेण विचार्यते ।
तदानवस्था तस्यापि विचारस्य विचारणात् ॥ ११० ॥

---

१०९. कल्पना (=आरोपिका बुद्धि) और कल्पित (=आरोपित)—दोनों ही एक-दूसरे पर आश्रित हैं। लोकव्यवहार से निश्चय ग्रहण कर उस पर विचार किया जाता है ॥

११०. उस परीक्षित विचार से जब किसी वस्तु का निरूपण किया जाता है,

विचारितेन तु परीक्षितेन पुनर्यदा विचारेण विचार्यते निरूप्यते, तदा अनवस्था अप्रतिष्ठानं स्यात्। कुतः? तस्यापि विचारस्य [P 535] विचारणात्। योऽसौ विचारस्य विचारणार्थं विचार उपादीयते, तस्यापि विचारस्य विचारणाद्धेतोः ॥ ११० ॥

विचार्ये तर्हि विचार्यमाणे कथमियमनवस्था न स्यात्? इत्यत्राह—

* विचारिते विचार्ये तु विचारस्यास्ति नाश्रयः।
निराश्रयत्वान्नोदेति[1] तच्च निर्वाणमुच्यते ॥ १११ ॥

विचार्ये तु परीक्ष्ये पुनर्वस्तुनि विचारिते निर्णीते सति विचारस्य निर्णयस्य पुनरुत्तरकालं कर्तव्यस्य आश्रयो नास्ति, यमाश्रित्य पुनर्विचारानुसरणेनानवस्थानं स्यात्, विचार्यस्य विचारणे चरितार्थतया पुनराकाङ्क्षाभावात्। अत एव निराश्रयत्वान्नोदेति, आश्रयाभावान्न पुनर्विचारः प्रवर्तते। सर्वसमारोपनिषेधं विधाय वस्तुतत्त्वपरिज्ञानात् कृतकृत्यत्वात् प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावात् न क्वचित् सज्यते, नापि विरज्यते। तच्च निर्वाणमुच्यते। सर्वव्यवहारनिवृत्तेः सर्वत्र निर्व्यापारतया प्रशान्तत्वात् तदेव निर्माणभिधीयते ॥ १११ ॥

कल्पितविषयेऽवश्यमेव सर्वत्र विचारः सत्यो न तु परमार्थत इत्याह—

* यस्य त्वेतद् द्वयं सत्यं स एवात्यन्तदुःस्थितः।

यस्य पुनः परमार्थसद्भाववादिनः एतद् द्वयं विचारो विचार्यं [P 536] चेति एतदुभयमपि सत्यं परमार्थसत्, स एव भावस्वभाववादी अत्यन्तदुःस्थितः अत्यन्तमतिशयेन दुःखेन स्थितो दुःस्थितः; दुष्करणीयत्वात्।

तब उसके हेतु का भी पुनः विमर्श करने पर उस पर पुनः पुनः विमर्श करने से अनवस्थादोष आ जायगा ॥

१११. इस तरह विचार्य (परीक्ष्य) और विचारित (निर्णीत) का उत्तरकाल (अन्त) में कोई आश्रय ही नहीं रह जाता। फिर आश्रयहीन होने के कारण उसका प्रादुर्भाव भी नहीं होता। इस तरह वह विचार (=विकल्प) का अभाव ही 'निर्वाण' कहलाता है ॥

११२. जिस (भावस्वभाववादी) के मत में ये दोनों (विचार्य और विचार) सत्य (परमार्थ सत्) हैं, तो इन की सत्यता की सिद्धि उसके लिये अत्यन्त दुस्कर होने से वह दुःखद स्थिति में उलझ जाता है ॥

---

१. निराश्रितत्वान्—मु० पा०।

एतदेवोपदर्शयन्नाह—

* यदि ज्ञानवशादर्थो ज्ञानास्तित्वे तु का गतिः ।। ११२ ।।

यदि ज्ञानवशात् ज्ञानस्य प्रमाणस्य वशात् सामर्थ्यात् **अर्थः** प्रमेयं व्यवस्थाप्यते, तदा भवतु नाम प्रमाणात् प्रमेयव्यवस्था, को नाम निवारयति ? केवलमिदमिह निरूपणीयम्—**ज्ञानास्तित्वे तु का गतिः ?** ज्ञानस्य प्रमाणस्य पुनरस्तित्वं कुतो निश्चितमिति वक्तव्यम् । स्वसंवेदनस्याभावात् प्रमाणान्तरान्वेषणे अनवस्थानं स्यादिति का गतिराश्रयणीया ।

स्यादेतत्—स्यादेव अनवस्थानम्, यदि ज्ञानास्तित्वे प्रमाणं मृग्यते । यावता प्रमेयादेव प्रमाणव्यवस्था, तत् कुतोऽवस्थानं स्यादित्याशङ्कयन्नाह—

* अथ ज्ञेयवशाज्ज्ञानं ज्ञेयास्तित्वे तु का गतिः ।

अथेति पराभिप्रकाशने । **अथ ज्ञेयस्य** प्रमेयस्य **वशात् ज्ञानं** व्यस्थाप्यते, तर्हि ज्ञेयास्तित्वे तु का गतिः ? यदि ज्ञेयवशात् ज्ञानं व्यवस्थाप्यते, तदा स्वयमेव ज्ञेयं ज्ञानास्तित्वे व्यवस्थानिबन्धनं स्यात्, तच्च कुतः प्रमाणात् सिद्धमिति पृच्छति—**ज्ञेयास्तित्वे** पुनः **का गतिरिति** । प्रमेयसिद्धये ज्ञानान्तरा-[P 537] नुसरणे तदपि ज्ञानान्तरं कुतः सिद्धमिति वक्तव्यम् । तस्मादेव ज्ञेयादिति चेत्, ज्ञेयं कुतः सिद्धम् ? तत्सिद्धौ ज्ञानान्तरानुसरणे पुनरनवस्थानमपर्यवसानं स्यात् ।

स्यादेतत्, भवेदेतत् यदि ज्ञानस्य ज्ञेयस्य वा सिद्धये ज्ञानान्तरापेक्षा स्यात्, अपि तु परस्परमितरेतस्य सिद्धिः । अतो नोक्तदोषप्रसङ्ग इति परस्याशयमाविर्भावयन्नाह—

* अथान्योन्यवशात् सत्त्वमभावः स्याद् द्वयोरपि ।। ११३ ।।

अथ पुनरेवमभिधीयते—**अन्योन्यस्य** ज्ञानस्य ज्ञेयस्य परस्परस्य **वशात्** सामर्थ्यात् ज्ञानज्ञेययोरपि **सत्त्वमस्तित्वं** निश्चीयते, ज्ञानवशाज्ज्ञेयस्य

यदि ज्ञान के प्रामाण्य से ज्ञेय (प्रमेय) व्यवस्थापित किया जाता है तो इस व्यवस्था से किसको आपत्ति है ! हम तो इतना ही पूछते हैं कि उस समय ज्ञान का अस्तित्व किससे सिद्ध होगा ? ।।

११३. यदि ज्ञेय के अस्तित्व को व्यवस्थापित करते हो तो उस प्रमेयसिद्धि के लिये ज्ञानान्तर का अनुसरण करने पर वह ज्ञानान्तर कैसे सिद्ध होगा ? ।।

यदि ज्ञान औरज्ञेय के परस्पर सामर्थ्य से इन दोनों का अस्तित्व व्यवथा-

ज्ञेयत्वाच्च ज्ञानस्येति यावत् । तदेवं सति **अभावः स्याद् द्वयोरपि** । द्वयोरपि ज्ञानज्ञेययोरभावः स्यात्, एकस्यापि सत्त्वसिद्धिर्न भवेत् । इतरेतराश्रयत्वादेकस्यासिद्धौ द्वितीयस्याप्यसिद्धिः ।। ११३ ।।

अत्र प्रकृतानुरूपदृष्टान्तमाह—

* पिता चेन्न विना पुत्रम्[1], कुतः पुत्रस्य सम्भवः ।

पुत्राभावे पिता नास्ति,

पिता जनकः यदि **पुत्रं विना** पुत्रमन्तरेण **न स्यात्**, पुत्रजननसापेक्षत्वादस्य व्यपदेशस्य, तर्हि **कुतः पुत्रस्य सम्भवः**, कुतः कस्मात् पितुरभावात् पुत्रस्य जन्यस्य सम्भवः जन्म ? अस्तु किमिति चेत्, **पुत्राभावे पिता नास्ति** । हेतुपदमेतत् । यतः पुत्रस्य अभावे असत्त्वे पिता नास्ति न भवति । पिता हि पुत्रो जनयितव्यः । स च न पुत्रं यावज्जनयति, तावत् पितैव न [P 538] भवति । यावच्च पिता न भवति, तावत् पुत्रस्य तस्मात् सम्भवो नास्ति । इतरेतराश्रयणादेकाभावादन्यतराभावः स्यादिति द्वयोरप्यनयोरभाव इति समुदायार्थः । अमुमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयन्नाह—

* तथाऽसत्त्वं तयोर्द्वयोः ।। ११४ ।।

यथात्र पितापुत्रोदाहरणे, **तथा असत्त्वं** तथैव अभावः **तयोर्द्वयोर्ज्ञान**ज्ञेययोः । तथाहि—ज्ञेयजननाज्ज्ञानमुच्यते, ज्ञानपरिच्छेद्यतया च ज्ञेयमिति यावत् ज्ञानं न सिध्यति, यावत् परिज्ञानं न सिध्यति, तावत् परिच्छेद्यतया च ज्ञेयं न सिध्यति । इतरेतराश्रयणादुभयाभावः स्यादिति भावः ।। ११४ ।।

स्यादेतत्, न ब्रूमः—अन्योन्यवशात् सिद्धिरनयोः, अपि तु ज्ञेयकार्यं ज्ञानम्, ततो ज्ञानादंकुराद् बोजमिव ज्ञेयं सेत्स्यति । इति पराशयमुद्भावयन्नाह—

पित करोगे तो दोनों का ही अभाव सिद्ध होगा ! (उनमें से एक की भी सत्ता सिद्ध नहीं होगी) ।।

११४. (प्रकृतानुरूप दृष्टान्त देते हैं—) जैसे पिता की सत्ता पुत्र के विना सिद्ध नहीं होती तो पुत्र की उत्पत्ति भी पिता के विना कैसे होगी ? क्योंकि पुत्र के अभाव में पिता की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती ?

इसी तरह ज्ञान और ज्ञेय की असत्ता (अभाव) सिद्धि में भी समझना चाहिये ।।

---

१. पुत्राद्--मु० प० ।

* अङ्कुरो जायते बीजाद्बीजं तेनैव सूच्यते ।
ज्ञेयाज्ज्ञानेन जातेन तत्सत्ता किं न गम्यते ।। ११५ ।।

अङ्कुरो जायते उत्पद्यते **बीजात्** खलबिलान्तर्गतात् । **बीजं तेनैव** बीजा-
[P 539] ज्जातेन अङ्कुरेण **सूच्यते** गम्यते यथा; तथा अत्र **ज्ञेयात्** प्रमेयात् **ज्ञानेन जातेन** उत्पन्नेन **तत्सत्ता** तस्य ज्ञेयस्य सत्ता सद्भावः **किं न गम्यते**, किं न प्रतिपद्यते ? अत्रापि बीजाङ्कुरवत् कार्यकारणभावस्य विद्यमानत्वात् ।। ११५ ।।

नायं सदृशो दृष्टान्त इत्याह -

* अङ्कुरदन्यतो ज्ञानाद् बीजमस्तीति गम्यते ।
ज्ञानास्तित्वं कुतो ज्ञातम् ? ज्ञेयं यत् तेन गम्यते ।। ११६ ।।

अंकुरात् कार्यात् **बीजमस्तीति** यद् **गम्यते**, तन्नायमस्यैव केवलस्य प्रभावः, किं तर्हि ? **अन्यतो ज्ञानाद**ङ्कुरव्यतिरिक्तात् **तदस्तीति गम्यते** । तथा हि–न योग्यतामात्रेण कार्यं कारणस्य गमकम्, बीजस्यैव अङ्कुरजननमप्रतिपन्नस्यापि गमकत्वं स्यात् । नापि स्वरूपप्रतीतिमात्रेण; अप्रतिपन्नकार्यकारणभावस्यापि तत्प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । अपि तु अविनाभावित्वेन निश्चितम् । अतः प्राक्प्रतिपन्नकार्यकारणभावस्य पुनः पश्चात् क्वचिद् बीजाविनाभाविनमङ्कुरमुपलब्धवतः अङ्कुरादध्यवसायात्मकमनुमानमुत्पद्यते, ततो बीजमस्तीत्यवसीयते । अतो ज्ञानविषयीकृत एव अङ्कुरो बीजप्रतिपत्तिहेतुः । **ज्ञानास्तित्वं** ज्ञानस्य सद्भावः **कुतो ज्ञातं** कस्मात् प्रतीतम् ? स्वसंवेदनाभावा-
[P 540] दनवस्थानभयेन ज्ञानान्तराननुसरणाच्च, **ज्ञेयं यत्तेन गम्यते** । **यद्** यस्मात् **ज्ञेयं तेन** ज्ञानेन ज्ञेयकार्येण **गम्यते** अवसीयते । न हि स्वयमनिश्चितं लिङ्गं साध्यस्य गमकमुपपद्यते । ज्ञापकहेतुत्वादस्य ज्ञेयगमकत्वम् । तस्माद्वास्तवपक्षे ज्ञानज्ञेयासिद्धेर्विचारः कर्तुमशक्यः । काल्पनिकपक्षे तु यथाप्रसिद्धव्यवहारमाश्रित्य शक्यते इति निश्चितम् ।। ११६ ।।

---

११५. (प्रश्न–) जैसे अंकुर बीज से उत्पन्न होता है, और उस अंकुरोत्पाद से बीज (का भाव) होता है; उसी तरह उत्पन्न ज्ञान से उस ज्ञेय की सत्ता (भाव) की सिद्धि क्यों न मान ली जाय ! ।।

११६. (उत्तर–) 'अंकुर (कार्य) बीज (कारण) से है'–यह ज्ञान उस अंकुर से नहीं होता, अपि तु अंकुरव्यतिरिक्त अपर ज्ञान से बीज की सत्ता का ज्ञान होता है । परन्तु ज्ञान की सत्ता किससे जानी गयी कि उससे ज्ञेय कार्य मान लिया जाय ! (अतः परमार्थपक्ष में ज्ञान और ज्ञेय की सिद्धि होने से उन पर विचार करना असम्भव है । व्यवहारपक्ष में तो जैसे-तैसे काम चल ही रहा है ।) ।।

स्वभाववादिनोऽपाकरणम्

"न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन" ॥

[म० शा० १.३]

इत्यस्यार्थस्य समर्थनार्थं नाप्यहेतुत इति तुरीयकोटिप्रसाधनाय तावत् **स्वभाववादिमतमपाकर्तुमाह—**

*** लोकः प्रत्यक्षतस्तावत् सर्वं हेतुमुदीक्षते ।**

तथा हि ते स्वपरस्वभावसर्वहेतुनिरपेक्षमेव भावग्रामवैचित्र्यमुत्पद्यते इति वर्णयन्ति । यतो न पङ्कजादीनां नालपत्रदलकेसरादिकमनेकप्रकार-भेदभिन्नवैचित्र्यमचेतना जलपङ्कादयो निर्वर्तयितुमलम् । न च चेतनोऽपि कश्चिदन्यः कर्मणा तादृशनिर्माणप्रवीण उपलभ्यते, नापि चाद्रियते, [P 541] तत्कर्मणोऽपर्यवसानात्, युगपदपर्यन्तविशेषेषु व्यापारायोगाच्च । तस्मात् किञ्चित्कारणमन्तरेणैव सर्वमिदं जगद्वैचित्र्यमुत्पद्यते इति तेषां मतम् यदुक्तम्—

"सर्वहेतुनिराशंसं भावानां जन्म वर्ण्यते ।
स्वभाववादिभिस्ते च नाहुः स्वमपि कारणम् ॥
राजीवकेसरादीनां वैचित्र्यं यः करोति हि ।
मयूरचन्द्रकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः ॥
यथैव कण्टकादीनां तैक्ष्ण्यादिकमहेतुकम् ।
कादाचित्कतया तत्तद्दुःखादीनामहेतुता" ॥

[तत्त्वसंग्रहः, ११०-११२]

तदेवंवादिनो लोकप्रतीतादेव हेतुसामर्थ्याद् बाधा स्यादित्युपदर्शयति । **लोकः** सर्वो जनः । **प्रत्यक्षतः** इन्द्रियाश्रिताज्ज्ञानात् । प्रत्यक्षत इत्युपलक्षणात् दनुमानतोऽपि तत्प्रतीतिभावात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिति यावत् । **सर्वमनेक-प्रकारं हेतुं** जगद्वैचित्र्यकारणम्, **उदीक्षते** तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि कार्य-मुपजनयन्तं पश्यति । यत् कार्यं यस्य सद्भावे भवति, तदभावे च न भवतीति

---

११७. [स्वभाववादी (चार्वाक) दार्शनिक मानते हैं कि जगत् में दृश्यमान इस विचित्रता का कारण कोई चेतन नहीं है. क्यों कि वह (जगत्कर्ता) कहीं किसी को दिखायी नहीं पड़ता । हाँ, जड़ पदार्थ यद्यपि प्रत्यक्ष हैं, पर उन्हें भी जगदुत्पत्ति-हेतु नहीं माना जा सकता; क्योंकि किसी भी जड़ पदार्थ में कमल, मयूरपङ्ख जैसी अद्भुत और विचित्र वस्तुओं के निर्माण की क्षमता कहाँ है ? अतः

प्रतीयतेस, तस्य हेतुरिति निश्चीयते—इति लोकप्रतीतादेव हेतुव्यापारादस्य अहेतुकत्वप्रतिज्ञा बाध्यते । तदेवोपदर्शयन्नाह—

[P 542] * पद्मनालादिभेदो हि हेतुभेदेन जायते ॥ ११७ ॥

पद्मस्य राजीवस्य **नालमादि** येषां पद्मदलकेरादीनां ते तथोक्ताः, तेषां **भेदो** नानात्वम् । **हि**र्यस्मात् । **हेतुभेदेन** हेतोः कारणस्य भेदेन विशेषेण **जायते** उत्पद्यते, नान्यथा; अनियमेन सर्वत्र सद्भावप्रसङ्गात् । अतः यद् यस्यान्वयव्यतिरेकानुविधानं कुर्वत् प्रतीयते, तत् तस्यैव कार्यं नान्यस्य—इत्यभ्युपगमनीयम् । यस्मात् प्रतिनियतकारणादेव प्रतिनियतविशेषोत्पत्तिः, तद्भेदेन तद्भेदादिति न अहेतुमती ॥ ११७ ॥

ननु भवेदेष विशेषो यदि हेतोरेव स्वयमसौ विशेषः सिद्धः स्यात् । किन्तु तस्यैव कुतः स भवतीति वक्तव्यम् । न च निर्विशेषाद्विशेषोत्पत्तिः, पुनरहेतुत्वप्रसङ्गात् ? इत्याशङ्कां परिहरन्नाह—

* किंकृतो हेतुभेदश्चेत् पूर्वहेतुप्रभेदतः ।

किंकृतः केन कृतः कुतो यातः **हेतुभेदश्चेत्**, हेतोर्भेदो विशेषश्चेदुच्यते । **पूर्वहेतुप्रभेदतः** पूर्वस्य प्राक्तनस्य तज्जनकस्य हेतोः प्रभेदतो प्रभेदाद्विशेषात् । तस्यापितत्पूर्वस्य हेतोः कुतो विशेष इति चेत्, पुनस्तत्रापि पूर्वहेतुविशेषादिति वक्तव्यम्; इति उत्तरोत्तरस्य विशेषाकाङ्क्षायां पूर्वपूर्वस्य विशेषादित्युत्तरं [P 543] वाच्यम् । न चैवमनवस्थानमनिष्टं किञ्चिदापादयति–अनवराग्रस्य संसारस्य पूर्वकोटिर्न प्रज्ञायते इत्यभ्युपगमात् । अत एव फलाविपर्ययोऽपि न स्वतो भवतीत्याह—

* कस्माच्चेत् फलदो हेतुः पूर्वहेतुप्रभावतः ॥ ११८ ॥

इस जगद्वैचित्र्य को स्वभावतः ही मान लिया जाय । उनकी वैसी उत्पत्ति में कोई अन्य हेतु के मानने की आवश्यकता ही क्या है ! स्वभाववादियों के इस मत के खण्डन में आचार्य कहते हैं––सभी लोग इन्द्रियाश्रित ज्ञान से जगद्वैचित्र्य के हेतु की कल्पना करते हैं । पद्मदलान्तर्गत केशरादि का नानात्व भी हेतुभेद से उत्पन्न होता है ॥

११८. यह हेतुभेद किसने किया, कहाँ चला गया ? यदि इस में अन्य हेतु की कल्पना करोगे तो यह अन्य हेतु पूर्व हेतु से विशेष (भिन्न) हो गया । (तब इसके लिये अन्य हेतु की कल्पना करनी पड़ेगी (यों अनवस्थादोष तुम्हारे गले पतित हो जायगा) ॥

कस्मात् कारणात् **फलदो** विशिष्टफलदानसमर्थो **हेतुश्चेत्, पूर्वहेतुप्रभावतः** पूर्वस्य तज्जनकस्य हेतोः सामर्थ्यात् स्वहेतुना स तादृशस्तत्स्वभावोऽजनि, येन सहकारिविशेषोपहितकार्योत्पादानुगुणविशेषपरम्परापरिणतिमधिगच्छन् असति प्रतिबन्धवैकल्ययोः सम्भवे तथाविधमेव फलमुत्पादयति। अतः अविपरीतफलदानमपि स्वहेतुसामर्थ्योपजनितमेव। तेन अभ्युदयनिःश्रेयससाधनहेतोर्यथासंख्यमभ्युदयनिःश्रेयसमेव फलं जायते, तद्विपरीताद्विपरीतमिति न कथञ्चिदपि विपर्ययः॥

एतच्च अवश्यं **स्वभाववादिना** सहेतुकत्वमकामकेनापि स्वीकर्तव्यम्। कथमन्यथा हेतुमन्तरेण प्रतिज्ञातमहेतुकत्वं भावानां सेत्स्यति; प्रतिज्ञामात्रेण तस्य केनचिदग्रहणात्। हेतुव्यापारेण तत् प्रसाधयतः स्वयमेव पुनः सहेतुकत्वाभ्युपगमात् 'वन्ध्या मे माता' इति ब्रुवत इव प्रतिज्ञायाः स्ववचनेन बाधनं स्यात्–इत्युभयतःपाशा रज्जुरिति सङ्कटप्राप्तो बतायं तपस्वी! तदुक्तम्—

"न हेतुरस्तीति वदन् सहेतुकं ननु प्रतिज्ञां स्वयमेव शातयेत्। [P 544]
अथापि हेतुप्रणयालसो भवेत् प्रतिज्ञया केवलयास्य किं भवेत्"॥ इति।

तस्मात् कुदृष्टिविजृम्भितमेवैतत्; प्रमाणबाधितत्वात्॥ ११८॥

जगत ईश्वरहेतुत्वनिराकरणम्

एवं स्वभाववादिनं निराकृत्य चतुर्थप्रकारप्रसाधनार्थमेव ईश्वरकारणतां जगतः प्रत्याख्यातुं तदुपक्षेपं कुर्वन्नाह—

* ईश्वरो जगतो हेतुः,

ईश्वरकारणवादिनो हि स्वभाववादिमतनिषेधमाकर्ण्य विशेषमभिधातुमर्धमवसितं भारस्येति मन्यमानाः प्राहुः–साहाय्यमेव अनुष्ठितमेवं भवद्भिः। न हि कारणमन्तरेणैव जगद्वैचित्र्यमुपपद्यते; देशाद्यनियमप्रसङ्गात्। केवलमचेतनाः पुनरमी जलपङ्कादयो वैचित्र्यासामर्थ्या इति युक्तमनेनोक्तम्। तत्र अस्त्येव स भगवान् विश्ववैचित्र्यनिर्माणप्रवीणः जगदेकसूत्रधारः सकलजगदादिभूतः नित्यात्मतया सर्वदानुपहतशक्तिप्रभावः सर्वभावानां कार्यकारणभावादितत्त्ववेदी समस्तार्वाचीनदर्शनागोचरमाहात्म्य ईश्वरः। तेन हेतुना सहेतुकं सकलमिदं सचराचरं जगदिति कः सचेतनः अन्यथा वक्तुमुत्सहते? इति नैयायिकादिवेशमकथामभिधाय प्रत्याचष्टे—**ईश्वरो जगतो हेतुः**। ईश्वर

११९. [ईश्वरवादी नैयायिकों का खण्डन–] ईश्वर को यदि जगत्सृष्टि में

[P 545] इति शंकरस्याख्या। स एव जगतो विश्वस्य हेतुः सृष्टिस्थिति-प्रलयकारणम्। तस्मादेवैतद्विश्वमशेषमुत्पद्यते। अन्यथा पुनरचेतनोपादानत्वात् कथममी गिरिसरिदवनिसागरादय उत्पत्तिभाजो भवेयुः? चेतनावदधिष्ठानात् पुनरिमे समुत्पत्तुमुत्सहन्ते, तद्व्यापारेणैव प्रवर्तनात्। तदुक्तम् –

"सर्वोत्पत्तिमतामीशमन्ये हेतुं प्रचक्षते।
नाचेतनः स्वकार्याणि किल प्रारभते स्वयम्॥
न स्यान्मेरुरयं न चेयमवनी नैवायमम्भोनिधिः,
सूर्याचन्द्रमसौ निवेशसुभगौ नैतौ जगच्चक्षुषी।
ईशानो न कुलालवद्यदि भवेद्विश्वस्य निर्माणकृत्,
सत्त्वादीश्वरकर्तृकं जगदिदं वक्तीति कश्चित्किल"॥ इति।

[तत्त्वसंग्रहः, ४६–४७]

तस्माज्जगदेवमचेतनविश्वस्वभावमीश्वरकारणतामात्मनो ब्रूते। अत्रोच्यते–किमनया स्वगृहीतोपकल्पितया प्रमेयरचनया वचनरचनाप्रपञ्चमालया? नैतदुच्यमानमपि स्वसमयाभिनिवेशिनां जडधियां प्रीतिकरं प्रमाणशून्यं विदुषां सन्तोषमुत्पादयति। तथा हि–यद्यसौ कारुणिकः, किमर्थं पुनरिमान् नरकादिदुःखपीडितान् प्राणिनः करोति? तथा च सति कारुणिकत्वं तस्य श्रद्धामात्रमधिगम्यमेव स्यात्। स्वकृतासत्कर्मफलोपभोगेन तत्क्षेपापनयने यस्य प्रवृत्तिः, कथमकारुणिको नामेति चेत्, न; तत् कर्म कारुणिकः [P 546] किमिति कारयति येनानिष्टं फलमुपभुज्यते, तत्रापि तस्य व्यापारात्, सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तकारणत्वात्। अपि च, किं तस्मिन्नव्याप्रियमाणे तत् कर्मफलमुपभुज्यते, न वा? यदि प्रथमः पक्षः, तदा कथमेतत्—

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा"॥ इति।

[महाभा०–३.३०.२८]

सर्वकार्येष्वेव तद्व्यापाराभ्युपगमस्य अनेनैव अनैकान्तिकताप्रसङ्गात्। अथ द्वितीयः, तदा कृपालुरसौ तत्रोपेक्षां किमिति नाधिवासयति, यद् यत्नेन साहाय्यमेव तत्रोपकल्पयति। अथ कृतस्य कर्मणोऽविप्रणाशादवश्यं तेन तत्फलमनुभवितव्यमिति तदुपभोगाय व्याप्रियते इति चेत्, कथं पुनरेतस्मिन्नव्याप्रियमाणेऽवश्यं तेनानुभवितव्यम्; सामग्रीवैकल्यात्! कः पुनरेवं

विप्रणाशेऽपि दोषः ? प्रयत्नत एव ततो निवर्तितुमुचितं कारुणिकस्य। एवं हि तदिच्छायत्तवृत्तितया तस्यापरिपाकात् तेन स्वमैश्वर्यमुपदर्शितं तत्र भवेत्। अत्र सत्वानां तत्कर्मसञ्चोदितोऽसौ दयालुरपि स्थातुमशक्तः, महद् बत अनेन स्वमैश्वर्यमित्थं द्योतितमन्यत्र स्यात्। तत् परकर्मणापि समाकृष्टो नाम नात्मनि वशित्वमधिगच्छति, ईश्वरतः कर्मण एव महत् सामर्थ्यमेवं प्रकाशितं स्यात्। तद्वरं कर्मैव पर्युपास्यं यत्सामर्थ्येन [P 547] समाकृष्यमाणो महेश्वरो स्थातुमसमर्थः। तस्मादिदमव्याहतमेव—

नमः सत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥ इति।

[वैराग्यश० ९२]

अथ न कारुणिकः, तदासौ वीतरागः, सरागो वा ? यदि आद्यो विकल्पः, तदा यदि नाम दयाविरहात् सुखं नोपनयति, दुःखं तु जनस्य कस्मादुत्पादयतीति वक्तव्यम्। दुःखं हि रागादिवशेन कस्यचिदुपनीयते। ते चास्य न सन्ति। कथमकारणमेव जनं दुःखयति ? क्रीडार्थं दुःखयतीति चेत् ? क्रीडार्थं वीतरागस्य प्रवृत्तिरिति चेत्, निश्चितमसौ न वीतरागः ! रागादिमतामपि तावज्जितेन्द्रियाणां न क्रीडार्थं दृश्यते प्रवृत्तिः, किं पुनर्वीतरागाणां तथा भविष्यति ! न रक्षःपिशाचादिमन्तरेण अन्यस्य परदुःखेन क्रीडा सम्भाव्यते।

अथ अवीतराग इति पक्षः, तदा कथमयमितरजनसाधारणः सन्नीश्वरो भवितुमर्हति ? रागादिक्लेशपाशायत्तवृत्तेर्जगदैश्वर्यायोगात्। अन्यथा तदन्यस्यापि तथाविधस्य तत्प्रसङ्गात्। नापि संसारचारकोपरुद्धस्वातन्त्र्यस्य विश्वैवित्र्यरचनाचातुर्यं तदन्यस्येव युज्यते। तदेवमस्तित्वमेव भवन्तं विप्रलम्भयति यदेवंविधस्यापि यावदैश्वर्यमभ्युपगम्यते। भवतु वा तथाविधस्यापि कर्तृत्वम्, तथापि किमसौ स्वस्थात्मा, अस्वस्थात्मा वा ? १. यदि स्वस्थात्मा, तदा किमिति जनमकाण्डमेव दुःखयति ? न [P 548] हि स्वस्थात्मा निरपराधं जनं पीडयन् दृष्टः। अथ विमार्गगामिनमेव कृतापराधं पीडयतीति चेत् ? विमार्गगामिनमपि अयमेव कारयति। तथाभूतमपि कारयित्वा पुनः पीडयतीति स लौकिकेश्वराणामपि जघन्यतया वृत्तिमतिशेते। ते हि स्वयंकृतापराधमेव अपराधिनमनुशासति। अयं पुनरात्मनैव कारयित्वेति महानस्य विशेषः। २. अथ अस्वस्थात्मा, तदा असाधु तदाराधने स्वर्गापवर्गार्थिनां प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः। न हि उन्मत्तस्या-

राधनमुन्मत्तकादन्यः कर्तुमुत्सहते। तथा हि स्वर्गादिलिप्सया तदाराधनाय प्रवर्तन्ते प्रेक्षावन्तः। तच्च अपरिनिश्चितस्वभावतया ततो न सम्भाव्यते, विपर्ययोऽपि वा तदाराधनफलस्य सम्भाव्यते। तदाराधनप्रवृत्तास्तु गाढतर-श्रद्धावशेन तमुन्मत्तमाचक्षाणा आत्मानमेवोन्मत्तकमाचक्षीरन्। कथमन्यथा तदाराधने प्रवर्तन्ते! तदपरोन्मत्तकैर्वा किमपराद्धं यतस्ते न पर्युपास्यन्ते! तेषां प्रभावातिशयविकलत्वादिति चेत्, न वै प्रकृतेऽपि कश्चित् प्रभावा-तिशयमुत्पश्यामः। उन्मत्तकः सकलजगदतिशायिशक्तिरिति कोऽन्य उन्मत्त-काद्वक्तुमर्हति! तदयमभिविचार्यमाणो न क्वचिदवसानं लभते इति अलं दुर्मतिविष्यन्दितेषु आदरेणेति। तस्मात् सूक्तमेतद् यदुक्तम्—

[P 549] "सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः कर्ताहमस्मीति वृथाभिमानः" ॥ इति।

तस्मादकर्तृकमेव इदं जगदशेषमिति न परिदृष्टकारणादन्यः स्वतन्त्र-श्चेतनो वा तस्य कर्ता कश्चिदस्ति। इदमेव विस्तरेण प्रतिपादयितुं सिद्धान्त-वादी प्राह—

* वद कस्तावदीश्वरः!

ईश्वरकारणवादिनं पृच्छति—वद ब्रूहि कोऽयमीश्वरो भवतोऽभिमतः? तावच्छब्देनेदमभिधत्ते—येषां क्षित्यादीनामन्वयव्यतिरेकानुविधायि कार्य-मुपलभ्यते, तत्र कतमदीश्वरं भवानाचष्टे? न च अनुपलब्धान्वयव्यति-रेकव्यापारस्य कारणता प्रकल्पयितुं युक्ता; अतिप्रसङ्गात्। तस्मात् तत्कारणतामिच्छता दृष्टान्वयव्यतिरेकव्यापार एव अङ्गीकर्तव्यः। न चान्यस्य क्षितिबीजादिव्यतिरिक्तस्य अन्वयव्यतिरेकानुविधानं कुर्वत् दृश्यते कार्यम्। तत् कथं तस्य कार्योपयोगित्वं व्यवस्थाप्यते? यदुक्तम्—

"येषु सत्सु भवत्येव यत्तेभ्योऽन्यस्य कल्प्यते।
तद्धेतुत्वेन सर्वत्र हेतूनामनवस्थितिः" ॥ इति।

अथ पृथिव्यादीनि भूतान्येव ईश्वरो भवत्विति पराभिप्रायमा-शंक्याह—

[P 550] भूतानि चेद्भवत्वेवं नाममात्रेऽपि किं श्रमः ॥ ११९ ॥

कारण मानोगे तो तुम्हें पहले उस ईश्वर की सत्ता सिद्ध करनी पड़ेगी। यदि भूतों (पृथिवी आदि) को ही ईश्वर मानते हो तब तो हमें कुछ नहीं कहना। हाँ, फिर नाम भर के लिये ईश्वरसिद्धिहेतु क्यों यह इतना घटाटोप कर रहे हो! ॥

यदि भूतानि पृथिव्यादीनि **ईश्वर उच्यते, तदा** अभ्युपगम्यते एव। **भवत्वेवम्**, एवमस्तु, न वयमत्र विप्रतिपद्यामहे; क्षित्याद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानवतः कार्यस्य दर्शनात्। केवलं **नाममात्रे किं श्रमः ?** नामैव केवलमर्थभेदशून्यं नाममात्रकम्। अपिरवधारणे। नाममात्रे एव किमिह महासमारम्भेण तत्प्रसाधनाय श्रमः आयासः क्रियते। मया क्षित्यादय उच्यन्ते, त्वया पुनस्तान्येव भूतानि ईश्वरः—इति नार्थतः कश्चिद्विशेषः ? न चात्र विप्रतिपत्तावर्थशून्यायां किञ्चित् फलमुपलभ्यते ॥ ११९ ॥

अथ अस्त्येव अर्थविशेषः, तदा नैषामीश्वरत्वं युक्तमित्याह—

* अपि त्वनेकेऽनित्याश्च निश्चेष्टाः, न च देवताः।
लङ्घ्याश्चाशुचयश्चैव क्षमादयो न स ईश्वरः ॥ १२० ॥

अपितु-शब्देन अधिकमाह। नैते क्षित्यादयो भवतामीश्वरत्वेन कल्पयितुं युज्यन्ते, तल्लक्षणायोगात्। कथं कृत्वा ? **अनेके** नानास्वभावाः, **अनित्याश्च** विनश्वरस्वभावाः, **निश्चेष्टाः** अचेतनतया निर्व्यापाराः। **न च देवताः**। नापि च आराध्यरूपाः। **लङ्घ्याश्च** अतिक्रमणीयाः अनधृष्यत्वात्। **अशुचयश्चैव** अपवित्राः। अमेध्यादिष्वपि पृथिव्यादिसद्भावात्। **क्षमादयः** क्षमा=पृथिवी आदिर्येषामप्तेजोवायूनां ते तथोक्ताः। [P 551] **न स ईश्वरः**, स ईश्वरः तादृक्स्वभावो न भवति, तत्षट्प्रकारविपरीतत्वात् ॥

यदि क्षमादयो नेश्वरः, आकाशं तर्हि भविष्यति ? इत्याह—

* नाकाशमीशोऽचेष्टत्वात्,

आकाशमपि ईः ईश्वरो न भवति। कुतः ? **अचेष्टत्वात्**, स्वभावविकलतया निर्व्यापारत्वात्, परमतेऽपि निष्क्रियत्वात्। आत्मा तर्हि भवतु ?

---

१२०. इन महाभूतों को ईश्वर मानने में एक झगड़ा और है ! वह यह कि इन पृथिवी आदि को भी आप ईश्वर नहीं मान सकते; क्योंकि ये नानास्वभाववाले हैं, और अनित्य (विनाशी) है। सबसे बड़ी बात कि ये अचेतन हैं। (अचेतन से सृष्टि कैसे होगी !) अतः ये महाभूत तो जगद्धेतु हो नहीं सकते।

अपने आराधनीय किसी देवता को तुम सृष्टिकर्ता मानते हो तो किसे माना जाय ? पृथ्वी आदि महाभूत अतिक्रमणीय और अपवित्र होने के कारण इनमें आपका देवतात्व आ नहीं पायगा ! (आप तो ईश्वर को एक, नित्य, चेतन, अनतिक्रमणीय और पवित्र मानते हैं ! उसमें उपर्युक्त विपरीत दोष आने लगेंगे।) ॥

* नात्मा पूर्वनिषेधतः ।

पूर्वमेव विस्तरेण आत्मनः प्रतिषिद्धत्वात् निःस्वभावः शशविषाणवदसौ ।

अथापि स्यात्–अवितर्क्यमाहात्म्यत्वादस्य नार्वाग्दर्शनैरिदमित्थमिति तत्स्वरूपं विवेचयितुं शक्यमित्याह–

* अचिन्त्यस्य च कर्तृत्वमप्यचिन्त्यं किमुच्यते ।। १२१ ।।

यदि असौ चिन्तातिक्रान्तमाहात्म्यः, तदा **अचिन्त्यस्य च** चिन्तापथमतिक्रान्तस्य ईश्वरस्य **कर्तृत्वं** युगपत्कारणत्वमपि **अचिन्त्यम**तर्क्यं **किमुच्यते**, किमभिधीयते ? कर्तृत्वमप्यस्य अचिन्त्यत्वान्न वक्तुमुचितमित्यर्थः ।।१२१।।

स्यादेतत्, अतिदुर्लक्ष्यस्वभावतया चिन्तयितुमशक्योऽसौ, कार्यं तु तस्य सर्वजनप्रतीतिसाधारणत्वात् चिन्त्यमेव ? इति ब्रुवाणं प्रत्याह–

* तेन किं स्रष्टुमिष्टं च, [P 552]

भवतु नाम तस्य कार्यं चिन्त्यम्, तथापि **तेन किं स्रष्टुमिष्टं च** । तेन ईश्वरेण अचिन्त्यमाहात्म्येन किं कार्यं स्रष्टुं निर्मातुमिष्टमभिप्रेतं च, इति परस्योत्तरमाशङ्कयन्नाह––

* आत्मा चेत् ?

अत्र पूर्वपदस्याकारेण च्छन्दोऽनुरोधात् सन्धिर्न कृतः । आत्मा तेन स्रष्टुमिष्टं चेन्मतम्, एतत् प्रतिषेधयति––

* नन्वसौ ध्रुवः ।

---

१२१. आकाश को भी ईश्वर नहीं कह सकते, क्योंकि वह निश्चेष्ट (निष्क्रिय) है ।

क्योंकि आत्मा भी ईश्वर नहीं हो सकता; क्योंकि इसका निराकरण हम अभी पीछे (९-६९-७० में) कर चुके हैं ।

यदि ईश्वर को अचिन्त्य मानकर उसके रूप का वर्णन नहीं कर पा रहे हो ऐसे अचिन्त्य में कर्तृत्व भी अचिन्त्य होगा । (उसका इदमित्थं रूप से आप वर्णन नहीं कर सकते) ।।

१२२. यदि यह कहो कि उस ईश्वर के अचिन्त्य होने पर भी उसका कार्य तो चिन्त्य है ही ? तो हम पूछते है, इतने पर वह सृष्टि किसकी करना चाहता है ?

यदि कहो आत्मा की ? तो वह (आत्मा) तो आपके मत में नित्य है (उसकी सृष्टि क्या होगी !) ।।

ननु भोः, अस वात्मा ध्रुवो नित्योऽभिमतो भवताम्। तत् कथमसौ क्रियते ? अन्यथा नित्य एव स न स्यात्। सदकारणवन्नित्यमिति नित्यलक्षणाभावप्रसङ्गात्। अन्यत्रापि न तस्य सृष्टिव्यापार उपलक्ष्यते ? इत्याह—

* क्ष्मादिस्वभाव ईशश्च ज्ञानं ज्ञेयादनादि च ।। १२२ ।।

कर्मणः सुखदुःखे च,

आदिशब्देन अप्तेजोवाय्वाकाशकालदिङ्मनांसि गृह्यन्ते। तेषां स्वभावो ध्रुवः। सोऽपि न तेन क्रियते; पृथिव्यादीनां परमाणूनां नित्यत्वाभ्युपगमात्। स्थूलरूपे च तद्व्यापारस्य निषेत्स्यमानत्वात्। आकाशादीनामपि नित्यत्वात्। ईशश्चेति। ईश्वरोऽपि ध्रुवः—इति आत्मानमसौ न करोति। ज्ञानं ज्ञेयादनादि चेति। ज्ञानमपि ज्ञेयादुत्पद्यमानमनादि च, [P 553] आसंसारं ज्ञेयमालम्ब्य प्रवर्तनात्, तदपि न तेन क्रियते ।। १२२ ।।

तत्कर्मणः सुखदुःखे च, कर्मणः शुभाशुभात् यथासम्भवं सुखदुःखे च भवतः इष्टानिष्टविपाकजे, तत्रापि न तस्य व्यापारः। एवं सति—

* वद किं तेन निर्मितम् !

ब्रूहि किमिदानीं तेनेश्वरेण निर्मितं रचितम् ! इति न क्वचित् तस्य सामर्थ्यमुपलभ्यते। तत् कथमस्य जगत्कर्तृत्वमुच्यते ?

अधुना सर्वत्र साधारणं दूषणमाह—

* हेतोरादिर्न चेदस्ति फलस्यादिः कुतो भवेत् ।। १२३ ।।

तथाहि असौ नित्यो वा जगतो हेतुः स्यादनित्यो वा ? नित्य एव तद्वादिभिरसौ परिकल्पितः। तत्र नित्यत्वे सति हेतोः कारणस्य आदिर्नास्ति यदि, तदा फलस्यादिः कुतो भवेत् ? नैव स्यादित्यर्थः। नित्यमुपस्थिते

परमाणु रूप से पृथ्वी-आदि का स्वभाव भी नित्य है, उधर ईश्वर भी नित्य है। (नित्य नित्य की सृष्टि क्या करेगा ?) ।।

इसी तरह ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता हुआ अनादि ही है ।।

१२३. और तुम्हारे मन में शुभाशुभ कर्म से सुख-दुःख उत्पन्न होता है। इनकी सृष्टि के लिये भी ईश्वर बीच में आकर क्या करेगा !

अब बताओ उस ईश्वर ने क्या सृष्टि रची ! ।।

एक बात और ! यदि इस सृष्टि का हेतु (ईश्वर) अनादि है तो उसका कार्य सादि कैसे होगा ? ।।

समर्थस्वभावे हेतौ कार्यमपि तज्जन्यमजस्रमेव जायेत। इति तत्सामर्थ्यप्रतिबद्धं कार्यं सदा प्राप्नोति। तत्--

* कस्माद् सदा न कुरुते,

कस्मात् कारणात् सदा सर्वकालं न कुरुते ? न सर्वं कार्यं जनयतीति कथं कस्यचित् कार्यस्य कदाचित् क्रियाविरामः ॥

[P 554]अथवा अन्यथाऽवतार्यते–यदि च नेश्वरो जगतः कर्ता स्यात्, कथमिदं प्रलयानन्तरमादितः सर्गभाग् भवेत् ? इत्यत्राह—हेतोरित्यादि। अनवराग्रो हि जातिसंसारः। ततश्च हेतोः क्लेशकर्मादिलक्षणस्य आदिः पूर्वकोटिः न चेदस्ति, फलस्य सत्त्वभाजनलोकविवर्तादिलक्षणस्य आदिः प्रथमारम्भः, कुतो भवेत् ? नैव विद्यते इत्यर्थः। अनादौ संसारे हि सत्त्वानां कर्माधिपत्येन स्थितिसंवर्तविवर्तानां प्रवर्तनात्। एतच्च उक्तमेव "कर्मणः सुखदुःखे च" [बो० च० ९. १२३] इत्यनेन ॥

अथवा–अत्रापि ईश्वरमेवाभिसन्धायोक्तं हेतोरिति। हेतोरीश्वरस्य आदिर्न चेदस्ति, प्रलयकालेऽपि तस्यानुपहततया माहात्म्यस्याभ्युपगमात् फलस्य तत्कृतस्य सर्गादिलक्षणस्य आदिः कुतो भवेत् ? नित्यतया तत्कारणस्य सदा समर्थत्वात् सर्गादिकमपि नित्यमेव स्यात्। अतो नित्यसमर्थे तस्मिन् सर्गादिरादिरेव न स्यात्। ततः कथं सर्गस्यादावपि तद्व्यापारो भवेत् ! ॥

अपि च—यदि असौ कर्ता स्यात्, तदा नित्यत्वात् कस्मात् सदा न कुरुते। सर्गादिकमिति शेषः। तथाहि–यदि कदाचित् सर्गं करोति, तदा तत्कारणस्वभावतया सदा तमेव कुर्यात्। एवं स्थितिसंहारयोरपि वक्तव्यम्। युगपद्वा तस्य सर्गादिक्रिया स्यात्। अत एव च हेतोरुपरमाभावात् न फलस्यापि विरामः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

[P 555] अथापि स्यात्–यदि नाम असौ सदा समर्थस्वभावः, तथापि कदाचित् सहकारिवैकल्यान्न करोतीत्याह--

* न हि सोऽन्यमपेक्षते।

इति। समर्थस्वभावो हेतुरीश्वरः। हिर्यस्मात्। नान्यं सहकारिणमपेक्षते। नित्यस्य समर्थस्वभावस्य सतः तदपेक्षायोगात्। न हि नित्यतया

---

१२४. और वह हर समय यह सृष्टि क्यों नहीं रचता रहता !

अनाधेयातिशयस्य काचिदपेक्षा नाम । विशेषोत्पत्तौ वा व्यतिरिक्तस्वभावस्य तस्याप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । व्यतिरेके वा विशेषादेव कार्योत्पत्तिः, तस्य अकारकत्वं स्यात् । तदुक्तम्—

"अपेक्ष्यते परः कश्चिद्यदि कुर्वीत किञ्चन ।
यदकिञ्चित्करं वस्तु किं केनचिदपेक्ष्यते" ।। इति ।
[चतुः०—३. १२]

भवन्तु वा तस्य सहकारिणः । तथापि ते नित्या वा स्युरनित्या वा ? ये तावन्नित्याः परमाण्वादयः, तेषां न सद्भाववैकल्यं सम्भवति, नापि तदायत्तसन्निधीनां सन्निधानवैकल्यम् । अनित्यानापि तदायत्तोदयसन्निधीनां कुतो वैकल्यं नाम, येन सहकारिवैकल्यान्न करोतीत्युच्यते ? ततो नायमत्र परिहारः । अत एवाह—

* तेनाकृतोऽन्यो नास्त्येव तेनासौ किमपेक्षताम् ।। १२४ ।।　[P 556]

तेन ईश्वरेण **अकृतः**, यः उत्पत्तिमाँस्तेन अकृतः, स **नास्त्येव**, न विद्यते **अन्यो**ऽपरो जगति । **तेन** कारणेन तदायत्तवृत्तीनां सहकारिणां सदासन्निहितत्वाद**सौ** नित्यः कर्ता **किमपेक्षताम्** ? किमपेक्षमाणः कदाचित् कार्यं न कुर्यात् ? इत्थं न काचिदपि तस्यापेक्षाऽस्तीति सदा कार्यं कुर्वीत ।। १२४ ।।

अथापि स्यात्—समवायिकारणम्, असमवायिकारणम्, निमित्तकारणं चेति कारणत्रितयात् कार्यमुत्पद्यते । तदस्य निमित्तकारणत्वात् सामग्रीमपेक्ष्य कार्यं कुर्वतो नोक्तदोषप्रसङ्गः ? इति पराशयमाशङ्क्याह—

* अपेक्षते चेत् सामग्रीम्,

यदि नाम असौ सदा सर्वकार्याणि कर्तुं समर्थः, तथापि **अपेक्षते सामग्रीम्** । न हि सामग्रीमन्तरेण सत्यपि समर्थे कर्तरि कार्यमुत्पद्यते । यथा किल पटोत्पादनसमर्थेऽपि क्वचिद्धेतौ तुरीतन्तुवेमादिकमन्तरेण न पट उत्पद्यते, तथा प्रकृतेऽपि चेद्यदि ? आह—

*　　हेतुर्न पुनरीश्वरः ।

यदि सामग्रीसद्भावे करोति, तदभावे च न करोतीत्यभ्युपगम्यते, तदा पुनरीरीश्वरो **हेतुर्न** स्यात् । सामग्र्या एव कार्योत्पत्तेः, ततश्चा· [P 557]

यदि कहो कि उसे अन्य की अपेक्षा है ? तो आपके मत में इस जगत् में ऐसा कुछ नहीं जिसे उसने न बनाया हो । अतः वह किसकी अपेक्षा करेगा ! ।।

नुत्पत्तेः। तस्या भावाभावयोः कार्यस्य भावाभावदर्शनात्, न तु पुनरीश्वरभावाभावयोरिति। न सामग्रीकालेऽपि स पररूपेण कर्ता, स्वरूपं चास्य प्रागपि समर्थं तदेवेति कथं कदाचित् क्रियाविरामः ? यदप्युक्तम्— कुविन्दादिवत् कदाचित् करोतीति, तदपि न युक्तम्; यतः कुविन्दादयः प्रागसमर्था एव। पुनः पश्चात् तुर्यादिसामग्रीप्रतिलम्भादपूर्वसामर्थ्याधिगमात् पटादिकार्यं कुर्वन्ति। अन्यथापि तेषामपि पूर्वं तत्सामर्थ्यसद्भावे तत्क्रियाप्रसङ्गो न निवर्तते इति साध्यविकलो दृष्टान्तः।

किञ्च। सामग्रीजननेऽपि स एव कारणम्, स च सर्वदा सन्निहितस्वभाव इति कथं कदाचित् सामग्रीवैकल्यमप्यस्य ? अत एवोपदर्शयन्नाह—

* नाकर्तुमीशः सामग्र्याम्,

इति। नाकर्तुमीशः, न अक्रियायां समर्थः। सामग्र्यां सामग्रीविषये। सर्वकार्यक्रियायां समर्थत्वात् सामग्रीजन्मन्यपि नोदासितुं शक्नोति। जनयतु तर्हि सामग्रीमिति चेदाह—

* न कर्तुं तदभावतः॥ १२५॥

न कर्तुमपि सामग्र्यामीशः। कुतः ? तदभावतः, तस्या सामग्र्या अभावतः अविद्यमानत्वात्। न च अविद्यमानस्वभावे वन्ध्यासुत इव किञ्चित् कर्तुं शक्यते नीरूपत्वात्। यद्वक्ष्यति—

"नाभावस्य विकारोऽस्ति हेतुकोटिशतैरपि[1]" इति॥ १२५॥

[बो० च०–९-१४७]

[P 558] भवतु नाम सामग्रीसद्भावे सत्येव कर्ता, तथापि किं सामग्रीबलाकृष्टः स्वयमनिच्छन्नेव करोति, आहोस्विदिच्छन् ? इति विकल्पौ। तत्र आद्यं विकल्पमाशङ्कयन्नाह—

* करोत्यनिच्छन्नीशश्चेत् परायत्तः प्रसज्यते।

करोति कार्यमभिनिर्वर्तयति अनिच्छन् अनभिलषन्। ईश ईश्वरः।

---

१२५. और यदि वह अन्य सामग्री (=हेतु) की अपेक्षा करता है तो फिर इस सृष्टि में वह सामग्री ही कारण हुई, फिर ईश्वर की वहाँ क्या अपेक्षा रह गयी ?

(आपके कथनानुसार हम मान लेते हैं कि) वह उस सामग्री के बनाने में तो समर्थ है, पर उसे वह हर समय बना कैसे पायगा; क्योंकि उस सामग्री-निर्माण के लिये उसे अन्य सामग्री (=हेतु) की आवश्यकता पड़ेगी ?॥

---

१. कल्पकोटि०—इत्यत्र मु० पाठः।

चेन्मतम्, परायत्तः प्रसज्यते, परायत्तः परतन्त्रः प्रसज्यते आसज्यते। सामग्रीवशेन अनिच्छतोऽपि कुर्वतः तद्वशवर्तित्वप्रसङ्गात्। न च पारतन्त्र्यमनुभवतः ईश्वरत्वं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्। द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह—

* इच्छन्नपीच्छायत्तः स्यात्,

अथ इच्छन् करोतीति पक्षः स्वक्रियते, तदापि इच्छायत्तः स्यात्। इच्छासद्भावे कार्यव्यापारात्, तदभावे च अव्यापारात्। तदपेक्षासद्भावात्—

* कुर्वतः कुतः ईशता ! ॥ १२६ ॥

एवं कुर्वतः कार्यमभिनिर्वर्तयतः सतः तस्य कुत ईशता, कुतः ऐश्वर्यम्? एतेन यदुक्तं केनचित्—बुद्धिमत्त्वादीश्वरस्य नैष दोषः। बुद्धिशून्यो हि स्वसत्तामात्रजन्यमक्रमेणैव कार्यं कुर्यात्, बुद्धिमाँस्तु [P 559] कर्तुमीशानोऽप्यनिच्छन्न करोति, इति कस्तस्योपालम्भ इति, तदपि निरस्तम्। तथा हि ता अपि इच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्धनाः किं न करोतीति स एव तस्योपालम्भः। अपि च। यदि ता न सहकारिण्यः किं तासां वियोगेऽपि न करोति, अथ असहकारिवैकल्येऽपि कार्याकरणे सर्वदा तदायत्तः? सहकारिण्यश्चेत्, तथा तद्भावेऽपि सर्वकार्यं किं न करोति? सहकारिणां साकल्ये शक्तत्वात्। केवलस्य अशक्तस्य न कारकत्वमिति चेत्, तत् किमयं पररूपेण कारकः? तथा चेदकारक एव। न हि स्वरूपेण अकारकः कारको नाम। स्वरूपमपि अस्य निजशक्तिशब्दवाच्यं कार्योपयोगीति चेत्? अलमिदानीमागन्तुकशक्तिष्वपेक्षया। समर्थोऽप्येष प्रकृत्या सहकारिणामसन्निधौ नैव कारक इति चेत्, मातापि सती प्रकृत्या वन्ध्या इत्येतदपि तर्हि देवानाम्प्रियेण वक्तव्यमित्यास्तां तावत्। अनित्यस्तु तद्वादिनां नाभिमतः। तथा च सति अन्यसाधारणस्वभावस्य कथमीशत्वमिति नेश्वरकार्यं जगद्वैचित्र्यमिति सिद्धम् ॥ १२६ ॥

अणुषु सृष्टिकर्तृत्वनिराकारणम्

यदि न बुद्धिमत्कर्तृकं जगत्, तर्हि नित्यपरमाणुपुञ्जमयं द्व्यणुकादिक्रमेणोत्थं क्षितितरुपर्वतादिकं भवत्वित्याह—

* येऽपि नित्यानणूनाहुस्तेऽपि पूर्वं निवारिताः।

---

१२६. यदि यह कहो कि ईश्वर बिना इच्छा के सृष्टि करता है, तो पराधीन हुआ,। और यदि इच्छापूर्वक करता है तो इच्छाधीन सृष्टिकर्ता की ईश्वरता कैसी ! ॥

१२७. [परमाणुवाद-खण्डन] जो मीमांसक नित्य परमाणुओं को सृष्टि

[P 560] येऽपि मीमांसकादिवादिनो नित्यानणून परमाणूनाहुः जगद्वैचित्र्य-कारणत्वेन ब्रुवते, तेऽपि वादिनः पूर्वम् "अंशा अप्यणुभेदेन" [बो०च०९.८७] इत्यादिना परमाणुविचारसमये तत्प्रतिषेधान्निवारितः निराकृताः। अतो नित्यपरमाणुमयमपि नेदं जगत् ॥

प्रधानपरिणामरूपतानिराकरणम्

एवमीश्वरकारणतां श्लोकार्धेन अन्तराले एव नित्यपरमाणुस्वभावतां च जगतो निरस्य, तस्यैव तुर्यप्रकारस्य समर्थनाय प्रधानपरिणामरूपतां निराकर्तुं सांख्यमतमुद्भावयन्नाह—

* सांख्याः प्रधानमिच्छन्ति नित्यं लोकस्य कारणम् ॥ १२७ ॥

सांख्याः कापिलाः **प्रधानं** प्रकृतिरित्यपरनामधेयम् **इच्छन्ति** मन्यन्ते **नित्यं लोकस्य कारणम्**। तच्च नित्यमविनश्वरस्वभावं लोकस्य सर्वस्य चराचरस्य जगतः कारणं परिणामरूपेण हेतुमिच्छन्ति ॥ १२७ ॥

किमिदं प्रधानं नामेति चेत् ? आह—

* सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणा अविषमं स्थिताः।
प्रधानमिति कथ्यन्ते विषमैर्जगदुच्यते ॥ १२८ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति एते त्रयो **गुणा अविषमं स्थिताः** साम्यावस्थां प्राप्ताः **प्रधानमिति कथ्यन्ते** प्रधानमित्युच्यन्ते। एषां तावत् प्रकृत्यवस्था। **विषमैर्जगदुच्यते** विषमावस्थां प्राप्तैः पुनरेभिरेव गुणैर्जगदुच्यते, विश्ववैचित्र्यपरिणामः कथ्यते। तथाहि तेषां प्रक्रिया—यदा पुरुषस्य विषयोपभोगाकारमौत्सुक्यमुप-[P 561] जायते, तदा प्रकृतिः परिज्ञातपुरुषौत्सुक्या पुरुषेण युज्यते। तदा पुनः शब्दादिसर्गरूपेण परिणतिमुपजनयति। तदा अयं क्रमः—

"प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥"
[सांख्यकारिका—२२]

(जगत्) का कारण मानते हैं उनका भी हम पीछे (९-८७) खण्डन कर ही चुके ॥

[प्रकृति-खण्डन—] साङ्ख्यवादी जगत् की सृष्टि का कारण नित्य प्रधान को मानते हैं ॥

१२८. वे सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था को 'प्रधान' कहते हैं। इन्हीं गुणों की विषमावस्था को जगत् का हेतु मानते हैं ॥

अस्यायमर्थः प्रकृतेर्महान्, प्रधानान्महान्। महानिति बुद्धेराख्या। ततो महतोऽहङ्कारः, अहमिति प्रत्ययः। तस्मादहङ्काराद् गणश्च षोडशकः, षोडशक इति एकादशेन्द्रियाणि पञ्च च तन्मात्राणि। तत्र पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थलक्षणानि। पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि–श्रोत्रं त्वक् चक्षू रसनं घ्राणं चेति। उभयात्मकं तु मनः इत्येकादश भवन्ति। पञ्च तन्मात्राणि पुनः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि। पञ्चभ्यः शब्दादिभ्यः पञ्च भूतानि भवन्ति। पञ्च भूतानि च आकाशवायुतेजोजलपृथिव्याख्यानि। आद्यप्रकृतिस्तु कारणमेव, न कार्यम्। महदहङ्कारौ शब्दादयश्च पञ्च कार्यं कारणं च। एकादशेन्द्रियाणि आकाशादयश्च पञ्च कार्यमेव, न कारणम्। पुरुषः पुनरुभयस्वभाववर्जित इति। यदाह –

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥" इति।

[सांख्यकारिका–३]

तच्च प्रधानमशेषकार्यशक्तिमयमेव त्रिगुणात्मकमेव कार्यम- [P 562] भिनिर्वर्तयति। कथमन्यथा तत्राविद्यमानं कार्यं वैश्वरूप्यमुत्पद्यते? तथा चोक्तम् –

"अशेषशक्तिप्रचितात् प्रधानादेव केवलात्।
कार्यभेदाः प्रवर्तन्ते तद्रूपा एव तत्त्वतः॥
यदि त्वसद् भवेत् कार्यं कारणात्मनि शक्तितः।
कर्तुं तन्नैव शक्यं तन्नैरूप्याद्वियदब्जवत्॥" इति ॥ १२८ ॥

[तत्त्वसंग्रहः, ७–८]

एवं किल प्रधानात् कार्यरूपेण जगद्विवर्तः प्रवर्तते इति कापिलाः। तदेवं तत् सर्वमाकाशे विरचितचित्रमिव प्रतिभासते इति मन्यमानः सिद्धान्तवादी दूषयितुमाह–

* एकस्य त्रिस्वभावत्वमयुक्तं तेन नास्ति तत्।

एकस्य सतः प्रधानस्य **त्रिस्वभावत्वं** सत्त्वरजस्तमोभेदेन त्र्या- [P 563] त्मकत्वम**युक्तम**सङ्गतम्। **तेन** कारणेन **नास्ति तत्**, न विद्यते तत् त्रिगुणात्मकं प्रधानम्। एकमनेकस्वभावमिति परस्पराहतमेतत्। अतः तस्मिन्नपहस्तिते सर्वं तत्कार्यमपाकृतं भवेत्। मा भून्नाम तदेकस्वभावं त्रिगुणात्मकम्, गुणास्तावत् स्वरूपतः सन्ति? इत्याह–

* एवं गुणा न विद्यन्ते प्रत्येकं तेऽपि हि त्रिधा ॥ १२९ ॥

एवमेव प्रधानवत् गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपा **न विद्यन्ते**। **तेऽपि हि त्रिधा**। हिर्यस्मात्। तेऽपि गुणाः **प्रत्येकमेकैकशः** त्रिधा त्रिप्रकाराः। तथा हि सर्वं त्रिगुणात्मकं ब्रुवतां प्रत्येकं गुणा अपि स्वरूपेण त्रिगुणात्मकाः प्राप्नुवन्ति। तथा तद्गुणा अपि त्रिगुणात्मकतया नैकस्वभावा विद्यन्ते ॥१२९॥

यदा चैवं विचारयतो गुणा न सन्ति, तदा तद्विवर्तरूपाः शब्दादयोऽपि न युज्यन्ते ? इत्याह--

* गुणाभावे च शब्दादेरस्तित्वमतिदूरतः।

गुणानां सत्त्वादीनाम् **अभावे** असत्त्वे **च**। दूषणान्तरसमुच्चये चकारः। **शब्दादे**रादिग्रहणात् स्पर्शादिपरिग्रहः। **अस्तित्वं** सद्भावः **अतिदूरतः**, सर्वथैव न युज्यते। कारणाभावे कार्यस्य सत्त्वायोगात्। यदप्युक्तम्---

'सुखाद्यन्वितमेतद्धि व्यक्तं व्यक्तं समीक्ष्यते।
प्रसादतापदैन्यादिरूपस्यैकोपलब्धितः ॥ इति।

[तत्त्वसंग्रहः, १४]

तदपि न युक्तम्। यश्च सत्त्वादीनां सुखादिरूपतामुपपादयितुं तत्परिणामस्य रूपादिनो व्यक्तस्य सुखाद्यन्वयो हेतुरुक्तः, सोऽपि नास्तीत्याह—

* अचेतने च वस्त्रादौ सुखादेरप्यसम्भवः ॥ १३० ॥

अचेतने जडरूपे **च**। पूर्वच्चकारः। **वस्त्रादौ** अचित्स्वभावे पटादौ **सुखादेरपि** चिदात्मकस्य तादात्म्येन **सम्भवः** अभावः; यतः सत्त्वरजस्तमांस्येव सुखदुःखमोहा उच्यन्ते। ते च गुणा न सन्ति। तत् कथं तत्र सुखादयो [P 564] भवेयुः ? ॥ १३० ॥

---

१२९. यहाँ हमारा कहना यह है कि एक ही (प्रधान) के तीन स्वभाव कैसे होंगे ? (यदि होंगे तो वे परमार्थतः सत् नहीं होंगे।, अतः यह मानना पड़ेगा कि प्रधान जगत् का हेतु नहीं बन सकता।

यही हाल गुणों का होगा (उन्हें हेतु मानने पर)। वे भी प्रत्येक तीन-तीन स्वभाव वाले कैसे सिद्ध होंगे ? ॥

१३०. यों, गुणों के भी परमार्थसत् न होने के कारण शब्दादि का परमार्थसत् सिद्ध करना और भी दूर की बात होगी !

अथापि स्यात् - सुखाद्यात्मकतया परादयः सुखादिस्वभावा उच्यन्ते, अपि तु सुखादेस्तदुत्पत्तेरित्याशङ्कयन्नाह –

* तद्धेतुरूपा भावाश्चेन्ननु भावा विचारिताः ।

तस्य सुखादेर्हेतुरूपाः कारणस्वभावा **भावा** बाह्याः पटादयश्चेन्मतम्, **ननु भावा विचारिताः ।** नामी पटादयः अवयविरूपाः, नापि परमाणुस्वरूपा नापि त्रिगुणात्मकाः । एवं भावा विचारिताः निरूपिताः युक्तितः, प्रतिभासमानानां मायावन्निःस्वभावत्वाच्च । तत् के इमे भावाः सुखादिहेतुरूपा भविष्यन्ति ?

अपि च व्यक्तस्य सुखादिस्वभावत्वे पटादय एव सुखादिजन्याः स्युरित्याह--

* सुखाद्येव च ते हेतुः;

पटस्यापि **सुखाद्येव च** । **ते** तव सांख्यस्य । हेतुः स्यात् । **व्यक्तस्य** सुखाद्यात्मकत्वात् । तथापि--

* न च तस्मात् पटादयः ॥ १३१ ॥

आदिशब्दाच्चन्दनमालादयः ॥ १३१ ॥

विपर्ययः पुनरिहोपलभ्यते ? इत्याह--

* पटादेस्तु सुखादि स्यात् तदभावात् सुखाद्यसत् । [P 565]

पटादेस्तु । आदिशब्दान्मालादेः । पुनः **सुखादि स्यात्** । आदिशब्दाद् दुःखादि भवेत् । तदभावात्, तेषां पटादीनामभावात् । **सुखाद्यसत्** । पटादिकार्यत्वात् सुखाद्यपि न स्यादिति तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् सुखादेस्तत्कार्यत्वम् । सत्त्वादिगुणात्मकतया यदपि सुखादीनां नित्यत्वमिष्टम्, तदपि न सम्यगित्याह--

* सुखादीनां च नित्यत्वं कदाचिन्नोपलभ्यते ॥ १३२ ॥

और 'त्रिगुणात्मिका सृष्टि ही सुखदुःखमोहात्मिका है'—आपका यह मत भी उचित नहीं; क्योंकि अचेतन वस्त्रादि में सुखादि की उत्पत्ति कैसे बनेगी ? ॥

१३१. उस सुखादि की उत्पत्ति में बाह्य पटादि भावों को हेतु मानोगे तो यह कैसे ? कोई व्यक्त ही सुख (की सृष्टि) का हेतु बन सकता है, अव्यक्त नहीं ॥

यदि कहो कि भाव (=पदार्थ) उन सुखादि के हेतु हैं, तो यह भी उचित नहीं; क्यों कि इन पर (पीछे इसी परिच्छेद में ८१-८७ तथा १२८-९ कारिका में) विचार किया जा चुका है ॥

१३२. एक बात और ! पटादि से आप सुख की उत्पत्ति मानते हो, पर जब पट की ही सत्ता सिद्ध नहीं कर पाये तो उससे सुखादि की उत्पत्ति कैसे करोगे ! ॥

सुखदुःखमोहानां च। चकारोऽधिकदोषविवक्षायाम्। **नित्यत्वं** ध्रुवस्वभावत्वं **कदाचिन्नोपलभ्यते** न दृश्यते। गुणानामेव असत्त्वात् तेषां नित्यत्वाद्ययोगात्॥ १३२॥

यदि च सुखादीनां नित्यत्वं स्यात्, तदा नित्यमुपलभ्येरन्नित्याह—

* सत्यामेव सुखव्यक्तौ संवित्तिः किं न गृह्यते ?

यदि सत्यमवस्थितरूपाः सुखादयः, तथा सर्वदेति सदा तत्संवेदनं स्यात्, तत्स्वभावापरित्यागादिति समुदायार्थः। **सत्यामेव सुखव्यक्तौ**। एकदा भूतायां सुखव्यक्तौ सुखस्य नित्यत्वे सति। **संवित्तिः किं न गृह्यते**। सुखस्य संवेदनं सर्वदा किं न स्यात्? न च सर्वदा संवेदनमस्ति। तस्मात् कदा- [P 566] चिदनुपलभ्यमानं तत् तदा नास्तीति निश्चितमिति कथं नित्यत्वम्?

स्यादेतत्, सर्वदा व्यक्तिरूपतायां स्यादेष दोषः। यदा पुनस्तदेव शक्तिरूपतया लयगतं भवति तदा न दोष इत्याह—

* तदेव सूक्ष्मतां याति स्थूलं सूक्ष्मं च तत् कथम्! ॥ १३३॥

तदेव व्यक्तावस्थितिं कृत्वा भावसमाश्रयात्, पश्चादनुपलम्भकाले **सूक्ष्मतां याति**, दिवा नक्षत्राणीव अनुपलब्धस्वभवतां समाश्रयते, तदेतदसङ्गतम्।

कुतः? यद् यस्मात् **स्थूलं** व्यक्तस्वभावं सत्, **सूक्ष्मं तत् कथम्**? अव्यक्तस्वभावं तत् सुखादि कथम्? नित्यतया नानास्वभावतया एकस्य न युक्तेति भावः॥ १३३॥

अथापि स्यात्—एकदा परस्परविरुद्धयोरेकस्मिन्नयोगः पूर्वधर्मनिवृत्तौ तु धर्मान्तरोत्पत्तेर्न दोष इत्याह—

* स्थौल्यं त्यक्त्वा भवेत् सूक्ष्मममनित्ये स्थौल्यसूक्ष्मते।

स्थौल्यमाविर्भावरूपतां त्यक्त्वा परित्यज्य भवेत् सूक्ष्मं तिरोहितरूपं

और सुखादि तो असत् हैं। उनका नित्यत्व कभी सम्भव ही नहीं है॥

१३३. [प्रश्न–] यदि सुखादि नित्य होते तो एक बार उसकी व्यक्ति (उदय) होने पर निरन्तर उसके संवेदन का सद्भाव रहना चाहिये, ऐसा तो होता नहीं?॥

[उत्तर–] व्यञ्जकसामग्री का अभाव होने पर वह (सुखादि) सूक्ष्म हो जाता है, अतः संवेदन नहीं हो पाता॥

[प्रश्न–] अरे भाई! एक ही वस्तु का वह स्थूल-सूक्ष्म भेद कैसे?

स्यात्। एवमभ्युपगमे सति अनित्ये स्थौल्यसूक्ष्मते उत्पादविनाशालीढत्वाद-ध्रुवे स्थौल्यसूक्ष्मते स्याताम्। भवतां नाम अनित्ये, का क्षतिः ? इत्याह–

* सर्वस्य वस्तुनस्तद्वत्किं नानित्यत्वमिष्यते ॥ १३४ ॥

सर्वस्य वस्तुनः पञ्चविंशतितत्त्वलक्षणस्य। **तद्वत्** स्थौल्यसूक्ष्म-[P 567] तावत् **किं नानित्यत्वमिष्यते ?** किमिति निरन्वयविनाशः न स्वीक्रियते ? अयमभिप्रायः–स्थौल्यसूक्ष्मतयोरपि निरन्वयविनाशासदुत्पादमन्तरेण नाविर्भावतिरोभावौ युक्तौ। अन्यथा कथञ्चित् केनचिद्रूपेण अवस्थानात् पूर्ववत् पुनरुपलब्धेः प्रसङ्गः। तद्वत् सुखादीनामपि। तस्मादवश्यं तयोर्निरन्वयविनाशासदुत्पादौ च अङ्गीकर्तव्यौ। यथा च तयोरेतौ भवतः, तथा अन्येषामपि विशेषाभावात् स्यातामिति ॥

किञ्च, यदि स्थौल्यसूक्ष्मतयोर्विनाशोत्पत्ती इष्येते, तदा सुखादीनामनित्यताप्रसङ्गः स्यात्। तथा हि तत् स्थौल्यं सुखाद्भिन्नमभिन्नं वा स्यात् ? तत्र यदि भिन्नम्, तदा तस्मिन् निवृत्तेऽपि पूर्ववत् सुखसंवेदनं स्यात्। न हि पटे निवृत्तेऽपि घटस्यानुपलब्धिर्युक्ता ; तस्य तदिति सम्बन्धकल्पनायामनवस्थानप्रसङ्गात्। न च सत्यपि सम्बन्धे अकारणस्य निवृत्तौ अन्यस्य निवृत्तिर्युज्यते, गोनिवृत्ताविव तत्स्वामिनः। नापि सुखस्य तत् कारणम्, पटादेरेव सुखोत्पत्तेः। नापि तदपि कारणम्, सुखादिसमानकालत्वात्तस्य॥ १३४ ॥

अथ अभिन्नमिति पक्षः ? अत्रोच्यते—

* न स्थौल्यं चेत् सुखादन्यत्,

यदि **स्थौल्यं सुखादन्यत्** भिन्नं न भवति, तदा स्यात् सुखमेव तत्। तदा—

* सुखस्यानित्यता स्फुटम्। [P 568]

तत्स्वभावतया स्थौल्यस्य निवृत्तौ सुखस्य विनिवृत्तेः **सुखस्य अनित्यता** विनश्वरता **स्फुटं** निश्चितम् ॥

स्यादेतत्, यदि सर्वथा विनाशः स्यात्, तदा सुखस्य पुनरुत्पत्तिर्न स्यात्। अत्यन्तासतो गगनोत्पलवदुत्पादायोगात्, इति परमतमुपदर्शयन्नाह—

---

१३४. यदि कहो कि वह स्थूलता छोड़कर सूक्ष्म हो जाता है, तो स्थूलत्व और सूक्ष्मत्व अनित्य हो गये। जब इन दो को आपने अनित्य मान लिया तो अन्य में भी अनित्यत्व मान लेने में क्या हर्ज है ! ॥

* नासदुत्पद्यते किञ्चिदसत्त्वादिति चेन्मतम् ।

यत् सर्वथा कारणात्मनि अविद्यमानं तन्नोत्पद्यते, यथा गगनाम्भोरुहम् । तथा च अन्यदपि यदि स्यात्, तदा नोत्पद्यते । अतो **नासदुत्पद्यते किञ्चित्**, नात्यन्तासत्स्वभावमुत्पद्यते किञ्चित् । कुतः ? **असत्त्वात्** अभावात्, **इति चेन्मतम्**, एवं यदि सम्मतम्, तदा नैतद्वक्तव्यमित्याह—

* व्यक्तस्यासत उत्पत्तिरकामस्यापि ते स्थिता ।। १३५ ।।

व्यक्तस्यासतः प्राक् शक्त्यवस्थायामविद्यमानस्य व्यक्तस्य पश्चादुत्पत्तिरुत्पादः अनभिलाषिणोऽपि ते तव सदुत्पत्तिवादिनः **स्थिता** आपन्ना । अन्यथा प्रागपि तस्य सद्भावे पश्चाद्वत् पूर्वमपि तदुपलब्धिप्रसङ्गः । यथा व्यक्तस्यासत उत्पत्तिः, तथा यदि अन्यस्यापि स्यात्, तदा न विरुध्यते किञ्चित् ।। १३५ ।।

अपि च सत्कार्यवादिनः कारणावस्थायां कार्यसद्भावात् इदमपि दूषणमपरमाशङ्क्यते इत्याह—

* अन्नादोऽमेध्यभक्षः स्यात्, [P 569]

अन्नमत्तीत्यन्नादः अन्नभक्षकः, **अमेध्यभक्षः स्यात्** अशुचिभोक्ता भवेत् । कथम् ?

* फलं हेतौ यदि स्थितम् ।

कार्यं यदि कारणे सत्स्वभावम् । तथाहि—कार्यममेध्यमन्नस्य, तच्च अन्नावस्थायामेव **सत्कार्यवादिनो** विद्यते, इति अन्नभक्षणात् तद्भक्षणमाशङ्क्यते भवतः ।

किञ्च, इदमपि सत्कार्यवादिनः प्रसङ्गान्तरमासञ्जयन्नाह—

* पटार्घेणैव कर्पासबीजं क्रीत्वा निवस्यताम् ।। १३६ ।।

---

१३५. (यदि तत्स्वभाव होने के कारण स्थूलता की निवृत्ति होने पर सुख की निवृत्ति हो जाती है तो) सुख की अनित्यता (नश्वरता) स्पष्ट सिद्ध हो जाती है ।

यदि यह कहो कि कोई असत् पदार्थ, उसकी सत्ता न होने के कारण, उत्पन्न नहीं होता, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि आपके मत में अनिच्छा से भी व्यक्त की उत्पत्ति होती है जो अव्यक्तावस्था में असत् होता है ।।

१३६. यदि कार्य (=फल) को कारण (=हेतु) में सत् मानोगे तो शाकाहारी को मांसाहारी मानना पड़ेगा । और कपड़ा (=कार्य) खरीदने के लिये रखे गये पैसों से कपास के बीज (=कारण) खरीदकर पहनने पड़ेंगे ।।

फलं हेतौ यदि स्थितमिति सम्बन्धः। कर्पासबीजे कारणे भविष्यतः पटस्य कार्यस्य सद्भावात् पटस्यार्घेण मूल्येन कर्पासबीजं क्रीत्वा गृहीत्वा निवस्यतां परिधीयताम् ।। १३६ ।।

अथापि स्यात्—यदि नाम परमार्थतः कारणे कार्यमस्ति, तथापि नायं संवृत्यविद्यातिमिरोपहतलोचनः सांव्यवहारिको लोकः पश्यतीत्याशङ्कयन्नाह—

* मोहाच्चेन्नेक्षते लोकः,

मोहादज्ञानात् सदपि वस्तुतत्त्वं नेक्षते न पश्यति लोकः। ततो नोक्तदोषप्रसङ्गः। चेद् यदि। ननु—

* तत्त्वज्ञस्यापि सा स्थितिः ।। १३७ ।। [P 570]

यदि नाम न लोकोऽपश्यंस्तथा व्यवहारं करोति, तत्त्वज्ञस्य तु युज्यते। न चैवम्। यतः तत्त्वज्ञस्यापि कारणे कार्यमस्तीति परमार्थवेदिनोऽपि सांख्यस्य सा स्थितिः, सैव सर्वसांव्यवहारिकजनसाधारणी व्यवस्थितिः। तेऽपि दृश्यन्ते अन्नभक्षणादिषु प्रवर्तमानाः कर्पासबीजं पटार्थिनः परिहरन्तः ।।

नाप्ययमत्र परिहारो युज्यते इत्याह—

* लोकस्यापि च तज्ज्ञानमस्ति कस्मान्न पश्यति।

लोकस्य सांव्यवहारिकजनस्यापि तज्ज्ञानमस्ति, येन कार्यं कारणेऽस्तीति प्रतिपद्यते, न तत्त्वज्ञस्यैव। तथाहि—कार्यं दृष्ट्वा कारणे अस्तीति निश्चयः उभयोरपि तत्त्वज्ञस्य लोकस्य च साधारणः। अतो लोकः कस्माद्धेतोर्न पश्यति ? तत्र लोकस्यादर्शनकारणं वक्तव्यम् ?

लोकस्य दर्शनमप्रमाणमिति चेदत्राह—

* लोकाप्रमाणतायां चेत्,

लोकस्य सांव्यवहारिकजनस्य अप्रमाणतायां तज्ज्ञानस्याप्रमाण्ये—

---

१३७. यदि यह कहो कि मोह (अज्ञान) वश लोग वस्तुतत्त्व को नहीं देख पाते, अतः उपर्युक्त दोष नहीं आयगा ? तो ज्ञानी की भी यही दशा है। वह भी व्यवहार में कपड़ा (कार्य) ही खरीदता है, कपास के बीज (कारण) नहीं ।।

१३८. [प्रश्न—] संवृतज्ञानी (सांव्यवहारिक) को भी तो यह ज्ञान है ही कि कार्य कारण में होता है, उधर तत्त्वज्ञानी को भी यह ज्ञान है ही; तो फिर दोनों

* व्यक्तदर्शनमप्यसत् ॥ १३८ ॥

व्यक्तस्य आविर्भूतस्वरूपस्य **संदर्शनम्** । तद**प्यसत्** अप्रमाणं स्यात् । न तस्माद् वस्तुतत्त्वव्यवस्था प्राप्नोति । एतच्च अस्माभिरिष्यते एव; सर्व- [P 571] सांव्यवहारिकप्रमाणानां परमार्थतोऽप्रमाणत्वात् । तथा च भवतोऽपि अस्मत्पक्षनिक्षेपः ॥ १३८ ॥

एवं च परिनिष्ठितः **कापिलः सिद्धान्तवादिनोऽपि** साधारणदूषण- मासञ्जयन्नाह--

* प्रमाणमप्रमाणं चेन्ननु तत्प्रमितं मृषा ।

यदि **प्रमाणमपि** परमार्थतः **प्रमाणं न** भवतीति भवतां पक्षः, **ननु तत्प्रमितं मृषा** । प्रमाणस्याप्रमाण्ये तत्प्रमितं तेन प्रमाणेन परिच्छिन्नं मृषा अलीकं प्राप्नोति । किमतः स्यात् ?

* तत्त्वतः शून्यता तस्माद् भावानां नोपपद्यते ॥ १३९ ॥

यदि प्रमाणस्याप्रमाण्ये तत्प्रमितं मृषा, तदा येयं **भावानां** धर्माणां **तत्त्वतः** परमार्थतः **शून्यता** सर्वधर्मनिःस्वभावता **तस्मात्** प्रमाणान्निश्चिता, सापि **नोपपद्यते**, न सङ्गच्छते । सर्वप्रमाणोपदर्शितस्य मृषार्थत्वात् सापि सर्वधर्मनिःस्वभावता तद्विचारकप्रमाणोपदर्शितैव इति समानो न्यायः ।१३९।

अत्र परिहारमाह--

* कल्पितं भावमस्पृष्ट्वा तदभावो न गृह्यते ।

कल्पनाकल्पितं समारोपितं **भावमस्पृष्ट्वा** कल्पनाबुद्ध्या अगृहीत्वा **तस्माद्भावो न गृह्यते** नालम्ब्यते । तथाहि घटमारोपितरूपेण परिकल्प्य

को समान ज्ञान होने पर सांव्यवहारिक (साधारण लोग) इस बात को क्यों नहीं समझते ? ॥

साधारण लोगों की अप्रमाणता मानने पर उनके ज्ञान का भी आप्रमाण्य मानना पड़ेगा, तब तो पूरा लोकव्यवहार असत् हो जायगा । और तब आप भी हमारा पक्षसमर्थन करने को ही विवश होंगे ।

१३९. [सां० वा०] यदि प्रमाण को भी परमार्णतः प्रमाण नहीं मानोगे तो आपकी प्रमाणसिद्ध शून्यता को भी परिकल्पित मानना होगा, और तब आपकी सारी दर्शनमित्ति ही बिखर जायगी ॥

१४०. [उत्तर---] भाव की कल्पना न करने पर अभाव पकड़ में नहीं

तत्सम्बन्धितया घटाभावं प्रतिपद्यते लोकः । घटस्य विचारेण लोकप्रसिद्धेनैव यदा न किञ्चित् स्वरूपमवतिष्ठते, तदा तदभावः तद्विपर्ययरूपः सुतरां न कश्चित् । तदेवोपदर्शयन्नाह—

* तस्माद् भावो मृषा यो हि तस्याभावः स्फुटं मृषा ॥१४०॥ [P 572]

यस्मात् कल्पितभावविवेकेन अभावो गृह्यते, **तस्माद्भावो मृषा यः तस्याभावः स्फुटं मृषा** । तस्य निःस्वभावस्य भावस्य अभावः = विरहः, स्फुटम् निश्चितम् मृषा असत्यः; तस्यापि परिकल्पितरूपत्वात् । एवं च भावाभावयोः परिकल्पितरूपत्वे सर्वधर्मनिःस्वभावतैव अवतिष्ठते ॥ १४० ॥

पुनरिदमेव उपसंहारव्याजेन विस्पष्टयन्नाह—

* तस्मात् स्वप्ने सुते नष्टे स नास्तीति विकल्पना ।

यस्माद्भावाभावौ कल्पनोपस्थापितत्वान्मृषार्थौ **तस्मात् स्वप्ने** मिद्धाक्रान्तचित्तावस्थायामुत्पन्नविनिष्टे **सुते** पुत्रे सति **स** पुत्रो **नास्तीति विकल्पना** तदभावविकल्पः । किं करोति ?

* तद्भावकल्पनोत्पादं विबध्नाति;

तस्य सुतस्य भावः तस्यास्तित्वं तस्य **कल्पना** सत्त्वसमारोपः तस्योत्पादः उन्मज्जनं तं **विबध्नाति**[1] । निषेधयति–तथैव तर्हि सेति चेन्न;

* मृषा च सा ॥ १४१ ॥

सा कल्पना तद्भावकल्पनां विबध्नाती अपि **मृषा** । अलीकसुतस्य स्वप्ने अनुत्पन्नानिरुद्धत्वात् । अथवा सत्याभिमते एव सुते स्वप्ने नष्टे सर्वमेतद्योजनीयम् । एवं सर्वधर्माणामुत्पादनिरोधौ कल्पनोपदर्शितौ [P 573] द्रष्टव्यौ ।

एतदुक्तं भवति –यथा स्वप्नोपलब्धस्य वस्तुनोऽनुत्पन्नानिरुद्धस्यापि कल्पनोपदर्शितौ भावाभावौ न परमार्थसन्तौ, अथ च कल्पनया व्यवहारगोचरमुपगतौ प्रतिभातः, न च सा कल्पना असत्यार्थविषयतया अप्रमाणम्, तद्विषयस्य परमार्थतो निःस्वभावत्वात्, तथैव जाग्रद्दशायामुपलब्धयोरपि

आता । इस लिये जो भाव मिथ्या सिद्ध है उसका अभाव भी स्पष्ट ही मिथ्या है ॥

१४१. जैसे स्वप्न में पुत्र के नष्ट होने पर उसके न होने की कल्पना उसके होने को कल्पना को रोकती भी है और स्वयं को मृषा (असत्) भी सिद्ध करती है ॥

---

१. निबध्नाति–मु० पु० पा० ।

भावाभावयोर्व्यवहारपथमुपगतयोः कल्पनाप्रतिपादितयोर्व्यवस्था। इति तस्या अप्रामाण्येऽपि न सर्वधर्मनिःस्वभावता विघटते। यदाह **नागार्जुनः चतुःस्तवे**—

"उत्पन्नश्च स्थितो नष्ट उक्तो लोकोऽर्थतस्त्वया।
कल्पनामात्रमित्यस्मात् सर्वधर्माः प्रकाशिताः ॥
कल्पनाप्यसती प्रोक्ता यया शून्यं विकल्प्यते"।

[चतुः०, ३.३४]

इति सर्वं समञ्जसम् ॥ १४१ ॥

हेतुवादसमीक्षणम्

एवमहेतुभूतस्वभावेश्वरप्रधानकर्तृत्वं जगतो निराकृत्य 'नाप्यहेतुतः' इत्यस्यार्थं प्रसाध्य उपसंहरन्नाह—

* तस्मादेवं विचारेण नास्ति किञ्चिदहेतुतः।

यतः स्वभावादिसम्भूतं न किञ्चित् कार्यमुपपद्यते, **तस्मादेवं विचारेण** [P 571] समनन्तरनिरूपणेन **नास्ति किंचिदहेतुतः** स्वभावादेरहेतुतोऽकारणाज्जातं किंचित् कार्यं नास्ति न विद्यते। उपलक्षणं चैतत्। पुरुषकालादिकृतत्वमपि नास्ति, तेषामप्यहेतुत्वात्। अतो नाप्यहेतुत इति सिद्धम्।

ननु यदि नाम स्वभावेश्वरप्रधानादेरहेतुतो न किंचिदस्ति, तथापि परिदृष्टकारणादेव परमार्थतः उत्पत्स्यते। तत् कथं सर्वधर्माणां निःस्वभावता सेत्स्यति ? इति पराशयमाशङ्क्य "न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्याम्" इति कोटित्रयं समर्थयन्नाह—

* न च व्यस्तसमस्तेषु प्रत्ययेषु व्यवस्थितम् ॥ १४२ ॥

न च नैव। **व्यस्तसमस्तेष्विति** व्यस्तेषु समस्तेषु च। तत्र न च व्यस्तेषु, एकैकशः स्वतः परतश्चेति। नापि समस्तेषु द्वाभ्यां स्वपराभ्याम्। **प्रत्ययेषु** कारणेषु। **व्यवस्थितम्** उत्पादरूपतया प्रतिष्ठितं किञ्चित्।

१. तत्र न तावत् स्वतः स्वभावाद्भावा उत्पद्यन्ते। उत्पादात् पूर्वं तस्य स्वभावस्याविद्यमानत्वात् कुत उत्पद्यन्ताम् ? उत्पन्ने च तस्मिन् सत्यपि स्वरूपे तस्यापि निष्पन्नत्वात् किमुत्पद्यन्ताम् ? अपि च स्वत एव जन्मनि

---

१४२. [हेतुवादसमीक्षा—] इस तरह विचार करने पर प्रमाणित हो हो गया कि अहेतु (स्वभाव, ईश्वर, प्रकृति, परमाणु) से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता।

सचाई यह है कि कार्य स्व या पर (व्यस्त) और समस्त (सम्मिलित स्व, पर) कारणों (प्रत्ययों) पर निर्भर नहीं (उत्पादरूपतया प्रतिष्ठित नहीं) [१. कार्य स्वतः

जातस्यैव पुनर्जन्म स्यात्, न च तद्युक्तम्; कृतस्य कारणयोगात्। जातस्य पुनर्जन्मनि बीजादीनामेव आसंसारं प्रवृत्तेः नांकुरादयः कदाचिदुत्पत्तुमवसरं लभेरन्। न च एतदभ्युपगच्छतोऽपि लोकत एव बाधामनुभवत् [P 575] सिद्धिपथमुपयाति; बीजादेरङ्कुराद्युत्पत्तिदर्शनात्। न च बीजाङ्कुरयोरैक्यम्, उभयोरपि भिन्नरूपरसवीर्यविपाकत्वात्। स्वस्वभावजन्यत्वे च कस्यचिदुत्पत्तिरेव न स्यात्, इतरेतराश्रयत्वात्। तथा हि यावत् स्वभावो न भवति, तावदुत्पत्तिर्न स्यात्, यावच्च उत्पत्तिर्न भवति, तावत् स्वभावो न स्यात्। तस्मान्न स्वतः किञ्चिदुत्पद्यते ॥

२. नापि परतः। परतो हि जन्मनि इष्यमाणे शालिबीजादपि कोद्रवाङ्कुरस्योत्पत्तिप्रसङ्गः। शालिकोद्रवयोरपि च कोद्रवाङ्कुरापेक्षया परत्वमविशिष्टम्, सर्वस्य वा जन्म सर्वतो भवेत्; सर्वेषां परस्परं परत्वाविशेषात्। न सर्वस्योत्पत्तिरिति चेत्, न; अनुत्पन्ने हि कार्ये कस्मिन् पुनरस्य शक्तिरिति वक्तव्यम्। न च कार्यकारणयोरसमानकालतया जन्यजनकभावप्रतिनियमोऽपि कश्चित्। अत एव एकसन्ततिप्रतिनियमोऽपि न युक्तः; कार्यकारणमन्तरेण सन्ततेरभावात्। तस्य च एकक्षणानवस्थानात् केयं सन्ततिर्नाम ? पूर्वापरक्षणप्रवाहस्य च कल्पनासमारोपित्वात् नास्ति संततिर्वास्तवी। एतेन सादृश्यमपि नियामकमिह निरस्तम्। इति न [P 576] किंचित् केनचिदेकसन्ततिपतितं सदृशं वा जन्यजनकभावनियतं वा अस्ति; जन्यजनकभावस्यैव चात्र चिन्त्यत्वात् कथं तेनैव परिहारः ? तस्मात् परतोऽपि न कस्यचित् सम्भवः ॥

३. नापि द्वाभ्याम्, प्रत्येकपक्षोक्तसर्वदोषप्रसङ्गात्। प्रत्येकं च द्वयोरशक्तयोर्मिलितयोरप्यसामर्थ्यात्। न हि एकेनान्धेनादृष्टमार्गो बहुभिरपि द्रष्टुं शक्यते। प्रत्येकं वा सिकतास्तैलदानासमर्था मिलिता अपि तत्समर्था भवन्ति। तस्मादुभयपक्षप्रतिपादितदोषप्रसङ्गात् द्वाभ्यामपि न कस्यचिदुत्पत्तिसम्भवः ॥

इति स्वपरोभयजनितमहेतुजनितं वा तत्त्वतो न किञ्चिदस्ति। तस्मात् परमार्थतोऽनुत्पन्नानिरुद्धस्वभावं मायामरीचिप्रतिबिम्बप्रतिश्रुत्कासमं

उत्पन्न नहीं हो पाता; क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व उसकी सत्ता नहीं। २. परतः भी उत्पन्न नहीं हो पाता; क्योंकि किसी अन्य से उसकी उत्पत्ति मानने पर, सबसे सबकी उत्पत्ति होने लगेगी। ३. स्व-पर दोनों (समस्त) से उत्पत्ति मानने पर उपर्युक्त दोनों आपत्तियाँ गले पतित हो जाँयगी] ॥

प्रतीत्यसमुत्पन्नं स्वभावशून्यमेव सर्वं विश्वमाभासते। न तु पुनरिदम्प्रत्ययतामात्रं सांवृतमिह निषिध्यते। यदुक्तमत्र भगवता **शालिस्तम्बसूत्रे**—

"तत्र कथं प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति? इहोक्तं भगवता—य इमं प्रतीत्यसमुत्पादं सततसमितं निर्जीवं यथावदविपरीतमजीवमजातमभूतमकृतमसंस्कृतमप्रतिघमनालम्बनं शिवमभयमनाहार्यमव्ययमव्युपशमस्वभावं पश्यति, स धर्मं पश्यति। यस्तु एवं सततसमितं निर्जीवम्–इत्यादि पूर्ववत् यावत्–अव्युपशमस्वभावं पश्यति, सोऽनुत्तरधर्मशरीरं बुद्धं पश्यति। [P 577] [आर्यधर्माभिसमये सम्यग्ज्ञानादुपनयेनैव ?] प्रतीत्यसमुत्पाद इति कस्मादुच्यते? सहेतुकः सप्रत्ययो नाहेतुको नाप्रत्यय इत्युच्यते। पे०..... अथ च पुनरयं प्रतीत्यसमुत्पादो द्वाभ्यां कारणाभ्यामुत्पद्यते। कतमाभ्यां द्वाभ्यां कारणाभ्यामुत्पद्यते? हेतूपनिबन्धतः, प्रत्ययोपनिबन्धतश्च। सोऽपि द्विविधो द्रष्टव्यः–बाह्यश्च, आध्यात्मिकश्च। तत्र बाह्यस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धः कतमः? यदिदं बीजादङ्कुरः, अङ्कुरात् पत्रम्, पत्रात् काण्डम्, काण्डान्नालम्, नालाद् गण्डः, गण्डाद्गर्भम्, गर्भाच्छूकः, शूकात् पुष्पम्, पुष्पात् फलमिति। असति बीजेऽङ्कुरो न भवति, यावदसति पुष्पे फलं न भवति, सति तु बीजे अङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। एवं यावत् सति पुष्पे फलस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। तत्र बीजस्य नैवं भवति–अहमङ्कुरमभिनिर्वर्तयामीति। अङ्कुरस्यापि नैवं भवति–अहं बीजेनाभिनिर्वर्तित इति। एवं यावत् पुष्पस्य नैवं भवति–अहं फलमभिनिर्वर्तयामीति, फलस्यापि नैवं भवति–अहं पुष्पेणाभिनिर्वर्तितमिति। अथ पुनर्बीजे सति अङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति प्रादुर्भावः। एवं यावत् पुष्पे सति फलस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति प्रादुर्भावः। एवं बाह्यस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धो द्रष्टव्यः।

[P 578] कथं बाह्यस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य प्रत्ययोपनिबन्धो द्रष्टव्यः? षण्णां धातूनां समवायात्। कतमेषां षण्णां धातूनां समवायात्? यदिदं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशऋतुसमवायात् बाह्यस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य प्रत्ययोपनिबन्धो द्रष्टव्यः। तत्र पृथिवीधातुर्बीजस्य सन्धारणकृत्यं करोति। अब्धातुर्बीजं स्नेहयति। तेजोधातुर्बीजं परिपाचयति। वायुधातुर्बीजमभिनिर्हरति। आकाशधातुर्बीजस्यानावरणकृत्यं करोति। ऋतुरपि बीजस्य परिणामनाकृत्यं करोति। असत्सु एषु प्रत्ययेषु बीजादंकुरस्याभिनिर्वृत्तिर्न भवति। यदा बाह्यश्च पृथिवीधातुरविकलो भवति, एवमप्तेजोवाय्वाकाशऋतुधातवश्च अविकला भवन्ति। तदा सर्वेषां समवायात् बीजे निरुध्यमाने

अङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति । तत्र पृथिवीधातोर्नैवं भवति-अहं बीजस्य सन्धारणाकृत्यं करोमीति । एवं यावदृतोरपि नैवं भवति-अहं बीजस्य परिणामनाकृत्यं करोमीति । अङ्कुरस्यापि नैवं भवति-अहमेभिः प्रत्ययैर्जनित इति । अथ पुनः सत्सु एतेषु बीजे निरुध्यमाने अङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति । स चायमङ्कुरो न स्वयंकृतो न परकृतो नोभयकृतो नेश्वरनिर्मितो न कालपरिणामितो न प्रकृतिसम्भूतो न चैककारणाधीनो नाप्यहेतुसमुत्पन्नः । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशऋतुसमवायात् बीजे निरुध्यमाने अङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति । एवं बाह्यस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य प्रत्ययोपनिबन्धो द्रष्टव्यः ॥

तत्र बाह्यः प्रतीत्यसमुत्पादः पञ्चभिः कारणैर्द्रष्टव्यः । कतमैः [P 579] पञ्चभिः ? न शाश्वततः, नोच्छेदतः, न संक्रान्तितः, परीत्तहेतुतः विपुलफलाभिनिर्वृत्तितः, तत्सदृशानुप्रबन्धतश्चेति । १. कथं न शाश्वतत इति ? यस्मादन्योऽङ्कुरोऽन्यद्बीजम्, न च यदेव बीजं स एवाङ्कुरः । अथवा पुनः— बीजं निरुध्यते, अङ्कुरश्चोत्पद्यते । अतो न शाश्वततः । २. कथं नोच्छेदतः ? न च पूर्वनिरुद्धाद्बीजादङ्कुरो निष्पद्यते, नाप्यनिरुद्धाद् बीजात्, अपि च, बीजं च निरुध्यते, तस्मिन्नेव समयेऽङ्कुर उत्पद्यते, तुलादण्डोन्नामावनामवत् । अतो नोच्छेदतः । ३. कथं न संक्रान्तितः ? विसदृशो बीजादङ्कुर इति । अतो न संक्रान्तितः । ४ कथं परीत्तहेतुतो विपुलफलाभिनिर्वृत्तितः ? परीत्तबीजमुप्यते, विपुलफलान्यभिनिर्वर्तयतीति । अतः परीत्तहेतुतो विपुलफलाभिनिर्वृत्तितः । ५. कथं तत्सदृशानुप्रबन्धतः ? यादृशं बीजमुप्यते तादृशं फलमभिनिर्वर्तयतीति । अतस्तत्सदृशानुप्रबन्धतश्चेति । एवं बाह्यः प्रतीत्यसमुत्पादः पञ्चभिः कारणैर्द्रष्टव्यः ॥ इति ।

आध्यात्मिकस्तु प्रतीत्यसमुत्पादः पूर्वमेव विस्तरेण प्रतिपादितः । इहापि योजयितव्यः । एवं परमार्थविचारे सांवृतमप्रतिषिद्धमेव ॥ १४२ ॥

त्रैकाल्यवादिमतनिरसनम्

ननु भावा नात्यन्तासम्भविनो भवन्ति । अपि तु हेतुप्रत्ययबलादनागतादध्वनो वर्तमानमध्वानमागच्छन्ति, वर्तमानात् पुनरनित्यता- [P 580] बलादतीतमध्वानं गच्छन्ति । इत्येवमुत्पादस्थितिविनाशव्यपदेशः । प्रतीत्यसमुत्पादोऽपि यथावदेवं सङ्गच्छते इति त्रैकाल्यवादिमतमाशङ्क्याह—

* अन्यतो नापि चायातं न तिष्ठति न गच्छति ।

---

१४३. [त्रैकाल्यवादिमतखण्डन–] त्रैकाल्यवादियों (सर्वास्तिवादियों) का यह

अन्यतो देशकालात्। नायातं नागतं किञ्चित्। नाप्यागतं सत् वर्तमानादध्वनः क्वचिद् गच्छति। नापि तेनैकस्वभावेन क्वचित्तिष्ठति। तथाहि—यदि अनागतादध्वनो वर्तमानमागच्छेत्, वर्तमानाद्वा अतीतम्, तदा संस्कृतमपि नित्यं स्यात्, सर्वदा विद्यमानत्वात्। नानित्यं नामास्ति, स च धर्मो न च नित्यः—इति कथमेतत् सेत्स्यति?

अथ पूर्वापरकालयोः कारित्रशून्यतया धर्मस्य अध्वसु विशेषः। तथा हि यदा असम्प्राप्तकारित्रः कृत्यं न करोति, तदा अनागतोऽभिधीयते, यदा करोति तदा प्रत्युत्पन्नः, यदा तु कृत्यान्निवृत्तः तदा अतीत इति विशेषः। एतदपि न किञ्चित्। तेनैवात्मना तस्यैव तथापि सद्भावात् कारित्रमपि कथं न स्यादिति वक्तव्यम्। प्रत्ययान्तरापेक्षापि नित्यमवस्थितरूपस्य न सम्भवति। कारित्रशून्यस्य च वस्तुत्वे अश्वविषाणादीनामपि तत्त्वप्रसङ्गः। कारित्रं वा कथमतीतमनागतं प्रत्युपन्नं च उच्यते? किं तदपरकारित्रसद्भावात्, स्वयमेव वा? पूर्वत्रावस्थानम्, पाश्चात्त्ये च धर्मस्यापि [P 581] स्वयमतीतत्वादिव्यवस्थायां किञ्चित् क्षीयते। यदि च। यथा वर्तमानं द्रव्यतोऽस्ति, तथा अतीतमनागतं चास्ति, तदा नैवम्। स्वभावेन सतो धर्मस्य कथमनुत्पन्नविनष्टस्वभावता? किमस्य पूर्वं नासीत् यस्याभावादजात इत्युच्यते? किं च पश्चान्नास्ति यस्याभावाद्विनष्ट इति? तेनैव चात्मना पूर्वापरकालयोरवस्थाने वर्तमानवदुपलब्ध्यादिप्रसङ्गः। तस्मादभूतत्वादभवनधर्मतो न सङ्गच्छते कथञ्चिदपि अध्वत्रययोगः, तत्त्वाभ्युपगमतो नातीतादिसद्भावः। तदयमत्र संग्रहश्लोकः—

"स्वभावः सर्वदा नास्ति, भावो नित्यश्च नेष्यते।
न च स्वभावाद् भावोऽन्यो व्यक्तमीश्वरचेष्टितम्"॥ इति।

यदप्युच्यते—'अस्त्यतीतं कर्म, अस्त्यनागतं फलम्', इति सूत्रवचनादस्त्यतीतादिभावः, तदपि हेतुफलापवादे तददृष्टिप्रतिषेधार्थमुक्तं भगवता—"अस्त्यतीतम्, अस्त्यनागतम्" इति। अतीतं तु यदभूतपूर्वमुत्पद्य विनष्टम्, अनागतं यत् सति हेतौ भविष्यति। एवं हि हेत्वाद्यस्तीत्युच्यते अस्तिशब्दस्य निपातत्वात् कालत्रयवृत्तित्वम्। इत्थं च एतदेवं यत् परमार्थशून्यतायामुक्तं भगवता—

"चक्षुर्भिक्षवः, उत्पद्यमानं न कुतश्चिदागच्छति, निरुध्य- [P 582] मानं न क्वचित् सन्निचयं गच्छति। इति हि, भिक्षवः चक्षुरभूत्वा भवति, भूत्वा च प्रतिगच्छति" इति॥

यदि च अनागतं चक्षुः स्यात्, नोक्तं स्यादभूत्वा भवतीति । तस्मान्नाध्वसंक्रान्तिरस्ति । यदि चैवम्, न कुतश्चिदागमनम्, क्वचिद् गमनं वा वा प्रज्ञायते, प्रतिभासमानस्य च प्रत्युत्पन्नस्य न रूपं किञ्चिद्विचारेणावतिष्ठते, तदा--

* मायातः को विशेषोऽस्य यन्मूढैः सत्यतः कृतम् ।। १४३ ।।

मायातः ऐन्द्रजालिकनिर्मितहस्त्यादिरूपाया अपि निःस्वभावतया **विशेषो** नैव कश्चित् **अस्य** हेतुप्रत्ययोपजनितस्य वस्तुरूपस्य परिदृश्यमानस्य ।।

कथं न विशेषः ? पुनरिदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह —

* मायया निर्मितं यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितम् ।
आयाति तत्कुतः कुत्र याति चेति निरूप्यताम् ।। १४४ ।।

मायाशब्देनात्र मायानिर्माणहेतुविज्ञानादिविशेष उच्यते, कारणे कार्योपचारात्, हेतोरपि मायास्वभावताप्रतिपादनार्थम् । **तया निर्मितम्**, **यच्च** वस्तुरूपं मायाहेतुना मायास्वभावेन यद्विरचितमिति यावत् । **यच्च** अन्यद्वस्तुरूपं **हेतुभिः** लोकप्रसिद्धैः कारणैर्जनितम् । परस्पर- [P 583] समुच्चयार्थं चकारद्वयम् । **आयाति** आगच्छति । तन्मायानिर्मितं वा वस्तुरूपं **कुतः** कस्मात् ? **कुत्र याति च** विनष्टं सत् क्व पुनरेतद् गच्छति ? इत्येवं **निरूप्यतां** सूक्ष्मेक्षिकया विचार्यताम्, यदि तस्य कुतश्चिदागच्छति, क्वचिद् गच्छति वा उपलभ्यते ।। १४४ ।।

ननु च, यदि हेतुप्रत्ययसामर्थ्योपजनितं वस्तुरूपम्, तदा कथमिव अलीकं स्यात् ? अत एव अलीकमित्याह—

कहना है कि पदार्थ हेतु-प्रत्यय के सहारे अनागत से वर्तमान में और वर्तमान से अतीत में चला जाता है, यों पदार्थ सदा रहता (परमार्थसत्) है । उनका यह कहना उचित नहीं; क्योंकि पदार्थ न कहीं दूसरी जगह से आता है, न कहीं ठहरता है, न कहीं जाता है । यदि पदार्थ का कहीं से आना-जाना मानोगे तो ऐन्द्रजालिकों द्वारा कृत माया-कार्यों से इनमें क्या विशेषता (भिन्नता) होगी । इसे तो मूर्खों ने अकारण ही सत्य मान रखा है ।।

१४४. [प्रश्न–] अब माया से निर्मित और हेतु-प्रत्ययापेक्ष पदार्थ कहाँ से आते है, कहाँ चले जाते है ? इसका निरूपण कीजिये (क्योंकि इन पर विचार करने का अवसर आ गया है) ।।

* यदन्यसन्निधानेन दृष्टं न तदभावतः।
प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कुतः[1] ॥ १४५ ॥

यद् वस्तुरूपम**न्यस्य** हेतुप्रत्ययस्य **सन्निधानेन दृष्टमु**पलब्धम्, **न तदभावतः**, तस्य अन्यस्य अभावतः न दृष्टम्, तत्पराधीनवृत्तित्वात्। **प्रतिबिम्बसमे** प्रतिबिम्बेन आदर्शमण्डलप्रतिभासिना मुखादिसादृश्येन तुल्ये। यथा मुखादिबिम्बादर्शमण्डलादिसन्निधानेन प्रतिबिम्बं प्रतिभासते, तथा वस्तुरूपमपि हेतुप्रत्ययसन्निधानयोरिति। एवम्भूते वस्तुरूपे **कृत्रिमे** परायत्तवृत्तितया अस्वाभाविके **सत्यता** अमृषार्थता **कुतः**? नैव युज्यते। न हि परोपनिधिस्वभावानामकृत्रिमता युक्ता। तदुक्तम्—

"हेतुतः सम्भवो येषां तदभावान्न सन्ति ये।
कथं नाम न ते स्पष्टं प्रतिबिम्बसमा मताः" ॥ इति।

[युक्तिषष्टिका]

[P 584] तस्मान्न हेतुप्रत्ययोपजनितं किञ्चित् परमार्थसदस्ति। न च हेतुप्रत्ययानां सामर्थ्यं क्वचिदपि परमार्थतः सम्भवति ॥ १४५ ॥

तथाहि—स्वपरोभयात्मकैर्हेतुभिर्विद्यमानो वा भावः क्रियते, अविद्यमानो वा, उभयस्वभावो वा? तत्र न विद्यमानः क्रियते इत्याह —

* विद्यमानस्य भावस्य हेतुना किं प्रयोजनम्?

विद्यमानस्य कारणव्यापारात् प्रागेव सत्स्वभावस्य **हेतुना** कारणेन **किं प्रयोजनम्**? कार्यस्य निष्पन्नात्मकतया निर्वर्त्यस्वभावाभावात् हेतुव्यापारस्यानुपयोगात्।

द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह—

* अथाप्यविद्यमानोऽसौ हेतुना किं प्रयोजनम्? ॥ १४६ ॥

---

१४५. [उत्तर—] जो दूसरों (हेतु-प्रत्यय) के सामीप्य से दिखायी देता है, और उस (हेतु-प्रत्यय) के अभाव में नहीं दिखायी देता; वह तो ऐसा ही हुआ जैसे दर्पण के रहने पर प्रतिविम्व दिखायी पड़ता है, दर्पण के अभाव में नहीं। तो प्रतिबिम्ब में सहायता (परमार्थता) कैसी! ॥

१४६. यदि पदार्थ सत्य हो तो उसका हेतुप्रत्यय से क्या प्रयोजन? यदि उस (पदार्थ) का अभाव है तो हेतु-प्रत्यय उसकी क्या सहायता करेंगे? ॥

अथापीति प्रकारान्तरद्योतने । अविद्यमानोऽसौ न सत्स्वभावः । तर्हि हेतुना किं प्रयोजनम् ? तदापि न हेतुना किमपि प्रयोजनमस्ति, [illegible]भावत्वात् हेतुव्यापाराभावात् ॥ १४६ ॥

स्यादेतत्—यदि नाम विद्यमानस्य निष्पन्नत्वात् कर्तव्याभावात् न हेतुना किमपि प्रयोजनम्, अविद्यमानस्य तु किं न भवतीत्याह—

* नाभावस्य विकारोऽस्ति हेतुकोटिशतैरपि ।

न अभावस्य अविद्यमानस्वभावस्य विकारोऽस्ति, अन्यथात्वं [[illegible]] भावस्वभावता अस्ति, नीरूपतया तस्यापि कर्तव्याभावात् । हेतुकोटिशतैरपि आस्तां तावद् हेतुशतैर्हेतुसहस्रैः, हेतूनां कोटिशतैरपि, तस्य [illegible] केनचिदपि विकारयितुमशक्यत्वात् । मा भवतु विकारः, [illegible] केवलमस्यास्तु चेदत्राह—

* तदवस्थः कथं भावः ?

तदवस्थोऽपपरित्यक्ताभावस्वभावः नैव भावः स्यात्, नाभाव एव भावो भवति केवलमभावस्वभावतानिवृत्तौ भावस्वभावो भवति । अत्राह—

* 　　　　　　को वान्यो भावतां गतः ॥ १४७ ॥

यदि न प्रागभावो भावस्वभावो भवति, को वा तर्हि [illegible] अपरो भावताम् अभावस्वभावतां परित्यज्य भावरूपतां गतः ? नान्यः कश्चित् प्रतीयते, कारणस्य कार्यस्वभावतायाः पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वात् ॥ १४८ ॥

स्यादेतत्, नान्यः कश्चिद् भावो भवति, किं तर्हि ? [illegible] भावविरोधिनः सद्भावात् तदा भावो न भवति, पश्चात् पुनस्तस्मिन्नपगते भवत्येवेत्याह—

---

१४७. जो असत् (अभावात्मक) है उसमें हजारों या करोड़ों हेतु-प्रत्यय कोई विकार[1] (अन्यथात्व) नहीं कर सकते ॥

[प्रश्न---] विना अभावत्वका परित्याग किये वह सत् (विकार को प्राप्त) कैसे होगा ?

अभाव से दूसरा कोई भाव है नहीं जो भाव बन जाय ॥

---

१. दार्शनिकों के मत में छह भावविकार होते हैं--१. जायते (उत्पत्ति), २. अस्ति, (सत्ता), ३. वर्धते, (वृद्धि), ४. विपरिणमते, (विपरिणाम), ५. अपक्षीयते, (अपक्षय), नश्यति (नाश), इति ।

* नाभावकाले भावश्चेत् कदा भावो भविष्यति ?

नाभावकाले अभावसत्तासमये न **भावश्चेत्**, यदि भावो न भवति, **कदा भावो भविष्यति ?** अभावकाले भावस्यानुत्पत्तिश्चेत्, न कदा- [P 586] चिद्भावस्योन्मज्जनं स्यात; अभावेन विरोधिना सदा क्रोडीकृतत्वात् । तेनैवोत्पद्यमानेन भावेन अभावस्य भविष्यतीति चेदाह—

* नाजातेन हि भावेन सोऽभावोऽपगमिष्यति ? ।। १४८ ।।

यावदसौ भावो न जायते, तावदभावस्य विनाशो नास्त्येव । **हिर्यस्मात** । तस्मात् **न अजातेन** अनुत्पन्नेन **भावेन सोऽभावः** प्रागभावरूपः **अपगमिष्यति** निवर्तयिष्यते ।। १४८ ।।

अथापि स्यात्—मा अपगच्छतु नाम अभावः, तस्मिन्ननपगते एव भाव उत्पद्यते उत्पन्ने च भावे भावाभावयोः परस्परपरिहारात् पश्चादभावः स्वयमेव अपगमिष्यतीति ? इत्याह—

* न चानपगते भावे भावावसरसम्भवः ।

भवत्येव क्रमः, यदि पूर्वं भाव एव भवेत् ! न चैतदस्ति । **चो** यस्मात् । **न चैव अनपगते** अनिवृत्ते **अभावे भावस्यावसरः** अवकाशः, तस्य **सम्भवः** । भावोत्पत्तिविरोधिनः अभावस्यैव भावात् । कारणेनैव तदभावो निवर्तयिष्यते चेत् ? न; कारणस्य कार्योत्पत्तावेव व्यापारात् । कार्यमुत्पादयदेव तदभावमपि निर्वर्तयतीति चेत् ? उत्पादयत्येव कार्यम, यदि तद्विरोधिनोऽभावादुत्पादयितुं क्षमते । न च तस्मिन्नप्रतिहतसामर्थ्ये तत्कार्य- [P 587] मुत्पादयितुं क्षमते । न च कारणेन तदभावस्य विरोधः, कारणकालेऽपि तत्प्रागभावस्य भावात् सत्तावस्थानात् । तस्माद्भावात्मनि अभावात्मनि वा कार्ये न कारणस्य व्यापारो युज्यते । उभयानुभयपक्षे च प्रत्येकपक्षनिषेधादेव कारणव्यापारस्य निषेधः कृतो भवतीति द्रष्टव्यम् । नापि तयोः सम्भवोऽस्ति । विरोधिनोरेकत्र एकदा विधिप्रतिषेधयोर्भावायोगात् । तदुक्तम्—

'न सन्नुत्पद्यते भावो नाप्यसन् सदसन्न च ।
न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां जायते कथम् ।।' इति ।।

[चतुः०, २.१३; ३.९]

---

१४८. अभाव (असत्) के समय भाव (सत्) यदि नहीं रहेगा तो भाव कब रहेगा, क्योंकि सत् यदि उत्पन्न न हो तो असत् (प्रागभाव) का नाश नहीं होगा ? ।।

एवं तावद्भावस्योत्पत्तिः परमार्थतो न कथञ्चिदपि सङ्गच्छते । नापि कथञ्चिदुत्पन्नस्य सत्स्वभावस्य निवृत्तिर्युज्यते ? इत्याह—

* भावश्चाभावतां नैति द्विस्वभावप्रसङ्गतः ॥ १४९ ॥

पूर्वापेक्षश्चकारः । यथा अभावो भावतां नैति तथा **भावश्च अभावतां नैति**, गच्छति । कुतः ? **द्विस्वभावप्रसङ्गतः** । भावस्य सतः यदा अभावस्वभावता भवति, तदा च एकस्यैव वस्तुनो द्वयोः स्वभावयोः प्रसङ्गः स्यात्, एकस्यैव भावाभावरूपत्वात् । न च भावतां परित्यज्य अभावरूपतां यातीति वक्तुमुचितम्; तदा च भावस्यैवाभावात् कोऽभावरूपतां यातीति न विद्मः । न च सत्स्वभावस्य पारमार्थिकत्वे निवृत्तिर्युक्ता, पारमार्थिकत्वस्य अभावप्रसङ्गात् ॥ १४९ ॥

इत्थं भावस्योत्पादविनाशयोः परमार्थतोऽभावं प्रसाध्य उपसंहरन्नाह–

* एवं न च निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा । [P 588]

एवमुक्तक्रमेण उत्पादविनाशायोगात् । **चौ** हेतौ । यस्मान्न **निरोधोऽस्ति**, न विनाशोऽस्ति, **न**[1] **च भावोऽस्ति**[1] न वस्तुसत्त्वमस्ति । चः समुच्चये । **सर्वदा** सर्वस्मिन् काले ।

"उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा तथागतानां स्थितैवैषा धर्माणां धर्मता धर्मसमता धर्मस्थितिता धर्मनियामिता धर्मधातुः तथता अवितथता" । इत्यादिवचनात् ।

यत एवम् –

* अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत् ॥ १५० ॥

अजातमनुत्पन्नम् । **अनिरुद्धं च** अविनष्टं परमार्थतः तस्मादुत्पादविनाशा-

---

१४९. और अभाव यदि अपगत (निवृत्त) न हो तो भाव को होने का अवसर कब मिलेगा ? अथच, भाव कभी अभाव होता ही नहीं, यदि हो, तो उसमें दो परस्पर विरोधी स्वभाव मानने होंगे ॥

१५०. [इस तरह आचार्य, भाव के उत्पाद-विनाश का परमार्थतः अभाव सिद्ध करते हुए, इस वाद का उपसंहार करते हैं—] और इस तरह (भाव का उत्पाद और विनाश सिद्ध न होने से) सब समय न विनाश है न सत्ता, अतः यह सारा जगत् परमार्थतः अनुत्पन्न एवं अविनष्ट है ॥

१—१. मूलपुस्तके नास्ति ।

भावात् पूर्वोक्तात् । **सर्वमशेषम्** । **इदं** निःस्वभावतासमानाधिकणं **जगद्** विश्वं सत्त्वभाजनलोकसञ्ज्ञितं सचराचरं वा । मायोत्पादनिरोधवद् व्यवहारवशात् पुनरुत्पादनिरोधौ स्तः । एतेन संवृतिसत्यस्याप्रतिषेध उक्तः ।

धर्मसंगीतौ चैतदुक्तम्—

तथता तथतेति, कुलपुत्र, शून्यताया एतदधिवचनम् । सा च शून्यता नोत्पद्यते न निरुध्यते ? आह—यदि एवं सर्वधर्माः शून्या उक्ता भगवता, [P 589] तत् सर्वधर्मा नोत्पद्यन्ते, न निरोत्स्यन्ते । निरारम्भो बोधिसत्त्वः ? आह—एवमेतत्, कुलपुत्र, यथाभिसम्बुध्यसे । सर्वधर्मा नोत्पद्यन्ते, न निरुध्यन्ते । आह—यदेतदुक्तं भगवता 'संस्कृता धर्मा उत्पद्यन्ते निरुध्यन्ते च' इत्यस्य तथागतभाषितस्य कोऽभिप्रायः ? आह—उत्पादनिरोधाभिनिविष्टः, कुलपुत्र, लोकसन्निवेशः । तत्र तथागतो महाकारुणिको लोकस्य त्रासपदपरिहारार्थं व्यवहारवशादुक्तवान्—उत्पद्यन्ते निरुध्यन्ते च । न चात्र कस्यचिद्धर्मस्य उत्पादो न निरोधः" ।। इति ।। १५० ।।

तस्मात् सर्वधर्मा अनुत्पन्नानिरुद्धस्वभावतया आदिशान्ताः प्रकृतिपरिनिर्वृताः, इति जगतो निःस्वभावतायां तदन्तर्गतानां नरकादिगतीनामपि निःस्वभावतैवेत्युपदर्शयन्नाह—

* स्वप्नोपमास्तु गतयो विचारे कदलीसमाः ।

स्वप्नेन **उपमा** तुल्यं यासां ताः तथोक्ताः । **तु**रवधारणे । स्वप्नोपलब्धस्वभाव**गतयः** नरकप्रेततिर्यङ्मनुष्यदेवानां सभागताविशेषाः । यथा स्वप्ने देशान्तरादिगमनागमनं सुखदुःखाद्यनुभवनं च तथा अनधिगतपरमार्थतत्त्वस्य नरकादिषु वेदितव्यम्, न तु तत्त्वतः । कथम् ? **विचारे कदलीसमाः** । हेतुपद- [P 590] मेतत् । सर्वधर्माणां निःस्वभावतया विचारे विमर्शे सति यस्मात् कदलीसमाः कदलीवन्निःसाराः गतयः, तस्मादित्यर्थः । एतेन यथोक्तं प्राक्—

"मायैवेयमतो विमुञ्च हृदय त्रासम्" (बो० च० ४.४७)

इत्यादि, तदपि प्रसाध्योपदर्शितं भवति । यतश्च अनुत्पन्नानिरुद्धाः सर्वधर्माः, अत आह—

* निर्वृतानिवृतानां च विशेषो नास्ति वस्तुतः ।। १५१ ।।

---

१५१. (नरक, प्रेत, तिर्यक्, मनुष्य और देवयोनि में, गतियाँ (गमनागमन) स्वप्न में देशान्तरादिगमन के सदृश हैं । उन पर विचार किया जायं तो वह गमनागमन केले की खम्भे की तरह निःसार प्रतीत होता है ।

निर्वृताः ये सर्वावरणप्रहाणाद्विनिर्मुक्तसर्वबन्धनाः। अनिर्वृताः ये रागादिक्लेशपाशायत्तचित्तसन्ततयः संसारचारकान्तर्गताः। तेषामुभयेषामपि विशेषो भेदो नास्ति, न सम्भवति। कुतः? वस्तुतः परमार्थतः सर्वधर्माणां निःस्वभावतया प्रकृतिपरिनिर्वृतत्वात्। संवृत्या पुनरस्ति एव विशेषः, इत्यनेकधा प्रतिपादितम्। अत एवाह—

"बुद्धानां सत्त्वधातोश्च येनाभिन्नत्वमर्थतः।
आत्मनश्च परेषां च समता तेन ते मता"॥ इति ॥ १५१॥

[चतुः० ३.४०]

इति परमार्थतत्त्वापरिज्ञानान्मिथ्याभिनिवेशादारोपितजगज्जालमुपकल्प्य आत्मनैव आत्मानमाकुलयति बालजनः—इत्युपदर्शयन्नाह—

* एवं शून्येषु धर्मेषु किं लब्धं किं हृतं भवेत्!
सत्कृतः परिभूतो वा केन कः सम्भविष्यति!॥ १५२॥

* कुतः सुखं वा दुःखं वा किं प्रियं वा किमप्रियम्! [P. 91]
का तृष्णा कुत्र सा तृष्णा मृग्यमाणा स्वभावतः!॥ १५३॥

* विचारे जीवलोकः कः को नामात्र मरिष्यति!
को भविष्यति को भूतः को बन्धुः कस्य कः सुहृत्!॥१५४॥

जो सर्वावरणप्रहाण कर मुक्तबन्धन (निर्वृत्त) हो चुके हैं और जिन के चित्त रागादि क्लेशपाश से बन्धे हुए हैं (अनिर्वृत्त हैं), वस्तुतः परमार्थतः इन दोनों में कोई भेद सम्भव नहीं है॥

१५२. इस तरह (उपर्युक्त प्रतिपादन-विधि से विचार करने पर) सभी धर्मो के शून्य (निःस्वभाव) सिद्ध हो जाने पर, उस जगत् में हमको क्या ऐसा मिल गया कि हम उस पर हर्ष प्रकट करते हैं, क्या खोया या छीना गया कि हम उस पर क्रोध प्रकट करते हैं! किससे किसका सत्कार या अपमान सम्भव है!॥

१५३. किससे सुख हो या किससे दुःख, किसे प्रिय मानें किसे अप्रिय! विचार करने पर, हमारे यही नहीं समझ में आ रहा है कि क्या तृष्णा करें और किस पर तृष्णा करें!

१५४. विचार करने पर हमारे लिये कैसा जीवलोक, और किसकी मृत्यु! यहाँ कौन पैदा हुआ, कौन मरा! किसका कौन भाई और कैसा मित्र!॥

एवं प्रतिपादितन्यायेन शून्येषु निःस्वभावेषु **धर्मेषु किं लब्धम्**, किं कुतश्चित् प्राप्तं यल्लाभेषु प्रहृष्यन्ति ? **किं हृतम्**, किमपहृतं केन कस्यचित् **भवेत्**, यल्लाभापहारेण प्रकुप्यन्ति ? **सत्कृतः** पूजितः, **परिभूतः** अपकृतो **वा केन कः सम्भविष्यति** ? वस्तुस्वभावाभावे न कश्चित् केनचिदित्यर्थः ॥ १५२ ॥

कुतः सुखहेतोरभावात् **सुखं वा**, कुतो **दुःखं वा**; दुःखहेतोरभावात् ? अन्योन्यसमुच्चयार्थं उभयत्र वाशब्दः । यत्प्राप्तिपरिहारार्थमायासः क्रियते । **किं प्रियं वा किं** वल्लभं वा ? प्रियरूपतायाः कल्पितत्वात् । **किमप्रियं** किमनभिलषणीयम् ? अप्रियमपि न परमार्थतः किञ्चित् विद्यते, इति किमर्थं प्रियाप्रियसंयोगवियोगार्थं प्रयत्नः क्रियते ? **का तृष्णा** यया लाभाद्यर्थं तृष्यति जनः ? **कुत्र सा तृष्णा**, कः पुनरासङ्गस्थाने वस्तुनि तृष्णा ? **मृग्यमाणा** [P 592] **स्वभावतः** । अन्विष्यमाणा स्वरूपतः । तद्विषयस्याभावात् निर्विषयतया तस्या अप्यभावः, यद्वशात् तत्तत् कर्म समुच्चीयते ॥ १५३ ॥

विचारे परमार्थस्वरूपनिरूपणे सति **जीवलोकः** सत्त्वलोकः **कः** ? **नैव** कश्चित् । तदभावात् **को नामात्र मरिष्यति** ? जीवलोकस्य विचारेण असत्स्वभावत्वात् को नामात्र जीवलोके मरिष्यति, उपरतजीवितेन्द्रियो भविष्यति ? **को भविष्यति**, क उत्पत्स्यते ? **को भूतः** पूर्वमुत्पन्नः ? इत्यतीतादिव्यवहारः काल्पनिक एव । **को बन्धुः**, कः स्वजनः ? **कस्य कः** सुहृत्, किं मित्रं कस्य ? अत्रेति सर्वत्र योजनीयम् । यदभिष्वङ्गेण अकुशलमपि न गण्यते ?॥१५४॥

एवं स्वभावशून्यत्वात् कल्पनासमारोपितमेव तत्त्वमित्याह—

* सर्वमाकाशसङ्काशं परिगृह्णन्तु मद्विधाः ।
प्रकुप्यन्ति प्रहृष्यन्ति कलहोत्सवहेतुभिः ॥ १५५ ॥

सर्वमेतदुक्तम्, अन्यच्च । **आकाशसंकाशं** समारोपिततत्त्वशून्यत्वादाकाशकल्पम् । **परिगृह्णन्तु** अविद्यमानमेव तु स्वरूपमारोप्य **मद्विधा** इति ग्रन्थकारः आत्मानमेव निदर्शनं करोति । मादृशा अपरिज्ञातपरमार्थतत्त्वा बालजनाः असद्वितर्काकुलितचेतसः **प्रकुप्यन्ति**, मिथ्याभिनिवेशात् कोपं यान्ति । **प्रहृष्यन्ति** अलीकलाभयोगात् प्रमुदिता भवन्ति । **कैः** ? **कलहोत्सवहेतुभिः** । कलहहेतुभिः= विवादहेतुभिः, उत्सवहेतुभिः =आनन्दहेतुभिः यथायोगम् । तस्मादनधिगत-

---

१५५. विचार करने पर समग्र दृश्यमान जगत् को आकाश की तरह (शून्य) समझना चाहिये । मेरे जैसे अज्ञानी जन (इस वस्तुतत्त्व को न समझते हुए) निःसार होते हुए भी उत्सवों पर खुश होते हैं, कलह के समय गुस्सा होते हैं ॥

परमार्थतत्त्वाः सांवृतमेव वस्तुरूपं सत्यतयाऽभिनिविष्टाः सर्वमेत- [P 593]
न्मन्यन्ते, न तु परमार्थवेदिनः इति । तदुक्तम्[1]—

"एतावच्चैव ज्ञेयं यदुत संवृतिः परमार्थश्च । तच्च भगवता शून्यतः सुदृष्टं सुविदितं सुसाक्षात्कृतम् । तेन 'सर्वज्ञः' इत्युच्यते । तत्र संवृतिर्लोकप्रचारतस्तथागतेन दृष्टा । यः पुनः परमार्थः, सोऽनभिलाप्यः अनाज्ञेयोऽविज्ञेयः अदेशितः अप्रकाशितः, यावत् अक्रियः अकरणः, यावत् न लाभो नालाभो न दुःखं न सुखं न यशो नायशः, न रूपं नारूपमित्यादि" ।

"तत्र जिनेन जनस्य कृतेन संवृति देशित लोकहिताय ।
येन जगत् सुगतस्य सकाशे सञ्जनयीह प्रसादसुखाय ।
संवृति प्रज्ञपयी नरसिंहः षड्गतयो भणि सत्त्वगणानाम् ।
नरकगतीश्च तथैव च प्रेतान् आसुरकाय नरांश्च मरूंश्च ॥
नीचकुलाँस्तत उच्चकुलाँश्च आढ्यकुलाँश्च दरिद्रकुलाँश्च" ॥

इत्यादि ॥ १५५ ॥ [P 594]

तत्त्वानधिगतेः फलम्

इदमपि तत्त्वानधिगमस्य फलमित्याह—

* शोकायासैर्विषादैश्च मिथश्छेदनभेदनैः ।
यापयन्ति सुकृच्छ्रेण पापैरात्मसुखेच्छवः ॥ १५६ ॥

पुत्रकलत्रादिविप्रयोगकृताः **शोकाः** । सुखदुःखप्राप्तिपरिहारनिमित्तपरिश्रमा **आयासाः** । तैः शोकायासैर्मद्विधाः यापयन्ति सुकृच्छ्रेणेति सम्बन्धः । **विषादैश्च** लाभसत्कारादिविषादैर्दौर्मनस्यैः । **मिथश्छेदनभेदनैः** । मिथः परस्परं छेदनानि करचरणशिरोनासिकाकर्णप्रभृतीनाम्, भेदनानि बाहुजङ्घोरुवक्षःपार्श्वोदरादीनाम् । चकारोऽनुवर्तते । तैश्छेदनभेदनैश्च **यापयन्ति** कालक्रमेण आयुःसंस्कारान् क्षपयन्ति । **सुकृच्छ्रेण** महता कष्टेन कथञ्चिल्लब्धाशनपानवसनाः । किम्भूताः सन्तः ? **पापैरात्मसुखेच्छवः**, **पापैः**कुशलैः कर्मभिः, **आत्मनः** स्वस्य **सुखेच्छवः** सुखाभिलषणशीलाः ॥ १५६ ॥

---

१५६. (तत्त्व को न समझने का एक कुफल यह भी होगा कि) अपने लिये सुखाभिलाषी लोग पुत्र-कलत्रादि के वियोग से होने वाले शोक, सुखप्राप्ति और

---

१. पितापुत्रसमागमग्रन्थे इति शेषः ।

तथाविधैश्च समाचारविशेषैश्च — [P 595]

* मृताः पतन्त्यपायेषु दीर्घतीव्रव्यथेषु च ।

मृताः जीवितेन्द्रियविमुक्ताः । **पतन्ति** गच्छन्ति **अपायेषु** नरकप्रेततिर्यक्षु । किंभूतेषु ? **दीर्घतीव्रव्यथेषु च** । दीर्घा चिरकालभाविनी, तीव्रा अतिदुःसहवेदनीयविपाकत्वात्, व्यथा येष्वपायेषु ते तथोक्ताः, तेषु च । चकार उक्तसमुच्चये, भिन्नक्रमे वा ।

केन प्रकारेण ? इत्याह—

* आगत्यागत्य सुगतिं भूत्वा भूत्वा सुखोचिताः ॥ १५७ ॥

सुखसंवर्धिता **भूत्वा भूत्वा** । कथम् ? **आगत्यागत्य सुगतिम्**, शोभनां देवमनुष्यगतिं प्राप्य प्राप्य ॥ १५७ ॥

पुनरपि तथाभूतानां दुःखपरम्परासागरनिमज्जनोन्मज्जनमादर्शयन्नाह—

* भवे बहुप्रपातश्च तत्र चातत्त्वमीदृशम्[1] ।
तत्रान्योन्यविरोधश्च, न भवेत् तत्त्वमीदृशम् ॥ १५८ ॥

भवे संसारे कामरूपारूप्यस्वभावे **बहुप्रपातश्च** बहुतर उपघातश्च । **तत्र चातत्त्वमीदृशम्**[1], तत्र च भवे प्रपाते वा अतत्त्वमीदृशं व्यामोहविजृम्भितमेतादृशं सर्वजनसाधारणं यथाविधं प्रतिपादितं परिदृश्यमानं वा । **तत्रान्योन्यविरोधश्च** तत्र एवंविधे अतत्त्वे सति अन्योन्यविरोधः परस्परविप्रतिपत्तिः । केन कारणेन ? **न भवेत्तत्त्वमीदृशमिति** । तस्माद्वस्तुरूपमेतादृशम्; अनेकाकारसमारोपात् ॥ १५८ ॥

दुःखनिवृत्ति के लिये किये परिश्रम से थकावट, लाभ-सत्कारादि न मिलने वाली परेशानी से आपस की मार-काट, तोड़-फोड़ के सहारे अपना जीवन कष्टपूर्वक ही बितायेंगे ॥

१५७. बार-बार सुगति में देवता बनकर सुखोपभोग के बाद मरने पर दुर्गतियों (नरकों) में गिरेंगे, जहाँ अधिक से अधिक अतिदुःसह कष्ट ही कष्ट है ॥

१५८. अतत्त्व (व्यामोह) के सहारे लोगों का बार-बार इस दुनियाँ में आना-जाना लगा रहता है और वे फालतू का लड़ाई-झगड़ा करते रहते हैं । हाँ, जिन्होंने तत्त्वज्ञान आत्मसात् कर लिया उनके लिये ये सब समस्याएँ उत्पन्न ही नहीं होती ॥

---

१. चासत्त्वमीदृशम्—पाठा० ।

* तत्र चानुपमास्तीव्रा अनन्ता दुःखसागराः । [P 496]

तत्र च एवमपि । **अनुपमाः** तदपरसदृशदुःखाभावादुपमातुमशक्याः । **तीव्रा** अत्युग्रवेदनाः । **अनन्ता** अनवधिकालविपाकतया अपर्यन्ता वा दुःखानामतिविपुलतया महायानमनधिगम्य निस्तरीतुमशक्यत्वात्, **सागराः** । तथापि कथञ्चित् महता वीर्येण कुशलपक्षोपचयात् भूयसा कालेन सुगतिं प्राप्य क्षपयितुं शक्यन्ते । इत्यत आह—

* तत्रैवमल्पबलता तत्राप्यल्पत्वमायुषः ।। १५९ ।।

* तत्रापि जीवितारोग्यव्यापारैः क्षुत्क्लमश्रमैः ।
निद्रयोपद्रवैर्बालसंसर्गैर्निष्फलैस्तथा ।। १६० ।।

* वृथैवायुर्वहत्याशु विवेकस्तु सुदुर्लभः[1] ।

तत्र तथारूपे **समावेशे एवं** परिदृश्यमानरूपा **अल्पबलता** । हीनवीर्यतेति यावत् । तत्राप्यल्पत्वमायुषः **तत्रापि** एवंभूते सत्यपि । **अल्पत्वं** स्तोकत्वम्, **आयुषः** आयुःसंस्काराणाम् । ।। १५९ ।।

तत्रापि जीवितारोग्यव्यापारैः स्नानाभ्यञ्जनप्रभृतिभिः । आरोग्यस्य आरोग्याय वा रोगोपशमाय व्यापारैः विशेषेण कटुतिक्तभैषज्यकषायपानादिभिः । कुशलोपार्जनमन्तरेण वृथा चैव आयुर्वहत्याशु इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । तथा **क्षुत्क्लमश्रमैः**, क्षुत्=बुभुक्षा, क्लमः=ग्लानिः, श्रमः=मार्गखेदादिः, तैः । **निद्रया उपद्रवैः**, निद्रया स्वप्नेन, **उपद्रवैः**हास्योत्प्रासविहेठनादिकृतैः सरीसृपव्यालमृगदंशमशकादिकृतैः वधबन्धनताडनादि- [P 597] लक्षणैः । **तथा बालसंसर्गैर्निष्फलैः**, तथा बालानां पृथग्जनानां संसर्गैः सम्पर्कैः । किंभूतैः ? निष्फलैः आत्मोत्कर्षादिसम्भिन्नप्रलापादिबहुलैः तथेति । न केवलं पूर्वोक्तक्रमेण ।। १६० ।।

---

१५९. वहाँ (भव में) बेमिसाल और तरह-तरह के दुःख के गहरे समुद्र हैं, उनको पार करने के लिये न हमारे पास उतनी सामर्थ्य है, न समय, क्योंकि हमने आयु ही बहुत थोड़ी पायी है ।।

१६०. वहाँ जीवित रहने के लिये, स्वस्थ रहने के लिये, रोज कडवी-तीखी दवाइयों का उपयोग, भूख-प्यास-थकावट से परेशानी, सोना, झगड़े करना, तथा मूर्खों के साथ फालतू ऊठ-बैठ-आदि बातों के सहारे अपना जीवन व्यर्थ ही गवाँ दिया जाता है ।

१६१. विवेक (हेयोपादेयज्ञान) तो वहाँ पाना बहुत कठिन है । और वहाँ

---

१. विवेकस्तत्रदु०—मु० पा० ।

इत्थमपि-- वृथैवायुर्वहत्याशु । वृथैव निष्फलमेव कुशलपक्षोपचयरहितत्वात् आयुर्वहति याति आशु शीघ्रम्, असद्व्यापारप्रसङ्गात् त्वरितमेव परिक्षयात् । एवमपि वर्तमानानां विवेकस्तु सुदुर्लभः, विवेकस्तु हेयोपादेयज्ञानं व्यासङ्गपरित्यागो वा सुदुर्लभः, कथमपि अतिकृच्छ्रेणापि न लभ्यते ।

भवतु नाम एवम्, तथापि यदि कथञ्चित् समाधानं जायते, तदा कल्याणं स्यात्, तदपि नास्तीत्याह—

* तत्राप्यभ्यस्तविक्षेपनिवारणगतिः कुतः ।। १६१ ।।

तत्रापि एवमवस्थां गतेऽपि अभ्यस्तविक्षेपः परिशीलितमौद्धत्यं तस्य निवारणं निवर्तनं तस्य गतिरनुप्रवेशः कुतः ? नैवास्ति ।। १६१ ।।

* तत्रापि मारो यतते महापायप्रपातने ।

तत्रापि एवमनर्थपरम्परायां स्थितानां कथञ्चित् कुशलपक्षं समीक्ष्य मारो यतते महापायप्रपातने, क्लेशमारो देवपुत्रमारो वा यतते उद्यच्छते [P 599] महापायप्रपातने प्रपातननिमित्तम् । अवीच्यादिनरकप्रक्षेपणार्थमिति यावत् ।

एवमपि कदाचित् सत्यरत्नादिषु अभिसम्प्रत्ययवशात् कथञ्चित् कल्याणमुपजायते ? इत्याह—

* तत्रासन्मार्गबाहुल्याद्विचिकित्सा च दुर्जया ।। १६२ ।।

* पुनश्च क्षणदौर्लभ्यम्, बुद्धोत्पादोऽतिदुर्लभः ।
क्लेशौघो दुर्निवारश्चेत्यहो दुःखपरम्परा ।। १६३ ।।

अनेक जन्मों के संस्कारों से अभ्यास वश काम, और चित्त की चञ्चलता में वे लोग कोई रुकावट नहीं डाल सकेंगे ।।

१६२. क्योंकि मार (कुशलकर्मों का शत्रु) तो वहाँ भी दिन-रात नरकों में गिराने का ही प्रयास करता रहता है ।

इतना ही नहीं, तरह-तरह के मतवादों को देखने-सुनने से सद्धर्म के प्रति नाना प्रकार के ऐसे सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं कि जिन्हें मिटाया जाना बहुत मुश्किल हो जाता है ।।

१६३. फिर यह मनुष्य-जन्म बहुत हीतो दुर्लभ है, रोज-रोज कहाँ मिलता है ! उसमें बुद्धत्व का मिलना तो और भी दुर्लभ है । और सबसे अधिक इन भवदुःखजंजालों की बाढ़ से छुटकारा पाना तो अत्यन्त दुर्लभ है ।।

तत्र एवं दशां प्राप्नोति—सम्यग्दृष्टिपक्षस्य असन्मार्गस्य चार्वाक--मीमांसकादिपरिदीपितस्य बाहुल्यात् भूयस्त्वात् विचिकित्सा सन्मार्गे विमतिश्च दुर्जया, कथञ्चिदपि विचिकित्सा त्यक्तुं न शक्या ॥ १६२ ॥

कथञ्चित् सुगतिप्रतिलम्भेऽपि पुनश्च क्षणदौर्लभ्यम् अष्टाक्षणविनिर्मुक्तस्य क्षणस्य दौर्लभ्यं परमदुर्लभत्वम् ।

'महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमम्' । [बो० च० ४. २०]

कथञ्चिदितरक्षणसम्भवेऽपि बुद्धोत्पादोऽतिदुर्लभः । बुद्धानां भगवतां समस्तजगदालोककारिणां सर्वदुःखनिदानभूतक्लेशशल्यापहारिणामुत्पादः—प्रादुर्भावः, अतिदुर्लभः । कथञ्चित् कर्हिचित् उदुम्बरपुष्पप्रायः संसारसागरोत्तरणोपायभूतः । कथञ्चित् बुद्धोत्पादसम्भवेऽपि क्लेशौघः जातिजरामरणादीनामोघः अविच्छन्नः प्रवाहः । स दुर्निवारः, दुःखेनापि निवारयितुमशक्यः । इत्यहो दुःखपरम्परा । इति एवम् । अहो इति खेदे । [P 599] दुःखस्य कष्टस्य परम्परा, एकस्माद् दुःखाद्विनिर्गमेऽपि अपरस्मिन् दुःखे प्रपतनात् ॥ १६३ ॥

साम्प्रतमेवं सत्त्वान् सुदुःखितान् समीक्ष्य करुणाम्रेडितहृदयः परदुःखदुःखी शास्त्रकारः सत्त्वानां दुखं शोचयन्नाह—

* अहो बतातिशोच्यत्वमेषां दुःखौघवर्तिनाम् ।

निपातसमुदायः खेदे । अतिशोच्यत्वमतिशयेन शोचनीयत्वम् । एषां हिताहितपरिज्ञानविकलानां सत्त्वानां दुःखसागरकल्लोलपरम्परानिमज्जनोन्मज्जनाकुलचेतसाम् । के पुनरमी सत्त्वाः शोचनीयाः ? इत्याह—

* ये नेक्षन्ते स्वदौःस्थित्यमेवमप्यतिदुःस्थिताः ॥ १६४ ॥

ये सत्त्वा अविद्यान्धीकृतज्ञानलोचनाः नेक्षन्ते न पश्यन्ति स्वदौःस्थित्यं स्वस्य आत्मनो दुःखावस्थितत्वम् । एवमप्यतिदुःस्थिताः । एवमुक्तक्रमेण अतिदुःस्थिता अतिशयेन दुःखावस्थिताः । दुःखपर्यापन्ना इतियावत् ॥१६४॥

एदनुरूपदृष्टान्तेन स्पष्टयन्नाह—

* स्नात्वा स्नात्वा यथा कश्चिद् विशेद्वह्निं मुहुर्मुहुः । [P 600]
स्वसौस्थित्यं च मन्यन्ते एवमप्यतिदुःस्थिताः ॥ १६५ ॥

---

१६४. अरे ! दुःख के भँवरों में पड़े ये प्राणी कितने चिन्तनीय है कि ये इतने दुःखी होकर भयंकर दुर्गति भोगते हुए भी अपनी इस दुर्गति को समझ नहीं पाते ॥

१६५. इनका तो वही हाल है जैसे कोई आदमी जल में नहा-नहा कर, ठण्ड

स्नात्वा स्नात्वा जलावगाहनं कृत्वा कृत्वा **यथा कश्चिदुपहतबुद्धिः** शीतार्तः सुखाभिलाषी। **विशेत्** प्रविशेत्। **वह्निमग्निम्**। **मुहुर्मुहुः** प्रतिक्षणं पुनः पुनर्वा। तथा एतेऽपि सत्त्वाः **स्वसौस्थित्यम्** आत्मसुखसम्पत्तिं **च मन्यन्ते** अवबुध्यन्ते। **एवमप्यतिदुःस्थिताः**। एवमनेन प्रतिपादितक्रमेण अतिदुःस्थिताः दुःखाग्निज्वालाकवलीकृताः ॥ १६५ ॥

अहो बत अतिबहुलतराज्ञानान्धकाराक्रमणममीषां यदात्मगतमपि न पश्यन्तीत्याह—

* अजरामरलीलानामेवं विहरतां सताम्।
आयास्यन्त्यापदो घोराः कृत्वा मरणमग्रतः ॥ १६६ ॥

न विद्यते जरा जीर्णता येषां ते **अजराः**। न म्रियन्ते ये ते **अमराः**। तेषामजराणाममराणामिव **लीला** विचेष्टितं येषां ते तथोक्ताः। तेषामेवमनया लीलया **विहरतां** निश्चिन्तं विचरतां **सताम्**। **आयास्यन्ति** ढौकिष्यन्ते **आपदो** निरन्तरम्। सर्वे ते दुःखहेतवः जराव्याधिविपत्तयः। **घोरा** अतीव भयङ्कराः। कथमायास्यन्ति? **कृत्वा मरणमग्रतः**। मरणमप्रतीकारपरिहारं मृत्युमग्रतः पुरः कृत्वा। एतच्चोक्तं **राजाववादकसूत्रे**—

[P 601] "तद्यथा, महाराज, चतसृभ्यो दिग्भ्यश्चत्वारः पर्वता आगच्छेयुः—दृढाः, सारवन्तः, अखण्डाः अच्छिद्राः, असुषिराः, सुसम्वृत्ताः एकघनाः नभः स्पृशन्तः, पृथिवीं चोल्लिखन्तः, सर्वं तृणकाष्ठशाखापर्णपलाशादिसर्वसत्त्वप्राणभूतान् निर्मथ्नतः। तेभ्यो न सुकरं जवेन वा पलायितुम्, बलेन वा द्रव्यमन्त्रौषधैर्वा निवर्तयितुम्। एवमेव, महाराज, चत्वारीमानि महाभयानि आगच्छन्ति, येषां न सुकरं जवेन वा पलायितुम्, बलेन वा द्रव्यमन्त्रौषधैर्वा निवर्तनं कर्तुम्। कतमानि चत्वारि? जरा, व्याधिः, मरणम्, विपत्तिश्च। जरा, महाराज, आगच्छति यौवनं प्रमथमाना। व्याधिर्महाराज, आगच्छति, आरोग्यं प्रमथ्नन्। मरणम्, महाराज, आगच्छति जीवितं प्रमथमानम्। विपत्तिर्महाराज, आगच्छति सर्वाः सम्पत्तीः प्रमथ्नन्ती। तत् कस्माद्धेतोः? तद्यथा, महाराज, सिंहो

के कारण आग में घुसे, उसी में अपना भला माने। ये प्राणी भी जिन कारणों से दुःख उत्पन्न होता है उन्हीं को सुखहेतु मान बैठे हैं ॥

१६६. अपने को अजर-अमर मानकर इस जगत् में विचरण करने वाले प्राणियों के सामने मौत आगे होकर भयङ्कर से भयङ्कर दुःखों का जाल फैला रही है ॥

मृगराजो रूपसम्पन्नो जवसम्पन्नः सुजातनखदंष्ट्राकरालो मृगगणमनुप्रविश्य मृगं गृहीत्वा यथाकामकरणीयं करोति। स च मृगराजोऽतिबलं व्यालमुखमासाद्य विवशो भवति। एवमेव, महाराज, विद्धस्य मृत्युशल्येन अपगतमदस्य अत्राणस्य अप्रतिशरणस्य अपरायणस्य मर्मसु च्छिद्यमानेषु मांसशोणिते परिशुष्यमाणे परितृषितविह्वलवदनस्य करचरणविक्षेपाभियुक्तस्य अकर्मण्यस्य असमर्थस्य लालासिंघाणकपूयमूत्रपुरीषोपलिप्तस्य [P 602] ईषज्जीवितावशेषस्य कर्मभवात् पुनर्भवमालम्बमानस्य यमपुरुषभयभीतस्य कालरात्रिवशङ्गतस्य चरमाश्वासप्रश्वासेषूपरुध्यमानेषु एकाकिनोऽद्वितीयस्य असहायस्य इमं लोकं जहतः परलोकमाक्रमतः महापथं व्रजतः महाकान्तारं प्रविशतः महागहनं समवगाहमानस्य महाकान्तारं प्रपद्यमानस्य महार्णवेनोह्यमानस्य कर्मवायुना नीयमानस्य निमित्तीकृतां दिशं व्रजतो नान्यत् त्राणं नान्यत् शरणं नान्यत् परायणमृते धर्मात्। धर्मो हि, महाराज, तस्मिन्, समये त्राणं लयनं शरणं भवति। तद्यथा---शीतार्तस्याग्निप्रतापः, अग्निमध्यगतस्यापि निर्वापणम्, उष्णार्तस्य वा शैत्यम्, अध्वानं प्रतिपन्नस्य सुशीतलच्छायोपवनम्, पिपासितस्य सुशीतलं सलिलम्, बुभुक्षितस्य वा प्रणीतमन्नम्, व्याधितस्य वा वैद्यौषधपरिचारकाः, भयभीतस्य बलवन्तः सहायाः साधवः प्रतिशरणा भवन्ति इति विस्तरः'' ॥

तस्मादेतद्भयपरिहारार्थं कुशलपक्षेष्वेव प्रज्ञापरिशोधितेषु यत्नः करणीयः ॥ १६६ ॥

इदानीं जात्यादिदुःखदुःखिनां दुःखापहरणाय स्वाशयमाशङ्कयन्नाह—

* एवं दुःखाग्नितप्तानां शान्तिं कुर्यामहं कदा। [P 603]
पुण्यमेघसमुद्भूतैः सुखोपकरणैः स्वकैः ॥ १६७ ॥

एवमनन्तरोक्तया नीत्या दुःखाग्नितप्तानाम्, दुःखान्येव अग्नयः तैः सन्तापितानां सत्त्वानां शान्तिं जात्यादिदुःखानलतापप्रशमनम्। **कुर्यामहं कदा**, कस्मिन् काले कुर्यां विदध्याम्। कथम्? **सुखोपकरणैः**। सुखस्योपकरणानि सुखसाधनानि वस्त्राभरणानुलेपनशयनासनप्रभृतीनि। किं तदुपार्जितैरेव? नेत्याह—**स्वकैः** स्वात्मीयैः। मया स्वयमुपार्जितैरित्यर्थः। किं निर्माणादिप्रदर्शितैः? नेत्याह—**पुण्यमेघसमुद्भूतैः**, पुण्यान्येव मेघाः सर्व-

---

१६७. मैं पीछे लिखे तरीके से इन दुःखाग्नि से प्रतप्त प्राणियों की सुख-शान्ति हेतु स्वोपार्जित सुखसाधनों को कब और कैसे प्रदान कर सकूंगा! ॥

दुःखसन्तापार्तिशमनसुखोपकरणशीतलवृष्टिप्रदाननिमित्तत्वात्। तेभ्यः समुद्भूतानि निर्जातानि, तैः ॥ १६७ ॥

एवमभ्युदयसम्पदि परेषां चेतो विधाय निःश्रेयससम्पदि प्रदर्शयन्नाह–

* कदोपलम्भदृष्टिभ्यो देशयिष्यामि शून्यताम्।
सम्वृत्यानुपलम्भेन पुण्यसम्भारमादरात्॥ १६८ ॥

कदा कस्मिन् काले **उपलम्भदृष्टिभ्यो** भावग्राहाभिनिविष्टेभ्यो **देशयिष्यामि** प्रकाशयिष्यामि। **शून्यतां** सर्वधर्मनिःस्वभावताम्। कथम्? **सम्वृत्या** व्यवहारेण। अन्यथा विकल्पाविषयतया परमार्थशून्यस्य शून्यताया देश- [P 604] यितुमशक्यत्वात्। एवं निःश्रेयसहेतुज्ञानसम्भारनिमित्तमुपदर्शितम्।

तत्कारणं पुण्यसम्भारनिदानमुपदर्शयन्नाह – **पुण्येत्यादि**। पुण्यस्य ज्ञानादेः सम्भारं कदा उपलम्भदृष्टिभ्यो देशयिष्यामीति सम्बन्धः। **आदरादिति**। महता गौरवेण। सकृत्य न यदृच्छया। केन प्रकारेण? **अनुपलम्भेन**। देयदायकप्रतिग्राहकादित्रितयानुपलम्भयोगेन। त्रिकोटिपरिशुद्धयेति यावत्। एवमुपचितः पुण्यसम्भारो बुद्धताधिगमाय जायते। तदेवमनेन सर्वेण अशेषसंक्लेशहेतुसर्वसमारोपविकल्पप्रतिपक्षतया सर्वावरणप्रहाणोपायत्वात् समस्ततथागताधिगमहेतुत्वाच्च सर्वदुःखोपशमोपायप्रज्ञा उपजायते—इत्युपदर्शितं भवतीति ॥ १६८ ॥

ये गम्भीरनयावगाहनपटुप्रज्ञानिरस्तभ्रमाः
संक्लेशव्यवदानपक्षविमलज्ञानोच्छ्रिताः सूरयः।
ते सन्तो गुणदोषयोरपि च तैः सारं विमिश्रादतो
ग्राह्यं सर्वमकल्मषं विषमिव त्याज्यं दुरुक्तं यदि ॥

न युक्तमुक्तं किमपीह यन्मया, परं प्रजातं स्खलितं तदेव मे।
ननु ग्रहीष्यन्ति ममात्र साधवो मतिं मयानेन कृतेन साम्प्रतम् ॥

अपि च—

---

१६८. कब मैं इन भावग्राह (असत् से सत् के मोह) से अभिनिविष्ट प्राणियों को सद्धर्म का उपदेश देकर सर्वधर्मनिःस्वभावदृष्टि प्रदान करते हुए सम्मानपूर्वक पुण्यसम्भार की ओर ले जा सकूंगा। ताकि इन्हें भी बुद्धत्व (अनन्त सुखपुञ्ज) प्राप्त हो सके ॥

आर्य शान्तिदेवरचित बोधिचर्यावतार का नवम परिच्छेद समाप्त ॥

यः सम्वृत्या व्रजति मनसो गोचरत्वं कथञ्चित् [P 605]
तादृश्यर्थे स्खलति न मतिः कस्य वै मादृशस्य।
तत्सूक्तार्थप्रविचयवतां मध्यमानीतिभाजां
दृष्ट्वा किञ्चिद् गुणलवमिह स्यादुपादेयबुद्धिः॥

प्रज्ञाया विवृतिं विधाय विशदव्याख्यापदैः सम्वृतां
सम्यग्ज्ञानविपक्षदृष्टिनिबिडव्यामोहशान्त्या मया।
यत्पुण्यं समुपार्जितं हितफलं तेनाशु सर्वो जनो
मञ्जुश्रीरिव सद्गुणैकवसतिः प्रज्ञाकरो जायताम्॥

इति प्रज्ञाकरमतिविरचितायां बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां
प्रज्ञापारमितापरिच्छेदो नवमः॥

कृतिरियं पण्डितभिक्षुप्रज्ञाकरमतिपादानाम्॥

[P 606] [लेखकविरचिता प्रशस्तिः]

टीकेयं परमा सुयन्त्रितपदा शुद्धा मनोह्लादिनी,
संसारार्णवपारगामिनि जने नौयानपात्रोपमा।
आशु प्राप्तिकरी जनस्य पदवीं सेयं[1] लिखित्वा मया,
प्राप्तं यत् कुशलं सुसम्पदि पदं तेनास्तु बुद्धो जनः॥

अष्टानवतिसंयुक्ते शते सरति वत्सरे।
कृष्णे श्रावणपञ्चम्यां वासरे कुजसाह्वये॥
श्रीमच्छंकरदेवस्य राज्ये विजयशालिनः।
बोधिचर्यावताराख्यटीकेयं लिखिता शुभा[2]॥

श्रीललितपुरे रम्ये श्रीमानीश्वलसंज्ञके।
यच्छ्रीराघवनाम्नो वै[3] विहारे सुगतालये॥
धन्यं स्थविरभिक्षोस्तु[4] बुद्धचन्द्रस्य पुस्तकम्।
तत्पुण्याद् बोधिसत्त्वत्वं लभते परमं पदम्॥

सृजतु सलिलं घनो यथेष्टं भवतु मही बहुशस्यसम्प्रयुक्ता।
अवतु नरपतिः प्रजा विनम्राः, भवतु रयनपतेः सुखादिवृद्धिः॥

॥ कायस्थभुवनाकरवर्मणा लिखितमिति॥

---

१. साह्य—मु० पा०। २. टीके लिख्य मिदंशुभम् मु० पा०।
३. ० नाम्नस्य—मु० पा०। ४. ४. धन्यः स्थविरभिक्षोऽस्य—मु० पा०।

१०. परिणामनापरिच्छेदः

* बोधिचर्यावतारं मे यद्विचिन्तयतः शुभम् ।
तेन सर्वे जनाः सन्तु बोधिचर्याविभूषणा ।। १ ।।

* सर्वासु दिक्षु यावन्तः कायचित्तव्यथातुराः ।
ते प्राप्नुवन्तु मत्पुण्यैः सुखप्रामोद्यसागरान् ।। २ ।।

* आसंसारं सुखज्यानिर्मा भूत् तेषां कदाचन ।
बोधिसत्त्वसुखं प्राप्तं भवत्वविरतं जगत् ।। ३ ।।

* यावन्तो नरकाः केचिद् विद्यन्ते लोकधातुषु ।
सुखावतीसुखामोद्यैर्मोदन्तां तेषु देहिनः ।। ४ ।।

* शीतार्ताः प्राप्नुवन्तूष्णमुष्णार्ताः सन्तु शीतलाः ।
बोधिसत्त्वमहामेघसम्भवैर्जलसागरैः ।। ५ ।।

* असिपत्रवनं तेषां स्यान्नन्दनवनद्युति ।
कूटशाल्मलिवृक्षाश्च जायन्तां कल्पपादपाः ।। ६ ।।

---

१. बोधिचर्यावतार (की रचना के समय सद्धर्म) का चिन्तन मनन करते हुए जो मुझे पुण्य प्राप्त हुआ है उस के प्रभाव से सभी लोग बोधिचर्यासम्पन्न हो जाँय (यही मेरी कामना है) ।।

२. सभी दिशाओं में जितने भी लोग शारीरिक, मानसिक दुःख से व्याकुल हों, वे मेरे द्वारा किये इस पुण्य के प्रभाव से आमोद-प्रमोद के सुखसागर में तैरते रहें ।।

३. जब तक उनका इस संसार में आना-जाना लगा रहे, तब तक उन्हें कभी दुःख न प्राप्त हो । और समग्र संसार बोधिसत्त्व-सुख से सुखी रहे ।।

४. इस ब्रह्माण्ड में जितने भी नरक हैं वे सब तद्वासी प्राणी (मेरे पुण्य के प्रभाव से) सुखावतीव्यूह में प्राप्त होने वाले सुख से सुखी रहें ।।

५. (मत्कृत पुण्य के प्रभाव से) ठण्ड से ठिठुरने वाले दुःखी प्राणी उष्णता प्राप्त करें, और गर्मी से व्याकुल जन बोधिसत्त्वरूपी महामेघों द्वारा बरसाये (सद्धर्म) जल से शीतलता प्राप्त करें ।।

६. उनके लिये नरक के असिपत्रवन स्वर्ग के नन्दनवन के समान सुखमय हों और वहाँ के कँटीले सेमल आदि वृक्ष कल्पवृक्ष की तरह सुखदायी बनें ।।

* कादम्बकारण्डवचक्रवाकहंसादिकोलाहलरम्यशोभैः ।
सरोभिरुद्दामसरोजगन्धैर्भवन्तु हृद्यदा नरकप्रदेशाः ।। ७ ।।

* सोऽङ्गारराशिर्मणिराशिरस्तु तप्ता च भूः स्फाटिककुट्टिमं स्यात् ।
भवन्तु सङ्घातमहीधराश्च पूजाविमानाः सुगतप्रपूर्णाः ।। ८ ।।

* अङ्गारतप्तोपलशस्त्रवृष्टिरद्यप्रभृत्यस्तु च पुष्पवृष्टिः ।
तच्छस्त्रयुद्धं च परस्परेण क्रीडार्थमद्यास्तु च पुष्पयुद्धम् ।।९।।

* पतितसकलमांसाः कुन्दवर्णास्थिदेहाः,
दहनसमजलायां वैतरण्यां निमग्नाः ।
मम कुशलबलेन प्राप्तदिव्यात्मभावाः,
सह सुरवनिताभिः सन्तु मन्दाकिनीस्थाः ।। १० ।।

* त्रस्ताः पश्यन्त्वकस्मादिह यमपुरुषाः काकगृध्राश्च घोराः,
ध्वान्तं ध्वस्तं समन्तात् सुखरतिजननी कस्य सौम्या प्रभेयम् ।
इत्यूर्ध्वं प्रेक्षमाणा गगनतलगतं वज्रपाणिं ज्वलन्तं
दृष्ट्वा प्रामोद्यवेगाद् व्यपगतदुरिता यान्तु तेनैव सार्धम् ।।११।।

---

७. वही दुःखदायी नरक प्रदेश उनमें रहने वालों के लिये कदम्ब के फूल करण्डव के फूल चक्रवाक (चकवा) एवं हंस आदि पक्षियों के कोलाहल से सम्पन्न कमल-सरोवरों के समान मनोरम शीतलता प्रदान करने वाले बनें ।।

८. वहाँ (नरक) की अग्निराशि उन्हें मणिराशि की तरह शैत्ययुक्त लगे, भूमि मणिकुट्टिमयुक्त चिकनी लगे । मौत के पहाड़ स्वर्ग के पूजाविमानों की तरह सुखदायी प्रतीत हों, मानों उन पर भगवान् तथागत विराजमान हों ।।

९. (मेरे पुण्य के प्रभाव से) उन नरकों में सन्तप्त प्राणियों पर पड़ने वाले अंगारे, जलते पत्थर, और तीक्ष्ण शस्त्रों की वर्षा पुष्पवर्षा की तरह लगे । और वहाँ नरक-पालों से होने वाला शस्त्रयुद्ध आपस में खेले जाने वाले पुष्पयुद्ध जैसा (मन को) सुखद हो ।।

१०. नरक के वे प्राणी, जिनके शरीर का मांस झड़ चुका है, अतः हड्डी दिखायी देने से सफेद शरीर वाले हैं, जो गरम जल वाली वैतरणी में डूबते-उतराते हैं, वे मेरे पुण्य के प्रभाव से अप्सराओं के साथ मन्दाकिनी (स्वर्गङ्गा) में जलविहार करें ।।

११. नरक के वे भयानक आकृति वाले यमदूत, भयङ्कर कौए और गीध उतरते-उतरते देखें कि उनका वह परिचित घोर अन्धकार कहाँ गया, और यह

* पतति[1] कुसुमवृष्टिर्गन्धपानीयमिश्रा-
ऽशमितनरकवह्नि[2] दृश्यते नाशयन्ती ।
किमिदमिति सुखेनाह्लादितानामकस्माद्,
भवतु कमलपाणेर्दर्शनं नारकाणाम् ॥ १२ ॥

* आयातायात शीघ्रम्, भयमपनयत भ्रातरो जीविताः स्मः,
सम्प्राप्तोऽस्माकमेष ज्वलदभयकरः कोऽपि चीरीकुमारः ।
सर्वं यस्यानुभावाद् व्यसनमपगतं प्रीतिवेगाः प्रवृत्ताः,
जातं सम्बोधिचित्तं सकलजनपरित्राणमाता दया च ॥ १३ ॥

* पश्यन्त्वेनं भवन्तः सुरशतमुकुटैरर्च्यमानाङ्घ्रिपद्मम्.
कारुण्यादार्द्रदृष्टिं शिरसि निपतितानेकपुष्पौघवृष्टिम् ।
कूटागारैर्मनोज्ञैः स्तुतिमुखरसुरस्त्रीसहस्रोपगीतै-
र्दृष्ट्वाग्रे मञ्जुघोषं भवतु कलकलः साम्प्रतं नारकाणाम् ॥१४॥

सुखदायक, शान्त, दिव्य ज्योति कहाँ से छटकने लगी ! इस तरह ऊपर आकाश की ओर देखते हुए तेजस्वी **वज्रपाणि** (बोधिसत्त्व) को देखकर मुदिता (हर्ष) की अधिकता के प्रभाव से निष्पाप हुए वे लोग उन वज्रपाणि के साथ ही विचरण करें ॥

१२. "अरे ! यह सुगन्धित जल युक्त पुष्पवृष्टि कहाँ से हो रही है, जिससे आज तक कभी न बुझी यह नरकाग्नि शान्त होती दिखायी दे रही है और अचानक ही हमारे तन-मन आदि कैसे सुखाह्लादित होते जा रहे हैं" यों सोचते हुए उन नरकवासियों को **कमलपाणि** (बोधिसत्त्व) के दर्शन हों ॥

१३. आओ ! जल्दी आओ, बेखटके आओ, भाइयो ! अब तो हम जी गये । यह कोई चीवरधारी, अभयकारी, तेजस्वी कुमार मानो हमारी रक्षा के लिये ही आया है, जिसके प्रभाव से हमारा सब दुःख दूर हो गया, हमारे हृदय में प्रीति-सौमनस्य कुलाचें मारने लगा, और यह बोधिचित्त की तरफ बढने लगा, और सकल प्राणियों का रक्षा करने वाली 'करुणा' माता रूप में प्रकट हुई ॥

१४. स्तुतियों से युक्त अप्सराओं के हजारों हजार गीतयों से गुंजायमान शिखर पर विराजमान **श्रीमञ्जुघोष** (बोधिसत्त्व) को देखकर उन नरकवासियों में यों कोलाहल होने लगा—"आप लोग इनके दर्शन करें. जिनके चरणकमल सैकड़ों देवताओं के मुकटों से पूजित हैं, इनके सिर पर नानाविध पुष्पसमूह की वर्षा हो रही है, इनके नेत्र कमल करुणा से भीगीं हैं ।"

---

१. कमल०—मु० पा० । २. च्छमितिनरक०—मू० पु० पा० ।

* इति मत्कुशलैः समन्तभद्रप्रमुखानावृतबोधिसत्वमेघान् ।
सुखशीतसुगन्धवातवृष्टीनभिनन्दन्तु विलोक्य नारकास्ते ॥१५॥

* शाम्यन्तु वेदनास्तीव्रा नारकाणां भयानि च ।
दुर्गतिभ्यो विमुच्यन्तां सर्वदुर्गतिवासिनः ॥ १६ ॥

* अन्योन्यभक्षणभयं तिरश्चामपगच्छतु ।
भवन्तु सुखिनः प्रेता यथोत्तकुरौ नराः ॥ १७ ॥

* सन्तर्प्यन्तां प्रेताः स्नाप्यन्तां शीतला भवन्तु सदा ।
आर्यावलोकितेश्वरकरगलितक्षीरधाराभिः ॥ १८ ॥

* अन्धाः पश्यन्तु रूपाणि, शृण्वन्तु बधिराः सदा ।
गर्भिण्यश्च प्रसूयन्तां मायादेवीव निर्व्यथाः ॥ १९ ॥

* वस्त्रभोजनपानीयं स्रक्चन्दनविभूषणम् ।
मनोभिलषितं सर्वं लभन्तां हितसंहितम् ॥ २० ॥

* भीताश्च निर्भयाः सन्तु शोकार्ताः प्रीतिलाभिनः ।
उद्विग्नाश्च निरुद्वेगा धृतिमन्तो भवन्तु च ॥ २१ ॥

---

१५. यों मेरे पुण्यप्रभाव से सुखद, शीतल, सुगन्ध पवन के साथ बरसनेवाले क्लेशादि-आवरणहीन, समन्तभद्र आदि बोधिसत्त्वरूपी मेघों को देख कर नरकवासी इनका अभिनन्दन करें ॥

१६. इन नरकवासियों की कष्टकर वेदना शान्त हो जाँय, इनका भय दूर हो जाय, दुर्गतियों में फँसे ये सब शीघ्र ही छुटकारा पा जाँय ॥

१७. पशु-पक्षियों का एक दूसरे को खा जाने का भय दूर हो जाय। प्रेत भी उतरकुरुवासी जनों के समान सुखी हों ॥

१८. प्रेतगण आर्य अवलोकितेश्वर के पवित्र करकमलों से गिरी दूध की धाराओं से तृप्त हो, स्नान करें और शीतलता प्राप्त करें ॥

१९. अन्धों को दिखायी देने लगे, बहरे सुनने लगें। और गर्भवती स्त्रियाँ मायादेवी की तरह, विना किसी पीड़ा के, प्रसव करें ॥

२०. वस्त्र, भोजन, जल, और माला-चन्दन-आभूण आदि अलङ्कार सामग्री सबको यथेच्छ मिले ॥

२१. जो, किसी भी कारण, डरे है वे निर्भीक हों, जो शोक से पीड़ित हैं वे आनन्द प्राप्त करें। जो व्याकुल हैं वे अपनी छटपटाहट छोड़ दें और धैर्य-सम्पन्न हों ॥

* आरोग्यं रोगिणामस्तु मुच्यन्तां सर्वबन्धनात् ।
दुर्बला बलिनः सन्तु स्निग्धचित्ताः परस्परम् ।। २२ ।।

* सर्वा दिशः शिवाः सन्तु सर्वेषां पथिवर्तिनाम् ।
येन कार्येण गच्छन्ति तदुपायेन सिध्यतु ।। २३ ।।

* नौयानयात्रारूढाश्च सन्तु सिद्धमनोरथाः ।
क्षेमेण कूलमासाद्य रमन्तां सह बन्धुभिः ।। २४ ।।

* कान्तारोन्मार्गपतिता लभन्तां सार्थसङ्गतिम् ।
अश्रमेण च गच्छन्तु चौरव्याध्यादिनिर्भयाः ।। २५ ।।

* सुप्त-मत्त-प्रमत्तानां व्यध्वारण्यादिसंकटे[1] ।
अनाथबालबृद्धानां रक्षां कुर्वन्तु देवताः ।। २६ ।।

* सर्वाक्षणविनिर्मुक्ताः श्रद्धाप्रज्ञाकृपान्विताः ।
आकाराचारसम्पन्नाः सन्तु जातिस्मराः सदा ।। २७ ।।

* भवन्त्वक्षयकोशाश्च यावद् गगनगञ्जवत् ।
निर्द्वन्द्वा निरुपायासाः सन्तु स्वाधीनवृत्तयः ।। २८ ।।

---

२२. रोगी नीरोग हो, कैदी बन्धनों से छुटकारा पा जाँय । कमजोर शक्ति-सम्पन्न हों, और आपस में मिल-जुल कर रहें ।।

२३. राहगीरों के लिये सभी दिशाएँ मङ्गलमय हों । वे जिस कार्य के लिये जा रहे हों वह कार्य किसी न किसी तरह सिद्ध हो जाय ।।

२४. जहाज से यात्रा करने वालों का भी मनोरथ सिद्ध हो । वे सकुशल वापस तट पर पहुँच कर अपने बन्धु-बान्धवों से भेंट करें ।।

२५. जंगलों में भूली राह वाले पथिक अपने साथियों से आ मिलें । और चौर, व्याघ्र आदि के भय से मुक्त हो कर विना किसी श्रम के आगे की यात्रा करें ।।

२६. जंगलों में रास्ता भटके सोये, नशा कियें हुए उन्मत्त, अनाथ, बाल, वृद्ध लोगों की देवतागण रक्षा करें ।।

२७. सभी लोग अक्षणों (=प्रेत-तिर्यगादि योनियों) से मुक्त श्रद्धा प्रज्ञा और करुणा से युक्त, रूपसम्पन्न और शीलसम्पन्न एवं पूर्वजन्मों के स्मरणकर्ता रहें ।।

२८. सभी लोगों को अक्षय और आकाशव्यापी राशि वाला कोष (खजाना) सुलभ हो । वे झगड़ों से दूर चिन्ता शोक से परे, स्वाधीन वृत्ति (=आजीविका) प्राप्त हो ।।

---

१. व्याध्यारण्या०-मु० पा० ।

* अल्पौजसश्च ये सत्त्वास्ते भवन्तु महौजसः ।
भवन्तु रूपसम्पन्ना ये विरूपास्तपस्विनः ॥ २९ ॥

* याः काश्चन स्त्रियो लोके पुरुषत्वं व्रजन्तु ताः ।
प्राप्नुवन्तूच्चतां नीचा हतमाना भवन्तु च ॥ ३० ॥

* अनेन मम पुण्येन सर्वसत्त्वा अशेषतः ।
विरम्य सर्वपापेभ्यः कुर्वन्तु कुशलं सदा ॥ ३१ ॥

* बोधिचित्ताविरहिता बोधिचर्यापरायणाः ।
बुद्धैः परिगृहीताश्च मारकर्मविवर्जिताः ॥ ३२ ॥

* अप्रमेयायुषश्चैव सर्वसत्त्वा भवन्तु ते ।
नित्यं जीवन्तु सुखिता मृत्युशब्दोऽपि नश्यतु ॥ ३३ ॥

* रम्याः कल्पद्रुमोद्यानैर्दिशः सर्वा भवन्तु च ।
बुद्धबुद्धात्मजाकीर्णा धर्मध्वनिमनोहरैः ॥ ३४ ॥

* शर्करादिव्यपेता च समा पाणितलोपमा ।
मृद्वी च वैदूर्यमयी भूमिः सर्वत्र तिष्ठतु ॥ ३५ ॥

---

२९. जो प्राणी अल्प उत्साही हैं उन्हें अधिक उत्साही बनावें, जो कुरूप हैं उन्हें सुन्दर बनावें ॥

३०. संसार में जितनी स्त्रियाँ हैं, वे पुरुष बन जाँय (ताकि वे पुरुषयोनि में आकर बुद्धत्व प्राप्त कर सकें) और नीच दुष्कर्मी उस (स्त्रीयोनि) में चले जाँय और वहाँ मानरहित जीवन व्यतीत करें ॥

३१. इस मेरे पुण्य के प्रभाव से सब प्राणी सभी पापों से विरत होकर पुण्य करें ॥

३२. ये सब प्राणी बोधिचित्त से हीन न हों। वे बोधिचर्या में लगे रहें। उन पर बुद्धों का अनुग्रह हों। वे पापकर्मों से दूर हों ॥

३३. उनकी आयु अपार हो, वे सतत सुखी जीवन वितावें। और मृत्यु का शब्द तक किसी को न सुनायी दे ॥

३४. बुद्ध बोधिसत्त्वों से व्याप्त धर्मध्वनि से मनोरम सभी दिशाएँ कल्पवृक्षों के बगीचों से रमणीय हों ॥

३५. भूमि सर्वत्र कंकड़-पथ्थरों से रहित, हथेली के समान साफ-सुथरी, मुलायम, वैदूर्यमणि की तरह दिखायी दे ॥

* बोधिसत्त्वमहापर्षन्मण्डलानि समन्ततः ।
निषीदन्तु स्वशोभाभिर्मण्डयन्तु महीतलम् ।। ३६ ।।

* पक्षिभ्यः सर्ववृक्षेभ्यो रश्मिभ्यो गगनादपि ।
धर्मध्वनिरविश्रामं श्रूयतां सर्वदेहिभिः ।। ३७ ।।

* बुद्धबुद्धसुतैर्नित्यं लभन्तां ते समागमम् ।
पूजामेघैरनन्तैश्च पूजयन्तु जगद्गुरुम् ।। ३८ ।।

* देवो वर्षतु कालेन सस्यसम्पत्तिरस्तु च ।
स्फीतो भवतु लोकश्च राजा भवतु धार्मिकः ।। ३९ ।।

* शक्ता भवन्तु चौषध्यो मन्त्राः सिध्यन्तु जापिनाम् ।
भवन्तु करुणाविष्टा डाकिनीराक्षसादयः ।। ४० ।।

* मा कश्चिद् दुःखितः सत्त्वो मा पापी मा च रोगितः ।
मा हीनः परिभूतो वा मा भूत् कश्चिच्च दुर्मनाः ।। ४१ ।।

* पाठस्वाध्यायकलिला विहाराः सन्तु सुस्थिताः ।
नित्यं स्यात् सङ्घसामग्री सङ्घकार्यं च सिध्यतु ।। ४२ ।।

---

३६. वहाँ बोधिसत्त्व-महापरिषद् के मण्डल सब ओर विराजें और अपने तेज से भूमण्डल को प्रदीप्त करें ।।

३७. सभी देहधारियों को पक्षियों से, सब वृक्षों से. आकाश (के छोटे बड़े नक्षत्रों) से निरन्तर धर्मध्वनि सुनायी दे ।।

३८. उन्हें बुद्ध और बोधिसत्त्वों की संगति निरन्तर प्राप्त हो और वे अनन्त पूजामेघों से जगद्गुरु (भगवान् बुद्ध) की पूजा करें ।।

३९. समय पर वर्षा होती रहे । खेती लह-लहाती रहे । लोग समृद्ध हों । और राजा लोग धर्माचरणपूर्वक शासन चलावे ।।

४०. ओषधियों में रोगनाश का सामर्थ्य हो । जप करने वाले साधकों के मन्त्रजाप सिद्ध हों । और प्रेतयोनि के डाकिनी-राक्षस आदि भी करुणापूर्ण हृदय वाले हों ।।

४१. कोई प्राणी न दुःखी हो, न पापी हो, न रोगी हो । न गरीब हो, न पराजित हो, और न कोई दूसरों के प्रति बुरे भाव रखे ।।

४२. साधुओं के मठ-मन्दिर-विहार सुव्यवस्थित रुद्धर्म के पाठ और स्वाध्याय से युक्त हो । सङ्घ में किसी भी कारण भेद (फूट) न पड़े । और सङ्घ के सभी कार्य सिद्ध होते रहें ।।

* विवेकलाभिनः सन्तु शिक्षाकामाश्च भिक्षवः ।
कर्मण्यचित्ता ध्यायन्तु सर्वविक्षेपवर्जिताः ॥ ४३ ॥

* लाभिन्यः सन्तु भिक्षुण्यः कलहायासवर्जिताः ।
भवन्त्वखण्डशीलाश्च सर्वे प्रव्रजितास्तथा ॥ ४४ ॥

* दुःशीलाः सन्तु संविग्नाः पापक्षयरताः सदा ।
सुगतेर्लाभिनः सन्तु तत्र चाखण्डितव्रताः ॥ ४५ ॥

* पण्डिताः संस्कृताः सन्तु लाभिनः पैण्डपातिकाः ।
भवन्तु शुद्धसन्तानाः सर्वदिक्ख्यातकीर्तयः ॥ ४६ ॥

* अभुक्त्वापायिकं दुःखं विना दुष्करचर्यया ।
दिव्येनैकेन कायेन जगद् बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥ ४७ ॥

* पूज्यन्तां सर्वसम्बुद्धाः सर्वसत्त्वैरनेकधा ।
अचिन्त्यबौद्धसौख्येन सुखिनः सन्तु भूयसा ॥ ४८ ॥

* सिध्यन्तु बोधिसत्त्वानां जगदर्थं मनोरथाः ।
यच्चिन्तयन्ति ते नाथास्तत्सत्त्वानां समृध्यतु ॥ ४९ ॥

---

४३. भिक्षुजन विवेक (एकान्त) और त्रिविध शिक्षा प्राप्त करें। विक्षेपरहित होकर कर्मण्यचित्तसम्पन्न हो ध्यान लाभ करें ॥

४४. झगड़े-झंझटों से दूर रह कर भिक्षुणियाँ बोधिचित्तोत्पाद की लाभी हों । सभी प्रव्रजित अखण्ड शीलवाले हों ॥

४५. दुःशील (पापी) जनों में प्रायश्चित्त का भाव पैदा हो । अपने पापों के क्षय के प्रयास में लगें । और अखण्डित व्रत वाले बन कर सुगति के लाभी बनें ॥

४६. समाज में विद्वानों का सत्कार हों । वे पिण्डपातों के लाभी हों । उनका जीवन पवित्र बने । वे शुद्ध सन्तान वाले हों । उनकी सर्वत्र कीर्ति फैले ॥

४७. दुर्गति का दुःख विना भोगे, विना दुष्कर चर्या किये, यह समग्र जगत् एक ही शरीर (जन्म) में बुद्धत्व प्राप्त कर ले ॥

४८. प्राणी सभी बुद्धों की सब प्रकार से पूजा करें और बोधि के अनिर्वचनीय अत्यन्त सुख से सुखी रहे ॥

४९. बोधिसत्त्वों के जगद्धितार्थ किये गये मनोरथ सिद्ध हों । जगत् के हित में किया गया उन प्रभुओं (समर्थों) का चिन्तन सफल हों ॥

* प्रत्येकबुद्धाः सुखिनो भवन्तु श्रावकास्तथा ।
देवासुरनरैर्नित्यं पूज्यमानाः सगौरवैः ॥ ५० ॥

* जातिस्मरत्वं प्रव्रज्यामहं च प्राप्नुयां सदा ।
यावत् प्रमुदिताभूमिं मञ्जुघोषपरिग्रहात् ॥ ५१ ॥

* येन तेनासनेनाहं यापयेयं बलान्वितः ।
विवेकवाससामग्रीं प्राप्नुयां सर्वजातिषु ॥ ५२ ॥

* यदा च द्रष्टुकामः स्यां प्रष्टुकामश्च किञ्चन ।
तमेव नाथं पश्येयं मञ्जुनाथमविघ्नतः ॥ ५३ ॥

* दशदिग्व्योमपर्यन्तसर्वसत्त्वार्थसाधने ।
यथा चरति मञ्जुश्रीः सैव चर्या भवेन्मम ॥ ५४ ॥

* आकाशस्य स्थितिर्यावद्यावच्च जगतः स्थितिः ।
तावन्मम स्थितिर्भूयाज्जगद्दुःखानि निघ्नतः ॥ ५५ ॥

* यत्किञ्चिज्जगतो दुःखं तत् सर्वं मयि पच्यताम् ।
बोधिसत्त्वशुभैः सर्वैर्जगत् सुखितमस्तु च ॥ ५६ ॥

---

५०. वे (बोधिसत्त्व) देव असुर-मनुष्यों से गौरव (आदर) के साथ पूजित हो । श्रावक और प्रत्येकबुद्ध भी सुखी रहें ॥

५१. आर्यमञ्जुघोष के अनुग्रह से प्रमुदिता भूमि तक पहुँचे मुझे पूर्वजन्मों का सतत स्मरण रहे और प्रव्रज्यालाभ हो ॥

५२. जैसा-तैसा (रूखा-सूखा) मिले, उसे ही खाकर मैं सबल रहूँ । और सब जन्मों में मुझे विवेक (एकान्त) वास प्राप्त हो ॥

५३. जब मुझे कुछ देखने-सुनने की इच्छा हो, उस समय भगवान् मञ्जुघोष के निर्विघ्नतया दर्शन कर सकूँ ॥

५४. दशों दिशाओं के आकाशपर्यन्त व्यापी प्राणियों का हितसाधन करने में आर्यमञ्जुश्री की चर्या के सदृश मेरी भी चर्या हो ॥

५५. जब तक इस आकाश और इस जगत् की स्थिति रहे तब तक इस जगत् के दुःखों का नाश करते हुए मेरी भी स्थिति भी बनी रहे ॥

५६. जगत् के सभी दुःखों को मैं भोगूँ और मेरी बोधिसत्त्वावस्था के सभी पुण्यों से यह जगत् सुखी हो ॥

* जगद्दुःखैकभैषज्यं सर्वसम्पत्सुखाकरम् ।
लाभसत्कारसहितं चिरं तिष्ठतु शासनम् ॥ ५७ ॥

* मञ्जुघोषं नमस्यामि यत्प्रसादान्मतिः शुभे ।
कल्याणमित्रं वन्देऽहं यत्प्रसादाच्च वर्धते ॥ ५८ ॥

॥ बोधिचर्यावतारे परिणामनापरिच्छेदो दशमः ॥

समाप्तोऽयं बोधिचर्यावतारः

॥ कृतिरार्यशान्तिदेवस्य ॥



---

५७. जगत् के दुःखों का एकमात्र औषधभूत, सब सम्पत्ति और सुखों का कोषभूत यह भगवान् बुद्ध का शासन (सद्धर्म) लाभ-सत्कारसहित चिरकाल तक स्थिर रहे ॥

५८. जिनकी कृपा से पुण्यकार्यों में बराबर मन लगा रहता है, और जिनकी कृपा से वे (पुण्य) बढते रहते हैं उन कल्याणमित्र आर्यमञ्जुघोष को मैं सविनय प्रणाम करता हूँ ॥

बोधिचर्यावतार का परिणामनापरिच्छेद नाम का दशम परिच्छेद समाप्त ॥

आर्यशान्तिदेवरचित यह बोधिचर्यावतार ग्रन्थ भी पूर्ण हुआ ॥



ये धर्मा हेतुप्रभवाः, हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः ।।

बोधिचर्यावतारस्य

कारिकासूची

आर्येण शान्तिदेवेन बोधिचर्यावतारके ।
निबद्धाः कारिकास्तासां सूचीयं क्रमशालिनी ॥

•

बोधिचर्यावतारान्तःपाति-

ग्रन्थ-ग्रन्थकृन्नामसूची

ग्रन्थकर्त्रा च व्याख्यात्रा बोधिचर्यावतारणे ।
स्वयूथ्याः परयूथ्या वा ग्रन्थाः, ग्रन्थकृतः स्मृताः ॥
नामानीह विलिख्यन्ते तेषां पुण्ययशस्विनाम् ।
विदुषां परितोषाय सूचीरूपेण वै पृथक् ॥

•

शुद्धिपत्त्रम्

शैघ्यात् किञ्चिन्मतेर्मान्द्यात् प्रमादाच्चैव चक्षुषः ।
यत् किञ्चित् स्खलनं जातं शोध्यमत्र विचक्षणैः ॥

अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः	पृष्ठे	पंक्तौ
प्रधूपितैधौंत०	प्रधूपितैर्धौत०	३४	८
०स्त्रिससमयराज०	०स्त्रिसमयराज०	३९	१२
कार्यं	कार्यं	६१	१२
आपत्तिवश (पतन)	आपत्तिवश पतन	६४	२४
बोधिचित्तवश (उत्थान)	बोधिचित्तवश उत्थान	६४	२४
भूमि.....सर्वा	भूमिं.....सर्वां	७८	२
नरकादिशु	नरकादिषु	१०२	१७
आर्यसवधर्म०	आर्यसर्वधर्म	१०८	१२
सीखने योग्य	सीखने योग्य हो	११३	२२
स तनेषु	सचेतनेषु	१२८	२१
एवासो	एवासौ	१३१	९
मनो हन्त०	मनो हन्तु०	१४१	१०
०दघराधाश्व	०दपराधाश्च	१४६	१७
कस्मादेव	कस्मादेवं	१४७	२२
सत्वष्वना०	सत्त्वेष्वना०	१९०	२०
०दिभिरुक्ष्टा०	०दिभिरुत्कृष्टा०	२११	१०
तरुणङ्कजम्	तरुणपङ्कजम्	२२६	१४
यदि त	यदि ते	२२७	५
हन्तव्यम	हन्तव्यम्	२४०	१९
उसका	उनका	२७८	२७

पृ० =८० पर द्वितीय क्रम की टिप्पणी पृ० २८२ के नीचे १ क्रम में रहेगी।

अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः	पृष्ठे	पंक्तौ
०रन्नचूड०	रत्नचूड०	२९०	१८
प्रतिपन्नवात्	प्रतिपन्नत्वात्	२९४	२०
०विषयस्त्रसः	०विषयस्त्रासः	३२४	२०
अङ्कुरदन्यतो	अङ्कुरादन्यतो	३८०	९
बोधिचयावतार	बोधिचर्यावतार	४२४	३०
गीतयों	गीतियों	४२८	२५
पतति[१] कुसुम०	पतति [१]कुसुम०	४२८	१
रुद्धर्मं	सद्धर्मं	४३२	२८

•

पण्डिताः संस्कृताः सन्तु, लाभिनः पैण्डपातिकाः ।
भवन्तु शुद्धसन्तानाः, सर्वदिक्ख्यातकीर्तयः ॥

जनवरी १९८४ फोन 44275

(सन् १९६८ में स्थापित)

[बहुजनहिताय बहुजनसुखाय]

बौद्धभारती, वाराणसी

[उ० प्र० शासन से पंजीकृत]

बौद्धभारती-ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक : स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

१. तत्त्वसङ्ग्रह, कमलशीलपंजिकासहित (भाग १) ७५)
२. तत्त्वसङ्ग्रह, ,, ,, (भाग २) ७५)
३. प्रमाणवार्त्तिक, मनोरथनन्दिवृत्ति सहित ७५)
४. परमार्थचिन्तन, (सिद्धार्थमहाभिनिष्क्रमण नाटक) २)
५-६-७-९. अभिधर्मकोश, भाष्य-स्फुटार्था सहित (सम्पूर्ण) १५०)
८. वादन्याय, शान्तरक्षितकृत टीका सहित एवं सम्बन्धपरीक्षा, प्रभाचन्द्रकृत व्याख्या सहित ४०)
१०. बालावतार, पालि-व्याकरण १०)
११. न्यायदर्शन, वात्स्यायनभाष्य-हिन्दीरूपान्तरसहित ४०)
१२. विसुद्धिमग्ग, हिन्दी-संक्षेपसहित ६०)
१३. मिलिन्दपञ्ह, हिन्दी-संक्षेपसहित ४०)
१४. अभिधानप्पदीपिका, (पालि-शब्दकोश) ४०)
१५. पालिसद्दनिदस्सिका, (पालि-संस्कृत-हिन्दीकोश) ३०)
१६. मध्यमकशास्त्र, प्रसन्नपदा, हिन्दीभावानुवाद सहित ७५)
१७. (क) पातिमोक्खसुत्त, (भिक्खुपातिमोक्ख) १०)
(ख) गुह्यसमाजतन्त्र, (वज्रयान बौद्धतन्त्र) ७५)
१८. न्यायबिन्दु, विनीतदेव एवं धर्मोत्तरटीका सहित ७५)
१९. महायानसूत्रालङ्कार, (हिन्दीभावानुवाद सहित) ७५)
२०. तत्त्वोपप्लवसिंह, (श्री जयराशिभट्ट कृत) ६०)
२१. बोधिचर्यावतार, (पञ्जिकाव्याख्या, हिन्दी अनुवाद) ८५)

बौद्धभारती, पो० बा० १०४९. वाराणसी—१



पो० बा० १०४९,

वाराणसी—२२१ ००१